

श्री धर्मदासजी गणि रचित

अपदेशमाला

श्री रामविजयजी कृत टीका का
मुनि श्री पद्मविजयजी कृत
भाषांतर

संपादक-संशोधन

मु. श्री जयानंदविजयजी

॥ श्री गोडी पार्श्वनाथाय नमः ॥
॥ प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ॥

॥ श्री धर्मदास गणिविरचित ॥

श्री उपदेश माला

(पूज्य श्री रामविजयजी गणिकृत टीकानुसार संपूर्ण हिन्दी अनुवाद)

: अनुवादक :

मुनि श्री पद्मविजयजी

: दिव्याशीष :

आचार्यदेव श्री विद्याचंद्रसूरीश्वरजी

मुनिराज श्री रामचंद्रविजयजी

: संपादक :

मुनिराज श्री जयानंदविजयजी

प्राप्तिस्थान

शा. देवीचंद छगनलालजी सुमति दर्शन, नेहरू पार्क के सामने, माघ कोलोनी, भीनमल-343029 (राज.) फोन : (02969) 220387	श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढी सॉथ - 343026 जिला : जालोर (राज.) फोन : 02973 - 254221
श्री विमलनाथ जैन पेढी बाकरा गाँव - 343025 (राज.) फोन : 02973 - 251122 / 9413465068	
शा. नागालाल वजाजी खींवसरा गोपीपुरा, काजी का मैदान शांतिविला अपार्टमेंट, सुरत, (गुजरात) फोन : 2422650	महाविदेह भीनमाल धाम तलेटी हस्तिगिरि, लिंक रोड, पालीताणा - 364 270 फोन : (02848) 243018

: प्रकाशक :

श्री गुरु रामचंद्र प्रकाशन समिति, भीनमाल, राज

: संचालक :

१. सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
२. मीलियन ग्रुप, सूरणा, राज. मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा
३. एम.आर. इम्पेक्स, १६-ए हनुमान टेरेस, दूसरा माला, तारा टेम्पल लेन
लेमीग्टन रोड, मुंबई-७, फोन-२६८०१०८६
४. श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई,
महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना, ३६४२७०
५. संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप,
राज, जैनम, अक्षत बेटा-पोता कुंदनमलजी भुताजी
श्री श्रीमाळ वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.)
कल्पतरु ज्वेलर्स, ३०५ स्टेशन रोड, संघवी भवन, थाना, (५) ९
६. दोशी अमृतलाल चीमनलाल पांचशो वोरा, थराद
पालीताना में उपधान कराया उसकी साधारण की आय में से ।
७. शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल,
लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचन्द, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार,
विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेश बेटा-पोता कीनाजी
संकलेचा परिवार मेंगलवा,
फर्म-अरिहन्त नोवेलहटी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर,
कालुपुर टंकशाला रोड, अहमदाबाद.
८. थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलख भाई परिवार
९. शा कांतिलाल केवलजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६२ में
पालीताना में उपधान करवाया उस समय साधारण की आय से ।
१०. लहेर कुंद ग्रुप, शा जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)

११. २०६३ में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार प्रिन्केश, केनित, दर्शित, चुन्नीलालजी मकाजी कासम गौत्र त्वर परिवार गुड़ा बालोतान् 'जय चिंतामणी' १०-५४३ संतापेट नेलूर (आ.प्र.)

१२. पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे

पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार अशोक कुमार, मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता

शा पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान्

नाकोडा गोल्ड, ७० कंसारा चाल, बीजा माले रुमनं. ६७, कालबादेवी मुंबई

१३. शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता

पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.)

राजरतन गोल्ड प्रोड., के.वी.एस. कोम्पलेक्ष, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्दूर.

१४. एक सद् गृहस्थ, धाणसा

१५. गुलाबचंद राजकुमार छगनलालजी कोठारी अमेरीका, आहोर (राज.)

१६. शांतिरूपचंद रवीन्द्रचंद्र, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी मेहता, जालोर-बेंगलोर.

१७. वि. सं. २०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मितुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एण्ड को. राम गोपाल स्टीट, विजयवाडा

१८. बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा-पोता चंपालालज सांवलचंदजी बाफना, भीनमाल.

नवकार टाइम, ५९, नाकोडा स्टेट न्यू बोहरा बिल्डींग, मुंबई - ३.

१९. श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज.
राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४ रहेमान भाई बि.एस.जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४.
२०. स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी स्मृति में हस्ते परिवार
बाकरा(राज.)
- २१.शा दूधमल, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा बोता लालचंदजी मांडोत परिवार
बाकरा (राज.)मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई २
- २२.कटारीया संघवी लालचंद रमेशकुमार, गोतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार,
रवीन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.)
- श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३२-३ए पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्रबाद.
- २३.शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार
बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.)
- राजेन्द्र मार्केटींग, पो.बो. नं. १०८, विजयवाडा.
- २४.शा समरधमल सुकराज, मोहनलाल महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश
अनिल, विमल, श्रीपाल भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.)
- अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन, ब्राडी पेठ, गुन्दूर-२.
२५. शा नरपतराज, ललीतकुमार महेन्द्र, शैलेश, निलेश, कल्पेश, राजेश,
महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, सीकेश, यश
बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.)
- कलांजली ज्वेलर्स, ४/२, ब्राडी पेठ, गुन्दूर-२.
- २६.शा तीलोकचंद मयाचंद एन्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई - ४.
- २७.शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रवीणकुमार,
दीलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया,
मोदरा (राज.) गुन्दूर.
२८. एक सद्गृहस्थ (खाचरौद)

२९. शा भंवरलाल जयंतिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार, श्रेणिककुमार, प्रितम, प्रतीक, साहिल, पक्षाल बेटा पोता - परपोता शा समरथमलजी सोगाजी दुरगाणी बाकरा (राज.)
जैन स्टोर्स, स्टेशन रोड, अंकापाली - ५३१००१.
३०. शा. गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेश, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा पोता, रतनचंदजी, नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज) फूलचंद भंवरलाल, १०८ गोवींदप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई-१
३१. शेठ माँगीलाल, मनोहरमल, बाबुलाल जयंतिलाल जुठमल बेटा पोता सुमेरमलजी कुन्दनमलजी लुंकड गोल उमेदाबाद (राज.)
३२. संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासनराजेश इलेक्ट्रीकल्स ४८, राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली - ६२७ ००१
३३. भंसाळी भंवरलाल, अशोकुमार, कांतिलाल, गोतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा बोता लीलाजी कसनाजी मु. सरत. मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम.पी. लेन चीकपेट क्रोस, बेंगलोर - ५३.
३४. स्व. मातृश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर प्रविण एण्ड कं. १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद - १२.
३५. शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, दाँसपा, मुम्बई
३६. गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुम्बई, विजयवाडा, दिल्ली
३७. राज राजेन्द्रा टेक्सटाईल्स एक्सपोर्ट्स लिमिटेड १०१, राज भवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुम्बई, मोधरा निवासी
३८. संघवी पुखराजजी नेकाजी, धाणसा निवासी संघवी इलेक्ट्रीकल्स, १३०, ओपनकारा स्ट्रीट, कोइम्बटूर - ६४१ ००१.

आर्थिक सहयोगी

पूज्य पिताजी घेवरचंदजी

सरेमलजी दुर्गाणी

की स्मृति में

हस्ते : सुआँबाई घेवरचंदजी,
चंपालाली, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार,
हितेशकुमार, दीलीप, रोशन,
निखील, हर्ष, जैनम्, दीवेश,
बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी
दुर्गाणी, बाकरा निवासी

—: फर्म :—

हितेन्द्र मार्केटींग

११, ध.न. काशी सेटी लेन
पहला माला, छत्तशाला कॉम्पलेक्ष
चेन्नई-७९

आर्थिक सहयोगी

पू. पिताजी श्री चंपालालजी
मातुश्री राजाबाई के पुण्य स्मृति में
भंडारी रवीन्द्र कुमार छोटमल चंपालालजी
फोलवास जालोर

गुरु राजेन्द्र हाउस ओफ बेड सीट्
उमा टैकीस रोड
मैसूर

आर्थिक सहयोगी

शा मांगीलाल, मुकेश कुमार, नमनकुमार
बेटा पोता फोजमलजी दुर्गाणी परिवार
बाकरा निवासी

मुकेश इंटरप्राईजस

२४, ए.एम. लेन चीकपेट क्रास
बेंगलोर - ५६० ०५३.



आर्थिक सहयोगी

स्व. दानवीर शा. सुमेरमलजी हंजारीमलजी लूंकड़

की पुण्य स्मृति में

धर्मपत्नि सुआं बाई सुमेरमलजी लूंकड़

एवं

भाई पुत्र पौत्र आदि परिवार

भीनमाल निवासी



फर्म : सुमेर बिल्डर्स

मुंबई.

दो शब्द

एँ

ईशकृपा से पुण्यनगर की पुनीत वसुंधरा पर इस समय पुण्यमय योग क्षेम को वहन कर रहा हूँ। करुणार्द्र शील आचार्यदेव श्री विजयसमुद्रसूरीश्वरजी महाराज की असीमकृपा का पात्र बन श्री साधु-साध्वियों का ज्ञानपरामर्श-पुरुष हो गया हूँ। जन्म-जात ज्ञान का अधिकारी हूँ, शास्त्रों का पुजारी हूँ, शास्त्रज्ञों का चरणदुलारा हूँ, ज्ञान भाव की साधना कर गुरु भाव की गरिमा का आह्वान कर रहा हूँ। वाङ्मय मेरा आत्मप्रसाद है, चिन्मय मेरा मनोलोक है, प्रांजल-प्रतिमा मेरी विवेक-शीला संजीविनी जीवन-सिद्धौषधि है।

एकदा भाद्रपद की भव्य गोधूलि वेला में मुझ को मुनिश्री पद्मविजयजी महाराज ने "उपदेश माला" पर 'दो शब्द' लिखने का आग्रह किया। यह ग्रंथ उपदेशों का सागर है, कथाओं का कमनीय लोक है। जीवन में बार-बार इस ग्रंथ के पठन-पाठन का योग मुझे मिलता आया है। अतः इस ग्रंथ का मेरे साथ सर्वथा संपूर्ण सौहार्द है।

चिन्मयी भारतभारती की चरणभूति में भवभूति बनने वालें भावुक भक्तों का भावोद्गार ही उपदेश है, आचार ही संदेश है, विवेक ही आदेश है। श्रमण संस्कृति के सपूत स्नेही क्षमाक्षमण श्री धर्मदास गणि एक आचार निष्ठ अनगार बनकर साहित्य लोक में आये और उपदेशक वृन्द श्रमण पुंगवों को ललकारा-

सुदृवि उज्जममाणं पंचेव करिति रित्तिं समणं ।

अप्पथुई परनिंदा जिब्भोवत्था कसाया य ॥७२॥

१. आत्मप्रशंसा, २. परनिंदा, ३. जीभ की वाचालता, ४. गुप्तेन्द्रियअनियन्त्रणता और ५. कषायता इन पांच बातों से जो साधु दूर नहीं रहता है; वह अत्यंत परिश्रमी होता हुआ भी निर्धन है, खाली है, भरा हुआ नहीं।

उपदेशक-ग्रंथों में तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब है श्री धर्मदास गणि भी "उपदेश माला" में बहुश्रुत बनकर जीव का सर्वेक्षण करते हैं—

राउ ति य दमगुत्ति य, एस सपागु ति एस वेययिऊ ।

सामी दासो पुज्जो, खलो निधणो धणवइ ति ॥४६॥

ण चि इत्थ कोडयि (य) नियमो, सकम्मविणिचिड्डसरिसकयचिड्डो ।

अन्नन्नरुयवेसो, नडुव्व परियत्तए जीवो ॥४७॥

यह जीव स्वामी भी बना, सेवक भी रहा, वेदों का ज्ञाता भी हुआ, पूज्य बना, पामर भी रहा, श्रीमान् बनकर चमका, धीमान् बनकर धमका, राजा बनकर

लोकरंजन किया और भिखारी बनकर भवभंजन भी हुआ। जीवन की श्रेणियों में राजा से लेकर चाण्डाल तक नाना रूप धारणकर नट की तरह इस जीवलोक में अभिनय करने वाला अभिजात कलाकार मानव कहलाया।

श्री धर्मदास गणि प्राचीन कथाओं को गाथाओं में गुंफित कर उपदेश की पद्धति प्रस्तुत करते हैं। वे उपदेश और कथालोक को सम्मृक्त कर शास्त्रीय-मर्यादा का संपुट देते रहते हैं।

श्री धर्मदास गणि के समक्ष जैन श्रमणसंघ का शिथिलकाल जरूर था। आंतरिक दृष्टि से ग्रंथ के उद्धरणों का अवलोकन करते हैं तो एक नवीन प्रकाश का पुंज हृदय में उतरता है। गुरु-शिष्यों के पारस्परिक संबंधों व उत्तरदायित्वों का आचरण निर्बल दृष्टिगोचर होता है। निर्लोभिता पर लेखक बल देते हैं और अतीत की कथा का प्रभाव जमाते हैं।

यह ग्रंथ श्रमणसमवाय का प्रिय ग्रंथ है। अनेक टीकाकारों ने इस पर टीकाएँ लिखीं। इस नित्य स्वास्थ्याय-ग्रंथ को यदि कोई श्रमण अहर्निश पढ़ता रहे, तो अवश्य ही सौम्य, सरल और शांत बन सकता है। श्रमण जीवन की साधना का यह ग्रंथ सोपान-मार्ग है और श्रावक जीवन की सिद्धौषधि है। यदि श्रमण वर्ग प्रशमरति और उपदेशमाला इन दोनों ग्रंथों का नित्य नियमित अध्ययन करता रहे तो अवश्य ही आत्महित में वृद्धि कर सकता है।

मैं मुनिश्री पद्मविजयजी महाराज को सस्नेह इस बात पर विवश करना चाहता हूँ कि क्या 'उपदेशमाला' के प्रकाशन से ही आत्म-शांति का विकास होगा? नहीं? आत्म-शांति का विकास उपदेश माला के आचरण में है। उपदेशों को अपनाकर जीवन को जगमगा कर जीवों को उपादेय मार्ग समझाएँ, वही 'उपदेश माला' का अमर अनुरागी अनगर है। आचार ही उसका प्रकाशन है, व्यवहार ही उसका लेखन है, ज्ञान ही उनका संपादन है।

इस प्रकाशन के भगीरथ कार्य में मनस्वी विद्वान् श्री नेमिचन्द्रजी महाराज की अलौकिक उदारता है और आचार्यदेव श्री विजयसूरीश्वरजी महाराज की सौजन्यता है। श्री पद्मविजयजी महाराज की मात्र पुरुषार्थपूर्ण साहसिक उछाल है। फिर भी परिश्रमी बनकर दिनभर नकल और अकल के रास्ते खोजते रहते हैं और शास्त्रों के प्रति निष्ठा का भाव जमाते जाते हैं। एतदर्थ मुनिश्री पद्मविजयजी भाषानुवाद के भोले भक्त बनकर तत्काल ही लेखक हो गये। यह इनका भाग्य है। संवत् २०२८ शारदीय राका 'चन्द्र'

दिनांक ४/१०/१९७१

पुण्यनगर (महाराष्ट्र)

- शास्त्रजीवी

पंडित गोविन्दराम व्यास

हरजी (राजस्थान)

प्राक्कथन

संसार तेजी से बदलता जा रहा है। पुराने शुद्ध मूल्य बदलते जा रहे हैं, साधुता का स्थान विलासिता, प्रमादशीलता, आडम्बरपरायणता और आचारहीनता लेती जा रही है। ऐसे समय में पुराने शुद्ध मूल्यों की सुरक्षा न की जाय और गलत मूल्यों को ही बढ़ने दिया जाय तो देश पर ही नहीं, दुनिया पर संकट के काले बादल छा सकते हैं, मानव पशु से भी गया बीता, राक्षस और बर्बर बन सकता है। अतः पुराने शुद्ध मूल्यों की सुरक्षा और मानवजाति को विनाश और बुराइयों से रोकने के लिए यही आवश्यक है कि उनका प्रचार-प्रसार किया जाय, जनता के दिल-दिमाग में साधुता के उन मूल्यों की आवश्यकता और उपयोगिता की बात ठसायी जाय। इसी कारण मेरे मन में साधुता के शुद्ध मूल्यों के प्रतिपादक इस बहुमूल्य ग्रंथराज—‘उपदेश-माला’ के हिन्दीभाषा में अनुवाद करने और प्रकाशन कराने की प्रबल इच्छा जागृत हुयी। मैंने रह-रहकर सोचा कि सारा संसार आज विनिमय के आधार पर टिका तो है, पर साधुता न होने से उसमें स्वार्थ, हिंसा, झूठ, बेईमानी, दुराचार आदि बुराइयों के कीटाणु उसे स्थायी न रहने देंगे। और मैंने निश्चय कर लिया, इसका हिन्दी-भाषा में अनुवाद करने का।

यद्यपि मैं हिन्दीभाषा का कोई सफल रचनाकार, अच्छा अनुवादक या सिद्धहस्त लेखक नहीं हूँ; फिर भी शांतमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजयसूरीश्वरजी महाराज तथा सौम्यमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजयपूर्णानन्दसूरीश्वरजी महाराज की असीम कृपा का फल है कि मैं अपने पूर्वोक्त निश्चय को असली रूप दे सका। साथ ही विद्वद्वर्य मुनिवर श्री नेमिचन्द्रजी महाराज ने उदारतापूर्वक इस पुस्तक का समग्ररूप से संशोधन करके मेरे उत्साह में वृद्धि की है; एतदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

इस संपूर्ण ग्रंथ में उत्तम साधुजीवन के मूलगुणों, उत्तरगुणों आदि का प्रतिपादन करने के साथ-साथ विविध युक्तियाँ, दृष्टान्त, प्रेरणाप्रद कथाएँ और वैराग्यरस में सरोबार कर देने वाला शुभफलप्रदर्शक तर्क एवं अनुभव देकर साधुता के शुद्ध और ध्येयलक्ष्य मूल्यों का प्रतिपादन कूट-कूटकर किया गया है। सारे मानव-समाज का आदर्श शिरोमणि और परमश्रद्धेय साधु है। वही यदि अपनी

मर्यादा, आचरणपरायणता, क्षमा आदि धर्मों के पालन, पंच महाव्रतों और अष्ट प्रवचन माताओं की चर्या से रहित जीवन बिताने लगे तो संसार को वह क्या दे सकेगा? इसी दृष्टिकोण को लेकर श्री धर्मदास गणि ने उस युग के शिथिलाचारी उदरम्भरी साधुओं को खूब फटकारा है। यहाँ तक कि उन्हें साधुधर्म और श्रावकधर्म दोनों से भ्रष्ट और अनन्तसंसार-परिभ्रमणशील कहा है। सच्चे सुसाधु की पहचान भी बतायी है। मतलब यह है कि इस ग्रंथराज के द्वारा साधुता के मूल्यों की सुरक्षा और भौतिकता के प्रवाह में बहते हुए साधुवर्ग को सच्ची साधुता की ओर मोड़कर शुद्ध मूल्यों का प्रसार हो सकेगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

इस ग्रंथ पर अनेक टीकाएं आज तक लिखी गयी हैं। कुछ ये हैं—

१. कृष्णर्षि के शिष्य जयकीर्ति कृत वृत्ति, प्राकृतभाषा में विक्रम संवत् ९१३ में बनायी है।
- २-३. दुर्गस्वामी के शिष्य सिद्धर्षिगणि कृत हेयोपादेया बृहत् टीका और लघुवृत्ति।
४. बृहद्गच्छीय वादिदेवसूरि के शिष्य श्री रत्नप्रभसूरि कृत दोषट्ठी विशेषवृत्ति, विक्रम संवत् १२३८ में रचित।
५. नागेन्द्रगच्छीय श्री विजयसेनसूरि के शिष्य श्री उदयप्रभाचार्य कृत कर्णिका, विक्रम संवत् १२९८ में रचित।

इस प्रकार इस महाकाय ग्रंथ पर अवचूरि, विवरण, बालावबोध आदि कुल मिलाकर ३२ टीकाएं उपलब्ध हैं। उनमें से तीन टीकाएं ही अभी तक मुद्रित हुई हैं।

इस ग्रंथ के अंतिम टीकाकार श्री रामविजय गणिवर हैं। उन्हीं के द्वारा रचित टीका का यह हिन्दी अनुवाद है। इनकी विशाल टीका मुझे बहुत पसंद आयी। इसकी विशेषता यह है कि इसमें कथाएं विस्तृत रूप से देकर विषय को रोचक और स्पष्ट बना दिया गया है। यद्यपि टीकाकार ने अपना परिचय, प्रशस्ति या रचनाकाल ग्रंथ की समाप्ति पर नहीं लिखा, तथापि इतना अवश्य प्रसिद्ध है कि ये आचार्य हीरविजयसूरि महाराज की परंपरा के थे। इनके गुरु मुनि श्री सुमतिविजयजी थे। वे उपाध्याय यशोविजयजी के समकालिन थे। इस टीका का लेखन काल विक्रम संवत् १७८९ माना जाता है। जो भी हो, ग्रंथ को सर्वांगसुंदर

तथा सामान्यजन-ग्राह्य बनाने के लिए आपने अपनी टीका द्वारा पूर्णरूपेण प्रयत्न किया है।

इस ग्रंथराज के रचयिता श्री धर्मदास गणि हैं, जिनके विषय में टीकाकार का मत है कि वे भगवान् महावीर स्वामी से दीक्षित हुए थे। गृहस्थावस्था में आप विजयपुर नगर के राजा विजयसेन के पुत्र थे। बाद में आपने अपने पुत्र को प्रतिबोध देने के लिए इस 'उपदेश माला' ग्रंथ की रचना की थी।

श्री धर्मदास गणि का भगवान् महावीर के पास दीक्षित होने का टीकाकार का मत असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस ग्रंथ में भगवान् के निर्वाण के उत्तरकालीन साधुओं की जीवनगाथाएं दी गयी हैं। साथ ही संविग्नपक्ष पर बहुत जोर दिया है; जो भगवान् महावीर के कई वर्षों के बाद ही उदय में आया है। इसीलिए कुछ विद्वानों का मत है कि ये वीर निर्वाण के बाद पांचवीं शताब्दी में हुए थे। यह मत फिर भी तथ्य के निकट है। क्योंकि उस युग में दीर्घकालीन दुष्कालों का बड़ा जोर था; इस कारण बहुत से साधु साधुवेष रखकर साध्वाचार में शिथिल हो रहे थे। यही कारण है कि श्रीधर्मदास गणि ने इस ग्रंथ में शिथिलाचारियों को खूब आड़े हाथों लिया है। ऐतिहासिक खोज करना इतिहासविदों का काम है। मैंने तो ग्रंथ को उपादेय समझकर तटस्थभाव से इसका सटीक अनुवाद किया है। फिर टीकाकार के मत से अनुवादक का सहमत होना कोई आवश्यक भी नहीं।

इस ग्रंथ की संस्कृत टीका का हिन्दी-अनुवाद करने में मैंने हिन्दी की सरस-सरल शैली में भावाभिव्यंजन और दुरुह एवं कठिन शब्दों के बदले सरल शब्दों का प्रयोग करने की नीति अपनायी है। अनुवाद कैसा और किस ढंग का हुआ है? इसके निर्णय का भार मैं अपने सुज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। मैंने अपनी गति-मति के अनुसार इसे सरस और सर्वजनग्राह्य बनाने का प्रयास किया है। मेरी मतिमंदता या अल्पज्ञता के कारण मूलग्रंथकार या टीकाकार के आशय के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो सुज्ञजन मुझे क्षमा करें।

जैन उपाश्रय, गुरुवारपेठ, पूना-२

हिताकांक्षी—

श्री वल्लभस्वर्गारोहण तिथि

मुनि पद्मविजय

आश्विन वदी एकादशी,

दिनांक १५/९/७१

संपादकीय

वृद्धवादानुसार यह उपदेशमाला प्रभु महावीर स्वामी के हस्तदिक्षित शिष्य अवधिज्ञानी श्री धर्मदास गणि के द्वारा रचित ग्रंथ है।

श्री धर्मदास गणिवर कब हुए इस विषय में इतिहासज्ञों में मतभेद है। इस विषय में आचार्य श्री मुनिचंद्र सूरीश्वरजी द्वारा संपादित श्री जिन शासन आराधना ट्रस्ट मुंबई से प्रकाशित उपदेश माला सटीक में विस्तृत विचारणा की है। विद्वानों को उसे पढ़नी चाहिए।

यह ग्रंथ वैराग्य वर्द्धक है। आत्मा को जागृत करने वाला है। मार्ग पर चलने वालों के लिए सर्व लाइट का कार्य करने वाला है। गुण स्थानक पर आरोहक के लिए परिपूर्ण रूप से सहायक है। ऊपर चढ़ने वाला अगर गिरने लगे तो उसे सहारा देकर पुनः ऊपर चढ़ाने के लिए सक्षम सहायक है। विचारों की अशुद्धि एवं वर्तन की विपरीतता को दूर कर विशुद्धता की वृद्धि कराने वाला है। मार्ग पर चलने वाला मार्ग भूल गया हो तो उसे भोमिया बनकर मार्ग पर चढ़ाने वाला है।

श्रमण संघ एवं श्रमणोपासक संघ दोनों के लिए यह ग्रंथ अत्यंत उपयोगी है। आराधक आत्मा के लिए आराधना में अमृत का सिंचन कर आत्मा को अमर पद प्रदान करवाने का अत्युत्तम विशिष्ट साधन है।

इस ग्रंथ को जितनी उपमाओं से उपमित करे उतनी उपमाएँ दी जा सकती है। और वे अल्प ही होगी।

इस ग्रंथ की उपलब्ध श्लोक संख्या ५४४ है। ग्रंथ में ५४२ वीं गाथा में ५४० गाथा का उल्लेख है। जिन शासन में अंको का भी महत्त्व है। नौ का अंक अखंड माना गया है। पंच मंगलमहाश्रुत स्कंध के पांच और चार पद हैं। उसी का अनुसरण इस में मिलता है। प्रथम पांच का अंक दूसरा ४ का अंक १ अंत की शून्य आत्मा को कर्मशून्य बनाने के लिए यह ग्रंथ अत्यंत उपयोगी है।

नौ का अंक अखंड है, नवकार शाश्वत है वैसे ही यह उपदेश माला भी चिरंजीवी है। वृद्धवादानुसार यह ग्रंथ पच्चीससो वर्ष पुराना है। इससे यह चिरंजीवी है।

इसमें २३० वीं गाथा में श्रावक के कर्तव्यों के वर्णन के अन्तर्गत जिन मंदिर में प्रभु प्रतिमा की पूजा का विधान किया है उसमें “धूव पुष्प गंध” शब्द का प्रयोग है।

इसमें जल पूजा का या अष्ट प्रकारी पूजा का कोई उल्लेख नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय प्रति दिन जलाभिषेक आवश्यक नहीं था। और वृद्धवादानुसार इस ग्रंथ को महावीर प्रभु के हस्तदीक्षित शिष्य द्वारा रचित माना जाय तब उस समय भी श्रावक के कर्तव्य में जिन पूजा मुख्य प्रधान कर्तव्य माना जाता था।

इस ग्रंथ में आराधकों के लिए मार्ग दर्शाया है जैसे विराधक साधुओं को करारी चोट से प्रहार भी किये हैं। विराधक साधु को अनंत संसारी दर्शाया है।

इस ग्रंथ का अध्ययन किसे करवाना किसे न करवाने पर भी विस्तृत एवं अतीव उपयोगी मार्गदर्शन दिया है।

संघयण बल की कमी के कारण पूर्ण रूप से आगमोक्त चारित्र का पालन न हो तो आराधक के तीन वर्ग बताकर संविग्न पाक्षिक नामक तीसरे वर्ग में रहकर आराधक बनने का मार्ग बताया है।

उपदेश मालाकार का मूल लक्ष्य यही दिखता है कि पूर्व पुण्योदय से चारित्र मिला है तो उसे जघन्य कोटी की आराधना से भी सफल बनावें। इस चारित्रावस्था को निष्फल न जानें दे।

मैंने तो इस ग्रंथ का व्याख्यान में कई बार वांचन किया है। इस पर मनन चिंतन भी किया है। इस पर चिंतन मनन से चारित्रिक शिथिलताओं को दूर करने के लिए प्रयत्नशील भी हूँ। फिर भी कई प्रकार की मानसिक विकृतियों को सर्वथा नष्ट करने में सर्वथा सफलता नहीं मिली। फिर भी प्रयत्न सतत चालु है।

इसका हिन्दी अनुवाद करना प्रारंभ किया और मुनि श्री पद्मविजयजी कृत हिन्दी अनुवाद नजर में आया इससे अनुवाद करना बंद कर इसी अनुवाद को सुधारकर छपवाने का निर्णय किया। हेयोपादेय टीका से मूल गाथाएँ सुधारने का प्रयत्न किया है। फिर भी अशुद्धि रही हो तो संपादक को सूचित करने की कृपा करावें।

मुनिराज श्री पद्मविजयजी का आभार एवं ऋण स्वीकारकर उनका ही यह अनुवाद पुनः प्रकाशित कर रहा हूँ। अनुवाद को तीन बार पढ़ा है सुधारने का प्रयत्न किया है फिर भी त्रुटी रही हो तो सुधारकर पढ़ें।

जिनाज्ञा विरुद्ध लिखा गया हो तो मिच्छा मि दुक्कडम्।

- जयानंद



अनुक्रम

विषय	पृष्ठ
अतिस्नानी त्रिदण्डी की कथा	३३३
अर्णिकापुत्र की कथा	२८२
अवंतिसुकुमाल की कथा	१७४
अंगसंगोपनकर्ता कछुए का दृष्टांत	४०१
अंगारमर्दकाचार्य की कथा	२७७
आर्य महागिरि की कथा	२६३
उदायीनृप के हत्यारे का दृष्टांत	७२
उपदेशमाला का फल	४१५
उपसंहार	४१५
कनककेतु राजा की कथा	२४५
कपटक्षपक तपस्वी की कथा	३६३
कामदेव श्रावक की कथा	२२२
केशोगणधर और प्रदेशी राजा की कथा	१९२
कोणिक राजा की कथा	२४९
कण्डरीक और पुण्डरीक की कथा	३२०
गिरिशुक और पुष्पशुक का दृष्टांत	३०४
चन्दनबाला की कथा	२७
चन्द्रावतंसक राजा की कथा	२१७
चाणक्य की कथा	२५२
चिलातीपुत्र की कथा	१०७
चूलणी रानी की कथा	२४१
चंडरुद्राचार्य की कथा	२७५
जम्बूस्वामी की कथा	८०
जन्मों की विचित्रता	१२७
जमाली की कथा	३९१
'जा सा, सा सा' का दृष्टांत	७५
तामलितापस की कथा	१६८

दत्तमुनि की कथा	१८७
दर्दरांक देव की कथा	३७७
द्रमक का दृष्टांत	२२७
दृढ़प्रहारी मुनि की कथा	२३३
नंदीषेण की कथा	१३७
परशुराम और सुभूमचक्री की कथा	२५७
पीठ-महापीठ मुनि की कथा	१६३
पुष्पचूला की कथा	२७९
पुलिंद भील की कथा	३२७
पूरण तापस की कथा	२०९
प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा	३९
प्रतिबोधकुशल नंदीषेणमुनि की कथा	३१४
बलदेव मुनि, रथकार और मृग की कथा	२०६
बाहुबलि का दृष्टांत	४७
ब्रह्मदत्त चक्रों की कथा	६१
भरतचक्रवर्ती का दृष्टांत	३५
मंगू-आचार्य की कथा	२९३
मृगावती का दृष्टांत	७७
रणसिंह का चरित्र	१
वरदत्तमुनि की कथा	२११
वाचनाचार्य वज्रस्वामी का दृष्टांत	१८४
विद्यादाता चाण्डाल की कथा	३२९
शशिप्रभ राजा की कथा	३२३
शैलकाचार्य और पंथकशिष्य की कथा	३१०
स्कन्दकाचार्य व उनके शिष्यों की कथा	११६
स्कन्दककुमार मुनि की कथा	२३८
सत्यकि विद्याधर की कथा	२७०
स्थूलभद्र मुनि की कथा	१४८
सनत्कुमार का दृष्टांत	५८
सहस्रमल्ल मुनि की कथा	२३६
सागरचन्द्रकुमार की कथा	२१८
सुकुमालिका का दृष्टांत	२८८
सुलस की कथा	३८६

संवाधन राजा का दृष्टान्त	३३
सिंहगुफावासी मुनि का दृष्टांत	१५८
हरिकेशबल मुनि की कथा	१२०
श्रावक उपदेश	२४१
श्री कालिकाचार्य की कथा	१९९
श्रीकृष्णजी का संक्षिप्त जीवनवृत्त	२७४
श्री गजसुकुमार मुनि की कथा	१४३
श्री ढंढणकुमार की कथा	११२
श्री महावीर स्वामी के पूर्वजन्म की कथा	२०१
श्री मरुदेवी माता की कथा	२८६
श्री मेघकुमार की कथा	२६४
श्री मैतार्यमुनि की कथा	१७७
श्री वज्रस्वामी की कथा	१२७
श्री शालिभद्र की कथा	१७०
श्री सुनक्षत्रमुनि का दृष्टांत	१८९



परिशिष्ट

मूलगाथावर्द्ध	पृष्ठ	मूलगाथावर्द्ध	पृष्ठ
अइसुद्धिओ त्ति,	१६३	अवरुप्परसंबाह सुक्खं,	२६७
अंगारजीववहगो,	२७७	अवि कत्तिउण जीवे,	२१०
अंतेउर-पुर-वल-वाहणेहिं,	१३४	अवि नाम चक्कवट्टी,	३२३
अक्कोसण-तज्जण-ताडणाओ,	२३२	अवि इच्छंति य मरणं,	३८६
अक्खरमत्ताहीणं,	४१६	असंजएहिं सव्वं,	४०५
अच्चणुरत्तो जो पुण,	४११	अह जीवियं निक्किंतइ,	२३२
अच्चिय-वंदिय-पूइय,	२९२	अहमाहओ त्ति न य पडिहणंति,	२३५
अइइहासकेलीकिलत्तणं,	३४५	अहियं मरणं अहियं च,	३८५
अट्टमछट्टच्चउत्थं,	३५९	आउं संविल्लंतो,	३९६
अणवड्डियं मणो जस्स,	४०२	आजीवसंकिंलेसो,	३३७
अणुगम्मई भगवई,	२६	आजीवग-गणनेया,	३९१
अणुवत्तगा विणीया,	१८६	आणाइ च्चिय चरणं,	४०७
अणुराएण जइस्सऽवि,	२३८	आणं सव्वजिणाणं,	४०६
अणुसिद्धा य बहुविहं,	३०१	आमुक्क जोगिणो च्चिय,	४१३
अन्नोन्नजंपिएहिं,	३०३	आयरतरसंमाणं सुदुक्करं,	४१२
अपरिच्छियसुयनिहसस्स,	३७१	आयरियभत्तिरागो,	१८८
अपरिस्सावी सोमो,	२५	आरंभपावनिरया,	३९५
अप्पहियमायरंतो,	२०५	आलावो संवासो,	३०३
अप्पा जाणइ अप्पा,	४६	आसन्न-काल,	३३९
अप्पा चेव दमेयव्वो,	२९२	आसायणमिच्छत्तं,	३७०
अप्पागमो किलिस्सइ,	३७१	आहारेसु सुहेसु अ,	११५
अप्पेण वि कालेणं,	३१९	ईसा-विसाय-मय,	३३८
अबहुस्सुओ तवस्सी,	३७०	इक्कं पि नत्थि जं सुट्ठु,	३९६
अभिगमण-वंदण,	२७५	इक्कस्स कओ धम्मो,	२६८
अमुणियपरमत्थाणं,	२४०	इत्थ समप्पइ इणमो,	४१६
अरसं विरसं लूहं,	३४८	इत्थिपसुसंकिलिद्धं,	३५०
अरहंतचेइआणं,	४०६	इह लोए आयासं,	२२९
अरिहंत भगवंतो,	३८८	इय गणियं इय तुल्लिअं,	४००
अलसो सदोऽवलित्तो,	३६२	इय धम्मदासगणिणा,	४१५

मूलगाथाार्थ	पृष्ठ	मूलगाथाार्थ	पृष्ठ
इरिधकसाधनारवमरहिं,	३९४	कज्जे भासइ भासं,	३४९
उग्याह गह हसइ य असंबुडो,	३६०	कडुअं कसायतरुणं,	७९
उग्याह तिरियलोए (नरया),	३५१	कतो चिंता सुचरियतवस्स,	३९७
उच्चारपासवणे,	३४२	कतो सुत्तत्थागम,	२६८
उच्चारे पासवणे,	३५८	कप्पाकप्पं एसणमणेसणं,	३७१
उच्चार-पासवण,	२६९	कम्माण सुबहुयाणुवसमेण,	४१४
उच्चुह सरीरघरा,	१७५	कम्मेहिं वज्जसारोवमेहि,	३१९
उच्चिज्ज अंतरे च्चिय,	३२३	कलहण-कोहणसीलो,	२३०
उत्तमकुलप्पसूया,	२६४	कलुसीकओ अ,	३१९
उवएसमालमेयं,	४१५	कह उ जयंतो साहु,	३६७
उवएससहस्सेहिं वि,	६१	कह कह करेमि,	३९९
उवएसं पुण तं दित्ति,	३८५	कह तं भन्नइ सोकखं,	६१
उव्वेवओ य अरणामओ य,	३४६	कह सो जयउ अगीओ?,	३६९
उव्विलण-सूअण,	१६६	काऊण संकिलिद्धं सामन्नं,	३२२
उसुत्तमायरंतो,	३०२	कारण नीयावासे,	२०९
एसु जो न वट्टिज्जा,	३३४	कारुण-रुण,	२०५
एकदिवसेण बहुया,	२६९	कारणविऊ कयाई,	१८६
एग दिवसं पि जीवो,	१७६	कालस्स य परिहाणी,	३४०
एगागी पासत्थो,	३६४	किमगं तु पुणो जेणं,	४००
एगंत नीयावासी,	२१०	किं आसी नंदिसेणस्स,	१३६
एए दोसा जम्हा,	३७०	किं परजण,	३४
एवमगीयत्थो वि हु,	३६९	किं सक्का वोतुं जे,	७९
एवं तु पंचहिं आसवेहिं,	३००	किं पि कहिं पि कयाई,	२८७
एवं पि नाम नाऊण,	३४७	किं मूसगाण अत्थेण?,	४१३
एस कम्मो नरएसु वि,	३३६	किं लिंगविद्धरीधारणेण?,	३७६
ओसन्नया अबोही,	३५४	कीबो न कुणइ लोयं,	३५६
ओसन्नवरणकरणं,	३०६	कुच्छा चिलीणमलसंकडेसु,	३४६
ओसन्नविहारेणं,	२९५	कुल-घर-नियय,	२६३
ओसन्नस्स गिहिस्स व,	३५५	कुसमयसुईण महणं,	३३५
ओसन्नो अत्तट्ठा,	४१०	केइत्थ करेत्ताऽऽलंबणं,	२८५
कइयावि जिणवरिंदा,	२६	केइ सुसीलासुहमाइ,	२७५
कक्खडदाहं सामलि,	३३७	केसिं चि य परो लो गो,	३८४
कज्जेण विणा,	३५८	केसिं चि वरं मरणं,	३७७

मूलगाथाार्ध	पृष्ठ	मूलगाथाार्ध	पृष्ठ
कोडीसएहिं धणसंचयस्स,	१२८	छज्जीवकायविरओ,	३८४
को तेण जीवरहिण्ण,	३२५	छज्जीवनिकाय,	३७५
को दाही उवएसं,	४०३	छज्जीवनिकायमहव्वयाण,	३७५
को दुक्खं पाविज्जा?,	२३०	छेओ भेओ वसणं,	१३५
कोहो, कलहो खारो,	३४२	जइ ता असक्खणिज्जं,	३५३
कोहो, माणो, माया,	३४२	जइ गिण्हइ वयलोवो,	३०३
कंचणमणिसेवाणं,	४०४	जइ ठाणी जइ मोणी,	१६१
कंतारोहमद्दाण,	४११	जइ ता, जणसंववहार,	१६५
खरकरहतुरयवसहा,	२९१	जइ ता तणकंचण,	३९१
खित्ताईयं भुंजइ,	३५७	जइ ता तिलोगनाहो,	२३
गच्छगओ अणुओगी,	३६४	जइ ताव लवसत्तम,	६०
गयकन्नचंचलाए,	७४	जइ ताव सव्वओ सुंदरुत्ति,	१६३
गारवतियपडिबद्धा,	३७३	जइ दुक्करदुक्करकारओत्ति,	१६२
गामं देसं च कुलं,	३५६	जइ न तरसि धारेउं,	४०६
गिरिसुअ-पुप्फसुआणं,	३०४	जइयाऽणेणं चत्तं,	३७६
गीयत्थं संविगं,	३६०	जइ सव्वं उवलद्धं,	४०१
गुज्झोरुवयण,	३५१	जगचूडामणिभूओ,	२२
गुणदोसबहुविसेसं,	३४५	जस्स गुरुमि न भत्ती,	१६६
गुणहीणो गुणरयणायरेसु,	३५४	जस्स गुरुमि परिभवो,	३२६
गुरु-गुरुतरोय अइगुरु,	२४०	जह उज्जमिउं जाणइ,	३७२
गुरुपच्चक्खाण,	३६१	जह कच्छुल्लो कच्छं,	३००
गुरुपरिभोगं भुंजइ,	३६०	जह चक्कवट्टीसाह,	१४७
धित्तूण वि सामण्णं,	३२५	जह चयइ चक्कवट्टी,	२८४
घोरे भयागरे सागरंमि,	३४५	जहड्डियखित्तं न याणइ,	३६८
चरणकरणपरिहीणो,	३७४	जहड्डियदव्व न याणइ,	३६८
चरणकरणालसाणं,	४१३	जह दइयमि वि पहे,	३७१
चरणाइयारो दुविहो,	३६७	जह नाम कोइ पुरिसो,	३६१
चारगनिरोह-वह,	३३७	जह मूलताणए,	३३५
चिंतासंतावेहि य,	३३८	जह वणदवो वणं,	२३१
चोरिक्क-वंचणा,	३९०	जह सरणमुवगयाणं,	४१०
चंदोव्व कालपक्खे,	३९९	जह सुरगणाण इंदो,	२४
छक्कायरिऊण,	३७६	जह-जह कीरइ संगो,	२१६
छज्जीवकायवहगा,	१६८	जह-जह खमइ सरीरं,	३५२

मूलगाथाार्द्ध	पृष्ठ	मूलगाथाार्द्ध	पृष्ठ
जह-जह बहुस्सुओ,	३४७	जो नवि दिणे-दिणे संकलेइ,	४००
जह-जह सक्खुवलद्धं,	४०२	जो निच्चकालतवसंजमुज्जओ,	३५२
जहा खरो चंदणभारवाही,	३७४	जो निच्छएण गिण्हइ,	२१६
जाईए उत्तमाए,	३५०	जो नियम-सील-तव-संजमेहिं,	३९०
जाइ-कुल-रुव,	३४९	जो पुण निरच्चणो च्चिअ,	४०४
जाणइ य जह मरिज्जइ,	२९८	जो भासुरं भुयंगं,	३४४
जाणइ य जहा,	२९८	जोऽवि य पाडेऊणं,	३६३
जाणिज्जइ चित्तिज्जइ,	२९८	जो सुत्तत्थविणिच्छिय,	३७६
जावय लवणसमुद्दो,	४१६	जो सेवइ किं लहइ,	३००
जावाऽऽउ सावसेसं,	३२५	जो हुज्ज उ असमत्थो,	३६२
जायंमि देहसंदेहयंमि,	३५३	जं आणवेइ राया,	२४
जिणवयण-सुइ-सकण्णा,	११९	जं जयइ अगीयत्थो,	३६७
जिय-कोह-माण-माया,	३६५	जं णेण जलं पीयं,	२९७
जिणपह-अपंडियाणं,	२८५	जंतोहिं पीलियावी हु,	११५
जिणवयणकप्परुक्खो,	४१५	जं न लहइ सम्मतं,	२२९
जीअं काऊण पणं,	१९८	जं जं नज्जइ असुइं,	२९९
जीवो जहामणसियं,	२९३	जं तं कयं पुरा पूरणेण,	२०९
जीवेण जाणिउ विसज्जियाणि,*	२९६	जं जं समयं जीवो,	४६
जीवंतस्स इह जसो,	१८६	ठवणकुले न ठवेई,	३५७
जुगमित्तंतरदिद्धी,	३४१	ठाणं उच्चुच्चयरं,	३२६
जे घरसरणपसत्ता,	३०२	तम्हा सव्वाणुत्ता,	३६५
जेडुव्वयपव्वयभर,	१६१	तवकुलच्छायाभंसो,	३४८
जे ते सव्वं लहिउं,	४०५	तवनियमसुद्धियाणं,	३८५
जोइस-निमित्त-अक्खर,	२१५	तह वत्थपायदंडग-उवगरणे,	३८८
जो आगलेइ मत्तं,	३४४	तवनियमसीलकलिया,	३१०
जो अविकलं तवं संजमं च,	२८२	तह छक्कायमहव्वय,	३७५
जो कुणइ अप्पमाणं,	१५७	तह पुव्विं न कयं,	२३७
जोग्गा सुसाहुवेरगियाण,	४१५	तिरियाकसंकुसारा,	३३७
जो गिण्हइ गुरुवयणं,	१८६	तिव्वयरे उ पआसे,	२८५
जो चयइ उत्तरगुणे,	२१६	ते धन्ना ते साहु,	१४८
जो जस्स वट्ठए हियए,	१६९	तो पढियं तो गुणियं,	१६१
जो जहवायं न कुणइ,	४०७	तो बहुगुणनासाणं,	२२९
जो चंदणेण बाहुं,	१८३	तो हयबोही य पच्छा,	३७८

मूलगाथाार्द्ध	पृष्ठ	मूलगाथाार्द्ध	पृष्ठ
तं सुरविमाणविभवं,	३३८	धम्मं पि नाम नाऊण,	३३८
थद्धा च्छिद्दप्पेही,	१६५	धम्मं रक्खइ वेसो,	४५
थद्धो निरुवयारी,	५७	धम्मंमि नत्थि माया,	३६६
थोवेणवि सप्पुरिसा,	५७	न करेमि ति भणित्ता,	४०७
थोवोऽ वि गिहिपसंगो,	२१०	न करंति जे तव-संजमं च,	१७३
दगपाणं पुप्फफलं,	३५४	न करेइ पहे जयणं,	३५८
दङ्कुजउमकज्जकरं,	४०३	न कुलं एत्थ पहाणं,	१२०
दढसीलव्वयनियमो,	३०७	न चइज्जइ चालेउं,	२३
दव्वं खित्तं कालं,	३६८	न तहिं दिवसा पक्खा,	३९९
दस-दस दिवसे-दिवसे,	३१३	न य नज्जइ सो दियहो,	२९९
दावेऊण धणनिहिं,	३२६	नमिऊण जिणवरिदि,	२१
दिणदिक्खियस्स दमगस्स,	२७	नरएसु जाइं,	३३६
दिव्वालंकारविभूसणाइं,	३३६	नरएसु सुरवरेसु य,	३३५
दीसंति परमघोरावि,	१०७	नरयगइगमणं,	१९८
दुक्कर-मुद्धोसकरं,	१७४	नरयत्थो ससिराया,	३२३
दुज्जणमुहकोदंडा,	२३७	नरयनिरुद्धमईणं,	३८५
दट्ठुणं कुलिगिणं,	३०७	न वि कुणइ अमित्तो,	२२९
दुप्पयं चउप्पयं बहुपयं,	२९८	न वि धम्मस्स भडक्का,	३६६
देवाण देवलोए,	३३६	नह-दंत-केसरोमे,	३५६
देवा वि देवलोए,	३३८	नह-दंतमंसकेसडिएसु,	२९७
देवेहिं कामदेवो,	२२२	नाहम्मकम्मजीवी,	३०७
देवो नेरइओ त्ति य,	१२७	नाऊण करयस्स,	४१३
देहो पिवीलियाहिं,	२८४	नाणाहिओ वरतरं,	३७३
दो चेव जिणवरेहिं,	४०३	नाणाहियस्स नाणं,	३७३
दोससयमूलजालं,	१३५	नाणे दंसण-चरणे,	३०१
धम्मकहाओ अहिज्जइ,	३६०	नाणं चरित्तहीणं,	३७३
धम्मत्थकाममोक्खेसु,	४१४	निअगमइविगप्पिय-चिंतिएण,	५७
धम्ममइएहिं अइसुंदरेहिं,	१९८	निक्खमण-नाणं,	३०८
धम्ममिणं जाणंता,	२९८	निगंतूण घराओ,	२९५
धिद्धि अहो अकज्जं,	२३०	निच्चं दोससहगओ,	२९२
धम्मो पुरिसप्पभवो,	३२	निच्चं पवयणसोहाकराणं,	३५३
धम्मो मएण हुंतो,	४६	निच्चं संकियभीओ,	३०३
धंतमणिदामससिगय,	४१५	निच्छयनयस्स,	४०९

मूलगाथाार्ध	पृष्ठ	मूलगाथाार्ध	पृष्ठ
निययाऽवि निययकज्जे,	२५७	पीयं थणयच्छीरं,	२९७
निब्बीए दुब्बिक्खे,	४०४	पुण्णेहिं चोइया पुरक्खडेहिं,	१९१
निम्मम-निरहंकारा,	३६५	पुप्फियफलिण तह पिउच्चरंमि,	११२
निहयाणिहयाणि य,	३४९	पुरनिद्धमणे जक्खो,	२९३
निहिसंपत्तमहत्तो,	२८८	पुब्बिं चक्खूपरिक्खिय,	३४१
नीयं गिण्हइ पिंडं,	३५९	पंचसमिया तिगुत्ता,	३६५
पडिक्खज्जिऊण दोसे,	७७	पंचिदियत्तणं माणुसत्तणं,	३१६
पडिरूवो तेयस्सी,	२५	पंचेव उज्झिऊणं पंचेव,	३०९
पडिसेवणा चउद्धा,	३६९	फरुसवयणेण दिणतवं,	२३१
पढइ नडो वेरग्गं,	३९८	फुडपागडमकहतो,	२०९
पढमं जईण दाऊण,	३०८	बहुदोससंकिलिट्ठो,	३७७
पणमंति य पुब्बयरं,	१४७	बहु सोक्खसयसहस्साण,	१९१
पत्थरेणाहओ कीवो,	२३७	बायालमेसणाओ,	३५५
पत्ता य कामभोगा,	२९८	बायालमेसणाओ,	३४१
परपरिवायमईओ,	१६५	बारस बारस तिणिण य,	३६०
परपरिवायविसाला,	३९४	बालुत्ति महीपालो,	२५
परपरिवायं गिण्हइ,	१६४	भज्जाऽवि इंदियविगार,	२४९
पस्तित्थियाण,	३०८	भद्दो विणीयविणओ,	२३
परिणामवसेण पुणो,	२३१	भय-संखोह-विसाओ,	३४६
परितप्पिएण तणुओ,	२९६	भवसयसहस्स दुलहं,	२२८
परियट्ठिऊण,	३९८	भावच्चणमुग्गविहारया य,	४०४
परिचित्तिऊण निउणं,	४०९	भावे हट्ठगिलाणं,	३६८
परिभवइ उग्गकारी,	३५९	भिक्खू गीयमगीए,	३६६
परियच्छंति य सव्वं,	१६९	भीउव्विग्गनिलुक्को,	३९९
पलिओवम संखिज्जं,	३३६	भोगे अभुंजमाणा वि,	२२७
पवराइं वत्थ,	३४७	मउआ निहुअसहावा,	१६७
पहगमणवसहिं,	३६१	मणि-कणगरयण,	१६९
पागडियसव्वसत्तो,	१६२	महव्वय-अणुव्वयाइं छड्डेउं,	४०८
पाणच्चए वि पावं,	२८४	महिलाण सुबहुयाणवि,	३४
पायपहे न पमज्जइ,	३५७	महुरं निउणं थोवं,	१६७
पाविज्जइ इह वसणं,	३९५	मा कुणउ जइ तिगिच्छं,	३५३
पावो पमायवसओ,	२९६	माणो मय-हंकारो,	३४२
पासत्थोसन्नकुसील,	३५५	माणो गुरु-पडिणोओ,	२३०
पिल्लिजेसणमिक्को,	२६८		

मूलगाथावर्द्ध	पृष्ठ	मूलगाथावर्द्ध	पृष्ठ
माणसिणो वि अवमाण,	१६७	विज्जं मंतं जोगं,	३५८
मायाकुडंगपच्छण्णपावया,	३४३	विणओ आवहइ सिरिं,	३५२
माया नियगमइविगप्पियंमि,	२४१	विणओ सासणे मूलं,	३५२
माया पिया य भाया,	२४१	विसयसुहरागवसओ,	२४९
मिण गोणसंगुलीहिं,	१८५	विसयाऽसिपंजरमिव,	१५७
मुक्का दुज्जणमिप्ती,	३१०	विरया परिग्गहाओ,	३०९
लोभो अइसंचयसीलया य,	३४३	विरया पाणिवहाओ,	३०९
मोलगकुदंड,	३८८	विसयविसं हालहलं,	३००
रयणुज्जलाइं जाइं,	३८९	विसवल्लीमहागणं,	३४४
रायकुलेसुऽवि जाया,	१४७	वुट्ठावासे वि ठियं,	१८७
राया जिणवरचंदो,	४०५	वेसोवि अप्पमाणो,	४५
रीयइ य दवदवाए,	३५८	वेसं जुण्णकुमारीं,	२६९
रूवेण जुव्वणेण य,	२६४	वोत्तूणवि जीवाणं,	७४
रूसइ चोइज्जंतो,	१६६	वंदइ उभओ कालंपि,	३०६
लद्धेल्लयं च बोहिं,	३४०	वंदइ पडिपुच्छइ,	३०७
लद्धूण तं सुइसुहं,	३८९	सच्छंदगमणं,	३६१
लुट्ठा सकज्जतुरिआ,	२५१	सच्छंदगमण-उट्ठाणं,	३६२
लोए वि कुंसंस्सगीपियं,	३०३	सज्झाएण पसत्थं ज्ञाणं,	३५१
लोए वि जो ससूगो,	४०८	सड्ढिं वाससहस्सा,	१६७
वग्घमुहम्मि अइगओ,	३९७	सद्धेसु न रंजिज्जा,	३४८
वच्चइ खणेण जीवो,	३९५	सपरक्कम राउलवाइएण,	१४३
वत्थिव्व कायपुत्तो,	३६१	सब्भावो वीसंभो,	२१५
वह-बंध-मारणं,	१३६	समत्तदायगाणां दुप्पडियारं,	३३४
वह-मारण-अब्भक्खाणं,	२८५	सम्मदिट्ठी वि कयागमो वि,	२७०
वरमउडकिरीडधरो,	३८९	सम्मत्तंमि उ लद्धे,	३३४
वरिससयदिव्खियाए,	३१	समिई-कसायं,	३४०
वरं मे.अप्पा दंतो,	२९१	सयलंमि वि जीयलोए,	३३४
वसही-सयणाऽसणं,	३०९	सव्वगईपक्खंदे,	३००
वाससहस्सं पि जई,	३९१	सव्वगहाणं पभवो,	२९९
विकहं विणोयभासं,	४०२	सव्वजिणप्पडिकुट्ठं,	२६९
विग्गह-विवाय-रुइणो,	१६४	सव्वाओगे जह कोइ,	३७५
विज्जाए कासवसंतियाणं,	३३३	सविडंकुब्भडरूवा,	२७०
विज्जाहरीहिं सहरिसं,	१३६	सव्वो गुणेहिं गण्णो,	३९०
विज्जपो जह-जह ओसहाइं,	४०३	सव्वो न हिंसियव्वो,	३९५

मूलवाक्यार्थ	पृष्ठ	मूलवाक्यार्थ	पृष्ठ
सर्व्वंगोवंगविगतताओ,	२४५	सुहिओ न चयइ भोए,	२८४
सर्व्वं ति भणिऊणं,	४०६	सूल-विस-अहि,	३९६
सर्व्वं थोवं उवहिं,	३५७	सूरप्पमाणभोई,	३५५
सारणचइआ जे,	४१२	सेसा मिच्छदिट्ठी,	४११
सारीरमाणसाणं,	३२६	सेसुक्कोसो मज्झिमं जहन्नओ,	३६७
सासयसुक्खतरस्सी,	२४९	सो उग्गभवसमुदे,	२७७
सावज्जजोगपरिवज्जणाए,	४११	सोऊण गइ सुकुमालियाए,	२८८
साहू कंतारमहाभएसु,	११५	सोऊण पगरणमिणं,	४१४
साहूण कप्पणिज्जं,	३०८	सोच्चा ते जियलोए,	३२५
साहूण चेइयाण य,	३०९	सोवइ य सव्वराइं,	३५६
साहूणं अप्परुईं,	३४५	सोगं संतावं अधिइं च,	३४६
साहंति य फुड वियडं,	३९७	संघयण-कालबल,	३४०
सिद्धितो अणायरकओ,	३९९	संजमतवालसाणं,	४१४
सिप्पाणि य सत्थाणि य,	३७३	संज्झरागजलबुब्बुओवमे,	२९९
सिंहासणे निसन्नं,	३२९	संजोयइ अइबहुयं,	३५९
सीएज्ज कयावि गुरू,	३१०	संतेऽवि कोऽवि उज्झइ,	८०
सीउणह-खुप्पिवासं,	२१७	संतिकरी वुड्ढिकरी,	४१६
सीलव्वयाइं जे बहुफलाइं,	२९३	संपागडपडिसेवी,	३७४
सीसावेडेण सिरंमि,	१७६	संवच्छरमुसभजिणो,	२२
सीहगिरिसुसीसाणं भइं,	१८४	संवच्छरचाउम्मासिएसु,	३०९
सीसायरिकमेण य,	३७२	संवाहणस्स रत्तो,	३२
सुग्गइमग्गपईवं,	३२७	संविग्गपक्खियाणं,	४०९
सुडुवि उज्जममाणं पंचेव,	१६५	संसारचारए चारए व्व,	३३९
सुडु वि जई जयंतो,	३५०	संसारवंचणा न वि,	२७८
सुज्झइ जई सुचरणो,	४०९	संसारो अ अणंतो,	४०७
सुतवस्सिया ण पूया,	२७४	संसारसागरमिणं,	४११
सुते य इमं भणियं,	३७०	सुंकाई परिसुद्धे,	४१२
सुद्धं सुसाहुधम्मं कहेइं,	४१०	सुंदर-सुकुमाल-सुहोइएण,	१७३
सुपरिच्छियसम्मत्तो,	३३५	हत्थे पाए न खिब्बे,	४०१
सुबहुं पासत्थजणं नाऊणं,	४०८	हा! जीव! पाव भमिहिसि,	२९६
सुमिणंतराणुभूयं,	२९३	हियमप्पणो करिंतो,	३९०
सुरवइसमं विभूइं,	३८९	हिमवंतमलयमंदर,	२९७
सुविणिच्छियएग्गइ,	३०७	हीणस्स वि सुद्धपरूवगस्स,	३५३
सुविहिय वंदावैतो,	३०६	हीणस्स वि सुद्धपरूवगस्स,	४१२
सुस्सई सरीरं,	३४८	होज्ज व न व देहबलं,	३३९

॥ नमो वल्लभाय ॥

॥ नमो गायत्री ॥

॥ नमो राङ्गसूरि ॥

श्री उपदेश माला

रणसिंह का चरित्र

१. श्रेयस्करं कामितदानदक्षं प्रणम्य वीरं जितकर्मपक्षं ।

पदार्थमात्र-स्फुटदर्शनेनोपदेशमालां विवृणोमि किञ्चित् ॥

अर्थ : श्रेयस्कर, इच्छित प्रदान करने में समर्थ, कर्म समूह के विजेता वीर को नमस्कार कर, पदार्थ के स्पष्ट दर्शन से, मैं उपदेश माला का किञ्चित् विवरण करता हूँ।

यद्यपि उपदेश माला की अनेक टीकाएँ प्रस्तुत हैं, तथापि मैं अनिन्दनीय टीका कर रहा हूँ। जगत् में चन्द्र का प्रकाश होने पर भी, क्या लोग घर में दीएँ नहीं जलाते हैं?

श्री धर्मदास गणि ने अपने पुत्र को प्रतिबोधित करने के लिए, सर्व भावों से युक्त तथा अनेक भव्यात्माओं को उपयोगी, उपकारकारक ऐसे सुबोध ग्रंथ का लेखन किया है।

कर्मक्षय विधायक रणसिंह (धर्मदासगणि का पुत्र) का सुंदर चरित्र प्रथम कहा जाता है।

जंबूद्वीप में समृद्ध विजयपुर नगर है। उस नगर में विजयसेन राजा राज्य करता था। उसकी अजया-विजया दो रानियाँ थीं। उन दोनों में विजया रानी राजा को अत्यंत प्रिय थी। विषय-सुख का उपभोग करती हुई विजया गर्भवती बनी। विजया को गर्भिणी देखकर अजया ने सोचा मैं पुत्र रहित हूँ। यदि विजया को पुत्र होगा तो वह राज्याधिकारी बनेगा, ऐसा विचार कर उसने सूतिका-कर्म करनेवाली स्त्री को बुलाया और बहुत धन देने का वचन देकर कहा- जब विजया को पुत्र हो तब मृत बालक लाकर उसे दिखलाना। विजया के पुत्र को मुझे समर्पित कर देना।

विजया रानी ने उचित समय पर पुत्र को जन्म दिया। तब सूतिका-

कर्म करनेवाली स्त्री ने किसी अन्य के पास से मृत बालक लाकर उसे दिखाया। तथा विजया के पुत्र को उसे समर्पित कर दिया। अजया ने दासी को बुलाकर कहा—वन के अंधेरे कूँ में इस बालक को फेंक दे। बालक को लेकर दासी वन में गयी, कूँ के समीप खड़ी होकर इस प्रकार मन में सोचने लगी—मुझे धिक्कार है। इस छोटे बालक को मारकर मुझे क्या मिलेगा? विपरीत, इस दुष्कर्म के आचरण से नरकादि गतियों का दुःख प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार विचारकर कूँ के समीप घास से युक्त जमीन पर उस बालक को छोड़कर दासी वापिस आयी, वह काम किया ऐसा अजया को कहा, कार्य पूर्ण होने की बात सुनकर अजया मन में अत्यंत खुश होने लगी और विजया के पुत्र को मराकर मैंने अच्छा किया है इस प्रकार सोचने लगी।

सुग्राम में सुंदर नामक एक किसान रहता था। उसी समय वह घास लेने के लिए वन में आया था। रोते हुए उस बालक को देखकर करुणा से सुंदर ने उसे उठाया। हर्ष से उस बालक को पत्नी के हाथों देते हुए कहने लगा—वनदेवता ने हमें यह बालक दिया है। इसे अपने पुत्र की तरह पालना और प्रयत्नपूर्वक इसकी रक्षा करना। वह भी बालक का अच्छी तरह खयाल रखती थी। रण में मिलने से बालक का नाम रणसिंह रखा। दूज के चन्द्र के समान वह प्रतिदिन बढ़ने लगा।

कितने ही दिन बीतने के बाद किसी ने राजपुत्र मारने का सर्व स्वरूप राजा के आगे निरूपण किया। राजा अत्यंत दुःखी होकर सोचने लगा—इस दुष्ट रानी को धिक्कार है, जिसने पुत्ररत्न का विनाश कराया है। संसार स्वरूप को धिक्कार है, जहाँ प्राणी राग-द्वेष से ग्रसित होकर स्वार्थवश ऐसे कर्मों का आचरण करते हैं। लक्ष्मी, प्राण, चलित है, पाश रूपी यह गृहवास अस्थिर है। इसलिए प्रमाद छोड़कर धर्म में उद्यम करना चाहिए।

कहा गया है कि—

संपदो जलतरङ्गविलोला, यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि ।

शारदाभ्रमिवचञ्चलमायुः, किं धनैः कुरुतधर्ममनिन्द्यम् ॥

जल तरंग के समान संपत्ति चपल है, तीन-चार दिन का यौवन है, शरद-ऋतु के मेघ के समान आयु चंचल है। धन से क्या मतलब? अनिन्दनीय धर्म में उद्यम करना चाहिए।

सा नत्थिकला तं नत्थि ओसहं, तं नत्थि किंपि वित्राणं ।

जेण धरिज्जइकाया, खज्जांति कालसप्पेण ॥

वह कला, औषध, ज्ञान कुछ भी नहीं है, जिससे कि काल-सर्प से प्रक्षण किए जाते काया का संरक्षण हो सके। इत्यादि वैराग्य परायण विचारों

से किसी गोत्री को राज्य समर्पित कर विजयसेन राजा ने अपनी पत्नी विजया रानी तथा सुजय नामक उसके भाई के साथ श्री वीरप्रभु समीप में दीक्षा स्वीकार की।

भगवान् ने विजयसेन मुनि स्थविरों को समर्पित किया। क्रम से सिद्धांत का अध्ययन कर वे महाज्ञानी हुए उनका धर्मदास गणि नाम प्रख्यात हुआ, सुजय मुनि का जिनदास गणि नाम प्रख्यात हुआ। भगवान् को पुछकर बहुत साधुओं से युक्त वे दोनों मुनि भव्यजीवों को प्रतिबोधित करते हुए पृथ्वीतल पर विहार करने लगे।

बाल्यावस्था में रणसिंह बालक्रीडा करता हुआ योवनावस्था में आया। सुंदर के घर में रहकर वह खेती की देखभाल करता। खेत के समीप में चिंतामणियक्ष से अधिष्ठित श्री पार्श्वनाथ का मंदिर है, जहाँ पर विजयपुर निवासी बहुत लोग श्रद्धापूर्वक आकर प्रतिदिन पूजा-स्नात्र आदि करते थे। यक्ष उनकी मनोवांछा पूर्ण करता था। कुतुहल से एकबार रणसिंह मंदिर में गया और प्रतिमा के संमुख देखते हुए खड़ा रहा। उसी समय जिनवन्दन करने के लिए चारणऋषि वहाँ पर आए। उन्हें नमस्कार कर रणसिंह पास खड़ा रहा। योग्य जानकर साधु ने इस प्रकार उसे धर्मोपदेश दिया--

दुःखं स्त्रीकुक्षीमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासो नराणां ।

बालत्वे चापि दुःखं मललुलितवपुः स्त्रीपयःपानमिश्रं ॥

तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावेऽप्यसारः ।

संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥

मनुष्य को प्रथम गर्भवास का दुःख होता है। बाल्यावस्था में माता का स्तनपान और मल में लिप्त होने का दुःख, तारुण्यावस्था में विरह से उत्पन्न दुःख तथा वृद्धावस्था भी असार है। संसार में लेशमात्र भी सुख नहीं है। रणसिंह ने कहा--यह सत्य है। धर्म में उसकी रुचि देखकर, साधु ने पूछा--वत्स! क्या तुम प्रतिदिन पूजा करने के लिए यहाँ पर आते हो? उसने कहा--मेरे ऐसे भाग्य कहाँ जो यहाँ आकर पूजा कर सकूँ? साधु ने कहा--जिनपूजा से बहुत लाभ होता है।

सयं पमज्जणे पुण्णं, सहस्सं च विलेवणे ।

सय सहस्सियामाला, अणंतं गीयवाइए ॥

जिनमंदिर में सफाई करने पर शत-गुना पुण्य मिलता है। प्रतिमा पर विलेपन करने से सहस्रगुणा, माला आरोपण करने से एक लाख गुणा और गान-वाजिंत्र से अनंत गुणा पुण्य मिलता है। यदि तुम प्रतिदिन पूजा करने में असमर्थ हो तो भगवान् के दर्शनकर भोजन करने का नियम ग्रहण करोगे तो भी सुखी बनोगे। रणसिंह ने यह बात स्वीकार की। चारणऋषि आकाश मार्ग से चले गये।

प्रतिदिन जब खेत में भोजन आता है, तब रणसिंह हल छोड़कर,

श्रीपार्श्वप्रभु के दर्शनकर पश्चाद् भोजन करने लगा। इस प्रकार अभिग्रह का पालन करते बहुत दिन व्यतीत हुए। एकदा चिन्तामणियक्ष उसकी परीक्षा करने के लिए सिंह रूप धारणकर द्वार पर खड़ा हुआ। मध्याह्न समय रणसिंहकुमार नैवेद्य ग्रहण कर जिनदर्शन करने आया। द्वार पर सिंह देखकर सोचने लगा प्राणांत में भी नियम का भंग नहीं करना चाहिए। यदि यह सिंह है तो मैं भी रणसिंह हूँ, यह मेरा क्या बिगाड़ेगा? इस प्रकार सोचकर उसने शूरता से सिंह को ललकारा। उसका साहस देखकर सिंह तिरोभूत हुआ। जिन भक्ति कर रणसिंह अपने खेत में आया और भोजन किया।

एकबार घर से तीन दिन तक खाना नहीं आया। जब चौथे दिन खाना आया तब जिनदर्शन कर नैवेद्य रखा और खेत में आकर सोचने लगा—यदि यहाँ पर कोई अतिथि पधारें तो उनको भाव पूर्वक देकर पारणा करूँगा। जब वह इन्हीं विचारों में निमग्न था तब भाग्यवशा वहाँ पर दो मुनि भगवंत पधारें। उनके चरणों में गिरकर रणसिंह ने शुद्ध आहार वहोराया। साधुओं की भक्ति करने से वह खुद को धन्य मानने लगा और उसके मन में अतीव हर्ष हुआ।

चिन्तामणि यक्ष ने प्रकट होकर कहा—वत्स! तुम्हारा सत्त्व देखकर मैं प्रसन्न हूँ। वर माँगो। रणसिंह ने कहा—स्वामी! आपके दर्शन से मुझे नवनिधि की प्राप्ति हुई है, किसी चीज की कमी नहीं है। तो भी राज्य दे दो। यक्ष ने कहा—आज से साँतवें दिन तुझे राज्य की प्राप्ति होगी। कनकपुर नगर में कनकशेखर राजा राज्य कर रहा है। उसकी कनकमाला रानी है। उन दोनों की पुत्री कनकवती का स्वयंवर होनेवाला है। तुझे उस स्वयंवर में जाना है। वहाँ पर मैं तुझे आश्चर्य दिखाऊँगा। यदि तुझे कुछ कार्य हो तो मेरा स्मरण करना। इस प्रकार कहकर यक्ष तिरोभूत हुआ। दो छोटे बैलों को हल से जोड़कर उस पर बैठकर रणसिंहकुमार कनकपुर आया। उस समय वहाँ पर अनेक राजकुमार आएँ हुए थे। वह स्वयं एक कोने में खड़ा रहा। बहुत दासियों से घेरी हुई कनकवती नूपुर की रणकार करती हुई स्वयंवर में आयी। दोनों ओर राजाओं को देखती हुई, जहाँ रणसिंह किसान के वेश में खड़ा था, वहाँ आकर उसके कंठ में वरमाला डाली। यह देखकर सभी राजाओं के मन में क्रोध उद्भव होने लगा। उन्होंने राजा को उपालंभ देते हुए कहा—राजन्! यदि एक किसान को ही अपनी पुत्री देनी थी तो हमें यहाँ बुलाकर लज्जित क्यों किया? राजा ने कहा—यह मेरा दोष नहीं है, पुत्री ने अपनी इच्छा से वर चुना है। उसने अयोग्य क्या किया है? यह सुनकर सभी राजा क्रोधित होकर आयुध ग्रहणकर रणसिंह को घेरा। उन्होंने पूछा—रे रंक! तुम कौन हो? तेरा कौन-सा कुल है? रणसिंह ने कहा कुल के बारे में कहने का यह उचित समय नहीं है। यदि मैं कहूँगा तो भी आपको विश्वास नहीं होगा। युद्ध से ही मेरे कुल की परीक्षा

होगी। सभी राजा युद्ध करने के लिए तैयार हुए। रणसिंह अपने हल से युद्ध करने लगा। देव प्रभाव से हल के प्रहार से राजा जर्जरीत होने लगे और मैदान छोड़कर भागने लगे। कनकशेखर राजा ने आश्चर्य से पूछा—स्वामी! आपने आश्चर्यकारी काम किया है, अपना स्वरूप प्रकाश करे? उसी क्षण यक्ष ने प्रत्यक्ष होकर रणसिंह का चरित्र कह सुनाया। कनकशेखर राजा यह सुनकर अत्यंत हर्षित हुआ और बड़े आडंबर के साथ कन्या का विवाह संपन्न किया। वस्त्र आदि भेट देकर उसने सभी राजाओं का सम्मान किया। वे सभी अपने-अपने स्थान पर लौट चले। कनकशेखर राजा ने अपने जमाई को देश का एक राज्य समर्पित किया।

सुंदर नामक अपने पालक पिता को बुलाकार, रणसिंह ने उसे उचित राज्याधिकारी बनाया। सोमा नाम की महानगरी में पुरुषोत्तम राजा राज्य कर रहा था। उसकी रत्नवती पुत्री थी। वह कनकशेखर राजा की भानजी थी। उसने कनकवती के पाणिग्रहण का सर्व स्वरूप जान लिया। रणसिंह को छोड़कर मैं किसी अन्य के साथ विवाह नहीं करूँगी, इस प्रकार उसने नियम ग्रहण किया। अपनी बेटी का निश्चय जानकर पुरुषोत्तम राजा ने अपने प्रधानपुरुष रणसिंह के पास भेजे, उन्होंने रणसिंह के पास जाकर यह बात कही। रणसिंह ने कहा—कनकशेखर राजा इसका निर्णय करेंगे, मैं कुछ भी नहीं जानता। तब प्रधानपुरुष कनकशेखर राजा के पास गए। कनकशेखर राजा ने सोचा—रत्नवती मेरी भानजी है। इसलिए इसके विवाह की चिंता मुझे करनी चाहिए, ऐसा विचारकर रणसिंह से कहा—तुम्हें रत्नवती से विवाह करने के लिए जाना चाहिए। उसने यह बात स्वीकार की। अपने परिजनों के साथ रत्नवती से विवाह करने के लिए रणसिंह चला। मार्ग में चलते हुए पाडलीखण्डपुर समीप के उपवन में चिन्तामणियक्ष का मंदिर था। यक्ष को नमस्कार कर वहाँ पर ठहरा। उस समय रणसिंहकुमार की दाईं आंख फड़की। तब उसने मन में सोचा—यहाँ पर कोई इष्ट मिलन होनेवाला है। पाडलीखण्डपुर में कमलसेन राजा राज्य कर रहा था। उसकी कमलिनी पत्नी थी। उन दोनों की पुत्री कमलवती थी। कमलवती सुमंगला दासी के साथ सुगंधी पुष्प आदि पूजा के उपकरण ग्रहण कर यक्ष मंदिर में आयी। उसने वहाँ पर रणसिंहकुमार को देखा। कुमार ने सस्नेह उसे देखा। यक्ष की पूजा कर बार-बार कुमार के संमुख देखती हुई कमलवती अपने महल लौट आयी। दूसरे दिन यक्ष की पूजा कर रणसिंह मेरा पति हो ऐसा वरदान मांगा, यक्ष ने यही तेरा पति होगा कर कहा—फिर वीणावादनपूर्वक मधुर स्वर में गाने लगी। कुमार उसका गीत-गान सुनकर मन में सोचने लगा—मेरा जन्म तब ही सफल होगा, जब मैं इससे विवाह करूँगा, अन्यथा इस जीवन से क्या प्रयोजन है? पुरुषोत्तम राजा के प्रधान पुरुषों ने आकर विज्ञप्ति की स्वामी!

आप इतना विलंब क्यों कर रहे हैं? कुमार ने कहा यहाँ पर मुझे थोड़ा कार्य है, तुम आगे चलो। मैं पीछे शीघ्र ही आ रहा हूँ।

भीम राजा का पुत्र कनकसेन राजा की सेवा में उपस्थित था। वह कमलवती पर मोहित था, किंतु कमलवती उसे लेशमात्र भी नहीं चाहती थी। एकबार जब कमलवती यक्ष पूजा करने निकली तब भीम पुत्र भी उसके पीछे-पीछे चला। मैं अपने मन की बात इससे कहूँगा, ऐसा विचारकर वह मंदिर के बाहर खड़ा रहा। यदि यह पुरुष अंदर आने की कोशिश करे तो उसे रोकना इस प्रकार अपनी दासी से कहकर कमलवती मंदिर में गयी। कमलवती ने एकांत में अपने दोनों कानों में जटिका का प्रयोग कर पुरुष रूप में बाहर आयी। उसे आते देखकर कुमार ने पूछा—हे देवपूजक! अभी तक कमलवती बाहर क्यों नहीं आयी? उसने कहा—मैंने तो इस दासी सिवाय अन्य किसी को मंदिर में प्रवेश करते नहीं देखा। कुमार ने उसे मंदिर में अनेकबार ढूँढ़ा। कमलवती के नहीं मिलने पर वह स्वस्थान लौट आया। कमलवती ने कानों से जटिका हटायी और अपने मूल रूप में प्रकट हुई। दासी ने पूछा—स्वामिनी! आप यहाँ? इसका क्या रहस्य है? उसने जटिका का स्वरूप कहा। दासी ने पूछा—स्वामिनी! आपको ऐसी जटिका कहाँ से मिली? कमलवती ने कहा—सुनो!

एकबार मैं यक्ष मंदिर में पूजा करने आयी थी। तब वहाँ एक विद्याधर-विद्याधरी का युगल आया था। विद्याधरी ने मुझे ध्यान में लयलीन देखकर सोचा—यदि पति इसका अद्भुत रूप देखेंगे तो इस पर मोहित हो जाएँगे, ऐसा विचारकर उसने मेरे कानों में जटिका बांधी। जब मैं पूजा करने गयी तो खुद को पुरुष रूप में देखकर चौंक पड़ी। मैंने संपूर्ण शरीर का निरीक्षण किया। कानों में जटिका देखी। जब उसे बाहर निकाली तो वापिस अपने मूल स्वरूप में आ गयी। उसी जटिका के प्रभाव से ही मैं आज पुरुष का वेष धारण कर मंदिर के बाहर आयी थी। इस प्रकार कमलवती ने जटिका का स्वरूप दासी से कहा। भीम राजा के पुत्र ने बहुत उपाय कीये परंतु वह सफल नहीं हुआ। तब उसने कमलवती की माता से अपना अभिप्राय निवेदन किया। माता ने सोचा—यह महान् राजपुत्र है। पुत्री का विवाह इसके साथ करना उचित है, ऐसा विचारकर उसने अपने पति से यह बात कही। राजा ने उसकी बात स्वीकार की। दूसरे दिन ही लग्न निश्चित हुआ। कमलवती यह जानकर बहुत दुःखी हुई। वह न खाती, न सोती, न बोलती और न ही हँसती।

गुप्तरीति से महल से बाहर निकलकर यक्ष मंदिर में गयी और उसे उपालंभ देते हुए कहने लगी—हे यक्ष! देवों में प्रधान ऐसे आपको अपने वचनों के विपरीत वर्तन करना यह योग्य नहीं है। कहा गया है कि—

जिह्वैकैव सतामुभे फणाभृतां स्रष्टुश्चतस्त्रोऽथवा ।

ताः सप्तैव विभावसौ निगदिताः षट् कार्तिके यस्य च ॥

पौलस्य दशैवताः फणिपतौ जिह्वासहस्रद्वयं ।

जिह्वालक्षसहस्रकोटिगुणितास्ता दुर्जनानां मुखे ॥

सज्जनपुरुष की एक जीभ होती है, सर्प की दो, ब्रह्मा की चार, अग्नि की सात, कार्तिक की छह, रावण की दश, शेषनाग की दो हजार और दुर्जनों के मुख में लाख, सहस्र करोड़ गुणा होती है। आपने वचन का पालन नहीं किया है, किंतु मेरे प्राण मेरे आधीन हैं, इस प्रकार कहकर कमलवती रणसिंहकुमार के आवास के समीप बड़े वृक्ष से खुद को पाश से बांधकर कहने लगी—हे वनदेवता! मेरे वचन सुनो! रणसिंहकुमार को अपना वर बनाने की इच्छा से मैंने चिंतामणियक्ष की आराधना की थी। उसने वचन दिया था किंतु अपने वचन का परिपालन नहीं कर सका। इसलिए मैं आत्मघात कर रही हूँ। आगामी भव में वह ही मेरा पति हो इस प्रकार कहकर उसने गले में पाश डाला और खुद को नीचे लटकवाया। सुमंगला दासी उसको ढूँढती हुई वहाँ आयी और उसकी स्थिति देखकर शोर मचाने लगी।

दासी की हाहाकार सुनकर रणसिंहकुमार शीघ्र ही सुमित्र के साथ वहाँ आया। दासी ने कमलवती के गले से पाश तोड़ा। वह मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी। शीतलादि उपचार से होश में आयी। कुमार ने पूछा—है सौभाग्यवती! तुम कौन हो? यह साहस क्यों किया है? किस कारण से गले में फांसा डाला था? सुमंगला ने कहा—स्वामी! अब भी क्या आपने इसको नहीं पहचाना? यह कमलवती आपको अपना वर मानती है। पिता ने भीमराजा के पुत्र से इसका विवाह निश्चित किया था। इससे खेदित होकर यह आत्मघात करने यहाँ आयी थी। मैंने इसे बचाया है। यह सुनकर रणसिंह हर्षित हुआ। सुमित्र ने गांधर्व विवाह से उन दोनों का पाणीग्रहण करवाया।

रात्रि के समय कमलवती सुमित्र के साथ अपने महल आयी। तब संपूर्ण परिवार विवाहकार्य में व्यस्त था। कमलवती ने अपना वेष सुमित्र को दिया और स्वयं अन्य वेष धारणकर रणसिंह के पास आयी। लग्न समय में भीमराजा का पुत्र हाथी पर बैठकर बड़े आडंबर के साथ वहाँ आया। कमलवती वेष धारक सुमित्रकुमार के साथ महोत्सवपूर्वक पाणिग्रहण कर अपने आवास में लौट आयी। अंग स्पर्श से उसे पुरुष जानकर पुछा—तुम कौन हो? सुमित्र ने कहा—मैं आपकी वधु हूँ। तुम मेरी पत्नी नहीं हो। तेरा अंग-स्पर्श पुरुष के समान दिखायी दे रहा है। सुमित्र ने कहा—हे प्राणनाथ! यह क्या आप बहकी बातें कर रहे हैं? आपने चेटक विद्या से नवपरिणीत मुझे पुरुष बनाया है।

मैं अपने माता-पिता के पास अभी जाकर कहती हूँ कि मैं कुमार के प्रभाव से पुत्री से पुत्र बना हूँ। यह देखकर भीमपुत्र व्याकुल बना।

रणसिंहकुमार के पास आकर सुमित्र ने सर्व वृत्तांत कहा। पश्चात् कनकसेन राजा के पास आकर भीमपुत्र ने रात का वृत्तांत कह सुनाया। राजा-रानी ने सोचा—क्या हमारे जमाई भूत-प्रेत आदि से ग्रसित हैं अथवा पागल हो गए हैं, जो इस प्रकार असंबंध वाक्य बोल रहे हैं? एक ही भव में जीव स्त्रीत्व छोड़कर पुरुषत्व प्राप्त करता है, ऐसा न कभी हुआ है, न होनेवाला है और न ही यह बात कहीं सुनी है। परंतु जमाई झूठ क्यों बोलेंगे? यह किसी घूर्त का काम है, इस प्रकार विचारकर राजा ने चारों ओर कमलवती की खोज करायी, वह कहीं न मिली, इससे राजा अत्यंत शोक-मग्न बना। गुप्तचर पुरुष चारों ओर उसकी तलाश कर खेदित होते हुए वापिस लौटे। पुत्री मोह से रानी रोने लगी। उसने सेवकों से कहा—जो मेरी पुत्री को यहाँ लेकर आएगा, मैं उसकी मनोवांछा पूर्ण करूँगी।

प्रातःकाल किसी ने यह बात जानकर कनकसेन राजा से कहा—स्वामी! मैंने कमलवती को विवाह वेष में रणसिंह के आवास में देखा था। यह सुनकर राजा क्रोधित हुआ। भीमराजा का पुत्र और बहुत सैन्य साथ में लेकर राजा रणसिंह के साथ युद्ध करने लगा। रणसिंह ने देवता की सहायता से भीमपुत्र और राजा को जीवित पकड़ा। सुमंगला के साथ वहाँ आकर कमलवती ने पिता को प्रणाम किया और सर्व वृत्तांत निवेदन किया। कनकसेन राजा भीमपुत्र पर अत्यंत क्रोधित हुआ, किंतु कमलवती के कहने पर राजा ने उसे छोड़ दिया। रणसिंह के कुल, धैर्य आदि जानकर राजा हर्षित हुआ और महोत्सवपूर्वक उन दोनों का विवाह किया। कर भोचन में समय राजाने, अश्व आदि भेंट कीये। रणसिंह बहुत दिनों तक उसी नगरी में रुका, पश्चात् कमलवती को साथ लेकर अपने नगर लौट आया।

सोमापुरी में पुरुषोत्तम राजा की पुत्री रत्नवती ने सोचा—मुझसे विवाह करने के लिए यहाँ आनेवाले थे, किंतु मार्ग में कमलवती से विवाहकर रणसिंहकुमार वापिस अपने नगर लौट गए हैं। वे उसपर अत्यंत आसक्त बन गये हैं, इसलिए मुझसे विवाह करने के लिए यहाँ नहीं आ रहे हैं। कमलवती ने उन पर कुछ कार्मण किया है। उससे कमलवती के स्नेह से पति का हृदय अतीव भर गया है। इसलिए मुझ पर स्नेह नहीं है। कमलवती के सिर पर कलंक देकर, पति का मन उस पर से दूर कर देती हूँ, इस प्रकार विचारकर उसने यह बात अपनी माता से कही। उसने भी कहा—तुम्हारी इच्छा अनुसार कर, इस प्रकार स्वीकृति दी। उसी नगर में गंधमुषिका नामक कार्मण-वशीकरण कर्म में कुशल एक

दुष्ट स्त्री रहती थी। रत्नवती ने उसे बुलाकर कहा—माता! मेरा एक काम करोगी? रणसिंहकुमार कमलवती में अत्यंत आसक्त है। तुम ऐसा करो कि कुमार उसे कलंकित देखकर घर से बाहर निकाल दे। गंधमुषिका ने कहा—यह तो कुछ भी नहीं है। मैं थोड़े दिनों में ही यह कार्य पूर्ण करूँगी, इस प्रकार स्वीकार कर थोड़े दिनों के प्रयाण पश्चात् वह रणसिंह के नगर में आयी। अंतःपुर में प्रवेशकर कनकवती के कमरे में गयी। कनकवती से उसने रत्नवती के कुशल समाचार सुनाएँ। कनकवती ने उसका सम्मान किया। वह प्रतिदिन अंतःपुर में आती, कुतुहल-विनोद आदि कथाएँ सुनाती और कमलवती से विशेष बातचीत करती और उसे विश्वास उत्पन्न हो वैसी-वैसी प्रवृत्ति करती।

एकबार उसने कूटविद्या से कमलवती के कमरे में किसी परपुरुष को प्रवेश करते कुमार को दिखाया। परंतु कुमार के मन में लेश मात्र भी शंका नहीं हुई और सोचा—कमलवती का शील सर्वथा निष्कलंक है। बार-बार परपुरुष के दर्शन से कुमार के मन में शंका उत्पन्न हुई—क्या कमलवती शील से खंडित हो गयी है। क्योंकि मैं यह घटना प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। कुमार ने कमलवती से कहा—मैं प्रतिदिन तुम्हारे कमरे में परपुरुष को आते-जाते देख रहा हूँ। तब कमलवती ने कहा—प्राणनाथ! मैं इस विषय में कुछ भी नहीं जानती हूँ। यदि आप इस प्रकार पूछ रहे हैं, तो यह मेरे कर्मों का ही दोष है। मैं मंदभागी हूँ। यदि पृथ्वी मुझे मार्ग दे तो मैं अंदर प्रवेश कर लूँ। मैं इस शब्दों को सुनने में समर्थ नहीं हूँ। कुमार ने सोचा—इसमें कमलवती का कोई अपराध नहीं है। अवश्य यह भुत आदि की चेष्टा है। अंतःपुर में प्रवेश कर कौन अकाल मरण की अभिलाषा कर सकता है? यहाँ पर प्रतिदिन आने का साहस कौन कर सकता है? इस प्रकार कुमार अच्छी तरह से विचार करने लगा, किंतु सत्य मालूम नहीं होने से, वह दुःखित हुआ।

गंधमुषिका ने विचार किया—अब भी कुमार का मन कमलवती से विमुख नहीं हुआ? उस पर से स्नेह हटाने के लिए दूसरा उपाय करती हूँ, ऐसा सोचकर तांबूल-भोजन आदि को मंत्रित चुर्णादि के प्रयोग से जलाने लगी। लोकनिंदा से भयभीत होकर कुमार ने सोचा—कमलवती को पिता के घर भेजना उचित है, इसे यहाँ रहते संकट की संभावना है। अपने सेवकों को बुलाकर कहा—कमलवती को रथ में बिठाकर उसके पिता के घर छोड़ आओ। सेवकों ने सोचा—आज स्वामी ने कैसी अनुचित बात कही है? कमलवती के समीप जाकर उन्होंने कहा—स्वामिनी! आज स्वामी ने आपको वाटिका में बुलाया है। रथ में बैठकर शीघ्र चलें। कमलवती रथ में बैठी, उसकी दायीं आँख फड़कने लगी। उसने सोचा—न जाने आज क्या होनेवाला है? किंतु पति ने बुलाया

है, चाहे जो हो इस प्रकार विचारकर व्यग्र चित्त से रथ में बैठी। सेवक ने रथ चलाया। कमलवती ने पूछा—उपवन कितनी दूर है? सेवक ने कहा—कुमार ने आपको पिता के घर छोड़ आने की आज्ञा दी है। कमलवती ने कहा—कुमार ने बिना विचारे काम किया है, बाद में आपको पश्चात्ताप होगा। मुझे मेरे कर्मों का फल भुगतना ही है। कहा गया है कि—

कृतकर्मक्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमेव भोक्त्र्यं, कृतं शुभाशुभं ॥

शुभ या अशुभ कर्म का फल अवश्य भुगतना पड़ता है। सैकड़ों—कोटि उपाय करने पर भी कृत कर्म का क्षय नहीं होता। सारथी! तुम अपना रथ वापिस मोड़ लो। अब पर तेरा प्रयोजन नहीं है। मैं इस प्रदेश से परिचित हूँ, यह पाडलीखण्डपुर नगर समीप का उपवन है। मैं सुखपूर्वक यहाँ से अपने घर लौट जाऊँगी। सारथी रोते हुए नमस्कार कर कहने लगा—स्वामिनी! आप साक्षात् शील से अलंकृत लक्ष्मी हो। मुझ अधर्मी, दुष्कर्म करनेवाले को धिक्कार है, जो आपको इस प्रकार अरण्य में छोड़े जा रहा हूँ। कमलवती ने कहा—हे सत्पुरुष। यह तेरा अपराध नहीं है। जो सेवक है वह स्वामी आज्ञा के अनुसार कार्य करता ही है। मुझ मंदभागी का एक वचन अवश्य कहना कि क्या आपने अपने कुलोचित कार्य किया है? कमलवती को वटवृक्ष के नीचे छोड़कर सारथी वापिस नगर लौटा।

वह कमलवती विलाप करती हुई कहने लगी—विधाता! तूने यह कैसा कठोर कार्य किया है? अकाल में ही तूने वज्रपात समान पति-विरह का दुःख क्यों दिया? मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है? सब कुछ सहन कर सकती हूँ परंतु कलंक आरोपण से पति ने मुझे घर से निकाला है, यह बड़ा दुःखदायी है। फिर एकाकी वहाँ रहकर क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? हे मात! तू यहाँ आकर दुःखदावाग्नि से जलती अपनी पुत्री की रक्षाकर! अथवा मत आना, मेरा दुःख देखकर माता के हृदय में आघात लगेगा। पूर्व कुमारी अवस्था में मैंने पिताजी को दुःख दिया था। अब यह जानकर वे और भी दुःखी होंगे। अनेक प्रकार से विलाप करती हुई उसने मन में सोचा—पति को मेरे शील पर संपूर्ण विश्वास था। किसी वैंरी ने अथवा किसी भूत-राक्षस आदि ने यह इंद्रजाल स्वरूप दिखाकर पति के हृदय में शंका उत्पन्न की है। कलंक सहित पिता के घर जाना उचित नहीं है। जटिका के प्रभाव से पुरुष वेष धारणकर यही रूक जाती हूँ कारण कि बदरीफल की उपमा वाले स्त्री के शरीर को देखकर कौन भोगना नहीं चाहता? कहा है—

तटाकवारि तांबूलं, स्त्रीशरीरं च यौवने ।

को न पातुं न भोक्तुं नो, विलोकयितुमुत्सकः ॥

नदी का पानी, तांबूल, यौवनावस्था का स्त्री का शरीर, कौन पीना, खाना और देखना नहीं चाहता अतः मुझे तो प्राण त्याग से भी शील का रक्षण करना अच्छा है। इस संसार में शील से उत्तम दूसरा परम पवित्र अकारण कोई मित्र नहीं है।

कहा है—

निर्धनानां धनं शीलमनलंकारभूषणं । विदेशे परमं मित्रं, प्रेत्यामुत्र सुखप्रदम् ॥

शील ही निर्धनों का धन, बिना अलंकार भी भूषण, विदेश में परम मित्र और इस लोक-परलोक में परम मित्र है।

पुनः शील के प्रभाव से प्रदीप्त अग्नि भी शांत हो जाती है। सर्पादि का भय नष्ट हो जाता है। आगम में भी कहा है—

देवदाणवगंधव्वा जक्खरक्खसकिन्नरा ।

बंधयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करिति ऊ ॥

जो देइकण्यकोडिं, अहवा कारेइ कणयजिणभवणं ।

तस्स न तत्तियं पुण्णं, जत्तियं बंधव्वए धरिए ॥

यक्ष, राक्षस, किन्नर सभी ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं। कोई करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ दान में दे अथवा कोई स्वर्ण से जिनभवन का निर्माण कराएँ। उनको उतना पुण्य नहीं मिलता, जितना ब्रह्मचर्यव्रत धारक को मिलता है।

जटिका के प्रभाव से कमलवती ने ब्राह्मण वेष धारण किया। नगर की पश्चिम दिशा में चक्रधर गाँव है। उस गाँव में चक्रधर देव का मंदिर है। पूजारी के रूप में उस मंदिर में रहकर, वह सुख पूर्वक काल व्यतीत करने लगा।

इधर सारथी ने कमलवती की सब बातें राजा से निवेदन की। यह सुनकर उसने जाना कि यह सब किसी का षड्यंत्र है। वह इस प्रकार अपने मन में पश्चात्ताप करने लगा—हा! हा! निर्दोष कमलवती पर दोषारोपण कर मुझ अधम ने यह कैसा आचरण किया है? वह मेरी प्राणप्रिया, कमलाक्षी कमलवती क्या कर रही होगी? मैं क्या करूँ? उसके बिना सब सुना लग रहा है।

कारण है कि—

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु नानामणीषु च ।

विनैकां मृगशावाक्षीं, तमोभूतमिदं जगत् ॥

दीपक, अग्नि और मणिरत्नों के प्रकाश में भी एक मृगाक्षी के नहीं होने से मेरे लिए यह जगत अंधकारमय हो गया है।

मैंने यह क्या किया? मेरी पत्नी मुझे कब मिलेगी? मैं अधन्य आत्मा, लोगों को अपना मुँह कैसे दिखाऊँगा? मुझे धिक्कार है। मेरे हृदय में ऐसा विचार

क्यों आया? ऐसी आज्ञा देने से पहले मेरी जीभ के सो टुकड़े क्यों नहीं हुए? ऐसा अकार्य करने से पहले मेरे सिर पर ब्रह्मांड क्यों नहीं तूटा? अहो! बिन विचारे कार्य करने पर महान् अनर्थ होता है। नीति शास्त्र में भी कहा है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदं ।

वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

सहसा बिना विचारे कोई कार्य नहीं करना चाहिए, अविवेक के कारण आपत्तियाँ आ जाती हैं और विचार कर कार्य करने वाले को गुणों से आकर्षित संपत्तियाँ स्वयमेव वरण करती हैं प्राप्त हो जाती हैं।

अब शोक करने से लाभ नहीं है। परंतु यह किसने किया ऐसा विचार करते उसने गंधमुषिका का आगमन सुना, विचार किया कि यह वास्तव में उसका ही आचरण है! निश्चास छोड़ते हुए कुमार ने सोचा यह सब गंधमुषिका का कार्य है।

इधर गंधमुषिका सोमा नगरी आयी और रत्नवती के आगे कमलवती का स्वरूप कहा। यह सुनकर रत्नवती खुश हुई और रणसिंहकुमार को वहाँ बुलाने के लिए पिता से कहलाया।

रणसिंहकुमार के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने के लिए, पुरुषोत्तम राजा ने कनकपुर नगर में अपने सेवक भेजे। कनकशेखर राजा के आग्रह से कुमार ने यह बात स्वीकार की। शुभ मुहूर्त तथा शुभ दिवस में कुमार ने सैन्य के साथ प्रयाण किया। शुभ शकुनों से प्रेरित होता हुआ पाडलीखंडपुर पहुँचा। कमलवती की अन्वेषणा करता हुआ चक्रधर गाँव समीप के उद्यान में पहुँचा। जब वह चक्रधर देव की पूजा करने निकला तब उसकी दायी आँख फड़कने लगी। इतने में ही देवपूजारी ने कुमार के हाथों में पुष्प लाकर दीये। कुमार ने उसे उचित मूल्य दिया। फिर देवपूजक ने सोचा यह रणसिंहकुमार रत्नवती से शादी करने के लिए जा रहा दिखता है। कमलवती कुमार को देखकर अतीव हर्षित हुई, कुमार भी पुष्पबटुक वाली कमलवती को बार-बार देखते हुए इस प्रकार सोचता है। यह प्राणवल्लभा कमलवती के जैसा दिखायी देता है। इस के दर्शन से मेरा मन अत्यंत हर्षित हुआ है। इस प्रकार सोचता हुआ विस्मय पूर्वक बार-बार देखता हुआ तृप्त न हुआ। कमलवती भी स्नेहवश अपने पति को देखती थी। फिर कुमार बटुक के साथ अपने आवास में आया। भोजनादि से भक्तिपूर्वक सम्मानित कर बटुक को अपने सामने बिठाकर कुमार ने कहा—है बटुक! तेरा शरीर बार-बार सम्यक् प्रकार से देखने पर भी मुझे तृप्ति नहीं होती है। अत्यंत प्रिय तेरा दर्शन लगता है। बटुक ने कहा—स्वामि! यह सत्य है—

जैसे चंद्र की कांति के दर्शन से चांद्रोपल से अमृत का श्राव होता है दूसरे से नहीं, वैसे संसार में भी जो जिसका वल्लभ होता है वह उसे देखकर भी तृप्त नहीं होता। कुमार ने कहा मुझे आगे जाने का है परंतु तेरे प्रेम रूपी शृंखला से बंधा हुआ मेरा मन एक कदम भी आगे जाने के लिए उत्साहित नहीं हो रहा है अतः कृपा कर मेरे साथ आओ। पुनः मैं तुम्हें अवश्य यहां ले आऊंगा। यह सुनकर उस बटुक ने कहा—‘मैं प्रतिदिन चक्रधर देव की पूजा करता हूँ। अतः मेरा आना कैसे होगा? और मुझ जैसे निर्दभ्रतधारी को वहां आने का क्या प्रयोजन है? कुमार ने कहा यद्यपि कार्य तो नहीं है फिर भी मुझ पर कृपा करके आओ। कुमार के उपरोध से उसने स्वीकारा। मार्ग में जाते कुमार की बटुक के साथ अतीव प्रीति हुई। क्षणभर भी उसका संग कुमार नहीं छोड़ता। उसी के साथ रहना, चलना, खाना शरीर की छाया के समान क्षणभर भी दूर नहीं होते दुध-पानी सम उनकी मैत्री हो गयी।

कहा है—

क्षीरेणात्मनातोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः ।

क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः॥

गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं ।

युक्तं तेन जलेन शाम्यति पुनर्मैत्री सतामीदृशी ॥

दूध ने अपने में मिले हुए जल को अपने पूर्ण गुण उसे दे दिये। फिर दूध को अग्नि का ताप लगते हुए देखकर उस जल ने प्रथम अपनी आत्मा को अग्नि के हवाले कर दिया। जल को अग्नि से जलते हुए देखकर दूध ने मित्र की विपत्ति वियोग से वह भी अग्नि में जलने को तैयार हुआ तब जलने आकर उसे शांत किया। अतः मैत्री तो ऐसी ही होती है।

एक बार कुमार ने बटुक से कहा हे मित्र मेरा मन मेरे पास नहीं है। बटुक ने कहा कहां गया? तब कुमार ने कहा ‘मेरी वल्लभा कमलवती के पास। उसने कहा कमलवती कहां गयी? कुमार बोला—मेरे जैसे मंदभाग्य वाले के घर में ऐसा स्त्री रत्न कैसे रहेगा? मैंने ही भाग्य से विमुख चित्त वाले ने उसे निकाल दी। वह कहाँ गयी होगी? बटुक ने पूछा—वह कैसी थी? जिसके लिए तुम इतना खेद करते हो। कुमार ने अश्रु प्रवाह पूर्वक कहा—हे मित्र! उसके गुण एक जिह्वा से कहना कैसे शक्य है? सभी गुणों की खान वह मेरी स्त्री थी। अब तो उसके बिना सारा संसार शून्य है। परंतु तेरे दर्शन से मुझे आल्हाद उत्पन्न होता है। तब बटुक ने कहा—‘भो! सुंदर! इतना पश्चात्ताप करना योग्य नहीं है क्योंकि भाग्य से निर्मित, उसे कौन मिटा सकता है। कहा है—

अघटितघटितानि घटयति सुघटितघटितानि जर्जरी कुरुते ।

विधिरेव तानि घटयति यानि पुमानैव चिन्तयति ॥

जो नहीं होने वाला है, उसे कर देता है और जो होनेवाला है उसे जर्जर अर्थात् नहीं होने देता है। यह कार्य विधि-भाग्य के आधिनि है। अर्थात् पुरुष ने सोचा भी न हो उसे भाग्य कर देता है।

अतः इस प्रकार अधिक सोच करने का क्या काम है ऐसा उत्तर बटुक ने दिया।

बहुत दिनों के बाद कुमार सोमा नगरी पहुँचा। पुरुषोत्तम राजा महोत्सव पूर्वक सामने आया और महोत्सव पूर्वक उसका महाडंबर से नगर प्रवेश कराया। शुभ लग्न में उन दोनों का विवाह संपन्न हुआ। राजा ने राज्य, अश्व आदि भेंट कीं। एकदिन रत्नवती ने कुमार से पूछा—प्राणनाथ! वह कमलवती कैसी थी? जिसे पाकर आप मुझे विवाह कीं बिना ही वापिस लौट गए। कुमार ने कहा—प्रिये! तीनों लोक में ऐसी कोई भी स्त्री नहीं है जो उसकी उपमा को प्राप्त कर सके। उसकी सुंदरता का क्या वर्णन किया जा सकता है? उसके मरने से जो मैंने तुमसे शादी की है, वह दुर्भिक्ष काल में अच्छे धान्य नहीं मिलने से खराब धान्य से जीवन यापन करने सक्षम है। यह सुनकर रत्नवती क्रोधित हुई और कहा—गंधमूषिका को मैंने ही वहाँ भेजी थी। उस दुष्टा को मैंने ही शिक्षा दिलायी थी। आप दास के समान उसके गुणों का बार-बार वर्णन क्यों कर रहे हैं? कमलवती को निरपराधी जानकर क्रोधातुर मन वाला होकर रक्त नयन वाले उसने रत्नवती को हाथ से पकड़कर चपत मारकर निर्भत्ना कर असत् अयोग्य कर्म करने वाली तुझे धिक्कार है, जिससे तुने ऐसी आज्ञा देकर कुकर्म करवाया। तुने अपनी आत्मा को दुःख समुद्र में फेंका तेरे जैसी स्त्री से तो कुत्ती उत्तम जो भसती हुई को अन्न प्रदान करने से वश हो जाती है। वह न बोलती है परंतु तेरे जैसी मानिनी बहुमानित करने पर भी अपनी नहीं होती है। (उसे महल में से निकाल दी) फिर वह विचारने लगा हा! हा! मेरी दयिता कमलवती मिथ्या कलंक रूपी चिंता में पड़ी हुई मरण को प्राप्त हुई होगी। अतः मुझे इस जीवन से कोई अर्थ नहीं। इस प्रकार सोचकर अपने सेवकों को आदेश दिया कि मेरे आवास के पास महती चित्ता बनाओ जिसमें मैं कमलवती के विरह रूपी दुःख से मर जाऊँ। इस प्रकार कहकर बलात्कार से चित्ता करवायी। सभी के द्वारा मना करने पर भी मरने के लिए चला।

इस हकीकत को सुनकर राजा ने कुड़कपट्टेटी मिथ्या कलंक देने वाली अकार्य-कारिणी नरकगति गामिनी गंधमूषिका की अतीव कदर्थना कर मान भंग कर, अपमान को पायी हुई को गधे पर बिठाकर अनेक प्रकार से विडंबित कर नगर से निकाल दी। स्त्री होने से मारी नहीं।

राजा प्रधान, सार्थवाह आदि ने कुमार को रोकने के लिए बहुत प्रयास किया, किंतु वह चित्ता-प्रवेश करने के लिए उद्यत बना। राजादि ने सोचा हा..!

हा..! महा अनर्थ होगा। स्त्री वियोग से ऐसा पुरुष रत्न मरेगा। उसे चित्ता में गिरने में उद्यत देखकर पुरुषोत्तम राजा बटुक के पास जाकर कहता है कि भो देव! तेरे वचन का वह उल्लंघन नहीं करेगा अतः उसे विनती कर जिससे यह इस पाप से निवृत्त हो जाय। तब देवपूजक ने आकर कहा—भद्र! उत्तम कुल में उत्पन्न आपको नीच कुलोचित यह कार्य करना उचित नहीं है। आप जैसे सदाचारी पुरुष में ऐसा कार्य संभवित नहीं है, क्योंकि अग्निप्रवेश आदि से अनंत संसार की वृद्धि होती है और उसमें भी मोहातुर होकर मरना अत्यंत दुःखदायी है। आपने मुझ से वादा किया था कि मैं आपको पुनः चक्रधर गाँव पहुँचाने आऊँगा। आप अपने वचन से विपरीत कार्य नहीं कर सकते। आप कमलवती के पीछे मरने जा रहे हैं वह भी व्यर्थ है क्योंकि जीव स्वकर्म वश परभव प्राप्त करता है। पंडितजन भविष्य का विचार कर कार्य करते हैं। बिन विचारे तथा शीघ्रता से काम करने पर वह भविष्य में शल्य के समान दुःखदायी होता है। इसलिए आप चित्ता-प्रवेश छोड़ दें क्योंकि जीवित नर सैकड़ों कल्याण का पात्र बनता है। यदि आप मेरी बात स्वीकारोगें तो भविष्य में आपको कमलवती का संयोग हो पाएगा। अब अगर मूढ़ता से प्राण त्याग करोगे तो उसका संगम दुर्लभ ही होगा। यह सुनकर कुमार ने पूछा—हे मित्र! क्या आप अपने ज्ञानबल से जान सकते हैं कि वह मुझे मिलेगी? जिससे तुम मुझे अग्नि प्रवेश में अंतराय करते हो? देवपूजक ने कहा—कुमार! मैं ज्ञानबल से जान रहा हूँ कि कमलवती विधाता के पास है। यदि आप कहे तो मैं स्वयं विधाता के पास जाकर कमलवती को यहाँ भेजता हूँ। कुमार ने कहा—आप विलंब न करें। यदि मैं पुनः कमलवती को देखूँगा तो ही मेरा जन्म सफल होगा। देवपूजक ने कहा—कुमार! बिना दक्षिणा के मंत्र-विद्या आदि सिद्ध नहीं होते। कुमार ने कहा—मित्र! मेरे प्राण भी तेरे आधीन हैं। इससे बढ़कर और क्या दक्षिणा दूँ? देवपूजक ने कहा—तुम्हारी आयु दीर्घ हो। मैं जब जो चीज माँगूँगा उस समय वह मुझे देना। कुमार ने उसे वर दिया। देवपूजक ने संजीविनी जटिका सभी को दिखायी। पर्दे के पीछे जाकर ध्यान करने लगा। यह ब्राह्मण बड़ा ज्ञानी है इस प्रकार लोग परस्पर बातचीत करने लगे। उसने अपने कानों से जटिका दूर कर दी और कमलवती के रूप में बाहर आया। कमलवती ने अपने पति को प्रणाम किया। कुमार उसे देखकर हर्षित हुआ।

उसके रूप लावण्य सौभाग्यादि देखकर लोक विस्मयपूर्वक बोलने लगे। जैसे स्वर्ण के पास पितल शोभा नहीं देता, वैसे कमलवती के पास रत्नवती नहीं शोभती। इसके लिए कुमार का यह साहस योग्य था। धन्य है यह कुमार, धन्य है यह कमलवती। इस प्रकार उनकी प्रशंसा करता हुआ जन समुदाय अपने अपने स्थान पर गया। कुमार भी हर्षित होकर महोत्सवपूर्वक सपरिवार अपने आवास में गया। वहां

दिव्याभरण वस्त्रादि भूषित उस कमलवती के साथ पांच प्रकार के विषयभोगों को भोगते हुए अपने जन्म को सार्थक मानता था।

एकदिन कुमार ने कमलवती से पूछा—हे सुलोचना! किसी ब्राह्मण को विधाता के पास आते देखा था? कमलवती ने कहा—हैं प्राणनाथ! वह मैं ही हूँ उसने सब जटिका का स्वरूप निवेदन किया! यह सुनकर कुमार अत्यंत संतुष्ट हुआ। मेरे पति रत्नवती की ओर किंचित् भी नहीं देखते हैं अत्यंत निःस्नेही हो गये हैं। यह मेरा ही अवर्णवाद प्रवर्त होगा! जो कि इस का अपराध है फिर भी मुझे वह दूर करना है क्योंकि किये हुए अपकार का प्रत्युपकार करने में क्या आश्चर्य? अपकार पर उपकार करना यह सत्पुरुषों का लक्षण है।

कहा है—

उपकारिणि वीतमत्सरे वा सदयत्वं यदि तत्कुतोऽतिरेकः ।

अहिते सहसाऽपराधं लुब्धे, सरलं यस्य मनः सतां स धूर्यः ॥

उपकारी या मात्सर्य रहित पर सदय होना उसमें अतिरेक कहां है? अहित करनेवाले या सहसा अपराध करनेवाले पर भी जिसका मन सरल है वह सत्पुरुषों में प्रधान है।

इस प्रकार विचारकर कमलवती ने कुमार के पास वर मांगा कुमार ने कहा जो तेरी इच्छा हो वह मांगा। कमलवती ने कहा यदि इच्छानुसार देते हो तो रत्नवती पर भी मेरे जैसे स्नेही बनो। जो कि उसने अपराध किया है फिर भी क्षमा करो। क्योंकि तुम उत्तम कुल में जन्मे हुए हो। कुलीन पुरुषों को अधिक समय तक क्रोध को रखना योग्य नहीं है।

कहा है—

न भवति भवति च न चिरं, भवति चिरं चेत्फले विसंवदति ।

कोपः सत्पुरुषाणां, तुल्य स्नेहेन नीचानां ॥

सत्पुरुषों को क्रोध होता नहीं, हो जाय तो ठहरता नहीं, ठहर जाय तो फल नहीं देता। नीचपुरुषों के स्नेह के तुल्य समझना।

और स्त्रीयों का हृदय प्रायः कर निर्दय होता है। कहा है—

अनृतं साहसं माया, मूर्खत्वमतिलोभता ।

अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥

असत्यभाषण, साहस, माया, मूर्खता, अतिलोभ, अशुद्धि, और निर्दयता ये दोष स्त्रियों में स्वभाव से होते हैं।

स्वकार्य में तत्पर होने पर वह नीच कार्य भी कर लेती है। कहा है—

कर्मादयाद्भवगतिर्भगवति मूला शरीर निवृत्तिः ।

तस्मादिन्द्रियविषया विषयनिमित्ते च सुखदुःखे ॥

कर्म के उदय से संसार में गति होती है और शरीर की निवृत्ति परमात्म पद का कारण है, विषयों के निमित्त ऐसे सुख दुःख में इन्द्रिय विषय ही कारण है।

इस प्रकार कमलवती के कहने पर रत्नवती को कुमार ने सम्मानित की कुछ दिन स्थिरता कर पुरुषोत्तम राजा की आज्ञा लेकर कनकपुर प्रति चला। रत्नवती के पिता ने अनेक दास-दासी सहित वस्त्राभूषण से अलंकृत कर स्वपुत्री को भेजी। कुमार को भी अनेक हाथी घोड़े पदाति सैन्य मुक्ताफलादि स्वर्णाभूषण आदि दिये। रणसिंह भी रत्नवती को लेकर कमलवती के साथ शुभ दिन में चला। पाड़लीपुर समीप में आया। वहाँ अपनी पुत्री का सर्व स्वरूप जानकर कमलसेन राजा ने सम्मुख आकर महोत्सव पूर्वक जामाता का नगर प्रवेश करवाया। कमलवती का अधिक सम्मान किया, और नगर लोको ने उसकी प्रशंसा की। माता ने सस्नेह आलंगिन किया। कुछ दिन रुककर, कुमार ने कनकपुर की ओर प्रयाण किया। यह सुनकर कनकशेखर राजा आनंद सहित संमुख गया और कुमार का नगर प्रवेश कराया। कमलवती को देखकर नगर की स्त्रियाँ परस्पर इस प्रकार कहने लगी—यह कमलवती शील के प्रभाव से यम के पास जाकर पुनः लौट आयी है। रणसिंहकुमार इसके गुणों से प्रभावित होकर मरने के लिए उद्यत बना था। सती-शिरोमणि इस कमलवती को धन्य है, इस प्रकार प्रशंसा करने लगी।

एकबार कुमार ने विजयपुर नगर समीप स्थित श्री पार्श्वप्रभु मंदिर में अष्टाह्निक महोत्सव किया। तब चिंतामणियक्ष ने प्रत्यक्ष होकर कहा—वत्स! अपने पितृ-राज्य को ग्रहण करो। यक्ष वचन प्रमाणित कर कुमार ने विजयपुर पर आक्रमण किया। अल्प सैन्य होने से, राजा नगर बाहर नहीं आया। तब यक्ष ने आकाश मार्ग से कुमार की सेना को नगर में प्रवेश करते दिखायी। यह देखकर राजा नगर छोड़कर चला गया। प्रधानपुरुषों ने कुमार को विजयसेन पट्ट पर स्थापित किया। वह रणसिंह राजा हुआ और नीतिपूर्वक राज्य का संचालन करने लगा।

एकदिन अर्जुन नामक किसान नगर में प्रवेश कर रहा था। मार्ग के श्रम से उसे भूख और प्यास सताने लगी। उसने तरबुज का खेत देखा। वहाँ दुगुणा मूल्य रखकर उसने एक तरबुज उठाया और कपड़े में लपेटकर नगर में प्रवेश करने लगा। इस अवसर पर किसीने श्रेष्ठी पुत्र की हत्या कर, उसका मस्तक ग्रहण कर चला गया। उस पुरुष को पकड़ने के लिए सैनिक इधर-उधर ढूँढ़ रहे थे। अर्जुन को देखकर पूछा—यह तेरे कमर में क्या है? उसने कहा—तरबुज है। कपड़े को खोला तो उनको मस्तक दिखायी दिया। सैनिक उसे बांधकर प्रधान पुरुष के पास ले गए। प्रधान ने पूछा—यह तूने क्या किया? अर्जुन ने कहा—मैं इस विषय में कुछ भी नहीं जानता हूँ 'घडइषडि'ति इस प्रकार उत्तर दिया। राजा के पास लाया गया। राजा ने पूछा—तुने यह कार्य क्यों किया?

उसने उसी प्रकार 'घडइघडि'ति उत्तर दिया। बार-बार यही शब्द दोहराने पर राजा ने इसका कारण पूछा। अर्जुन ने कहा—स्वामी! यदि मैं सत्य कहूँगा तो भी यहाँ कोई नहीं स्वीकारेगा। सैनिको ने कहा—स्वामी! यह कोई धूर्त है, जो प्रत्यक्ष असत्य बोल रहा है। क्रोधित होकर राजा ने उसे शूली-आरोपण की सजा दी। सैनिक अर्जुन को लेकर शूली के पास आएँ। उसी समय एक पुरुष विकराल रूप धारणकर कहने लगा—यदि इस पुरुष को सजा देंगे तो मैं सबको मार दूँगा। सैनिक उससे युद्ध करने लगे। उसने सबको भगा दिया। यह जानकर राजा उससे युद्ध करने आया। उस पुरुष ने एक कोश प्रमाण अपना शरीर बनाया। राजा ने सोचा—यह मनुष्य नहीं है, किंतु यक्ष, राक्षस आदि है। राजा ने अपराध की क्षमा-याचना माँगी। उसने शरीर छोटा किया और प्रत्यक्ष होकर कहा—मेरा नाम दुःष्माकाल है। लोग मुझे कलि कहते हैं। महावीरस्वामी निर्वाण के तीन वर्ष और साढ़े आठ महिने के बाद, इस भरतक्षेत्र में मेरा राज्य प्रवर्तमान हुआ है। इस किसान ने यह अन्याय किया है कि एक शून्य खेत में दुगुणा मूल्य रखकर एक तरबुज ले लिया। तरबुज को मस्तक रूप में दिखाकर, मैं इसे शिक्षा दी है। आज के बाद जो भी ऐसा अन्याय करेगा, मैं उसे कष्ट दूँगा। उतने में श्रेष्ठी पुत्र जीवित होकर राजा के पास आया। राजा ने अर्जुन का बहुत सन्मान किया। पश्चात् कलिपुरुष ने अपना माहात्म्य इस प्रकार कहा—राजन्! यदि मेरे राज्य में तुम न्यायधर्म का परिपालन करोगें तो मैं तुझे भी दुःखित करूँगा, ऐसा कहकर उसने राजा को छलित किया। और बाद में कलि अदृश्य हो गया। सभी स्व स्थान गये। अर्जुन भी अपने घर गया।

न्यायमार्ग छोड़कर राजा अन्याय आचरण में तत्पर हुआ। लोगों ने सोचा राजा को क्या हो गया? जो इस प्रकार अन्याय करता है। कोई उसे रोकने में समर्थ नहीं है उस अवसर में अपने भानजे रणसिंह को प्रतिबोधित करने के लिए जिनदास गणि ने नगर के उपवन में पदार्पण किया। मस्तक पर अंजलि जोड़कर, राजा ने सपरिवार विनयपूर्वक उनको वंदनकर सामने बैठा। गुरु ने देशना प्रारंभ की—वत्स! कलि का रूप देखकर तेरा मन चलित हुआ है। किंतु इस संसार में सुख-दुःख के निमित्त पुण्य-पाप है। प्राणतिपातादि पांच आश्रव द्वारों का आचरण कर जीव नितान्त पाप कर्म से लिस होता है। भवसमुद्र में डुबता है। हिंसादि आश्रव को छोड़े बिना धर्म कहा? कहा है—

लक्ष्यागार्हस्थ्यमक्षणा मुखममृतरुचिः श्यामयांभोरुहाक्षी ।

भर्त्रान्यायेन राज्यं वितरणकलया श्रीर्नृपो विक्रमेण ॥

नीरोगत्वेन कायः कुलममलतया निर्मदत्वेन विद्या ।

निर्दभत्वेन मैत्री किमपि करुणया भाति धर्मोऽन्यथा न ॥

लक्ष्मी से गृहस्थपना, आँखों से मुख, रात्रि से चंद्र, पति से कमलाक्षी, न्याय से राज्य, वितरणकला से लक्ष्मी, विक्रम पराक्रम से राजा, नीरोगता से काया, अदागपने से कुल, भद्ररहितता से विद्या, निर्दभपने से मैत्री वैसे करुणा से धर्म शोभा देता है अन्यथा नहीं।

इस कारण से आश्रव संसार का हेतु और संवर निवृत्ति का असाधारण कारण सिद्धांत में कहा है। अतः हे वत्स तेरा यह सज्जन स्वभाव भी कलिपुरुष के छलने से विपरीत हुआ। परंतु यह दुर्जनत्व योग्य नहीं है। कहा भी है—

वरं क्षितः पाणिः कुपितफणिनो वक्त्रकुहरे ।

वरं झम्पापातो ज्वलदनकुण्डे विरचितः ॥

वरं प्रासप्रान्तः सपदि जठरान्तर्विनिहितो ।

न जन्यं दौर्जन्यं तदपि विपदां सद्य विदुषा ॥

कुपित सर्प के मुखरूपी बील में हाथ डालना अच्छा बनाये हुए जलते अग्नि के कुंड में झंपापात करना अच्छा, भाले की अणी शीघ्र पेट में डालनी अच्छी परंतु विदुषों को विपत्ति के घर जैसी दुर्जनता उत्पन्न नहीं करनी चाहिए।

कलिपुरुष के कथन से तूने न्यायमार्ग छोड़ा है, किंतु यह नही विचारा कि क्या दुःखमाकाल रूप कलि बोल सकता है? यह किसी दुष्ट देव का उपद्रव मालुम होता है। यदि कलिपुरुष के आदेश से तुम हिंसा आदि पापकर्मों का आचरण करोगे, तो उससे क्या नरकगति नहीं होगी? क्या कलिकाल में विष भक्षण से मौत नहीं होती है? कलिकाल में भी जैसा आचरण करोगे वैसा ही फल मिलेगा। उनके वचन सुनकर राजा ने अपना मुख नीचे कर लिया। तब श्री जिनदास गणि ने कहा— हे वत्स! तेरे पिता के वाक्य श्रवणकर प्रतिबोध को प्राप्तकर। कलिपुरुष के दर्शन से तेरे छलना के स्वरूप को अवधिज्ञान से पूर्व में ही जानकर श्री धर्मदास गणि नाम के तेरे पिता ने तुझे बोधित करने के लिए यह उपदेश माला ग्रंथ बनाया है। कहा है—जो राजा आदेश देता है उस वाक्य को प्रकृति से स्वभाव से सामान्य प्रजाजन मस्तक पर चढ़ाकर स्वीकार करते हैं। उसके समान गुरुवाक्य को भी हाथ जोड़कर सुनना चाहिए।

साधुओं के सम्मुख जाना, वंदन करना, नमस्कार करना, सुखशान्ता पूछना, इस प्रकार के कार्यों से चिरकाल से संचित पापकर्म भी एक क्षण में क्षय होते हैं। और भी आप को हजारों लाखों योनियों में दुर्लभ दुष्प्राप यह मानव भव मिला और जाति जन्म, वृद्धावस्था आयुष्य की हानि, मरण, प्राणवियोग रूप इस समुद्र से भी

पार पहुँचाने वाले ऐसे श्री जिनवचन में हे गुणों के आकर वत्स! क्षण भर भी प्रमाद मत कर। इस प्रकार वे उसे कह रहे थे। इतने में रणसिंह की माता विजया साध्वी वहाँ आयी और कहा—हे वत्स! तुम्हारे पिता श्रीधर्मदास गणि ने तुम्हारे लिए यह उपदेश माला बनायी है। पहले तुम इसका अध्ययन करो पश्चात् अर्थ का चिंतन करो। अन्य धर्म को छोड़कर श्रेष्ठ मोक्ष सुख का उपार्जन करो। रणसिंह ने माता के वचन सुनकर अध्ययन करने की यह बात स्वीकार की।

श्रीजिनदास गणि पहले श्लोक पढ़ते, राजा भी वैसे ही उस श्लोक को दोहराता इस प्रकार दो-तीन बार गणना करने से उसने तत्काल ही उपदेश माला कंठस्थ कर ली। उसके अर्थ चिंतन करने पर उसे वैराग्य उत्पन्न होने लगा। राजा ने सोचा—मैंने अज्ञान वश कैसा आचरण किया है? मेरे पिता को धन्य है, जिन्होंने अवधिज्ञान से मेरा स्वरूप ज्ञानकर पहले ही इस ग्रंथ को बनाया है। अब इस बिजली के चमकारे सम विषय-सुख से पर्याप्त हुआ।

चला लक्ष्मीश्वलाः प्राणाश्चलं चञ्चलयौवनं ।

चलाचलेऽस्मिन्संसारे, धर्म एको ही निश्चलः ॥

लक्ष्मी चंचल, प्राण चंचल, यौवन चंचल, चलाचल इस संसार में एक धर्म ही निश्चल है।

घर आकर वह न्यायधर्म का पालन करने लगा। कुछ समय पश्चात् कमलवती के पुत्र को राज्य पर स्थापित कर स्वयं ने श्री मुनिचंद्र के पास चारित्र अंगीकार किया। शुद्ध चारित्र का परिपालन कर देवलोक में उत्पन्न हुआ। कमलवती के पुत्र ने भी इस उपदेश माला का अध्ययन किया। सभी लोग परस्पर पढ़ने लगे। इसी क्रम से यह उपदेश माला आज भी पृथ्वीतल पर जयवंती है। इस उपदेश माला प्रकरण को स्व पुत्र प्रतिबोध के लिए श्रीधर्मदासगणि ने बनायी है। अन्यभी इसका रहस्य सम्यग् रूप से अवधारण करना। यह कथन वृद्ध संप्रदाय से दर्शाया है।

॥ श्री उपदेशमाला में प्रथमपीठिका की समाप्ति ॥



[टीकाकार का मंगलाचरण]

नत्वा विभुं सकलकामितदानदक्षं । शंखेश्वरं जिनवरं जतितासुपक्षम् ॥

कुर्वे सुबोधितपदामुपदेशमालाम् । बालावबोधकरणक्षमटिप्पनेन ॥१॥

सकल कामनाओं को पूर्ण करने में तत्पर तथा सुपक्ष को उत्पन्न करने (बताने) वाले जिनेश्वर श्रीशंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान् को नमस्कार कर बाल (अज्ञानी) जीवों को प्रतिबोध करने में समर्थ सरल टिप्पण (टीका) द्वारा उपदेशमाला के पदों को सुगमता से समझने लायक बना रहा हूँ ॥१॥

मूल गाथा

नमिऊण जिणवरिंदे, इंदनरिंदच्चिए तिलोअगुरु ।

उचएसमालभिणमो, वुछामि गुरुवएसें ॥१॥

शब्दार्थ - देवेन्द्र और नरेन्द्र (राजा) के द्वारा पूजित तथा तीनों लोकों के गुरु श्री जिनवरेन्द्र को नमस्कार कर तीर्थंकर, गणधर आदि गुरुजनों के उपदेश से मैं इस "उपदेश माला" को कहूँगा ॥१॥

भावार्थ - उपदेश माला का प्रारम्भ होता है। इसमें "नमिऊण जिणवरिंदे" यह प्रथम पद मंगलाचरणरूप है। शुभकार्य के प्रारंभ में मंगलाचरण करना चाहिए; जिससे विघ्नों का नाश हो। दूसरे पद में जिनेश्वर देव की विशेषता बतायी है। तीसरे पद में अभिधेय (नाम) बताया है और चौथे पद में अहं के अध्याहार से ग्रन्थ को स्वयं ने प्रारंभ किया है। "नमिऊण" इस शब्द का अर्थ है—"नमस्कार करके!" किसको नमस्कार करके? श्री जिनवरेन्द्र में इन्द्र अर्थात् सामान्य केवली को नहीं, परंतु श्री तीर्थंकर परमात्मा को। वे तीर्थंकर भगवान् कैसे हैं? असंख्य देवताओं के स्वामी इन्द्र और राजा, महाराजा, चक्रवर्ती आदि से पूजित। फिर वे कैसे हैं? पाताल, मृत्यु और स्वर्ग तीनों जगत् के प्राणियों को मोक्षमार्ग का हितोपदेश देने के कारण त्रिलोकगुरु हैं। यहाँ भगवान् को गुरु की उपमा दी है। ऐसे जिनवरों में श्रेष्ठ को नमस्कार कर, मैं अर्थात् धर्मदास गणि क्षमाश्रमण, इस 'उपदेश माला'—उपदेश की श्रेणि को कहूँगा। वह भी अपनी बुद्धि की कल्पना से नहीं, अपितु श्रीतीर्थंकर-गणधर आदि गुरुजनों के उपदेश के अनुसार कहूँगा। इस कथन से ग्रन्थ के सम्बन्ध में आपत्ता बतायी है ॥१॥

दूसरी गाथा में भी मंगलाचरण करते हैं—

जगचूडामणिभूओ, उसमो वीरो तिलोयसिरितिलओ ।

एगो लोगाइच्चो, एगो चख्खू तिहुयणजणस्स ॥२॥

शब्दार्थ - जगत् में मुकुट मणि के समान, श्री ऋषभदेव तथा त्रिलोक के मस्तक में तिलक समान श्री महावीर स्वामी हैं। उनमें एक तो जगत् में सूर्यसमान हैं और दूसरे त्रिभुवन-जनों के लिए चक्षु रूप है ॥२॥

भावार्थ - जैसे मनुष्य के शरीर पर मुकुट शोभा देता है; वैसे ही इस जगत् में मुकुट के समान आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान् सुशोभित हो रहे हैं। और चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर प्रभु कैसे हैं? त्रिभुवन के मस्तक में तिलक-समान। जैसे मानव का मुख पर तिलक से शोभा देता है, वैसे ही तीनों जगत् में तिलक के समान श्री वीर परमात्मा सुशोभित हैं। इन दोनों तीर्थंकरों में प्रथम श्री ऋषभदेव भगवान् को सूर्य की उपमा दी है; क्योंकि अज्ञान अथवा मिथ्यात्व रूपी अंधकार का नाश कर जगत् के सभी जीवों को मोक्षमार्ग बताने से वे सूर्य के समान हैं। और चरम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी को चक्षु की उपमा दी है। अर्थात् वे तीनों जगत् के जीवों को ज्ञान रूपी नेत्र देने से चक्षु रूप हैं ॥२॥

अब दोनों तीर्थंकर भगवतों द्वारा आचरित तप रूप चरित्र का उपदेश देते हैं—

संवच्छरमुसभजिणो, छम्मासा वद्धमाणजिणचंदो ।

इअ विहरियानिरसणा, जएज्ज एओवमाणेणं ॥३॥

शब्दार्थ - श्री ऋषभदेव भगवान् ने एक वर्ष तक और जिनचन्द्र श्री वर्धमान स्वामी ने छह महीने तक आहार पानी रहित विहार किया था। इसी दृष्टान्त से दूसरों को भी तप में उद्यम करना चाहिए ॥३॥

भावार्थ - श्री प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ भगवान् ने (उत्कृष्ट) एक वर्ष का तप किया था, और जिनचन्द्र श्री वर्धमान स्वामी ने (उत्कृष्ट) छह महीने का तप किया था। श्री वर्धमान स्वामी सर्वगुणों में प्रधान होने से उन्हें जिनचन्द्र की उपमा दी गयी है। इस प्रकार ये दोनों तीर्थंकर भगवन्त आहार रहित होने पर भी विहार करते थे। इस दृष्टान्त से गुरु शिष्य को उपदेश देते हैं कि "जैसे तीर्थंकर परमात्मा ने उत्कृष्ट तप किया था, वैसे तुम्हें भी तप में यथाशक्ति उद्यम करना चाहिए। क्योंकि उत्तम पुरुष के उदाहरण से दूसरे मनुष्यों को प्रवृत्ति करना योग्य है" ॥३॥

1. हेयोपादेया टीका में वर्धमानसूरि कृत टीका में श्री ऋषभदेव एवं श्रीवीर भगवान का पूर्ण चरित्र दिया हुआ है।

अब वीर परमात्मा की क्षमा (कष्टसहिष्णुता) का उपदेश देते हैं—

जइ ता तिलोगनाहो, विसहइ बहुआइं असरिसजणस्स ।

इअं जीयंतकराईं, एस खमा सब्बसाहूणं ॥४॥

शब्दार्थ - यदि तीन लोक के नाथ श्री तीर्थंकर ने नीच लोगों के द्वारा दिये गये प्राणान्त अनेक प्रकार के कष्ट सहन किये हैं, तो सर्व साधुओं को ऐसी क्षमा (तितिक्षा) धारण करनी चाहिए ॥४॥

भावार्थ - तीन जगत् के स्वामी श्री महावीर प्रभु को संगम आदि देव तथा गोप आदि नीच मनुष्यों ने प्राणान्त उपसर्ग दिये। भगवान् ने अनन्त शक्तिशाली होने पर भी उन पर क्षमा की। किसी पर भी क्रोध नहीं किया। इसी तरह सर्व मुनियों को क्षमा धारण करनी चाहिए। भगवान् के इस महान् अनुष्ठान (पराक्रम) को हृदय में धारण कर सामान्य (अज्ञ) मनुष्यों द्वारा किये गये ताड़ना तर्जना आदि उपसर्गों को मुनि सहन करें, यह इस गाथा का सारांश है ॥४॥

अब भगवान की दृढ़ता का वर्णन करते हैं—

न चइज्जइ चालेउ, महइ-महावद्धभाणजिणचंदो ।

उवसग्गसहस्सेहिं वि, मेरु जहा वायगुंजाहिं ॥५॥

शब्दार्थ - जैसे मेरु पर्वत को प्रबल झंझावात चलायमान नहीं कर सकता; वैसे ही, मोक्षमति वाले महान् जिनचन्द्र श्री वर्धमान स्वामी को हजारों उपसर्ग चलायमान नहीं कर सके ॥५॥

भावार्थ - जिनचन्द्र श्री वर्धमान स्वामी, मेरुपर्वत के समान अचल थे। जैसे मेरुपर्वत को महाप्रचंड अन्धड़ चलायमान नहीं कर सकता; वैसे ही देवों, मनुष्यों या तिर्यचों के द्वारा किये गये हजारों उपसर्ग भी प्रभु को ध्यान से चलायमान करने में समर्थ न हो सके। इसी कारण से देवों ने उनका नाम 'महावीर' रखा। इस दृष्टान्त को ध्यान में रखकर अन्य मुनियों को भी प्राणान्त उपसर्ग होने पर भी ध्यान से विचलित नहीं होना चाहिए ॥५॥

अब गणधर के दृष्टान्त से शिष्य को विनयगुण का उपदेश देते हैं—

भदो विणीयविणओ, पढम गणहरो समत्त-सुअनाणी ।

जाणंतोवि तमच्छं, विम्विअहियओ सुणइ सच्चं ॥६॥

शब्दार्थ - भद्र और विशेष विनय वाले प्रथम गणधर श्री गौतमस्वामी समस्त श्रुतज्ञानी थे, उसके अर्थ को जानते थे, फिर भी जब प्रभु कहते थे,

तब वे उन सब अर्थों (बातों) को विस्मित-हृदयवाले होकर सुनते थे! ॥६॥

भावार्थ - भद्र यानी कल्याणकारी, मंगलरूप और अत्यन्त विनयी प्रथम गणधर श्री गौतमस्वामी सर्वश्रुतज्ञान के पारगामी (श्रुतकेवली) थे। वे शास्त्रों के सभी भावों को जानते हुए भी पहले स्वयं भगवान् से पूछते थे, फिर जब भगवान् उसके उत्तर में जो कुछ कहते उसे गौतमस्वामी विशेष जानने की दृष्टि से और प्रफुल्लित आँखों वाले होकर सुनते थे। इस तरह अन्य शिष्यों को भी (स्वयं जानते हुए भी विशेष जानने एवं ज्ञात को दृढ़ करने हेतु) विनयपूर्वक गुरु से प्रश्न पूछना चाहिए और गुरु महाराज जो कुछ कहें, उसे विनयपूर्वक सुनना चाहिए ॥६॥

अब विनय पर लौकिक दृष्टान्त देते हैं—

जं आणवेइ राया, पगईओ^१ तं सिरेण इच्छति ।

इअ गुरुजणमुद्धमणिअं, कयंजलिउडेहिं सोयव्वं ॥७॥

शब्दार्थ - राजा जो आज्ञा देता है, उस आज्ञा को सेवक और प्रजाजन शिरोधार्य करते हैं; उसी तरह गुरुजन अपने मुख से जो कहते हैं, उसे शिष्यों को हाथ जोड़कर सुनना चाहिए ॥७॥

भावार्थ - स्वामी, अमात्य, सुहृद, भंडार, देश, किला और सेना ये राज्य के सात अंग हैं। इन सत्संगों के स्वामी को राजा कहते हैं। वह राजा जो कहता है, प्रजाजन व सेवक लोग उस कार्य को मस्तक पर चढ़ाते हैं और उसी तरह करते हैं। उसी तरह गुरु महाराज शास्त्र, उपदेश आदि जो भी कहते हैं, उसे भक्तिपूर्वक हाथ जोड़कर और विनययुक्त होकर शिष्य समुदाय को सुनना चाहिए। क्योंकि शिष्यों के लिए विनयगुण की ही प्रधानता है ॥७॥

अब गुरु का महत्त्व बताते हैं—

जह सुरगणाण इंदो, गहगणतारगणाण जह चंदो ।

जह य पयाण नरिंदो, गणस्सवि गुरु तहा णंदो ॥८॥

शब्दार्थ - जैसे देवताओं के समूह में इन्द्र, ग्रह गणों में एवं तारा गणों में चन्द्रमा और प्रजाओं में राजा श्रेष्ठ है; वैसे ही साधुसमूह में आनन्दप्रदायक गुरु श्रेष्ठ हैं ॥८॥

भावार्थ - देवसमूह में जैसे इन्द्र श्रेष्ठ माना जाता है; मंगल आदि ग्रह ८८ हैं और तारे संख्या में क़ोड़ाक़ोड़ी हैं; परन्तु इन सब ज्योतिषी देवों में चन्द्र

श्रेष्ठ माना जाता है और मनुष्यों में राजा श्रेष्ठ हैं, उसकी सभी आज्ञा मानते हैं; वैसे ही साधु-समूह (गच्छ) में गुरुमहाराज (आचार्य आदि) श्रेष्ठ हैं और आनंद को देने वाले हैं ॥८॥

अब बाल्यावस्था के गुरुमहाराज की महिमा बतलाते हैं—

बालुत्ति महीपालो, न पया परिभवइ एस गुरु-उचमा ।

जं वा पुरओ काउ, विहरंति मुणी जहा सोइवि ॥९॥

शब्दार्थ - जैसे राजा बालक होने पर भी, प्रजा उसका अपमान नहीं करती; यही उपमा गुरु को दी गयी है। जैसे गीतार्थ मुनि चाहे बालक हो; उस बाल गुरु को भी प्रमुख मानकर विचरण करना चाहिए ॥९॥

भावार्थ - राजा बालक होने पर भी प्रजाजन उसका पराभव या तिरस्कार नहीं करते, अपितु उसे मान्य कर लेते हैं। यही बात गुरु के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। उम्र और दीक्षा पर्याय कम होने पर भी ज्ञान में श्रेष्ठता से वह गीतार्थ है तो वह दीपक के समान है। अतः उस बाल गीतार्थ की आज्ञा माननी चाहिए और दीक्षा में बड़े तथा गुरु को विशेषरूप से मान्य करना चाहिए ॥९॥

उपदेशक गुरु (आचार्य) कैसे होने चाहिए? उसका स्वरूप कहते हैं—

पडिरुयो तेयस्सी, जुगप्पहाणागमो मधुरवक्को ।

गंभीरो धिइमंतो, उवएसपरो अ आपरिओ ॥१०॥

शब्दार्थ - तीर्थंकर आदि के समान रूप वाले, तेजस्वी, युगप्रधान, मधुरवक्ता, गंभीर, धृतिमान और उपदेश देने वाले आचार्य होते हैं ॥१०॥

भावार्थ - आचार्य भगवान् आकृति और रूप में तीर्थंकर=गणधर आदि की तरह अतिसुन्दर कांति वाले होते हैं। वर्तमान काल में मुख्य और समग्र शास्त्र के विशेष पारगामी होते हैं, मधुर वचन बोलने वाले, गंभीर हृदय वाले, संतुष्टचित्त वाले और भव्य जीवों को उपदेश देकर सन्मार्ग (मोक्षमार्ग) पर चढ़ाने वाले होते हैं ॥१०॥

अपरिस्सावी सोमो, संगहसीलो अभिग्गहमई य ।

अविकल्थणो अचयलो, पसंतहियओ गुरु होइ ॥११॥

शब्दार्थ - तथा अप्रतिश्रावी, सौम्य, संग्रहशील, अभिग्रह=बुद्धि वाले, मितभाषी, स्थिर स्वभावी और प्रशान्त हृदयवाले गुरु होते हैं ॥११॥

भावार्थ - अप्रतिश्रावी अर्थात् छिद्ररहित, पत्थर के (बरतन) बर्तन में

प्रवाही पदार्थ डालने पर भी वह नहीं निकलता है; वैसी ही स्थिति गुरुमहाराज की होती है। उनके सामने किसी ने अपनी गुप्त बात प्रकट की। उसे वे हृदय में ही रखते हैं। दूसरों के सामने वह गुप्त बात प्रकट नहीं करते। सौम्य अर्थात् जिनके दर्शन से आनन्द प्राप्त होता हो और जिनकी वाणी से प्रसन्नता प्राप्त होती हो। शिष्यादि के लिए वे वस्त्र-पात्र-पुस्तक आदि जुटाने में तत्पर रहते हैं, वह भी केवल धर्मवृद्धि के लिए; लोभवृद्धि के कारण नहीं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों प्रकारों में अभिग्रह बुद्धि रखने वाले, क्योंकि अभिग्रह एक प्रकार का वृत्ति-संक्षेप तप है। फिर वे कम बोलने वाले, अपनी प्रशंसा नहीं करने वाले, स्थिर स्वभाव वाले होते हैं। प्रशान्त हृदय का अर्थ क्रोध-मान माया और लोभ रहित चित्त वाले, यानी शान्तमूर्ति। इस प्रकार के गुणों से गुरुमहाराज शोभायमान होते हैं। ऐसे गुरु विशेष आदरणीय और श्रद्धेय हैं ॥११॥

कइयायि जिणवरिंदा, पत्ता अयरामरं पहं दाउं ।

आयरिणहिं पवयणं, धारिज्जइ संपयं सयलं ॥१२॥

शब्दार्थ - किसी समय जिनवरेंद्रों ने भव्यजीवों को सन्मार्ग बताकर अजर-अमर स्थान प्राप्त किया था। वर्तमानकाल में आचार्यों ने उनकी समस्त सम्पदा और प्रवचन धारण किये हुए हैं ॥१२॥

भावार्थ - किसी काल में तीर्थंकर भगवान् ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूपी मार्ग भव्य जीवों को बताकर जन्म-जरा-मृत्यु-रहित मोक्षस्थान प्राप्त करते हैं। उनकी अविद्यमानता में वर्तमानकाल में चतुर्विधसंघ रूप प्रवचन-तीर्थ अथवा द्वादशांगी रूपी प्रवचन (आगमसम्पदा) को आचार्य भगवान् धारण करते हैं। तीर्थंकर भगवान् के अभाव में आचार्य ही प्रवर्तक हैं और वे ही शासन की रक्षा करते हैं। अतः आचार्य भगवान् उनके समान पूजनीय-माननीय हैं ॥१२॥

अब साध्वी को विनय का उपदेश देते हैं—

अणुगम्मई भगवई, रायसुअज्जा सहस्सविंदेहिं ।

तहयि न करेइ माणं, परियच्छइ तं तहा नूणं ॥१३॥

शब्दार्थ - श्री भगवती राजपुत्री आर्या चन्दनबाला हजारों साध्वी वृन्दों के सहित होने पर भी अभिमान नहीं करती थीं। क्योंकि वह उसका निश्चय कारण जानती थीं ॥१३॥

भावार्थ - दधिवाहन राजा की पुत्री साध्वी चन्दनबाला हजारों साध्वियों तथा जन-समूह से घिरी रहती थीं। अर्थात् हजारों लोग उसकी

सेवाभक्ति के लिए उसके पीछे-पीछे घूमते थे, वह इतनी पूज्या होने पर भी जरा-सा भी अहंकार नहीं करती थीं। यह एक आश्चर्य है। वह अच्छी तरह से जानती थी कि यह मेरा प्रभाव नहीं है; यह तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणों का ही प्रभाव है। इससे वह गर्व नहीं करती थीं। इसी तरह अन्य साध्वियों को लोक-माननीय होने पर भी अभिमान नहीं करना चाहिए ॥१३॥

दिग्दिविस्त्रयस्स दमगस्स, अभिमुहा अज्ज चन्दणा अज्जा ।

नेच्छइ आसणगहणं, सो विणओ सच्चअज्जाणं ॥१४॥

शब्दार्थ - एक दिन के दीक्षित भिक्षुक साधु के सामने आर्या चन्दनबाला साध्वी खड़ी रही, और उसने आसन ग्रहण करने की इच्छा नहीं की। ऐसा विनय सभी साध्वियों के लिए कहा है ॥१४॥

भावार्थ - एक दिन का साधु और वह भी पूर्व में (गृहस्थजीवन में) भिक्षुक (याचक) होने पर भी मुनि वेश ग्रहण करके जब साध्वी चन्दनबालाजी के पास आया; उस समय आर्या चन्दनबाला साध्वी आसन से उठी और उसके सामने गयी। जब तक मुनि खड़े रहे तब तक साध्वी ने आसन पर बैठने की इच्छा नहीं की। ऐसा विनय सभी साध्वियों को भी साधुओं का करना चाहिए ॥१४॥ यहाँ उसकी कथा लिखते हैं—

चन्दनबाला की कथा

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में समृद्धि और जनता से भरपूर कौशाम्बी नाम की नगरी थी। एक समय बहुत-सी साध्वियों से युक्त, श्रावकों से पूजित, धर्ममूर्ति, राजा, सामंत, सेठ-साहूकार और नगरवासियों के द्वारा वन्दनीय श्रीवर्धमान-स्वामी की प्रथम शिष्या आर्या चन्दनबाला कौशाम्बी नगरी के चौराहे से बहुत जनसमूह के साथ जा रही थी। उस समय काकंदी नगरी से कोई दरिद्र वहाँ आया था। उसका शरीर अतिदुर्बल था। उसके मुख पर करोड़ों मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। टूटा हुआ खप्पर हाथ में लेकर घर-घर में वह भीख मांगता फिर रहा था, उस भिक्षुक ने मार्ग में साध्वी चन्दनबाला का वह समूह देखा। उसे देखकर वह विस्मित होकर सोचने लगा—“यह क्या कौतुक है? यहाँ बहुत से मनुष्य क्यों एकत्रित हुए हैं?” यों सोचता हुआ वह भी कौतुक देखने के लिए उस समूह के पास आया। उसने देखा कि संसार की आसक्ति से रहित, पृथ्वीतल को पवित्र करने वाली, शान्तमूर्ति आर्या चन्दनबाला

1. हेयोपदेया टीका में इसका नाम 'शेडुवक' लिखा है।

साध्वी, जिसके सिर के केश लुखित थे। वह बहुत-सी साध्वियों से घिरी हुई थीं और बहुत से राजपुरुष उसे वन्दन कर रहे थे। यह देखकर उसके मन में कुतूहल हुआ। अतः साध्वी के पास खड़े एक वृद्ध पुरुष से उसने पूछा कि “यह कौन है? और कहाँ जा रही है?” तब वृद्ध पुरुष ने कहा—ले, स्थिर मन से सुना मैं इसकी जीवन गाथा सुनाता हूँ—

चंपानगरी में दधिवाहन नाम का राजा था। उसके अति रूप लावण्य गुणों से युक्त, शील से अलंकृत और माता-पिता को प्राणों से भी अधिक प्रिय वसुमति नाम की पुत्री थी। एक समय किसी कारण से दधिवाहन और कौशाम्बी नगरी के स्वामी शतानीक राजा में परस्पर वैमनस्य हो गया। शतानीक राजा ने विशाल सेना लेकर चंपानगरी पर चढ़ाई की। दधिवाहन भी सेना एकत्रित कर लड़ाई के लिए सामने आया। घोर युद्ध हुआ। बहुत से सैनिक मारे गये। दधिवाहन ने सेना को खत्म होते देखा तो मैदान छोड़कर भाग गया। शत्रु की सेना ने निर्भय होकर अनाथ कामिनी (स्त्री) की तरह चंपापुरी को लूटा। राजा के अन्तःपुर को भी लूटा। उस समय अन्तःपुर में भय से चंचल नाम वाली, अपने समूह से भ्रष्ट हुई हिरनी की तरह दौड़ती हुई राजकन्या वसुमती को किसी पुरुष ने पकड़ा। जब शतानीक राजा की सेना वापिस अपने नगर में आयी, तब उसके साथ वसुमति भी कौशाम्बी में कैदी के रूप में आयी। वह भी वहाँ चौक में बेचने के लिए लायी गयी। उस समय कौशाम्बी निवासी धनावह सेठ ने मूल्य देकर उसे खरीद ली। सेठ उसे देखकर बहुत खुश हुआ और उसने उसे पुत्रीरूप में अपने घर में रखा।

एक समय सेठजी के चरण वसुमति धो रही थी। उस समय उसके केश कलाप जमीन पर लटक रहे थे। सेठ ने केशों को ऊपर उठाकर हाथ में थामे रखे। उसी समय सेठ की पत्नी मूला ने यह देखकर विचार किया कि “यह स्त्री अति रूपवती है। सौभाग्य आदि गुणों से युक्त है। इसीलिए मेरा पति इसके रूप से मोहित होकर इसे मेरी सौत बनाकर मेरा अपमान करेगा। अतः इसे दुःख देकर घर से निकाल देना ही ठीक है।” एक दिन सेठ किसी काम से दूसरे गाँव गये थे। मूला सेठानी घर में ही थी। उसने वसुमति का सिर मुँडवाकर पैरों में बेड़ी डालकर और हाथों को हथकड़ियों से जकड़कर घर के भौंये (तलघर) में छिपा दिया। सेठ घर आये अपनी पत्नी से पूछा—“वसुमति कहाँ है?” उसने कहा—“मैं नहीं जानती, कहीं गयी होगी।” सरल बुद्धि के कारण सेठ ने उसकी बात सच मान ली। इस तरह तीन दिन बीत गये।

चौथे दिन किसी पड़ोसी ने सेठ से पूछा—‘वसुमति कहाँ है?’ उसके दुःख से दुःखित हुए सेठ ने कहा—‘मैं नहीं जानता कि वह कहाँ गयी है।’ पड़ोसी ने कहा—‘‘आप की पत्नी द्वारा मारने से आक्रंद करते और तलघर में बन्द करते हुए आज से चार दिन पहले हमने देखा था। अतः अपने घर में तलाश करो। सेठ ने अपने घर में वसुमति की तलाश की तो तलघर में पड़ी हुई मस्तक से मुंडित, हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़ी से जकड़ी हुई, भूख से अत्यंत पीड़ित वसुमति को देखी। यह देख कर सेठ बड़े ही दुःखित हुए। और विचार करने लगे कि ‘‘अहो! स्त्री के दुश्चरित्र को कोई नहीं जान सकता। धिक्कार है मेरी स्त्री को।’’ सेठ ने वसुमति से पूछा कि ‘‘पुत्री! तेरी ऐसी दशा क्यों हुई? किसने की?’’ वसुमति ने कहा—‘पिताजी! यह सब मेरे कर्मों का दोष है।’ सेठ ने उसे घर की देहली के पास बिठाकर कहा—‘‘तू यहीं बैठा। मैं बेड़ी कटवाने के लिए लुहार को बुलाकर लाता हूँ।’’ वसुमति ने कहा—‘‘मुझे बहुत भूख लगी है। जो भी कुछ मिल जाय, खाने को दो।’’ उस समय छोड़े के लिए उड़द के बाकले बनाये हुए थे। सेठ ने सूप के एक कोने में उन्हें डालकर वसुमति को खाने के लिए दिये। वह भी एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर देहली के बाहर रखकर बैठी हुई उस सूप के कोने में पड़े हुए उड़द के बाकुले खाने के लिए तैयारी करती थी। उस समय श्री श्रमण भगवान महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में विचरते हुए अपने कर्मक्षय करने के लिए इस प्रकार का अभिग्रह (संकल्प) तप किया हुआ था। कोई राजकन्या हो, जिसका मस्तक मुंडित हो; दोनों पैरों में बेड़ी पड़ी हो, आँखों में आँसू हो; अधोभाग पर कच्छ बांधे हो, हाथ भी बेड़ियों से जकड़े हों, कैदी रूप में पकड़ी हुई हो, मूल्य से खरीदी हुई हो, एक पैर देहली के बाहर और एक पैर देहली के अंदर रखकर बैठी हो; दो पहर बीत गये हों, ऐसी कोई स्त्री सूप के कोने में रखे हुए उड़द के बाकुले देगी तो ग्रहण करूँगा।’’ ऐसा घोर अभिग्रह लिये हुए प्रभु महावीर को पाँच महीने और पच्चीस दिन व्यतीत हो गये थे। लेकिन अभी तक वह पूर्ण नहीं हो रहा था।

उसी अभिग्रह के सिलसिले में ग्रामानुग्राम विचरते हुए महावीर स्वामी कौशाम्बी में पधारें। वे एक घर से दूसरे और दूसरे से तीसरे घर में जाते, परंतु अभिग्रह के अनुरूप भिक्षा नहीं मिलती थी। घूमते-घूमते भगवान् धनावह सेठ के घर के पास पहुँचे। उन्हें देखकर वसुमति विचार करती है कि ‘‘मैं धन्य हूँ। ऐसी दशा में भी भगवान के दर्शन हुए। उसने प्रभु से कहा—‘‘हे त्रिलोक के स्वामी! मेरे हाथ से उड़द के बाकले भिक्षा के रूप में लेकर मेरा उद्धार करो, मुझे

भव दुःख से तारो।" ऐसे वचन सुनकर भगवान् ने अभिग्रहपूर्ति के सारे चिह्न देख विचार किया—“संभव है, मेरा अभिग्रह संपूर्ण होने आया हो, परंतु एक कमी होने से ही भगवान् वापिस लौटने लगे। तब वसुमति की आँखों में आँसू उमड़ पड़े।” वह सोचने लगी—“धिक्कार है मुझ मन्दभागिनी को! मेरे घर तक भगवान् आये भी लेकिन मेरा उद्धार किये बिना ही वापिस चले गये।” तब भगवान् ने उसकी आँखों में आँसू देख अपना अभिग्रह पूर्ण हुआ जान वापिस आकर वसुमति के हाथ से उड़द बाकुले भिक्षा के रूप में ग्रहण किये।

इससे वसुमती के हर्ष की सीमा न रही। उसके नेत्र प्रफुल्लित हो गये; रोम-रोम विकसित हो गये; मानो भवसागर से पार उतर गयी हो। दान के प्रभाव से पैरों की बेड़ियाँ और हाथों की हथकड़ियाँ अपने आप टूट गयी, मस्तक पर विस्तृत सुन्दर श्याम केश हो गये, और पाँच दिव्य प्रकट हुए—
१. साढ़े बारह करोड़ सौनेयों की वर्षा हुई, २. सुगंधित पंचरंगी पुष्प की वृष्टि हुई, ३. वस्त्रों की वर्षा हुई, ४. सुगंधित जल की वर्षा हुई और ५. अहो दानम्-अहो दानम् की घोषणा की। देवताओं ने जयजयकार किया। चन्दन जैसा शीतल स्वभाव होने के कारण वसुमति का नाम देवों ने 'चन्दनबाला' रखा। प्रभु ने छह महीने की तपस्या का पारणा कर अन्यत्र विहार किया। लोगों ने चन्दनबाला की बहुत प्रशंसा की। उस समय इन्द्र ने आकर शतानीक राजा को कहा—‘यह राजा दधिवाहन की पुत्री वसुमति है। अपने गुणों के कारण इसका दूसरा नाम चन्दनबाला है। इसकी अच्छी तरह से रक्षा करना। यह आगे जाकर धर्म का उद्योत करने वाली होगी और महावीर प्रभु की प्रथम शिष्या होगी। यों कहकर इन्द्र अपने सौधर्म देवलोक में गया। चन्दनबाला वहीं रहने लगी। राजा शतानीक और अन्य लोगों ने उसका बहुत सन्मान किया। कुछ दिनों के बाद जब भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ; तब भगवान् महावीर से चन्दनबाला ने साध्वीरीक्षा ग्रहण की और उनकी प्रथम शिष्या हुई। वही आर्या चन्दनबाला साध्वी श्री आर्य सुस्थिताचार्य को जो निकटवर्ती उपाश्रय में विराजमान है, उनको वंदन करने के लिए इस समय जा रही है।’

इस प्रकार वृद्धपुरुष ने भिखारी को चन्दनबाला का जीवन वृत्तांत सुनाया। सुनकर उस भिखारी के मन में हर्ष का पार न रहा। वहाँ से वह भिखारी साधुओं के उस उपाश्रय में गया, जहाँ चन्दनबाला साध्वी अपने गुरु को वंदन करने जा रही थी। चन्दनबाला साध्वी वंदन करके अपने उपाश्रय में गयी। गुरुमहाराज ने उस भिक्षुक को देखकर अपने ज्ञान का उपयोग लगाकर जाना कि

“यह थोड़े समय में सिद्धगति (मुक्ति में) जाने वाला है; अतः इसे धर्ममार्ग में लगाना चाहिए।” ऐसा विचारकर उसे मिष्टान्न भोजन दिया, और साथ में उपदेश भी। इससे वह बड़ा खुश हुआ और मन में विचार करने लगा—अहो! यह साधु कितने दयालु हैं, इनका मार्ग भी इस जन्म और दूसरे जन्म के लिए बड़ा हितकर है। इस जन्म में मिष्टान्न आदि भोजन मिलेगा और दूसरे जन्म में स्वर्ग आदि सुख मिलेगा। ऐसा विचारकर उस भिक्षुक ने गुरु के पास मुनि दीक्षा ग्रहण की। गुरु ने भी उसे चारित्र में दृढ़ करने के लिए बहुत साधुओं के साथ साध्वी के उपाश्रय में भेजा। अन्य साधु बाहर खड़े रहे और द्रमक (नवदीक्षित साधु) अकेला ही चन्दना साध्वी के उपाश्रय में गया। आर्या चन्दना साध्वी ने नवीन दीक्षित द्रमुक को आते देखकर सम्मुख आकर आदर सत्कारपूर्वक उसे आसन दिया और हाथ जोड़कर खड़ी रही। द्रमक मुनि विस्मित होकर सोचता है—“यह वेश बड़ा कल्याणकारी है। धन्य है इस वेश को; यद्यपि मैं नवदीक्षित हूँ, फिर भी पूज्या चन्दना साध्वी मेरा इस प्रकार का सम्मान कर रही हैं।” साधु साध्वियों का उदार और वात्सल्यपूर्ण व्यवहार देखकर वह धर्म में और ज्यादा दृढ़ हो गया। साध्वी चन्दनबाला ने पूछा “मुनिवर! कहिये आपका यहाँ कैसे पधारना हुआ?” द्रमक मुनि ने कहा—आपकी चर्या जानने के लिए ही मुझे गुरुदेव ने यहाँ भेजा है। चन्दनबाला ने संघ की महत्ता और साधुजीवन की भव्यमहिमा उन्हें वात्सल्य भावपूर्वक समझाई; जिससे उनका मन संयम में स्थिर हो गया और बहुत साल तक मुनि-चारित्र का निरतिचार पालन किया।”

इस दृष्टांत से अन्य साध्वियों को भी मुनिराज का इसी तरह विनय करना चाहिए, यह इस कथा का उपनय है ॥१४॥

वरिससयदिविषयाए, अज्जाए अज्जदिविषयाओ साहू ।

अभिगमण-वन्दण-नमंसणेण, विणएण सो पुज्जो ॥१५॥

शब्दार्थ - आज का दीक्षित साधु हो तो भी वह सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी के द्वारा अभिगमन (सामने जाना) वंदन और नमस्कार से तथा विनय से पूजनीय है ॥१५॥

भावार्थ - सौ साल की चिरकाल दीक्षित अथवा वृद्धसाध्वी के लिए लघु-मुनि या आज का दीक्षित मुनि हो तो भी वह वंदनीय है। उसे आते देखकर सम्मुख जाना, द्वादशावर्त्तादि पूर्वक वंदन करना, अन्तरंग वत्सलता से नमस्कार करना, विनय पूर्वक आसन आदि देना चाहिए, क्योंकि एक दिन का भी साधु हो, वह साध्वी के लिए पूजनीय होता है ॥१५॥

अब साधु की पूजनीयता का कारण बताते हैं—

धम्मो पुरिसप्पभवो, पुरिसवरदेसिओ पुरिसजिद्धो ।

लोएवि प्हू पुरिसो, किं पुण लोएगुत्तमे धम्मे ॥१६॥

शब्दार्थ - धर्म पुरुष के द्वारा उत्पन्न हुआ है यानी प्रचलित किया हुआ है। और श्रेष्ठ पुरुष ने ही धर्म का प्रथम उपदेश दिया है। अतः पुरुष ही ज्येष्ठ (बड़ा) है। लोक व्यवहार में भी पुरुष ही स्वामी माना जाता है, तो लोकोत्तम धर्म में पुरुष की ज्येष्ठता मानी जाय, इसमें कहना ही क्या? ॥१६॥

भावार्थ - जो दुर्गति में पड़ते हुए आत्माओं का रक्षण (धारण) करें, वह धर्म कहलाता है। पुरुष अर्थात् गणधर भगवन्तों से धर्म उत्पन्न (प्रचलित) हुआ है। पुरुषवर=पुरुषों में श्रेष्ठ, श्री तीर्थंकर परमात्मा ने बतलाया (प्ररूपित) है। श्रुत-चारित्र रूपी धर्म के स्वामी पुरुष होने से पुरुष बड़े हैं। संसार में मालिक पुरुष को ही बनाया जाता है, स्त्री को नहीं। जब लोक (संसार) में पुरुष मुख्य माना जाता है तो लोकोत्तर धर्म में क्यों नहीं? धर्म में तो विशेषता पुरुष की ही रखनी श्रेष्ठ है ॥१६॥

इसके लिए दृष्टान्त देते हैं—

संवाहणस्स रत्तो, तइया वाणारसीए नयरीए ।

कणासहस्समहिंयं, आसी किर रुचवंतीणं ॥१७॥

तहवि य सा रायसिरि उल्लङ्घंती न ताइया ताहिं ।

उपरद्विएण इक्केण, ताइया अंगवीरेण ॥१८॥

शब्दार्थ - उस समय वाणारसी नगरी में संबाधन नामक राजा के अति रूपवती हजार कन्याएँ थीं। तथापि उसकी राजलक्ष्मी को लूँटते समय वे रक्षा नहीं कर सकी। परंतु गर्भ में रहे हुए अंगवीर्य नाम के पुत्र ने उसकी रक्षा की। ॥१७-१८॥

भावार्थ - किसी समय वाणारसी नगरी में संबाधन नाम का राजा राज्य करता था। उसके एक हजार अत्यन्त रूपवती पुत्रियाँ थीं। जब राजा मर गया तो उसकी राजलक्ष्मी लूँटी जा रही थी। मगर कोई कन्या उसकी रक्षा नहीं कर सकी। अंत में राजा की रानी के गर्भ में रहे हुए अंगवीर्य नाम के पुत्र से राज्यलक्ष्मी की रक्षा हुई। अतः संसार में पुरुष ही प्रधान है।

इसकी स्पष्टता के लिए उसकी कथा कहते हैं—

संबाधन राजा का दृष्टान्त

वाणारसी नगरी में संबाधन नाम का राजा राज्य करता था। उसके एक हजार कन्याएँ थीं। बहुत उपाय करने पर भी उसके एक भी पुत्र नहीं हुआ। राजा ने सोचा—“पुत्र के बिना यह राज्यलक्ष्मी किस काम की? जिसके घर में पुत्र नहीं, उसका घर भी सूना है।” वेदों में भी कहा है—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च ।

तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा, स्वर्गे गच्छन्ति मानवाः ॥१॥

‘पुत्र के बिना मनुष्य की सद्गति नहीं होती। वह स्वर्ग नहीं जा सकता। वह पुत्र का मुख देखकर ही स्वर्ग जा सकता है ॥१॥’

लोकोक्ति भी है—चौसठ दीवा जो बले, बारे रवि उगंत । तस घर तोहे अंधारहुं, जस घर पुत्र न हुंत। ‘चौसठ दीपक एक साथ जलते हों, एक साथ बारह सूर्य उदित होते हों, लेकिन जिस घर में पुत्र नहीं है, उस घर में अंधेरा ही है।’ अतः पुत्र बिना यह राजलक्ष्मी व्यर्थ है। राजा ने पुत्रप्राप्ति के लिए अनेक मांत्रिक, तांत्रिक और यांत्रिक लोगों को बुलाकर पूछा। परंतु किसी भी उपाय से पुत्रप्राप्ति नहीं हुई। कहा भी है—

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाऽभाव्यं भवति, न भाविनोऽस्ति नाशः ॥२॥

‘नियति के बल से शुभ अथवा अशुभ जो पदार्थ प्राप्त होने वाला होता है, वह मनुष्य को अवश्य ही प्राप्त होता है। मनुष्य के अनेक प्रयत्न करने पर भी नहीं होने वाला नहीं होता और जो होने वाला है वह नहीं रुकता ॥२॥’

राजा इन्हीं विचारों के भंवरजाल में गोते खाता हुआ बूढ़ा हो गया। संयोगवश उस समय पटरानी के गर्भ में एक जीव पुत्र रूप में आया। राजा पुत्र का मुख देखे बिना ही परलोक सिधार गया। सभी नगरवासी एकत्रित होकर विचार करने लगे कि ‘अब क्या होगा? राजा के पीछे किसी पुत्र के बिना राज्य कैसे चलेगा? उनका उत्तराधिकारी कौन बनेगा? और बिना राजा के राजगद्दी खाली रहेगी।’ इस तरह सभी नगरवासी लोग शोकाकुल हुए। जब शत्रु-राजाओं ने भी सुना कि संबाधन राजा अपुत्र ही मरा है तो उन सभी ने एकत्रित होकर, परस्पर एकमत होकर विशाल सेना इकट्ठी की; और शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर वाणारसी की ओर कूच की। वाणारसी के लोगों ने राज्य पर शत्रु-राजाओं के चढ़ाई करके आने की बात सुनी तो वे बड़े दुःखी हुए और अपने-अपने घर

से धन निकालने लगे। उस समय उन शत्रु राजाओं ने किसी नैमित्तिक से पूछा—
“हमारी जय होगी या नहीं?” नैमित्तिक ने पंचांग से लग्नबल देखकर कहा—
“आप सब मिलकर विजय की अभिलाषा रखते हैं; लेकिन संवाधन राजा की
पटरानी के गर्भ के प्रभाव से आपकी पराजय होगी।” ऐसा सुन सभी शत्रु निराश
हो वापस चले गये। सभी नागरिक खुश हुए और कहने लगे—“अहो! गर्भस्थ
राजपुत्र का प्रभाव तो देखो, जिसके प्रभाव से सब शत्रु भाग गये। गर्भस्थिति पूर्ण
होने के बाद पुत्र का जन्म हुआ। अशुचिकर्म पूर्ण होने के बाद उसका नाम
अंगवीर्य रखा। क्रमशः वह युवान हुआ और उसने राजगद्दी पर बैठकर चिरकाल
तक प्रजा का पालन किया। इस तरह हजार राजकन्याएँ होने पर भी राज्य का रक्षण
नहीं हो सका। मगर एक ही गर्भस्थित पुत्र ने रक्षण किया।”

लौकिक-व्यवहार में भी ऐसी नीति है; इसीलिए धार्मिक व्यवहार में भी
ऐसी ही नीति अपनायी गयी कि ‘सर्वत्र पुरुष ही श्रेष्ठ हैं;’ इसीलिए एक दिन
के दीक्षित साधु का भी साध्वियों को विनय करना चाहिए। इस प्रकार पूर्वगाथा के
साथ इस कथन का सम्बन्ध है ॥१७-१८॥

अब आगे की गाथा में इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

महिलाण सुबहुयाणवि, मज्झाओ इह समत्थघरसारो ।

रायपुरिसेहिं निज्जइ, जणेवि पुरिसो जहिं नत्थि ॥१९॥

शब्दार्थ - इस जगत् में जिसके घर में पुत्र नहीं होता, वहाँ बहुत-
सी महिलाओं के रहते हुए भी समस्त घर का सार (धन) राजपुरुष ले जाते
हैं ॥१९॥

भावार्थ - अपुत्र का धन राजा ले जाता है, ऐसा जगत् का नियम है।
जिसके घर में कोई पुत्र न हो और पिता मर जाय तो उसका धन बहुत-सी
स्त्रियों और पुत्रियों के होने पर भी राजा ले जाता है; (यानी राजा अपने कब्जे
में कर लेता है।) इसीलिए पुरुष प्रधान है ॥१९॥

अब धर्म आत्मसाक्षी से करने के लिए कहते हैं—

किं परजण-बहुजाणायणाहिं, वरमप्पसक्खियं सुकयं ।

इह भरहचक्कवट्ठी, पसन्नचंदो य दिट्ठता ॥२०॥

शब्दार्थ - दूसरे लोगों को बहुत (धर्मक्रिया) बताने से क्या मतलब? सुकृत
आत्मसाक्षिक करना ही श्रेष्ठ है। इस विषय में भरतचक्रवर्ती और प्रसन्नचन्द्र का
दृष्टांत जानें ॥२०॥

भावार्थ - मैंने यह अनुष्ठान (धर्मचरण या धर्मध्यान) किया; इस प्रकार बहुत से मनुष्य दूसरे लोगों को बताते या कहते फिरते हैं। पर दूसरों को अपनी धर्मकरणी बताने या कहने से क्या लाभ? हे आत्मन्! आत्मसाक्षिक सुकृत-धर्म करना ही सर्वश्रेष्ठ है। इस विषय में भरत चक्रवर्ती का उदाहरण देना उचित होगा, जिसने आत्मसाक्षिक अनुष्ठान से सिद्धि-सुख प्राप्त किया है। प्रसन्नचन्द्र का दृष्टांत भी इस बारे में बोधरूप है।

पहले हम भरतचक्री का दृष्टांत देते हैं—

भरतचक्रवर्ती का दृष्टांत

अयोध्या नगरी में ऋषभदेवजी के बड़े पुत्र भरत चक्रवर्ती बन ने वाले थे। ऋषभदेवजी ने संयम-ग्रहण के समय अपने सौ पुत्रों को अपने-अपने नाम से अंकित देश दिये। बाहुबली को बहली देश में तक्षशिला का राज्य दिया और भरत को अयोध्या नगरी का राज्य दिया। एक समय भरत राज्यसभा में बैठा था, उस समय यमक और शमक नाम के दो पुरुष बधाई देने राज्यसभा के मुख्य द्वार पर आये। प्रतिहारी ने उनके आगमन का भरत को निवेदन किया। भरत राजा ने भूसंज्ञा से द्वारपाल को उन्हें लिवा लाने की अनुमति दी। यमक और शमक राजसभा में आये और हाथ जोड़कर भरत महाराज की आशीर्वादपूर्वक स्तुति की। पहले यमक ने अर्ज की—‘देव! पुरिमतालपुर के शकट नाम के उद्यान में श्री ऋषभदेव स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। अतः आपको मैं बधाई देने आया हूँ।’ उसके बाद शमक ने कहा कि—‘देव! आपकी आयुधशाला (शस्त्रागार) में हजार देवों से सेवित, करौड़ सूर्यों की तरह प्रकाश देने वाला चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है।’ इस तरह दोनों के मुख से बधाई सुनकर बड़ी खुशी हुई और भरत महाराज ने उन्हें जीवनभर चल सके उतना धन देकर उनका सन्मान किया।

उसके बाद भरत महाराज सोचते हैं—‘मैं पहले कौन-सा उत्सव करूँ, केवलज्ञान का अथवा चक्र का?’ यों विचारों में वे गहरे डूब गये। सहसा उनके विचारों में भूकम्प का-सा झटका लगा। उनके अन्तर्मन से ये उद्गार निकल पड़े—‘धिकार है मुझे! मैंने यह क्या विचार किया? अक्षय सुख देने वाले पिता कहाँ और कहाँ संसारसुख का हेतुभूत चक्ररत्न? जिस धर्म की कृपा से चक्र प्राप्त हुआ है, उस धर्ममूर्ति पिता की पूजा करने से ही चक्र की पूजा हो जाती है।’ ऐसा निश्चय कर पुत्रमोह से संतप्त ‘ऋषभ ऋषभ’ की निरंतर रट लगाती

हुई अपनी दादीमां श्री मरुदेवी माता को हाथी पर बिठाकर बड़े आडम्बर के साथ भरत वंदन के लिए चला। मार्ग में भरतराजा ने मरुदेवी माता से कहा—“माता जी! आप अपने पुत्र की समृद्धि तो देखिए! आप मुझे प्रतिदिन कहती थीं—‘मेरा पुत्र वन-वन में धूम रहा है और कष्ट पा रहा है; लेकिन तूं उसकी कोई खोज-खबर नहीं लेता।’ इस प्रकार मुझे उपालंभ दिया करती थीं। अब जरा अपने पुत्र का ऐश्वर्य तो देखिए।”

असल में, उस समय चौसठ इन्द्रों ने एकत्रित होकर समवसरण की रचना की थीं। करोड़ों देव-देवी इकट्ठे हुए थे। अनेक वाद्यों की आवाज से सारा आकाश मण्डल गूंज रहा था। ‘जय जय’ की ध्वनि हो रही थी, नृत्य गीत हो रहे थे। प्रभु सिंहासन पर बैठकर उपदेश दे रहे थे। उस समय देव-दुर्दुम्भि की ध्वनि और ‘जय जय’ के नारे सुनकर मरुदेवी माता ने कहा—“यह कौन-सा कौतुक है यहाँ?” भरत ने कहा—यह आपके पुत्र ऋषभ का ऐश्वर्य है।” मरुदेवी विचार करने लगी—‘अहो! पुत्र ने तो इतनी समृद्धि प्राप्त कर ली? मैं तो समझ रही थी कि मेरा बेटा बड़े कष्ट में होगा! परंतु यहाँ तो ओर ही दृश्य देख रही हूँ।’ इस तरह की उत्कंठा से माताजी के हर्षाश्रु उमड़ पड़े। उनके नेत्र पटल खुल गये। उन्होंने विस्फारित नेत्रों से सारा दृश्य प्रत्यक्ष देखा। सहसा कण्ठ से वाणी फूट निकली—‘अहो! मेरा पुत्र ऋषभ इतना ऐश्वर्यशाली है? मैं तो समझती थी कि कष्ट में मुझे याद करेगा। परंतु इसने मुझे एक बार भी याद नहीं किया? मैं तो एक हजार वर्ष तक पुत्र-मोह से दुःखित थी, और इसके मन में जरा भी मोह नहीं है। अहो! धिक्कार है मेरी मोह की चेष्टा को! मोहान्ध मनुष्य कुछ भी नहीं सोचता। इस तरह वैराग्यरस में डूबकर वे क्षपकश्रेणि पर आरुढ़ हुई। आठ कर्मों का क्षय कर डाला और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर वे मोक्ष पहुँची। देवों ने उसका महोत्सव किया। इन्द्र आदि सभी देवों ने समवसरण से आकर मरुदेवी माता के निष्प्राण शरीर को क्षीर सागर के प्रवाह में बहा दिया। तत्पश्चात् शोकातुर भरत को आगे करके सभी समवसरण में पहुँचे। प्रभु को तीन बार प्रदक्षिणा देकर भरत यथायोग्य स्थान पर बैठा। प्रभु की वाणी सुनकर भरत का शोक दूर हुआ। धर्मदेशना के बाद भरत ने प्रभु को वंदन किया और उनसे श्रावक धर्म (सम्यक्त्व) अंगीकार करके अयोध्या में आया। और तब चक्ररत्न का उत्सव किया।

आठ दिन बीत जाने के बाद चक्ररत्न पूर्व दिशा में चला। भरत राजा ने भी छह खण्ड पर विजय के लिए सेनासहित प्रस्थान किया। वे प्रतिदिन एक-एक

योजन का प्रयाण करते थे, कुछ दिनों में वे पूर्व समुद्र के किनारे आ गये। वहाँ उन्होंने सेना का पड़ाव डाला। भरत ने वहाँ अट्टम तप किया। मन में मागधदेव का ध्यान करके तीन दिन के बाद रथ में बैठकर, समुद्रजल में रथ को घुरी तक ले जाकर अपना नाम बाण पर अंकित कर धनुष पर रखकर छोड़ा। वह बाण बारह योजन जाकर मागधदेव की सभा में सिंहासन से टकराकर जमीन पर पड़ा। उसे देखते ही मागधदेव क्रोधित हुए और बाण को उठाकर देखा तो उस पर भरत चक्रवर्ती का नाम पढ़ा। पढ़ते ही कोप शान्त हो गया और भेंट लेकर वह देव परिवारसहित सामने आया और चक्रवर्ती के चरणों में पड़कर बोला—“स्वामी! मेरा अपराध क्षमा करें। मैं आपका सेवक हूँ। इतने दिनों तक मैं स्वामि-रहित था; आज आपके दर्शन से सनाथ हुआ हूँ। इस तरह नमस्कार कर भेंट रखकर भरतचक्री की आज्ञा लेकर अपने स्थान पर गया। उसके बाद भरतचक्री ने अट्टम-तप का पारणा किया।

उसके बाद चक्र आकाश में चला, सेना भी उसके पीछे-पीछे चली। क्रमशः वे दक्षिण समुद्र के किनारे आये। वहाँ पहले की तरह दिशा के स्वामी वरदामदेव को जीता। उसके बाद पश्चिम दिशा के स्वामी प्रभासदेव को जीतकर उत्तर दिशा की ओर चक्र चला; यों क्रमशः वैताढ्य पर्वत के पास आकर चक्रवर्ती ने अट्टमतप कर मन में तमिस्रा गुफा के अधिष्ठायक कृतमालदेव का ध्यान किया। अट्टम-तप के अंत में देव प्रत्यक्ष हुआ और उसने तमिस्रा गुफा का दरवाजा खोला। भरत चक्री ने सैन्य सहित तमिस्रा गुफा में प्रवेश किया, मणिरत्न के प्रकाश से सैन्य आगे बढ़ा। आगे गुफा में निम्नगा और उन्निम्नगा नाम की दो नदियाँ आयी। चर्मरत्न के सहारे से दोनों नदी पार उतरे। आगे चलकर दूसरे दरवाजे से बाहर निकले और सैन्य वहीं रखा। वहाँ बहुत से म्लेच्छ राजा एकत्रित होकर भरतचक्री के साथ युद्ध करने लगे। भरतचक्री ने सबको जीत लिया और वे सब उनके सेवक बनें। वहाँ से तीन खंड जीतकर आगे चलते-चलते मार्ग में नदी का किनारा देख विश्राम के लिए उचित जानकर वहीं सेना का पड़ाव डाला। उस किनारे पर नौ निधान प्रकट हुए। उनका स्वरूप एक गाथा में इस प्रकार है—

उप्पसे १ पंडुए २ पिंगलए ३ सव्वरयणं ४ महापउमे ५ ।

काले ६ अ महाकाले ७, माणवग ८ महानिही संखे ९ ॥३॥

१. नैसर्प, २. पांडुक, ३. पिंगल, ४. सर्वरत्न, ५. महापद्म, ६. काल, ७. महाकाल, ८. माणवक और ९. शंख। ये नौ निधानों के नाम हैं ॥३॥

ये गंगा के मुख में रहने वाले हैं। इनमें आठ पहिये होते हैं। ये आठ

योजन ऊँचे, नौ योजन चौड़े और बारह योजन लम्बी मंजूषा (पेटी) के आकार के होते हैं। इनमें वैडूर्यमणि के दरवाजे होते हैं। यह स्वर्णमय व विविध प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण होते हैं। इसके अधिष्ठाता देव इसी नाम के और एक पल्लोपम आयुष्य वाले होते हैं।

भरतचक्रवर्ती ने वहाँ आठ दिन का निधान-सम्बन्धी महोत्सव किया। गंगा नदी की अधिष्ठायिका गंगादेवी भरत चक्रवर्ती को अपने घर ले गयी। भरत ने उसके साथ एक हजार साल सुखोपभोग में बिताये। उसके बाद चक्री आगे बढ़ा। वेताद्वय पर्वत पर पहुँचकर चक्री ने नमि, विनमि नाम के विद्याधरों को जीता। नमि विद्याधर ने चक्रवर्ती को अपनी पुत्री दी। वह उनकी स्त्रीरत्न बनी। इस तरह भरत चक्रवर्ती साठ हजार वर्ष तक दिग्विजय कर वापस अयोध्या में लौटा। इस प्रकार वह षट् खण्डाधिपति महाऋद्धिमान हुआ। चक्रवर्ती की ऋद्धि का थोड़ा-सा वर्णन इस प्रकार है—

चक्रवर्ती के स्वामित्व में चौरासी लाख हाथी, उतने ही रथ और घोड़े, छियानवे करोड़ पैदल सेना, बत्तीस हजार देश होते हैं तथा बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी सेवा करते हैं। ४८ हजार महानगर, ७२ हजार नगर, ९६ करोड़ गाँव, २० हजार स्वर्ण आदि धातु की खानें, चौदह रत्न, नौ निधि उनके अधीन होते हैं। साठ हजार वर्णावली (बिरुदावली) कहने वाले भाट, साठ हजार पंडित, दस करोड़ ध्वजा धारण करने वाले, पाँच लाख दीपक धारण करने वाले, २५ हजार देव उनके सेवक होते हैं और १८ करोड़ घुड़सवार उनके पीछे-पीछे चलने वाले होते हैं। इतनी ऋद्धि होने पर भी भरत चक्रवर्ती अंतर से इनसे विरक्त रहता था। इस तरह कई लाख पूर्व (वर्ष) व्यतीत होने पर एक दिन भरतचक्रवर्ती ने अपनी शृंगारशाला (शीशमहल) में अपने शरीर के जितने ऊँचे कद वाले (आदमकद) आइने (दर्पण)^१ में अपना रूप देखा। दर्पण में उनका अंग-अंग बढ़ा सुन्दर और आकर्षक लग रहा था। सहसा उनके हाथ की अंगुली से एक अंगूठी नीचे गिर पड़ी। अंगूठी के गिरते ही हाथ की

१. शीश महल - अर्थात् काच की दीवारें न होकर रत्न जड़ीत दीवारें होनी चाहिए जिसमें व्यक्ति का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से होता होगा।

शोभा कम हो गयी। फिर वह क्रमशः अन्य आभूषण एक-एक करके उतारने लगा। अब तो शरीर एकदम शोभाहीन नजर आने लगा। भरत चक्रवर्ती के मस्तिष्क में विचारों की बिजली चमकी—“अहा! क्या पर पुद्गलों से ही शरीर

की शोभा है। शरीर की यह कितनी असारता है कि वह पर पुद्गलों से ही शोभास्पद लगता है। अहो! मैंने अपने जीवन में क्या किया? इस असार शरीर के लिए बहुत से आरंभ-समारंभ किये। इस असार संसार में सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। कोई किसी का नहीं हैं। मेरे भाइयों को धन्य है कि जिन्होंने बिजली की चमक के समान चंचल राज्यसुख को छोड़कर संयम अंगीकार किया है। मुझे धिक्कार है कि मैं इस अनित्य संसार-सुख में नित्यत्व-बुद्धि से मोहित होकर बैठा हूँ। इस देह को धिक्कार है। और सर्प के फणों के समान इन विषयों को धिक्कार है! अरे! आत्मन्! इस संसार में तू अकेला ही है; और कोई तेरा नहीं है।” इस प्रकार अनुप्रेक्षा (गंभीर चिंतन) करते हुए भरत परमपद पर चढ़ने के लिए सोपानरूप क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ हुए। चार घनघाती कर्मों का क्षय करने से उन्हें उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उसी समय शासनदेव शक्रेन्द्र ने आकर उन्हें मुनिवेश अर्पण किया। मुनिवेश धारण कर इस भूमण्डल पर विचरण कर स्वपर-कल्याण करते हुए भरत केवली ने क्रमशः मोक्षसुख प्राप्त किया। इसीलिए आत्मसाक्षिक अनुष्ठान ही फल देने वाला होता है। दूसरे की साक्षी से दूसरों के सामने अपने धर्मानुष्ठानों का ढिंढोरा पीटने से वे धर्मानुष्ठान-क्रिया आदि यथेष्ट फल नहीं देते। इस प्रकार आध्यात्मिक स्वतःस्फुरित (स्वसाक्षिक) अनुष्ठान में भरत चक्रवर्ती का दृष्टांत समझना चाहिए।

अब प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का दृष्टांत कहते हैं—

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा

पोतानपुर नगर में प्रसन्नचन्द्र नाम का राजा राज्य करता था। वह अतीव धार्मिक, सत्यवादी और न्यायधर्म में कुशल था। एक दिन संध्या समय गवाक्ष (खिड़की) में बैठा हुआ वह नगर का दृश्य देख रहा था। उस समय आकाश में अनेक प्रकार के रंगबिरंगे बादल छाये हुए थे। संध्या का रंग भी खिला हुआ था। उसे देखकर राजा को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। वह उसकी ओर गौर से बार-बार देखने लगा। थोड़ी ही देर में बादल भी बिखर गये और संध्या की लाली भी क्षणिक होने के कारण मिट गयी। यह देखकर राजा विस्मित होकर विचार में डूब गया—“अरे! अभी-अभी तो संध्या की लाली सुन्दर दिखायी दे रही थी। इतनी ही देर में वह संध्यारंग की सुन्दरता कहाँ गयी। पुद्गल अनित्य है। इस संध्यारंग के समान यह शरीर भी तो अनित्य है। संसार में जीवों को कहीं भी कुछ

भी सुख नहीं है।" कहा है—

दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासे नराणाम्,

बालत्वे चापि दुःखं मललुलितवपुः स्त्रीपयःपानमिश्रं ।

तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,

संसारे रे मनुष्या! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥४॥

अर्थात् - मनुष्य को इस संसार में सर्व प्रथम स्त्री की कुक्षि में गर्भवास का दुःख होता है। बचपन में भी माता के स्तनपान में और मलमूत्र से शरीर लिपटा रहने से दुःख होता है। युवावस्था में स्त्री आदि के विरह से दुःख उत्पन्न होता है और बुढ़ापा तो सर्वथा सार रहित ही है। अतः हे मनुष्यों! यदि इस संसार में थोड़ा भी सुख हो तो कहो!

इस प्रकार वैराग्य के रंग में रंगा हुआ राजा मन में विचार करता है— 'सचमुच, इस संसार में वैराग्य से बढ़कर कोई भी सुख नहीं है।' कहा भी है—

भोगे रोगभयं सुखे क्षयभयं वित्तेऽग्निभूभृद् भयं,

दास्ये स्वामिभयं गुणे खलभयं वंशे कुयोषिद्भयम् ।

माने म्लानिभयं जये रिपुभयं काये कृतान्ताद् भयं,

सर्वं नाम भयं भवेऽत्र भविनां वैराग्यमेवाभयम् ॥५॥

अर्थात् - भोग में रोग का भय है, सुख में नष्ट होने का भय है, धन में आग से जल जाने या राजा द्वारा हरण किये जाने का भय है, दास (नौकर) को स्वामी का भय है, गुण में नीच मनुष्य का भय, वंश में कुभार्या (नीच स्त्री) का भय है, मान के साथ अपमान का भय लगा है, विजय के पीछे शत्रु का भय लगा है और शरीर को यमराज का भय होता है। इस संसार में प्राणियों को सर्वत्र भय है। एकमात्र वैराग्य में ही निर्भयता है ॥५॥

इस तरह राजा ने सांसारिक सुखों से विरक्त होकर अपने बालपुत्र को राजगद्दी पर बिठाया और स्वयं ने तत्काल केशों का लोच कर जैनेन्द्री दीक्षा अंगीकार की। मुनि बनकर वे पृथ्वी पर विचरण करते-करते क्रमशः राजगृही नगरी पहुँचे। और वहाँ के एक उद्यान में कायोत्सर्ग-मुद्रा में ध्यानस्थ खड़े रहे। उस समय चौदह हजार साधुओं के अधिपति श्रमण भगवान् महावीरस्वामी अपनी शिष्यमण्डलीसहित एक गाँव से दूसरे गाँव विचरते हुए देवों द्वारा रचित स्वर्णकमल पर अपने चरण कमल रखते हुए राजगृही नगरी के बाहर गुणशील नामक चैत्य में पधारें। देवों ने वहाँ उपस्थित होकर समवसरण (धर्मसभा) की

रचना की। उद्यानपालक ने नगर में जाकर राजा श्रेणिक को खुशखबरी सुनायी— 'स्वामिन्! आपके मन को अत्यन्त प्रिय श्रमण भगवान् महावीरस्वामी उद्यान में पधारे हैं।' यह सुनकर राजा को अति प्रसन्नता हुई। उसने उद्यानपाल को कोटिप्रमाण धन और सोने की जीभ बनवा कर दी। श्रेणिक राजा बड़े आंङ्गबर से भगवान् महावीरस्वामी को वंदन करने के लिए चला। राजा की सेना के आगे— आगे सुमुख और दुर्मुख नाम के दो दण्डधर (रक्षापाल) चल रहे थे। प्रसन्नचन्द्र मुनि को वन में कायोत्सर्ग—मुद्रा में खड़े देखकर सुमुख बोला—“धन्य है इस मुनि को, जिसने महान् राजलक्ष्मी का त्यागकर संयम रूपी लक्ष्मी ग्रहण की है। इनके नाम लेने मात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं, तो फिर सेवा करने से तो कहना ही क्या? यह सुनते ही दुर्मुख तपाक् से बोला—बस, बस रहने दो इसकी तारीफ! तुम्हें पता नहीं है। इसे काहे का धन्य! यह तो महापापी है। इसके समान संसार में और कौन—सा पापी होगा?” सुमुख मन ही मन विचार करने लगा ‘सच है, दुर्जन का स्वभाव ही ऐसा होता है। वह गुणों में भी दोष देखता है।’ अनुभवियों ने ठीक ही कहा है—

आक्रान्तेव महोपलेन मुनिना शप्तेव दुर्वाससा,
सातत्यं बत मुद्रितेव जतुना नीतेव मूर्छां विषैः ।
बद्धेवाऽतनुरज्जुभिः परगुणान् वक्तुं न शक्ता सती,
जिह्वा लोहशलाकया खलमुखे विद्धेव संलक्ष्यते ॥६॥

अर्थात् - दुर्जन मनुष्य के मुख में जीभ ऐसी लगती है, मानो वह बड़े भारी पत्थर से दबी हुई हो, मानो उसे दुर्वासा ऋषि का शाप लगा हुआ हो, मानो वह लाख से निरंतर चिपकाई हुई हो, या वह मानो विष से मूर्च्छित की गयी हो। अथवा बारीक डोरी से मानो बांधी हुई हो या लोहे की सलाई से मानो बींधी हुई हो; ॥६॥ जिसके कारण वह दूसरों के गुणों को कहने में असमर्थ होती है—

आर्योऽपि दोषान् खलवत्परेषां, वक्तुं हि जानाति, परं न वक्ति ।
किं काकवत्तीव्रतराननोऽपि, कीरः करोत्यस्थिविघट्टनानि ॥७॥

अर्थात् - सज्जन पुरुष भी दुर्जन मनुष्य की तरह दूसरों के दोषों को कहना जानता है, परंतु वह कहता नहीं। क्या कौएँ की तरह तोते की चोंच तीखी नहीं होती? जरूर होती है, पर वह हड्डियों के टुकड़े तोड़ती नहीं फिरती॥७॥

यह सोचकर सुमुख ने उससे कहा कि—‘हे दुर्मुख! तू किसलिए इस मुनीश्वर की निन्दा करता है?’ तब दुर्मुख बोला—“अरे! इस पापी का नाम भी न लो! क्योंकि इस मुनि ने पाँच वर्ष के बालक को राजगद्दी पर बिठाकर खुद ने

दीक्षा ग्रहण की है। परंतु शत्रुओं ने एकत्रित होकर उसके नगर को लूट लिया है। उस नगर के निवासी आक्रंद और विलाप कर रहे हैं। महान् युद्ध हो रहा है, अब वे शत्रु उस बालक को मारकर राज्य अपने कब्जे में करेंगे। यह सब पाप इसके सिर पर ही तो है!”

यह सुनकर ध्यानस्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि सोचने लगे—“अरे! मेरे जीवित रहते यदि शत्रु मेरे बालक को मारकर राज्य-ग्रहण करेगा तो मेरी प्रतिष्ठा नष्ट होगी।” इस प्रकार विचार करते-करते वे ध्यान से विचलित हुए और मन से ही कल्पना से शस्त्र बनाकर कल्पना से ही शत्रु के साथ युद्ध करने लगे। उनके मन में भयंकर परिणाम आने से रौद्रध्यान पैदा हुआ। अतः वे मन से ही वैरियों को मारने लगे। मैंने अमुक को मार दिया, अमुक को यह मारा” ऐसी दुर्बुद्धि के कारण मन का दुर्विचार वाणी से भी फूट निकला—‘बहुत अच्छा हुआ।’ अब ‘जो बच गये हैं, उनको भी अभी मार गिराता हूँ’। इस तरह वे मुनि बार-बार मन से ही घमासान युद्ध छेड़ बैठे। उस समय महाराजा श्रेणिक ने हाथी के होदे पर बैठे हुए प्रसन्नचन्द्र मुनि को देखा और उत्साह से स्तुति की—‘धन्य है राजर्षि को, जो मन की एकाग्रतापूर्वक ध्यान करते हैं।’ राजा ने हाथी से नीचे उतरकर मुनीश्वर की तीन प्रदक्षिणा की, बार-बार वंदना की और स्तुति की। इसी तरह मन से वंदन-स्तुति करता हुआ राजा हाथी पर चढ़कर भगवान् महावीर स्वामी के पास पहुँचा। भगवान् का समवसरण देखते ही पंचाभिगम कर श्री जिनेश्वर भगवान् को वंदन किया और हाथ जोड़कर निम्नोक्त श्लोकों से प्रभु की स्तुति की—

अद्याऽभवत्सफलता नयनद्वयस्य, देव! त्वदीयचरणाम्बुजवीक्षणेन ।

अद्य त्रिलोकतिलक! प्रतिभासते मे, संसारवारिधिरयं चुलुकप्रमाणम् ॥८॥

अर्थात् - प्रभो! आपके चरण-कमलों के दर्शन से आज मेरे दोनों नेत्र सफल हुए हैं। और हे त्रिलोकतिलक! आज यह संसार-समुद्र मुझे एक अंजली-प्रमाण (चुलुभर) मालूम होता है ॥८॥

दिडे तुह मुहकमले, तिन्निवि णट्ठाई निरवसेसाई ।

दारिदं दोहगं, जम्मंतरसंचियं पावं ॥९॥

अर्थात् - आपके मुख-कमल के दर्शन (देखने) से मेरा दारिद्र्य, दुर्भाग्य और पूर्वजन्मों के संचित पाप, ये तीनों सर्वथा नष्ट हो गये हैं ॥९॥

इस प्रकार के एक सौ आठ श्लोकों से श्री जिनेश्वरदेव की स्तुति करके श्रेणिक अपने योग्य स्थान पर बैठा। प्रभु ने दुःखनाशिनी धर्म-देशना प्रारंभ की। धर्मोपदेश पूर्ण होने के बाद श्रेणिक राजा ने भगवान् से पूछा—“विभो! जिस समय

मैंने प्रसन्नचन्द्र मुनि को वंदना की थी; उस समय यदि वे मुनि कालधर्म को प्राप्त हो जाते तो उनको कौन-सी गति प्राप्त होती?" भगवन् ने कहा—"उस समय अगर वह मुनि मर जाता तो सातवीं नरक में जाता।" श्रेणिक ने फिर पूछा—"भगवन् अब वे काल करें तो कहाँ जायेंगे?" भगवान् ने कहा—"छट्टी नरक में" कुछ क्षणों के बाद पूछा—"भगवन्! अब कहाँ जायेंगे?" प्रभु ने कहा—"पाँचवीं नरक में।" इसी तरह फिर क्रमशः उन्होंने चौथी, तीसरी, दूसरी और पहली नरक के जाने का बताया। बाद में श्रेणिक ने पूछा—"भगवन्! इस समय अगर उनका शरीर छूट जाय तो कहाँ जायेंगे?" भगवान् ने कहा—"प्रथम देवलोक में।" श्रेणिक ने फिर यही प्रश्न बार-बार दोहराया तो भगवान् ने अनुक्रम से दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ, आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ बारहवाँ देवलोक बताया। तत्पश्चात् क्रमशः नौ प्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान में जाने का कहा। इस तरह श्रेणिक राजा प्रश्न पूछता जाता था और भगवान् उसका उत्तर देते जा रहे थे। इस तरह धर्मसभा में प्रश्नोत्तर चल ही रहे थे कि आकाश में देवदुंदुभियाँ गड़गड़ाने लगीं। श्रेणिक ने पूछा—"प्रभो! ये देवदुंदुभियाँ किसलिए बज रही हैं?" प्रभु ने उत्तर दिया—"प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को केवलज्ञान हो गया है। इसीलिए देव देवदुंदुभियाँ बजा रहे हैं और जय-जयनाद कर रहे हैं।" श्रेणिक राजा ने विस्मित होकर पूछा—"भगवन्! यह कैसी विस्मयजनक बात है? यह अटपटी बात समझ में नहीं आ रही है। कृपया, इसका वास्तविक रहस्य बताइए, जिससे मेरे मन का समाधान हो जाय।" प्रभु ने संक्षेप में कहा—"राजन्! सर्वत्र मन की ही प्रधानता है।" कहा है—

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः ।

क्षणेन सप्तमीं याति, जीवस्तण्डुलमत्स्यैवत् ॥१०॥

अर्थात् - मनुष्यों का मन ही बंधन और मोक्ष का कारण है। तंदुल नाम का मत्स्य का जीव (मानसिक दुर्भावों के कारण) थोड़े ही समय में (अन्तर्मुहूर्त) सातवीं नरक में चला जाता है ॥१०॥ और भी कहते हैं—

मण मरणे इदियमरणं, इदियमरणे मरंति कम्माइं ।

कम्ममरणेण मुक्खो, तम्हो मणमारणं पवरं ॥११॥

अर्थात् - मन को मारने (वश करने) से इन्द्रियाँ मरती (वश होती) हैं। इन्द्रियों के मरण (वश करने) से, कर्म मरते (नष्ट होते) हैं; कर्ममरण से मनुष्य का मोक्ष होता है। इसीलिए मन को मारना (वश करना) ही श्रेष्ठ है ॥११॥

भगवान् ने रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा—"श्रेणिक! सुनो, जिस समय तुमने प्रसन्नचन्द्र मुनि को वंदन किया था, उस समय तुम्हारे दंडधर दुर्मुख के

वचन सुनकर वह ऋषि ध्यान से चलित हो गये थे और शत्रु के साथ मन ही मन युद्ध करने लगे थे। तुम तो यह समझते थे कि यह महामुनीश्वर है, एकाग्र मन से ध्यान कर रहा है; परंतु उस समय उसने वैरी के साथ मन से ही घमासान युद्ध छेड़ रखा था। उस युद्ध के कारण सातवीं नरक के आयुष्यकर्म के दलिक उसने एकत्रित कर लिये थे। परंतु निकाचितरूप से कर्म का बन्ध नहीं हुआ था। उसके बाद जब तुम उनको वंदनकर यहाँ पहुँचे, तब तक उन्होंने मन से युद्ध करते-करते मनःकल्पित शस्त्रों से सब शत्रुओं को मार दिया था। मनःकल्पित सर्व-शस्त्र खत्म हो गये थे, और तो सभी शत्रु भी नष्ट हो गये, मगर एक शत्रु बाकी रह गया, वह सामने आ खड़ा हुआ। अब शस्त्र तो उनके पास रहे नहीं। तब प्रसन्नचन्द्र ने रौद्रध्यान के आवेश में मन ही मन सोचा—“अरे! मेरे सिर पर लोहे का मुकुट तो है। उससे शत्रु को क्यों न मार डालूँ।” यों सोचकर ज्यों ही उन्होंने शत्रु पर प्रहार करने के हेतु लोह का मुकुट उतारने के लिए सिर पर हाथ मारा त्यों ही उनका हाथ अपने मुंडित सिर पर पड़ा। सहसा उनका रौद्र-ध्यान वापिस धर्म-ध्यान की ओर मुड़ा। शुभ चिन्तन की किरणें फूट पड़ीं—धिक्कार है मुझे। अज्ञान में अंधा बनकर मैं रौद्रध्यान में मग्न हो गया। मैंने यह क्या चिन्तन कर डाला? मैंने सर्व सावध संग का त्यागकर वैराग्यपूर्वक योग (मुनिपद) धारण किया है; भोगों का वमन किया है; ऐसा युद्ध करना मेरे लिये सर्वथा अयोग्य है। किसका पुत्र! किसकी प्रजा! और किसका अन्तःपुर! अरे दुरात्मन्! तूने यह क्या अधम विचार किया? विचार ही नहीं, अधमाधम आचरण भी कर लिया! संसार की तमाम वस्तुएँ अनित्य हैं। अनित्य वस्तुओं के लिए तेरी इतनी तीव्रता!

चला विभूतिः क्षणभङ्गियौवनं, कृतान्तदन्तान्तर्वर्तिजीवितम् ।

तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने, अहो! नृणां विस्मयकारिचेष्टितम् ॥१२॥

अर्थात् - यह ऐश्वर्य चंचल है, यौवन क्षणभंगुर है, जीवन यमराज के दांतों के बीच में दबा हुआ है। फिर भी मनुष्य परलोक की साधना में अवज्ञा करता है, अहो! मनुष्य कितनी आश्चर्यजनक चेष्टाएँ करता है! ॥१२॥

इस तरह क्रमशः शुभध्यान में लीन होकर प्रसन्नचन्द्र मुनि प्रतिक्षण दुष्ट-अतिदुष्ट अध्यवसाय से बंधे हुए कर्मदलिकों के मूल उखाड़ने लगे और उसी शुभ अध्यवसाय के बल से सात नरकों में ले जाने वाले कर्मदलों को छेदकर उत्तरोत्तर क्रमशः सर्वार्थसिद्ध विमान तक जाने के योग्य कर्मदलों को उन्होंने इकट्ठा कर लिया और अपनी बढ़ती हुई शुभ परिणामधारा से परमपद प्राप्ति के कारण भूत क्षपक श्रेणि का आश्रय लिया और घातिकर्मों को नष्ट कर दिये।

उसी समय उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उसके प्रभाव से देव एकत्रित होकर अब नृत्य गीतवाद्य आदि उत्सव कर रहे हैं।"

प्रभु के मुखारविंद से समाधान पाकर श्रेणिक राजा को आश्चर्यमिश्रित हर्ष हुआ। इसके फलस्वरूप वह बार-बार अपना सिर हिलाने लगा और संदेहरहित होकर प्रभु को भक्ति भाव पूर्वक वंदना नमस्कार कर अपने स्थान को लौटा। भगवान् ने भी अन्यत्र विहार किया। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि भी बहुत समय तक केवली-अवस्था में पृथ्वी पर विचरण करते हुए अंत में निर्वाण को प्राप्त हुए मुक्ति धाम पहुँचे।

इस दृष्टांत का सार यह है कि आत्मसाक्षी से आचरण किया हुआ अनुष्ठान ही पुण्य या पाप का फल देने वाला होता है ॥२०॥

केवल वेश की अप्रमाणिकता बताते हैं—

वेसोवि अप्पमाणो, असंजमपएसु वट्टमाणस्स ।

किं परियत्तिथवेसं, विसं न मारेइ खज्जंतं ॥२१॥

शब्दार्थ - असंयम-मार्ग में चलने वाले मुनि का वेश भी अप्रमाण है। क्या वेश बदल लेने वाले मनुष्य को जहर खाने पर वह मारता नहीं? अवश्य मारता है ॥२१॥

भावार्थ - षट्काय (प्राणियों) का आरंभ आदि करने वाले मुनि के लिए रजोहरण (ओघा) आदि वेश व्यर्थ हैं। केवल मुनिवेश लेने मात्र से आत्मशुद्धि नहीं होती। इस विषय में दृष्टांत देकर समझाते हैं—मान लो, कोई व्यक्ति गृहस्थवेश छोड़कर मुनिवेश धारण कर ले और जहर खा ले, तो क्या वह जहर उसे मुनिवेश होने से मारेगा नहीं? इसी प्रकार दुष्ट मन रूपी विष असंयममार्ग में चलने वाले मुनि का वेश होने पर भी अनेक जन्म-मरण आदि कुफल देता ही है ॥२१॥

कोई यह कहे तो कि 'तो फिर वेश की क्या आवश्यकता है? केवल भावशुद्धि ही क्यों न रखी जाय?' इसके उत्तर में कहते हैं—

धम्मं रक्खइ वेसो, संकइ वेसेण दिक्खिओमि अहं ।

उम्मगेण पडंतं, रक्खइ राया जणवउब्ब ॥२२॥

शब्दार्थ - वेश धर्म की रक्षा करता है। वेश होने से (समणोऽहं) 'मैं दीक्षित हूँ,' ऐसा जानकर किसी बुरे कार्य में प्रवृत्त होने में खुद संकित होगा। जैसे राजा जनपद (देश) की रक्षा करता है, वैसे ही उन्मार्ग में गिरते हुए व्यक्ति की वेश भी रक्षा करता है ॥२२॥

भावार्थ - धर्म की रक्षा का मुख्य कारण वेष है। वेष चारित्रधर्म की रक्षा करता है। किसी भी प्रकार के पापकार्य में प्रवृत्त होते समय चारित्रधारी "मैं मुनि वेष धारण किया हुआ साधु हूँ, दीक्षित हूँ" ऐसा विचार कर एकदम लज्जित होता है। मुझे ऐसा कार्य करना योग्य नहीं है। अतः चारित्रमार्ग से गिरते हुए की वेष से रक्षा होती है। जैसे राजा के भय से प्रजाजन उन्मार्ग में नहीं जाते। यदि प्रजाजन उन्मार्ग में जा रहे हों तो भी राजा के डर से वापस सुमार्ग पर आ जाते हैं। अतः मुनिवेष व्यक्ति को उन्मार्ग से रोकता है ॥२२॥

अप्पा जाणइ अप्पा, जहड्डिओ अप्पसक्खिओ धम्मो ।

अप्पा करेइ तं तह, जह अप्पसुहावओ होइ ॥२३॥

शब्दार्थ - आत्मा ही अपने आप (आत्मा) को यथार्थ (यथास्थित) रूप से जानता है। इसीलिए आत्म-साक्षी का धर्म ही प्रमाण है। इससे आत्मा को वही क्रियानुष्ठान करना चाहिए, जो अपने (आत्मा के) लिए सुखकारी हो ॥२३॥

भावार्थ - अपनी आत्मा शुभ परिणामवाली है अथवा अशुभ परिणामवाली है, इसका (अपनी स्थिति का यथार्थ) ज्ञान अपनी आत्मा को होता है। क्योंकि दूसरे की चित्तवृत्ति को छद्मस्थ जीव नहीं जान सकता। इसीलिए आत्म-साक्षी का धर्म ही प्रमाण रूप है। आत्मा को वही क्रिया, धर्म या अनुष्ठान आदि-उसी प्रकार करना चाहिए, जो अपने लिये इस जन्म और अगले जन्म में सुखकारी हो ॥२३॥

जं जं समयं जीवो, आविसइ जेण जेण भावेण ।

सो तम्मि तम्मि समए, सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२४॥

शब्दार्थ - जीव जिस जिस समय जैसे-जैसे भाव करता है, उस-उस समय वह शुभ या अशुभ कर्म बाँधता है ॥२४॥

भावार्थ - समय अतिसूक्ष्म काल को कहते हैं। आत्मा जैसे शुभ या अशुभ परिणाम करता है, वैसे ही शुभ या अशुभ कर्मों को बाँधता है। अर्थात् शुभ परिणाम से शुभ कर्म और अशुभ परिणाम से अशुभ कर्म बाँधता है। इसीलिए शुभभाव से ही क्रिया-अनुष्ठान आदि करना चाहिए; अभिमान आदि दूषित भाव से नहीं ॥२४॥

इस सम्बन्ध में और स्पष्टीकरण करते हैं—

धम्मो मएण हुंतो, तो नचि सीउण्हवायविज्झडिओ ।

संवच्छरमणसिओ, बाहुबली तह किलिस्संतो ॥२५॥

शब्दार्थ - यदि धर्म अभिमान से होता तो बाहुबलि को; जो शीत, उष्ण, वायु आदि कठोर परिषह सहते हुए एक वर्ष तक निराहार रहे, वहाँ केवल ज्ञान हो जाता (पर हुआ नहीं) ॥२५॥

भावार्थ - धर्म अहंकार से नहीं होता। अगर होता होता तो बाहुबलि को; जो शीत, उष्ण, वायु आदि अनेक परिषहों को भी सहन करते रहे। तब हो जाता मैं अपने लघु भाईयों (जो भगवान् ऋषभदेव के पास उनसे पूर्व दीक्षित थे) को कैसे वंदन करूँ? इस प्रकार का अभिमान का क्लेश था। इसीलिए उन्हें उस अभिमान के फल स्वरूप धर्म (कर्मक्षय) न होने से केवलज्ञान नहीं हुआ। और जब ब्राह्मी-सुन्दरी साध्वियों की प्रेरणा से अभिमान दूर हुआ और उन्होंने नम्र होकर जब अपने भाइयों (साधुओं) को वन्दना करने के लिए कदम उठाया तभी केवलज्ञान हो गया। अतः अभिमान से धर्म नहीं होता। इस विषय में बाहुबलि का दृष्टांत देना अप्रासंगिक न होगा—

बाहुबलि का दृष्टांत

भरत चक्रवर्ती ने ६ खण्डों पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद अपने ९८ भाइयों (बाहुबलि को छोड़कर) को बुलाने के लिए दूत भेजा। दूत ने वहाँ जा कर कहा—“आप को भरत महाराजा बुलाते हैं।” यह सुनकर सभी भाई एकत्रित होकर विचार करने लगे—भाई भरत इस समय लोभ रूपी पिशाच से ग्रस्त होकर सत्ता के मद में मत वाले बने हुए हैं। ६ खंडों का राज्य मिलने पर भी इनकी लोभतृष्णा शांत नहीं हुई। अहो लोभान्धता कैसी होती है! कहा भी है कि—

लोभमूलानि पापानि, रसमूलानि व्याधयः ।

स्नेहमूलानि दुःखानि, त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भव ॥१३॥

अर्थात् - लोभ पाप का मूल है, रस (स्वाद) वृत्ति व्याधि का मूल है, और स्नेह (आसक्ति) दुःख का मूल है। इसीलिए तीनों को छोड़कर सुखी हो जाओ ॥१३॥

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।

कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ॥१४॥

अर्थात् - भोगों का हमने उपभोग नहीं किया; भोगों ने ही हमारा उपभोग (भक्षण) कर डाला है; हमने तप नहीं किया, तप ने ही हमें तप्त कर दिया; काल (वक्त) नहीं गया (कटा), हम ही चले गये (कट गये)। यानी हमारी उम्र ही बीत चली। और हमारी तृष्णा जीर्ण (बूढ़ी) नहीं हुई, हम ही जीर्ण (बूढ़े) हो

गयें ॥१४॥

इसीलिए हमारा खयाल है भरत हमसे जबर्दस्ती सत्ता के बल पर हमारा राज्य छीन लेगा और हमें उसकी चाकरी (गुलामी) करनी पड़ेगी। परंतु राज्य हमें पिताजी (ऋषभदेव) ने दिया है। उनके कहे बिना हम भरत को राज्य नहीं देंगे। अतः उनके पास चलकर ही निपटारा कर लें। और बड़े भाई के नाते प्रेम से उनकी सेवा कर सकते हैं, लेकिन उनके दबाव में रहकर गुलामी से नहीं। सभी भाईयों ने ऐसा निर्णय किया और वे सब श्री ऋषभदेव के पास पहुँचें। उनको वन्दन कर हाथ जोड़कर अपना सर्व वृत्तांत निवेदन किया—“प्रभो! भरत मदोन्मत्त बनकर हमारा राज्य छीनना चाहता है। हम कहाँ जाएँ? हम तो आपके द्वारा दिये गये एक-एक देश के राज्य से ही संतुष्ट हैं। परंतु भरत ६ खण्ड के राज्य से भी संतुष्ट नहीं।” भगवान् उनकी बात सुनकर बोले कि—“पुत्रो! नरकगति प्राप्त कराने वाली राज्यलक्ष्मी से क्या लाभ? इस जीव ने अनंत बार राजलक्ष्मी प्राप्त की है, फिर भी इस जीव को संतोष नहीं हुआ। इस राजलक्ष्मी का विलास स्वप्न के समान है।” कहा है कि—

स्वप्ने यथाऽयं पुरुषः प्रयाति, ददाति, गृह्णाति, करोति, वक्ति ।

निद्राक्षये तच्च न किञ्चिदस्ति, सर्वं तथेदं हि विचार्यमाणम् ॥१५॥

अर्थात् - यह जीव जैसे स्वप्न में चलता है, देता है, ग्रहण करता है, कुछ कार्य करता है, अथवा बोलता है, परंतु जब निद्रा खुल जाती है तो उसमें से कुछ भी (कोई भी क्रिया) नहीं होता। विचार करने पर संसार के सभी पदार्थ ऐसे ही स्वप्नवत् प्रतीत होंगे ॥१५॥ और भी कहा है—

संपदो जलतरङ्गविलोला, यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि ।

शारदाभ्रमिव चञ्चलमायुः, किं धनैः, कुरुत धर्ममन्त्रिद्यम् ॥१६॥

अर्थात् - सम्पदाएँ जल की तरंगों के समान चंचल हैं; यौवन तीन-चार दिनों का है, आयुष्य शरदऋतु के बादल की तरह चंचल है; अतः धन बटोरने से क्या लाभ? अनिन्द्य (संसार में निर्दोष) धर्म की आराधना करो ॥१६॥

“इसीलिए हे पुत्रों! जमीन के टुकड़े पर, सांसारिक वस्तुओं पर इतना मोह-विलास क्यों कर रहे हो? किसका पुत्र? किसका राज्य? और किसकी स्त्री? कोई भी साथ जाने वाला नहीं है।” कहा भी है—

द्रव्याणि तिष्ठन्ति गृहेषु नायौ, विश्रामभूमौ स्वजनाः श्मशाने ।

देहश्चितायां परलोकमार्गे, कर्मानुगो याति स एव जीवः ॥१७॥

अर्थात् - मृत्यु हो जाने पर धन घर में ही पड़ा रहता है; नारी विश्राम

भूमि तक आती है; स्वजन श्मशान तक आते हैं और शरीर चिता में रहता है; परलोक में गमन करते समय जीव अपने कर्मों को साथ लेकर अकेला जाता है॥१७॥

“अतः इस भौतिक अनित्य राज्य को छोड़ो मैं तुम्हें एक अक्षय राज्य पाने का मार्ग बताता हूँ। उसे ग्रहण कर अक्षय मोक्ष राज्य को प्राप्त करो॥”

इस प्रकार प्रभु का उपदेश सुनकर सभी ने दीक्षा ग्रहण की और निर्दोष चारित्रि पालन करने लगे। दूत ने आकर भरत चक्रवर्ती को ९८ भाईयों का सारा आँखों देखा हाल निवेदन कर दिया। सुनते ही चक्रवर्ती भरत ने साधु बने हुए अपने ९८ भाईयों के पुत्रों को बुलाकर उन्हें अपने-अपने हिस्से का राज्य सौंप दिया।

अयोध्या में आ जाने के बाद भी चक्ररत्न ने उनकी आयुधशाला में प्रवेश नहीं किया। सुषेण सेनापति ने चक्री के पास आकर खबर दी—‘स्वामिन्! चक्ररत्न आयुधशाला में प्रवेश नहीं करता।’ भरतचक्री ने पूछा—‘इसका क्या कारण है?’ सुषेण सेनापति ने कहा—“स्वामिन्! मालूम होता है, कोई शत्रु अभी भी जीतना बाकी रह गया है।” चक्री ने कहा—‘इस ६ खण्ड में तो मेरे पर अब कोई भी दुश्मन नहीं रहा।’ सुषेण बोला—“स्वामिन्! आप का छोटा भाई बाहुबलि आपकी आज्ञा नहीं मानता तो उसे भी शत्रु ही समझना चाहिए। अपने घर में भी जिसकी आज्ञा नहीं मानी जाती; वह उस घर का स्वामी कैसे? अतः उसे आपको आज्ञावर्ती करना चाहिए।” भरत ने विचार किया—“मेरे भय से मेरे ९८ भाईयों ने तो मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली है। अब तो एकमात्र बाहुबलि ही बाकी रहा है, वह भी छोटा भाई है। उसको कैसे अपने अधीन करूँ? उस पर बल-प्रयोग कैसे करूँ?” सुषेण ने कहा—“स्वामिन्! इस बात का विचार नहीं करना चाहिए। अगर भाई भी गुणहीन है तो उससे क्या लाभ? सोने की छुरी हृदय में नहीं भोंकी जाती। इसीलिए आप दूत भेजकर उसे यहाँ बुलाइए। परंतु वह बड़ा अभिमानी है, यहाँ कदापि नहीं आयेगा।” सुषेण सेनापति के वचन सुनकर भरतराज उत्तेजित हो उठे। उन्होंने तत्काल सुवेग नाम के दूत को बुलाकर आदेश दिया—“तुम तक्षशिला में मेरे छोटे भाई बाहुबलि के पास जाओ और उसे यहाँ बुला ले आओ।”

भरत महाराज की आज्ञा को माला की तरह शिरोधार्य करके सुवेगदूत परिवारसहित रथ में बैठा। रथ वायुवेग से चला। मार्ग में उसे बहुत अपशुक्न हुए, मगर उनकी परवाह न करके स्वामी की आज्ञा-पालन में उत्सुक सुवेग दूत कुछ ही दिनों में बहली देश में पहुँच गया। सुवेग को नया और अजनबी व्यक्ति देखकर वहाँ के निवासियों ने पूछा—तुम कौन हो? कहाँ जा रहे हो? यहाँ किस प्रयोजन

से आये हो? दूत ने उत्तर दिया—मैं भरत चक्रवर्ती का सुवेग नाम का दूत हूँ और बाहुबलि को लेने आया हूँ। तब लोगों ने आश्चर्य मुद्रा में पूछा—“यह भरत कौन है?” सुवेग दूत ने कहा—“यह ६ खण्ड का अधिपति जगत् का स्वामी है, बाहुबलि का बड़ा भाई है, और लोगों में विख्यात है।” तब लोगों ने कहा—“इतने दिन तक तो हमने इसका नाम नहीं सुना। वह रहता कहाँ है? हमारे देश में तो स्त्रियों के स्तन की कांचली आदि के कपड़ों पर भरत (कसीदे) का काम होता है, इस अर्थ में जरूर भरत शब्द का प्रयोग होता है। लेकिन भरत हमारा राजा है, ऐसा तो हमने नहीं सुना। कहाँ हमारा राजा और कहाँ भरत? हमारे स्वामी के भुजदण्ड के प्रहार को सहन करने में इस जगत् में कोई भी समर्थ नहीं है।” लोगों के मुख से बाहुबलि के बल की प्रशंसा सुनकर दूत चकित होता हुआ, तक्षशिला आया और बाहुबलि के सन्नामंडप के निकट पहुँचा। द्वारपाल को अपना परिचय दिया। द्वारपाल ने राजा से दूत के आगमन का निवेदन किया। राजा ने द्वारपाल को दूत को अंदर बुला लाने की आज्ञा दी। सुवेग दूत रथ से उतरकर बाहुबलि के पास पहुँचा और उनके चरणों में नमस्कार किया। बाहुबलि ने दूत से अपने भाई के सर्व कुशल समाचार पूछे। दूत ने कहा—आपका भाई भरत सब प्रकार से कुशल है। अयोध्या पुरी कुशल—मंगलमय है भरत के सवा करोड़ पुत्र भी कुशल हैं। उनके घर में चौदह रत्न, ९ निधान आदि महान् ऐश्वर्य सम्पत्ति है। अतः उन्हें अकुशल करने में कौन समर्थ है? यद्यपि उन्हें समस्त ऋद्धि-सम्पत्ति मिली है, फिर भी अपने भाई के दर्शन की उनकी महान् उत्कंठा है। इसी कारण उन्होंने आपको बुला लाने के लिए मुझे आपके पास भेजा है। अतः आप वहाँ पधारें। अपने बड़े भैया को अपने मिलन जनित सुखातिशय से आनंदित करें। यदि आप नहीं पधारेंगे तो भरत महाराज आप पर बहुत नाराज होंगे और शायद आपको अपनी सत्ता के बल पर बहुत हैरान भी करें। उनकी आज्ञा के आधीन बत्तीस हजार राजा हैं। उनके चरणों की सेवा से आपका कुछ भी उपहास नहीं होगा। ‘न दुःखं पञ्चभिः सहेति’ ‘पाँच मनुष्यों के साथ सुखों का उपभोग करने में दुःख नहीं होता’, ऐसी लोकोक्ति है। अतः आप अभिमान छोड़कर वहाँ पधारें।” दूत के वचन सुनते ही बाहुबलि क्रुद्ध हो गये। उनकी त्वोरियाँ चढ़ गयी, अपनी भुजा फटकारते हुए वे बोले—‘अरे दूत! भरत मेरे सामने किस बिसात में हैं? उसके चौदह रत्न मेरी दृष्टि में नाचीज हैं। और नौकर हैं ही कितने? नौकर तो नौकर ही हैं। उसमें अपनी ताकत कितनी है? क्या वह इस बात को भूल गया, जब मैं बचपन में गंगा के किनारे पर उसे गेंद अथवा डंडे की तरह आकाश में उछालता था? बाद में आकाश से गिरते समय

मैं उसे दया करके हाथों में झेल लिया करता था। मालूम है, ये सब बातें भूल ने के कारण ही तुझे भेजा है। इतने दिन तक मैंने अपने बड़े भाई की पिता के समान सेवा की; मगर अब मैं उसे बिलकुल नहीं चाहता। मैं उसकी उपेक्षा करता हूँ। गुणहीन और लोभातुर बड़े भाई से मुझे क्या मतलब? उसने मेरे ९८ छोटे भाईयों का राज्य छीन लिया; उन्होंने भाई के साथ झगड़ा करने से होने वाली लोकनिन्दा के डर से स्वतः राज्य छोड़कर मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली। परंतु मैं इसे सहन नहीं करूँगा। मेरा भुजा प्रहार केवल भरत ही सहन करेगा। परंतु उस भुजा प्रहार को सहन करने दूसरा कोई न आये। दूत अवध्य (नहीं मारने योग्य) होता है। अतः हे दूत! तू मेरी दृष्टि से तत्काल दूर हो जा।" इस प्रकार बाहुबलि की लाल-लाल आँखें और सूर्यमंडल के समान उद्दीप्त मुख देख कर सुवेग दूत भयभीत होकर अपना-सा मुंह लिये धीरे-धीरे वहाँ से बाहर निकला और नगरी में थोड़ा-सा घूमकर अपमानित स्थिति में ही रथ में बैठकर अयोध्या की ओर चल पड़ा।

रास्ते में वह बहली (बाल्हीक=बलख) देश को देखता हुआ जा रहा था। उसने कई जगह लोगों को कानाफूँसी करते हुए सुना—“अरे! यह भरत कौन है? जो हमारे स्वामी के साथ युद्ध करना चाहता है? हमें तो उसके सरीखा कोई मूर्ख नहीं दीखता, जो सोये हुए सिंह को जगा रहा है।” इस तरह लोगों के मुंह से भिन्न-भिन्न बातें सुनकर सुवेग आश्चर्य में पड़ गया और विचार करने लगा—“सचमुच इस देश के निवासी शूरवीर, पराक्रमी, स्वाभिमानी और राजभक्त जान पड़ते हैं। वास्तव में इनके स्वामी (राजा) के गुणों की ही प्रतिच्छाया इनमें दिखाई देती है। इन पर बाहुबलि का ही प्रभाव है; भरत का नहीं। भरत ने इन्हें बुलाकर यह क्या किया? सचमुच उन्होंने अयोग्य किया है।”

इस प्रकार वहाँ के लोगों से शंकित, भीत और चिन्तित होता हुआ दूत कुछ दिनों में अयोध्या पहुँचा। भरत की राज्यसभा में जाकर उसने सारा हाल निवेदन किया और अंत में कहा—“ज्यादा क्या कहूँ! आपका छोटा भाई आपको तृणवत् समझता है। इतने से आप समझ जाइए।” दूत से सारी बात सुनकर भरत चक्रवर्ती ने वहाँ से ससैन्य कूच किया। भरत की महासेना जब चलने लगी, तब दिशामंडल भी कंपायमान होने लगा। उस सैन्य का स्वरूप बताते हैं—

दिवक्त्रं चलितं भयाज्जलनिधिर्जातो महाव्याकुलो,
पाताले चकितो भुजङ्गमपतिः क्षोणीधराः कम्पिताः ।
भ्रान्ता सुपृथिवी महाविषधराः श्वेदं वमत्युत्कटम्,
वृत्तं सर्वमनेकधा दलपतेरेवं चमूर्निर्गमे ॥१८॥

अर्थात् - चक्रवर्ती की सेना के चलने से दिग्मंडल काँपने लगा, भय से समुद्र अत्यन्त क्षुब्ध हो गया, पाताललोक में शेषनाग चकित हो गया, पर्वत कंपायमान हो गये, पृथ्वी घूमने लगी, महाविषधर सर्प उत्कट विष का वमन करने लगे, इस प्रकार की अनेक क्रिया सेना के चलने से होने लगी ॥१८॥

अठारह करोड़ अश्वारोही सेना एकत्रित कर भरत महाराज अपने हस्तिरत्न पर बैठकर बाहुबलि को जीतने के लिए चले। कुछ दिनों में वह बहली देश पहुँचे। बाहुबलि ने भी भरत को आया जानकर अपनी विशाल सेना एकत्रित की और अपने तीन लाख पुत्रों के साथ सोमयश नाम के अपने पुत्र को सेनापति बनाकर विशाल सेना के साथ चला। दोनों सेना आमने-सामने मिली। दोनों सेनाओं की चौरासी हजार रणभेरियाँ बज उठीं। भेरी आदि वाद्यों की आवाज के कोलाहल से एक दूसरे की आवाज नहीं सुनाई दे रही थी। योद्धाओं से रणभूमि विकट दीखने लगी। दोनों ओर के योद्धा परस्पर घोर संग्राम करने लगे। इनमें कई सैनिक सिंह का मानमर्दन करने वाले थे, कुछ योद्धा हाथियों के द्वारा युद्ध करने में कुशल थे, कितने ही योद्धा ऐसे थे, जिनके कीर्तिपट्टह चारों ओर बज चुके थे। योद्धाओं के शौर्योत्तेजक शब्दों से सारा रणक्षेत्र शब्दमय हो (गूँज) उठा।

एके वै हन्यमाना रणभुवि सुभटा जीवशेषाः पतन्ति,

होके मूर्च्छा प्रपन्नाः स्युरपि च पुनरुन्मूर्च्छिता वै पतन्ति ।

मुञ्चन्त्येकेऽदृष्टासात्रिजपतिकृतसम्मानमाद्यं प्रसादं,

स्मृत्वा धावन्ति मार्गो जितसमरभयाः प्रौढिवन्तो हि भक्त्या ॥१९॥

अर्थात् - कई सुभट रणभूमि में हताहत होने से जीवशेष होकर लुढ़क गये हैं; कोई मूर्छित हो गये हैं, कितने ही योद्धा होश में आकर पुनः मूर्छित हो जाते हैं, कई सुभट खिलखिलाकर हंस रहे हैं, और कई योद्धा अपने स्वामी द्वारा दिये गये सम्मान और पूर्वप्रदत्त प्रसाद को याद करके युद्ध के भय को छोड़कर भक्ति से ढीठ बनकर युद्ध के मार्ग में भागदौड़ कर रहे हैं ॥१९॥

इस तरह इस घोर युद्ध में कितने ही योद्धा हाथियों के झुंड को पैरों से पकड़कर आकाश में घुमाने लगे। कई उछलते हुए योद्धाओं को पकड़कर भूमि पर

गिराते थे। कई सिंहनाद करते थे और कई हाथों को जोर से फटकार कर वैरियों के हृदय को फाड़ रहे थे। इस प्रकार योद्धागण अपने स्वामी की भुक्कुटि के इशारे पर उत्तेजित होकर जोरों से युद्ध करने लगे। कहा है कि—

राजा तुष्टोपि भृत्यानां, मानमात्रं प्रयच्छति ।

ते तु सन्मानमात्रेण, प्राणैरप्युपकुर्वते ॥२०॥

अर्थात् - राजा खुश होने पर सेवक को केवल सन्मान देता है, परंतु सेवक केवल उस सन्मान का बदला अपने प्राणों को देकर देता है ॥२०॥

युद्ध में एक मित्र दूसरे मित्र से कहता है—“मित्र! डरपोक मत बन; क्योंकि युद्ध में दोनों प्रकार से सुख मिलेगा। अगर जीते रहे तो इस लोक का सुख मिलेगा और मर गये तो परलोक में देवांगनाओं (देवियों) के आलिंगन का सुख मिलेगा।” कहा भी है—

जिते च लभ्यते लक्ष्मी मृते चाऽपि सुराङ्गना ।

क्षणविध्वंसिनी काया, का चिन्ता मरणे रणे ॥२१॥

‘रण में जीतने से लक्ष्मी मिलती है और मरने से देवांगनाएँ। आखिर यह शरीर तो नाशवान है, फिर युद्ध में मरने की क्या चिन्ता है?’ ॥२१॥

इस प्रकार युद्ध करते-करते बारह वर्ष बीत गये। दोनों ओर की सेना, डटी हुई थी; किसी की भी सेना पीछे नहीं हटी। करोड़ों देव युद्ध देखने के लिए उस समय आकाश में आये हुए थे। सौधर्म इन्द्र के मन में करुणा के दिव्य विचार की किरण फूटी—“अहो! कर्मगति विचित्र और विषम है। दोनों सहोदर भाई हैं। राज्य के लिए दोनों ने करोड़ों मनुष्यों का संहार कर दिया। क्यों नहीं मैं वहाँ जाकर युद्ध बंद करा दूँ, जिससे यह संहार-लीला रुक जाय।” यों विचारकर इन्द्र भरत के पास आया और बोला—“हे ६ खंड के अधिपति चक्रवर्ती! यह आप क्या कर रहे हैं? अनेक राजाओं के स्वामी भरत! यह आपने क्या संहार-लीला शुरू कर दी? क्या आप जगत् का संहार करके इसे नामशेष करेंगे? धिक्कार है आपको! श्रीऋषभदेव ने चिरकाल तक प्रजा का पालन किया, उस प्रजा को क्या आप खत्म कर डालेंगे? ऐसे उत्तम पिता के सुपुत्र होने के नाते आपको ऐसा आचरण करना उचित नहीं है। सुपुत्र तो पिता की तरह ही आचरण करता है। हे राजेन्द्र! इस नरसंहार को रोको।” भरत ने कहा—“पिता का भक्त ऐसा ही होता है; यह सत्य है। मैं यह बात बखूबी जानता हूँ। फिर भी मैं क्या करूँ? मेरा चक्ररत्न आयुधशाला में प्रवेश नहीं करता। यदि मेरा छोटा भाई बाहुबलि एक बार मेरे पास आ जाता, तो मुझे कुछ भी नहीं करना पड़ता। उसका राज्य लेने की मेरी

इच्छा नहीं है। सिर्फ एक बार वह मेरे पास आ जाय, इसके लिये आप मेरे छोटे भाई को समझाइए।" भरत की यह बात सुनकर इन्द्र बाहुबलि के पास पहुँचा। बाहुबलि ने उनका बहुत सत्कार-सम्मान किया और पूछा—“स्वामिन्! आज आपका यहाँ कैसे पधारना हुआ? मेरे लिये क्या आदेश है?” इन्द्र ने कहा—“पिता के तुल्य अपने बड़े भाई के साथ तुम जो युद्ध कर रहे हो; क्या यह तुम्हें ठीक लगता है?” मेरी यह नम्र राय है कि तुम उसके पास जाकर नमस्कार करके अपराध की क्षमा मांगो और इस नरसंहार से निवृत्त हो।”

बाहुबलि ने कहा—“इन्द्र! इसमें दोष मेरा नहीं, परंतु भरत का है। उसे यहाँ सेना लेकर किसने बुलाया था? वह यहाँ युद्ध के सिवाय और किसलिए आया है? वह राज्य का भूखा है। उसे लज्जा नहीं आती कि अपने ९८ छोटे भाईयों का राज्य हड़पकर अब मेरा राज्य छीनने के लिए यहाँ आया है। परंतु उसे पता नहीं है कि “यत्रहि सर्वेषु बिलेषु मूषका एव” सभी बिलों में चूहे नहीं रहते, किसी में सर्प भी रहता है।” अतः मैं उससे किसी कदर अब पीछे हटने वाला नहीं। मानहानि से प्राणहानि श्रेष्ठ है। कहा भी है—

अधमा धनमिच्छन्ति, धनमानौ च मध्यमाः ।

उत्तमा मानमिच्छन्ति, मानो हि महतां धनम् ॥२२॥

अर्थात् - अधम मनुष्य धन की इच्छा करता है, मध्यम मनुष्य धन और सम्मान की और उत्तम मनुष्य सिर्फ सम्मान की ही इच्छा करता है। क्योंकि सम्मान ही महान् पुरुषों का धन है ॥२२॥ और भी कहा है—

वरं प्राणपरित्यागो, मा मानपरिखण्डनम् ।

मृत्योस्तत्क्षणिका पीडा, मानखण्डे दिने-दिने ॥२३॥

अर्थात् - प्राण त्याग कर देना अच्छा, परंतु मान खण्डन होने देना अच्छा नहीं। मृत्यु तो उसी समय पीड़ा देती है, मगर मान हानि प्रतिदिन पीड़ा देती रहती है ॥२३॥

इस तरह बाहुबलि के निश्चय वचन सुनकर इन्द्र ने कहा—“यदि ऐसा ही निश्चय है तो तुम दोनों भाईयों को ही युद्ध करना चाहिए। इस जनता का संहार क्यों कराते हो? तुम दोनों ही परस्पर युद्ध करके हारजीत का फैसला कर लो।” बाहुबलि इस बात को मान गया। इन्द्र ने दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, बाहुयुद्ध, मुष्टियुद्ध और दण्डयुद्ध इन पाँच प्रकार के युद्ध करने की व्यवस्था और सलाह दी। भरत ने भी इसे कबूल किया। दोनों भाई सेना छोड़कर आमने-सामने आ गये। सर्वप्रथम दृष्टियुद्ध प्रारम्भ हुआ। परस्पर दृष्टि से दृष्टि मिलाते हुए

भरतचक्री की आँखों में पहले आँसू आ गये। साक्षीभूत देवताओं ने फैसेला दिया—“चक्री हारा और बाहुबलि जीता।” इसी तरह पाँचों युद्धों में बाहुबलि जीता। भरत ने अपनी हार होने से झुंझलाकर युद्ध मर्यादा छोड़कर चक्र छोड़ा। तब बाहुबलि ने कहा—“भाई ऐसा मत करो। सत्पुरुषों को मर्यादा का अतिक्रमण करना योग्य नहीं है।” इतना कहने के बावजूद भी भरत ने चक्र छोड़ा। बाहुबलि ने मुष्टि उठाकर विचार किया कि ‘इस मुष्टि से चक्रसहित भरत को चूर्ण कर दूँ। इतने में तो चक्र बाहुबलि के पास आकर तीन प्रदक्षिणा देकर वापिस लौट गया, क्योंकि सगोत्र पर चक्र नहीं चलता। बाहुबलि ने फिर सोचा—“वज्र जैसी मुष्टि से मिट्टी के बरतन के समान अभी भरत को चूर-चूर कर देता हूँ।” किन्तु तत्क्षण उज्ज्वल विचार आया—“अहा! केवल अपने सुख के लिए बड़े भाई को मारने के लिए मैं उतारूँ हो गया? इस कुविचार और तदनुरूप आचरण का कितना बुरा परिणाम आता! जिसका अंत नरकगमन हो, ऐसे राज्य को धिक्कार है! धिक्कार है विषयों को! मेरे छोटे भाईयों को धन्य है, जिन्होंने अनर्थ के कारणभूत इन राज्यों को छोड़कर मोक्षराज्य पाने के लिए संयम ग्रहण कर लिया है।” इन सब बातों को सोचते-सोचते बाहुबलि के हृदय में वैराग्य की ज्योति जग उठी। फल स्वरूप उसी मुष्टि से बाहुबलि ने अपने सिर के केशों का पंचमुष्टि लोच कर लिया। देव ने उन्हें रजोहरण आदि मुनिवेष दिया। इस प्रकार बाहुबलि स्वयं चारित्र अंगीकार करके मुनि बन गये। भरत ने जब यह सुना और मुनिवेष में अपने भाई को देखा तो वह अपने अकृत्य से लज्जित होकर पश्चात्ताप करने लगा। उसकी आँखों में आँसू उमड़ पड़े और बाहुबलि मुनि के पास आकर अश्रुपात करते हुए उसने सपश्चात्ताप विनम्र निवेदन किया—“मुनिवर! धन्य हैं आपको! आपने मुनि वेष धारण कर लिया। धिक्कार है मुझे कि मैंने आपको अपने स्वार्थवश बहुत हैरान किया। मेरा सब अपराध क्षमा करें और यह राज्यलक्ष्मी ग्रहण करें।” बाहुबलि मुनि बोले—“भरतजी! यह राज्य, वैभव, भोग-विलास आदि सभी अनित्य हैं! यौवन भी टिकने वाला नहीं। शरीर भी नाशवान और ये विषय बार-बार दुःख देने वाले हैं। तब भला मैं नाशवान और अस्थायी राज्यलक्ष्मी तथा उससे सम्बन्धित विषयभोगों को कैसे स्वीकार कर सकता हूँ? मैं तो आपसे भी यही कहता हूँ कि आप इनमें आसक्त न हों।” यह उपदेश सुनकर भरत चक्रवर्ती को भी कुछ-कुछ विरक्ति हो चली। भरत उन्हें वंदना करके और बाहुबलि का राज्य उनके पुत्र सोमयश को देकर

1. न मातरं न पितरं न स्वसारं न सोदरं, गुणैः संपश्यति तथा, विषयान् विषयी यथा ॥१॥

अपने स्थान पर लौटे। बाहुबलि अकेले उसी स्थान पर ध्यानमुद्रा में खड़े रहे। उस समय बाहुबलि के मन में विचार आया—“मुझे भगवान् ऋषभदेव के पास जाने की क्या जरूरत है? क्या मैं स्वयं अपनी साधना नहीं कर सकता? अगर वहाँ गया तो अपने से छोटे भाइयों जो भगवान् ऋषभ देव के पास मुझसे पूर्व दीक्षित हैं—उनको वंदन करना पड़ेगा। न बाबा, यह मुझसे नहीं होगा। मैं तो अकेला ही कठोरतम साधना करके केवलज्ञान प्राप्त करके बता दूंगा।” इस अभिमान को अपने में समाये हुए बाहुबलि ने एक साल तक शर्दी, गर्मी, वर्षा, तूफानी ठंडी-गर्म हवाएँ आदि परिग्रह सहे। आग से झूलसे हुए पेड़ की तरह अपने शरीर को कुश कर लिया। उनके शरीर के आसपास बेलें छा गयीं। पैरों पर दर्भ के नुकीले पत्ते खड़े हो गये। दीमकों ने आसपास बांबी बना ली। दाढ़ीमूछों आदि के बालों पर पक्षियों ने अपने घोंसले बना लिप्पे। फिर भी बाहुबलि अपने कठोर कायोत्सर्ग में स्थिर रहे। मगर धर्म में अन्तराय भूत अभिमान के कारण इतनी कष्टदायक साधना के बावजूद भी उन्हें केवलज्ञान प्राप्त न हुआ।

भगवान् ऋषभदेव ने भवितव्यता परिपक्व होने पर ब्राह्मी और सुन्दरी दो साध्वियाँ बाहुबलि को अभिमानरूपी हाथी से नीचे उतरने का प्रतिबोध देने के लिए भेजीं। दोनों साध्वियाँ जहाँ बाहुबलिमुनि कायोत्सर्गस्थ थे, वहाँ आयी और मधुर स्वर में कहने लगीं—“बन्धु! हाथी से नीचे उतरो।” साध्वीबहनों के वचन सुनकर बाहुबलि विचार करने लगे—“मैं तो सर्व-संग (परिग्रह) का परित्याग कर चुका हूँ। फिर मेरे पास हाथी कहाँ? परंतु ये साध्वीबहनें झूठ तो नहीं कह सकती। जरूर इनकी बात में कुछ रहस्य है।” अन्तर्मन्यन करते-करते उन्हें सूझा—“अरे! अब मैं समझ गया। मैं अभिमानरूपी हाथी पर चढ़ा हुआ हूँ। सचमुच ये बहनें मुझे इसी हाथी से नीचे उतरने को कह रही हैं। मैंने इतनी कठोर बाह्य-क्रियाएँ तो कर लीं, लेकिन अंतर से अभिमान को न निकाला। वंदनीय दीक्षा ज्येष्ठ लघु प्राताओं को वंदन करने में हिचकिचाता रहा। धिक्कार है मुझ अभिमान के पुतले को! छोटे भाइयों (जो कि मेरे से बड़े साधु हैं) को वंदन करने में मेरा क्या बिगड़ जायगा! बस, अभी वंदना करने जाता हूँ।” यों सोचकर ज्यों ही उन्होंने उधर जाने के लिए कदम उठाया, त्यों ही उन्हें केवलज्ञान की ज्योति प्राप्त हो गयी। वे वहाँ से भगवान् ऋषभदेव के पास पहुँचे और उन्हें वंदनाकर केवलज्ञानियों की पंक्ति में जा बैठे।

इस कथा का सारांश यह है कि अभिमान से धर्म नहीं होता। धर्म होता है सरलता से। इसीलिए यह कथन उचित ही है कि मोक्षसुख के अभिलाषी

मुमुक्षुजीव को धर्म-कार्य में विनय करना चाहिए, अहंकार नहीं ॥२५॥

अब अपनी स्वच्छन्दबुद्धि से चलने वाले अभिमानी की दशा बताते हैं-

निअगमइविगप्पिय-चित्तिएण, सच्छंदबुद्धिरइएण ।

कत्तो पारत्तहियं, कीरइ गुरु-अणुवएसेणं ॥२६॥

शब्दार्थ - गुरु के उपदेश को अयोग्य समझने वाला, अपनी स्वच्छन्द बुद्धि से कल्पना करके विचरने वाला और स्वतन्त्र बुद्धि से चेष्टा करने वाला जीव अपना पारलौकिक हित कैसे कर सकता है? ॥२६॥

भावार्थ - भारी कर्मों के कारण जो जीव गुरुमहाराज के उपदेश को अयोग्य समझता है, आगम, पूर्वाचार्य आदि के विचारों को निरर्थक समझकर छोड़ देता है और बौद्धिक कल्पना से विचार करता है तथा अपनी स्वच्छन्द बुद्धि से आचरण करता है; उस मनुष्य का परलोक में हित कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता ॥२६॥

थद्धो निरुवधारी अधिणिओ, गव्विओ निरुवणामो ।

साहुजणस्स गरहिओ, जणे वि वयणिज्जयं लहइ ॥२७॥

शब्दार्थ - स्तब्ध (अक्कड़) निरुपकारी, अविनीत, गर्वित, किसी के सामने नमन न करने वाला पुरुष, साधुजनों द्वारा निन्दित है और आम जनता में भी वह निन्दनीयता पाता है ॥२७॥

भावार्थ - अक्कड़पन में रहने वाला अभिमानी, किसी के द्वारा किये गये उपकार को न मानने वाला कृतघ्न, अपने से बड़े, पूज्य, गुरुदेव आदि को आसन न देने वाला अविनीत, अपने गुणों का अपने ही मुंह से बखान करने वाला गर्वित, गुरु आदि को भी नमस्कार नहीं करने वाला पुरुष साधुजनों में भी निंदापात्र बनता है, और आम लोगों में भी यह दुष्ट-आचरण वाला है, इस प्रकार से उसकी निन्दा (बदनामी) ही होती है। अतः विनीत ही प्रशंसा का पात्र होता है ॥२७॥

थोवेणवि सप्पुरिसा, सणंकुमार व्व केइ बुज्झंति ।

देहे खण परिहाणी, जं किर देवेहिं से कहियं ॥२८॥

शब्दार्थ - सत्पुरुष (सुलभबोधि व्यक्ति) सनत्कुमार चक्री की तरह जरा-सा निमित्त पाकर बोध प्राप्त कर लेते हैं। सुना है, देवताओं ने सनत्कुमार से इतना ही कहा था कि 'तुम्हारे शरीर का रूप क्षणमात्र में नष्ट हो गया है। इतना-सा वचन ही उनके लिये प्रतिबोध का कारण बना।' ॥२८॥

यहाँ प्रसंगवश सनत्कुमार की कथा कहते हैं-

सनत्कुमार का दृष्टांत

सनत्कुमार चक्रवर्ती हस्तिनापुर नगर में रहता था। वह अत्यन्त रूपवान था और ६ खण्ड के साम्राज्य का अधिपति था। एक दिन इन्द्र ने अपनी सभा में सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप की प्रशंसा करते हुए कहा—‘भूतल में आज सनत्कुमार चक्रवर्ती के समान कोई रूपवान नहीं है।’ दो देवों ने इन्द्र की इस बात पर विश्वास नहीं किया और वे कुतूहलवश इसे प्रत्यक्ष देखने के लिए बूढ़े ब्राह्मण का रूप बनाकर हस्तिनापुर आये। स्नान का समय होने से सनत्कुमार उस समय स्नान करने की चौकी पर आभूषण रहित बैठे सुगन्धित तेल मालिश करा रहे थे। उनके अनुपम रूप को देखकर ब्राह्मण वेषधारी देव विस्मित और मुग्ध होकर बार-बार सिर हिलाने लगे।

चक्रवर्ती ने पूछा—‘सिर क्यों हिला रहे हो?’ उन्होंने कहा—‘आपके रूप की तारीफ सुनकर बहुत ही दूर से हम आपके दर्शनों को आये थे। और जैसा हमने सुना था, वैसा ही पाया।’ ब्राह्मणों के वचन सुनकर चक्री रूपगर्वित होकर बोला—‘अजी! इस समय इस अवस्था में मेरा रूप क्या देख रहे हैं? जब मैं स्नान करके उत्तम वस्त्र पहनकर अलंकार आदि से सज्जित होकर, मस्तक पर छत्र धारण करके सिंहासन पर बैठूंगा और लोग चामर ढोल रहे होंगे और बत्तीस हजार राजा मेरी सेवा करते होंगे; तब देखना मेरा रूप! अभी मेरे रूप का क्या देखना?’ चक्री के वचन सुनकर दोनों देवों ने विचार किया—‘उत्तम पुरुष को अपने मुख से अपनी प्रशंसा करना उचित नहीं है।’ कहा भी है—

न सौख्यसौभाग्यकरा नृणां गुणाः, स्वयंगृहीता युवतीकुचा इव ।

परैर्गृहीता द्वितीयं वितन्वते, न तेन गृह्णन्ति निजं गुणं बुधाः ॥२४॥

अर्थात् - अपने मुंह से बखाने हुए गुण उसी तरह सुख और सौभाग्य देने वाले नहीं होते; जिस तरह युवती द्वारा स्वयं गृहीत स्तन उसे सुख और सौभाग्य नहीं देते। अपितु ये दोनों दूसरे पुरुष द्वारा करने से सौभाग्य और सुख देते हैं। अतः बुद्धिमान पुरुष अपने गुणों की प्रशंसा अपने मुख से नहीं करते ॥२४॥

सनत्कुमार की बात सुनकर फिर आने का वादा करके वे दोनों ब्राह्मण रूपधारी देव वहाँ से चले गये। जब चक्री स्नान-विलेपनकर वस्त्र-आभूषण धारण कर राजसभा में आकर सिंहासन पर बैठे, तब वे ब्राह्मण वापस आये। उस समय चक्री का रूप देखकर उन्हें बहुत दुःख हुआ। चक्री ने पूछा—‘खेद किसलिए कर रहे हो?’ उन्होंने कहा—‘संसार की विचित्रता देखकर हमें खेद होता है।’ चक्री

ने पूछा—“सो किस तरह?” उन्होंने कहा—“हमने पहले आपका जो रूप देखा था; इस समय उससे अनंतगुना हीन आपका रूप हो गया है।” चक्री ने कहा—“यह कैसे जाना तुमने?” उन्होंने कहा—“अवधिज्ञान सो” चक्री ने पूछा—“इसका क्या प्रमाण है?” उन्होंने कहा—“चक्रवर्ती! अपने मुख से तांबूल (पान) की पीक जमीन पर थूक कर देखो! उस पर मक्खी बैठे और मर जाय तो सही जान लेना कि आपका शरीर विषमय हो गया है; आपके शरीर में सात महारोग उत्पन्न हो गये हैं।” देवों का यह कथन सुनकर चक्री विचार करता है—“अहो! यह शरीर सचमुच अनित्य है। इस निःसार शरीर में कुछ भी सार नहीं है।” कहा है—

इदं शरीरं परिणामदुर्बलं, पतत्यवश्यं श्लथसन्धिजर्जरं ।

किमौषधैः क्लिश्यसि मूढ! दुर्मति!, निरामयं धर्मरसायनं पिब ॥२५॥

अर्थात् - 'इस शरीर का अन्तिम परिणाम दुर्बल होना है। इसकी संधियाँ ढीली हो जाने से जर्जरित होकर यह अवश्य ही लड़खड़ाता जाता है। अतः हे मूढ! हे दुर्मति! तू औषधि लेने का कष्ट क्यों करता है? समस्त रोगों को मिटाने वाले धर्म-रसायन का ही पान करा' ॥२५॥ और भी कहा है—

कस्तूरी पृषतां, रदाः करटिनां, कृत्तिः पशूनां पयो,

धेनूनां, छदमण्डलानि शिखिनां, रोमाण्यवीनामपि ।

पुच्छस्नायुवसाविषाणनखरस्वेदादि किं किं च न,

स्यात् कस्याप्युपकारि मर्त्यवपुषो नमुष्य किञ्चित्पुनः ॥२६॥

अर्थात् - हिरणों की कस्तूरी, हाथियों के दांत, पशुओं का चमड़ा, गायों का दूध, मोरों के पिच्छ, भेड़ों के बाल, पशुओं की पूंछ, स्नायु, चर्बी, सींग, नाखून, पसीना आदि कौन-कौन-सी वस्तु किस-किस प्राणी के लिए उपकारक नहीं होती? मगर मनुष्य का शरीर किसी के किसी भी काम में नहीं आता ॥२६॥

इस तरह वैराग्यपरायण होकर सनत्कुमार चक्रवर्ती ने राज्यलक्ष्मी छोड़कर संयम रूपी लक्ष्मी को अंगीकार किया। जैसे सर्प कांचली छोड़कर वापिस मुड़कर उसे देखता भी नहीं; वैसे ही चक्री ने अपनी ऋद्धि को नहीं देखा। स्त्रीरत्न सुनंदा आदि रानियों का विलाप सुनकर भी मन से जरा भी चलायमान नहीं हुआ। ६ महीने तक सनत्कुमार मुनि के पीछे-पीछे चौदह रत्न, नौ निधि, सेना, सेवक आदि चलते रहे, परंतु उन्होंने उनकी ओर देखा तक नहीं। सनत्कुमार मुनि दो-दो उपवास के अनन्तर पारणा करते थे। पारणे में भी आंबिल आदि तप करते थे। इस तरह विगई (विकृतिजनक पदार्थ) का त्यागकर धर्म के प्रति अनुराग रखकर सब रोगों

से पीड़ित काया होने पर भी वे मुनि मायारहित होकर भूमंडल पर विचरण करने लगे। उस समय सौधर्म इन्द्र ने अपनी सभा में फिर उस मुनि की प्रशंसा की—“धन्य हैं सनत्कुमार मुनि को! यद्यपि उनका शरीर महान् रोगों से पीड़ित है, फिर भी औषध आदि की इच्छा नहीं करते।” इन्द्र के वचन सुनकर अश्रद्धावान् दो देव फिर ब्राह्मण का रूप धारण करके मर्त्यलोक में आये, और सनत्कुमार मुनि के पास आकर बोले—“मुनिवर! आपका शरीर रोगों से जीर्ण हो गया है और अतीव पीड़ित दीखता है। हम वैद्य हैं, आप यदि आज्ञा दें तो हम आपका इलाज करें।” मुनि बोले—“यह शरीर अनित्य है; इसका उपाय किसलिए किया जाय? तुम्हारे पास रोग दूर करने की शक्ति है तो कर्मरोग को दूर करो। शरीर के रोग दूर करने की शक्ति तो मेरे पास भी है।” इतना कहकर अपनी अंगुली पर उन्होंने धूक लगाकर दिखाया, जिससे उनकी अंगुली सोने सी हो गयी। फिर उन्होंने कहा—“ऐसी शक्ति तो मेरे पास भी है; परंतु इससे कौन-सा मतलब सिद्ध हो सकता है? जब तक कर्म रोगों का क्षय नहीं हो, तब तक शरीर का रोग मिट जाने से क्या लाभ? इसीलिए मुझे रोग का इलाज कराने से क्या लाभ?” दोनों देव सुनकर आश्चर्य चकित हो गये, और मुनि को वंदन करके अपना स्वरूप बतलाकर देवलोक वापस लौट गये।

मुनि सनत्कुमार भी सात सौ वर्ष तक रोग की पीड़ा का अनुभव कर एक लाख वर्ष तक निर्दोष चारित्र का पालनकर तीसरे देवलोक में उत्पन्न हुए। उसके बाद महाविदेह में मनुष्यजन्म प्राप्त कर भोक्षगति प्राप्त करेंगे ॥२८॥

अब आयुष्य की अनित्यता बताते हैं—

जइ ताव लवसत्तमसुरविमानवासी, वि परिवडंति सुरा ।

चित्तिज्जंतं सेसं, संसारे सासयं कयरं ॥२९॥

शब्दार्थ - यदि अनुत्तरविमानवासी देवताओं का भी आयुष्य पूर्ण हो जाता है तो फिर विचार करें कि शेष संसार में क्या (किसका जीवन) शाश्वत (कायम) है? ॥२९॥

भावार्थ - अनुत्तरविमानवासी देव लवसत्तमा देव कहलाते हैं। संसार के प्राणियों में सबसे ज्यादा आयुष्य नारकीयों का छोड़कर इन देवों का होता है—३३ सागरोपम का। वह आयुष्य भी पूर्ण हो जाता है, तब विचार करना चाहिए कि अनुत्तरदेव विमान की अपेक्षा हीन इस संसार में कौन शाश्वत (स्थिर) है? अर्थात् इस संसार में कोई भी स्थिर नहीं है। एकमात्र धर्म ही नित्य है, शाश्वत है ॥२९॥

कह तं भद्रं सोऽक्षं, सुचिरेणवि जस्स दुःखमल्लियइ ।

जं च मरणावसाणे, भव संसाराणुबंधि च ॥३०॥

शब्दार्थ - चिरकाल के बाद भी जिसके परिणाम में दुःख निहित है, उसे सुख कैसे कहें? और मृत्यु के बाद जिसके साथ भव (जन्म-मरणरूप संसार) का अनुबंध होता है ॥३०॥

भावार्थ - लम्बे काल अर्थात् पल्योपम से सागरोपम तक देवताओं के सुख होते हैं। परंतु अंत में उन्हें दुःख का आस्वादन करना पड़ता है। जब देवताओं का आयुष्य पूर्ण हो जाता है, तब उन्हें भी वहाँ से च्यवन होकर (मृत्यु पाकर) तिर्यच-मानव आदि चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। गर्भवास आदि दुःख सहन करने पड़ते हैं। तो देवताओं को भी सुख कहाँ है? जो सुख है वह भी अंत में दुःखरूप है। वास्तव में जिससे संसार का छेदन हो, वही असली सुख है ॥३०॥

गुरु का उपदेश मिलने पर भी गुरुकर्मा जीव को वह नहीं लगता-

उयएससहस्सेहिं धि, बोहिज्जंतो न बुज्झई कोई ।

जह बंधदत्तरया, उदाइनिवमारओ चेव ॥३१॥

शब्दार्थ - किसी मनुष्य को हजारों प्रकार से उपदेश देने पर भी प्रतिबोध नहीं होता। जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और उदायी राजा को मारने वाले को बोध नहीं हुआ ॥३१॥

भावार्थ - जिसके अशुभकर्म बहुत मात्रा में बाकी रह गये हैं, उस गुरुकर्मा (भारेकर्मी) जीव को हजारों प्रकार से उपदेश दिये जाय तो भी उसे बोध नहीं होता। जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को उसके पूर्व-जन्म के भाई ने हजारों प्रकार से उपदेश दिये थे, परंतु उसे किंचित् मात्र भी बोध नहीं लगा। और उदायी राजा को मारने वाले जीव ने बारह वर्ष तक तप किया और मुनिवेश में रहा, फिर भी बोध प्राप्त नहीं किया। आगे क्रमशः दोनों दृष्टांत लिख रहे हैं—पहले ब्रह्मदत्त भव के कारणभूत चित्र-सम्भूति मुनि (ब्रह्मदत्त के पूर्वभव) का स्वरूप बताते हैं-

ब्रह्मदत्त चक्री की कथा

किसी गाँव में चार ग्वाले रहते थे। वे चारों सरल स्वभावी थे। गर्मी के दिनों में एक बार वे ग्वालें गायों को चराने जंगल में गये, वहाँ दोपहर के समय एकत्रित होकर वे बातें कर रहे थे। उसी समय एक साधु रास्ता भूल जाने से भयानक जंगल में रास्ता न मिलने से भटक गया। तीव्र प्यास के कारण उसका

कंठ सूख रहा था। अतः मुनि एक पेड़ की छाया में आकर बैठा। चारों ने मुनि को देखा तो सोचा—“ये कोई महात्मा हैं। प्यास के मारे इनका गला सूख रहा है। भयंकर वेदना हो रही है। अतः इनके पास चले और इनकी कुछ सेवा करें।” यों सोचकर वे मुनि के पास आये। मुनि को अत्यन्त घबराते हुए देख वे आपस में सलाह करने लगे—“भाई! ये जंगमतीर्थ रूप मुनि हैं। पानी के बिना तड़पकर अनेक जीवों के उपकारी ये मुनि मर जायेंगे। अतः कहीं से पानी लाकर इनको दें तो इनके प्राण बच जायेंगे और हमें भी महान् पुण्य होगा।” वे चारों पानी के लिए इधर-उधर जंगल में भाग-दौड़ करने लगे; मगर आस-पास कहीं पानी न मिला। तब सभी को सूझा कि गाय तो है। इसे दूहकर मुनि के मुंह में दूध डाल दें तो इनके प्राण बच जायेंगे। अतः उन्होंने एक गाय को दूहा और दूध लेकर मुनि के पास आये और दूध के बिन्दु उनके मुंह में डालकर उन्हें होश में लाये। मुनि ने होश में आते ही आँखें खोली। मन ही मन सोचने लगे—“अहो! इन्होंने मुझ पर महान् उपकार किया है। मुझे आज दूध पिलाकर जीवनदान दिया है मैं भी इन्हें कुछ दूँ।” साधु ने उन्हें सरल स्वभावी जानकर उपदेश दिया। उपदेश सुनकर सभी को वैराग्य हो गया। उन चारों ने सम्यक्त्व प्राप्त करके दीक्षा ग्रहण की। मुनि ने उन चारों नवदीक्षित साधुओं को साथ लेकर अन्यत्र विहार किया। वे चारों चारित्र का पालन करने लगे।

परंतु कुछ काल व्यतीत होने पर उनमें से दो मुनि चारित्र की अवज्ञा करने लगे। वे कहने लगे—“भाई! साधुजीवन है तो अच्छा, मगर इसमें स्नान आदि का विधान न होने से शरीरशुद्धि नहीं होती तथा मलिन वस्त्र धारण करना, दांत साफ नहीं करना इत्यादि महाकष्ट हैं।” इस तरह के विचारों से उन्होंने चारित्र की विराधना की, और दूसरे दोनों मुनि निरतिचार चारित्र की आराधनाकर उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया। जिन्होंने चारित्र की विराधना की थी, अंतिम समय में पाप की आलोचना किये बिना ही मरने से उन्हें देवगति प्राप्त हुई। वहाँ चिरकाल तक देवलोक में सुख भोगकर वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर दशार्ण देश में किसी ब्राह्मण के यहाँ काम करने वाली एक दासी की कुक्षि में पुत्र रूप में पैदा हुए। यह उनके द्वारा साधुवेष की निन्दा का फल था। क्रमशः वे जवान हुए और अपनी माँ की तरह वे भी ब्राह्मण के यहाँ घर का काम करने लगे।

एक बार वर्षाकाल में खेत की रखवाली के लिए दोनों भाई गये। वहाँ एक बड़ का छायादार पेड़ था। दोपहर के समय दोनों में से एक दासीपुत्र उसकी शीतल छाया में सोया हुआ था। उस समय बड़ के खोखले में से एक सांप

निकला और उसने सोये हुए भाई के पैर में डंक मारा। देवयोग से दूसरा भाई उस समय वहाँ आ पहुँचा। उसने डंक देते देख सर्प को गाली दी—“अरे दुरात्मन्! मेरे भाई को मारकर तू कहाँ जायेगा?” यह सुनते ही सर्प ने क्रोध से उछलकर उसे भी डस लिया। थोड़ी ही देर में जहर शरीर में फैल जाने से दोनों भाई मर गये। दूसरे जन्म में कालिंजर पर्वत के निकटवर्ती प्रदेशवासी एक हिरनी की कुक्षि से मृग रूप में दोनों उत्पन्न हुए। उन दोनों में यहाँ भी परस्पर बहुत स्नेह था। एक बार किसी शिकारी ने उन दोनों को बाण-प्रहार से मार दिया। अतः मरकर तीसरे भव में उन्होंने गंगानदी के तटवर्ती एक हंसनी की कुक्षि से हंस की योनि में जन्म लिया। वहाँ भी उनमें परस्पर अत्यन्त परम स्नेह था। गंगा के किनारे कमल की डंडियों का आहार करते सुख पूर्वक समय व्यतीत कर रहे थे। किसी शिकारी ने वहाँ अपना जाल बिछाया। हंसयुगल उनके जाल में फंस गया। शिकारी ने दोनों को पकड़ा और मार डाला। चौथे भव में साधुवेष की निंदा के फलस्वरूप उन्होंने काशीदेश में किसी चांडाल के घर पुत्र रूप में जन्म लिया। चांडाल ने बहुत-सा धन खर्चकर जन्मोत्सव किया और दोनों का नाम क्रमशः चित्र और संभूति रखा। पूर्वजन्म के स्नेह के कारण उनमें परस्पर में अतीव राग था। एक क्षण भी वे एक दूसरे का वियोग सहन नहीं कर सकते थे। उस समय उस नगर के राजा का नमुचि नाम का एक प्रधान था। वह राजा का परम विश्वासपात्र था। किन्तु वह दुराचारी था। उसका राजा की पटरानी के साथ गुप्त रूप से प्रेम था और उसके साथ व्यभिचार सेवन करता था। पटरानी भी उसके मोह में फंसी हुई थी। वह भी अपने पति की अवगणना कर नमुचि के साथ कामसुख भोग रही थी। सच है, कामान्ध मनुष्य कुछ नहीं देखता। कहा है—

दिवा पश्यति नो घृकः, काको नक्तं न पश्यति ।

अपूर्वः कोऽपि कामान्धो, दिवा नक्तं न पश्यति ॥२७॥

अर्थात् - उल्लू दिन में नहीं देखता। कौआ रात को नहीं देखता। परंतु कामान्ध तो अपूर्व अंधा है, जो न दिन में देखता है, न रात में ॥२७॥

इसीलिए कामवासना में मदान्ध रानी से ऊबकर भर्तृहरि योगी ने निम्नोक्त उद्गार प्रकट किये थे—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साऽयन्यमिच्छति जनं, स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या, धिक् तां च मदनं च इमां च मां च ॥२८॥

अर्थात् - जिस स्त्री को मैं चाहता हूँ, वह स्त्री मुझ में खुश नहीं है, वह किसी अन्य पुरुष को चाहती है। और जिस पुरुष को वह चाहती है, वह

पुरुष अन्य स्त्री में आसक्त है। और जिस पर वह आसक्त है, वह स्त्री मुझे चाहती है। इसीलिए उसे (रानी को) धिक्कार है, उसके यार को धिक्कार है, काम को धिक्कार है और मुझे भी धिक्कार है ॥२८॥

किन्तु पाप का घड़ा फूटे बिना नहीं रहता। बहुत दिनों के बाद उन दोनों के अनाचार का वह पाप कोढ़ की तरह फूट निकला। राजा को उनके दुराचार का पता चल गया। उसे बड़ा क्रोध आया। सोचा—“इस दुष्ट पापात्मा ने अत्यन्त नीच कर्म किया है। इसने अपने हाथों से मौत बुलायी है। इसके पाप का फल इसे चखाना चाहिए। यह बुद्धिमान है तो क्या हुआ? ऐसे नीच कर्म करने वाले की उपेक्षा बिलकुल नहीं की जा सकती।” कहा भी है—

लूणह घूणह कुमाणस, ए तिहुँ इकसहाओ ।

जिहां जिहां करे निवासडो, तिहां तिहां फेडे ठाओ ॥२९॥

अर्थात् - ‘लून’ (दीवार में जो जीव लग जाता है (उदेही)) घुन (लकड़ी में जो जीव लगता है) और खराब मनुष्य ये तीनों एक ही स्वभाव वाले होते हैं। ये जहाँ-जहाँ निवास करते हैं वहाँ-वहाँ रहने के स्थान का ही नाश करते हैं ॥२९॥

लून दीवार आदि को नष्ट कर देता है, घुन लकड़ी को खा जाता है और दुर्जन को आश्रय देने पर वह उसी घर को बर्बाद कर देता है। अतः इस प्रधान को मौत की सजा दे देना ही उचित है। ऐसा विचारकर राजा ने चांडाल को बुलाकर हुक्म दिया—“इसे वध्यभूमि में ले जाकर खत्म कर दो।” राजा की आज्ञा से चांडाल नमुचि को वध्यभूमि में ले गया। परंतु उसे मारने से पहले वह सोचने लगा—“यद्यपि नमुचि बुद्धिमान है। लेकिन विनाशकाल आता है तो बड़े-बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसने बुद्धि पर मोह का पर्दा पड़ जाने से मोहकर्मवश ही ऐसा काम किया है।” कहा है—

न निर्मिता केन न दृष्टपूर्वा, न श्रूयते हेममयी कुरङ्गी ।

तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य, विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥३०॥

“किसी ने सोने की हिरनी पहले कभी बनी हुई न देखी है, और न ही सुनी है; फिर भी रघुनन्दन राम की तृष्णा स्वर्णमृगी के लिए जाग गयी थी। इसीलिए विनाशकाल में विपरीत बुद्धि हो जाती है।” ॥३०॥

और भी कहा है

रावण तणे कपाल, अट्टतरसो बुद्धि वसे ।

लङ्काफीटणकाल, एके बुद्धि न साम्भरी ॥३१॥

“रावण के मस्तक में एक सौ आठ बुद्धियाँ रहती थीं, किन्तु जब लंका का विनाशकाल निकट आया तो एक बुद्धि भी काम नहीं आयी।” ॥३१॥

चांडाल ने यह भी विचार किया कि यह प्रधान महाबुद्धिमान है। मेरे घर में रहकर मेरे अपने लड़कों को पढ़ा सकता है। मेरे लड़कों को चांडाल समझकर ओर तो कोई पढ़ायेगा नहीं। अतः यदि यह मेरे लड़कों को पढ़ाना कबूल कर ले तो मैं इसको न मारकर अपने घर में गुप्तरूप से रखकर इसकी रक्षा करूँ। चाण्डाल ने मन में यह निश्चय करके नमुचि से कहा—“अगर आप मेरे दोनों लड़कों को पढ़ाना स्वीकार करें तो मैं आपको न मारकर अपने घर में छिपाकर रख सकूँगा; अन्यथा मैं राजाज्ञा के उल्लंघन का खतरा भोल नहीं ले सकता।”

नमुचि ने चाण्डाल की बात मान ली। (मरता क्या नहीं करता) चाण्डाल ने उसे घर पर, लाकर राजा के भय से गुप्तरूप से तलघर में रखा। नमुचि वहाँ रहकर चित्र और सम्भूति को पढ़ाने लगा। दोनों तीव्र बुद्धि वाले थे। इसीलिए थोड़े ही समय में समस्त शास्त्रों में पारंगत हो गये। लेकिन नमुचि की कामान्धता यहाँ भी न गयी। अपनी दुष्ट आदत के अनुसार यहाँ भी चित्र और सम्भूति की माता को अपने मोह-जाल में फंसाकर उसके साथ दुराचार करने लगा। सच है; कामान्ध पुरुष का स्वभाव छूटना बहुत कठिन होता है, भले ही वह बहुत ही विकट परिस्थिति में हो। कहा भी है—

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो,

व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः ।

क्षुधाक्रान्तो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः,

शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्येव मदनः ॥३२॥

अर्थात् - जो शरीर से दुर्बल है, काना है, लंगड़ा है, बहरा है, पूँछ से विकल है, जिसके घावों से मवाद झर रहा है, जिसके शरीर में सैंकड़ों कीड़े पड़ गये हैं, जो भूख से व्याकुल है, शरीर बुढ़ापे से लड़खड़ा रहा है, और जिसके गले में ठीकरा डाला हुआ है; ऐसा कुत्ता भी कुत्तिया को देखते ही उसके पीछे लग जाता है। अफसोस है, कामवासना मरे हुए को भी मारती है।” ॥३२॥

अतः काम का स्वभाव दुस्त्यज है। कहा भी है—

उखल करे धबुकडा, घरहर करे घरद ।

जिहां जेअंगसभावडा, तिहां ते मरण निकट ॥३३॥

पाप छिपा नहीं रहता। चाण्डाल को जब इस बात का पता लग गया तो उसे नमुचि से धृणा हो गयी। सोचा—“मैंने इसके प्राण बचाये, लेकिन यह मेरे ही घर में मेरी पत्नी को कामजाल में फंसाकर उसके साथ रमण करने लगा। धिक्कार है, ऐसे कामान्ध मंत्री को कि यह किये हुए उपकार को भूल गया। इससे तो कुत्ता ही अच्छा, जो किये हुए उपकार को तो नहीं भूलता।” नीतियों का कथन है—

अशनमात्रकृतज्ञतया गुरोर्न पिशुनोऽपि शुनो लभते तुलाम् ।

अपि बहूपकृते सखिता खले न खलु खेलति खे लतिका यथा ॥३४॥

अर्थात् - सिर्फ भोजन देने भर से ही कृतज्ञतावश (दाता को) गुरु (बड़ा) रूप में मानने वाले कुत्ते की समानता भी पिशुन (खराब) मनुष्य नहीं कर सकता; क्योंकि खल के प्रति बहुत उपकार करने पर भी उसके साथ मित्रता आकाश में लता के समान टिक नहीं सकती ॥३४॥

चाण्डाल ने मन ही मन निर्णय किया—‘मैंने पहले ही भूल की, जो ऐसे दुष्ट की रक्षा की। अब तो इसे झटपट मार ही डालना चाहिए।’ यह सोचकर नमुचि को अपने घर से बाहर निकाला। उस समय चित्र-सम्भूति ने सोचा—‘हमारे रहते पिता हमारे विद्यागुरु को मारे, यह तो बड़ा ही अनर्थ होगा।’ दोनों ने अपने विद्यागुरु को बचाने की युक्ति सोची। वे पिता के पास आये और उनसे निवेदन किया—“पिताजी! सचमुच नमुचि पापी और दुराचारी है; यह मारने योग्य है; रक्षा करने योग्य नहीं है। इसीलिए इसे आप हमें सौंप दीजिए ताकि हम इसे वध्यभूमि में ले जाकर मार डालें।” चाण्डाल ने उन्हें अनुमति दे दी। दोनों चाण्डालपुत्र रात्रि के समय अपने विद्यागुरु नमुचि को पकड़कर एकान्त में ले गये और उनसे कहा—“आप हमारे विद्यागुरु हैं। इसीलिए हम आपको छोड़ देते हैं; बशर्ते कि आप इस नगर को छोड़कर दूर चले जाएँ।” नमुचि भयभीत होकर वहाँ से चल पड़ा और कुछ ही दिनों में हस्तिनापुर जा पहुँचा। वहाँ सनत्कुमार चक्रवर्ती का सेवक बन कर रहने लगा।

चित्र और सम्भूति संगीतकला में अत्यंत प्रवीण हो गये थे। वे हाथ में वीणा लेकर नगर के चौराहों पर प्रतिदिन गीत गाया करते। उनकी कण्ठकला से मुग्ध होकर वहाँ लोगों की भीड़ जमा होने लगी। जिन्होंने कभी घर से बाहर कदम नहीं रखा था,¹ वे युवतियाँ भी इनके गीतों से आकृष्ट होकर सुनने के लिए लज्जा छोड़कर आने लगीं। उनके गीतों में इतना जादू था कि कई शृंगार किया

1. उस समय खानदान घर की कन्याएँ एवं बहुएँ अपने घर से बाहर निष्कारण नहीं आती थीं।

न किया, जैसी स्थिति में थीं वैसी स्थिति में भाग आती थी। कई ललनाओं ने एक पैर में ही महेंदी लगायी तो, किसी ने एक आँख में अंजन डाला था, किसी के सिर पर से कपड़ा हवा से खिसक गया था, किसी स्त्री ने एक स्तन पर ही कांचली पहनी हुई थी, कोई अपना बच्चा छोड़कर जल्दी में दूसरे के बच्चे को अपना समझकर गोद में उठाकर चल पड़ी। कई तो अपने पति के सामने कोई न कोई बहाना बनाकर वहाँ चली आतीं। कई महिलाएँ भोजन की थाली छोड़कर अधभूखी ही उठकर गायन का आनंद लूटने चल पड़तीं। कई कामिनियाँ झटपट गाय दुहने का काम निपटाने के लिए उतावली में गाय के अंचल के पास बछड़े को लाकर लगा देतीं। कई स्त्रियाँ अपने पति की अनुमति की प्रतिक्षा में उसके सामने ऊँचा मुँह किये खड़ी हो जातीं। मतलब यह है कि संगीत से मोहित होकर कामिनियाँ घर के सभी कार्य छोड़कर वहाँ पहुँच जातीं। सचमुच संगीत के शब्दों की परवशता ऐसी ही होती है। कहा है—

सुखिनि सुखनिदानं, दुःखितानां विनोदः, श्रवणहृदयहारी, मन्मथस्याग्रदूतः ।
रणरणकविधाता, वल्लभः कामिनीनां, जयति जगति नादः, पञ्चमश्चोपवेदः ॥३५॥

अर्थात् - नाद (संगीत) सुखी मनुष्य के सुख का कारण है; दुःखी मनुष्यों का विनोद (मनोरंजन) करके उनके दुःख को हलका करने वाला है; सुनने वालों के हृदय को हरण करने वाला; कामदेव का अग्रदूत है, रणभूमि में योद्धाओं को प्रोत्साहित कर्ता और कामिनियों को प्यारा है। इस प्रकार संगीत का नाद पाँचवाँ उपवेद है; जगत् में नाद विजयी बनता है ॥३५॥

कुछ ही दिनों में नगर की सभी युवतियाँ संगीत-राग में पागल होकर उसके पीछे-पीछे घूमने लगीं। यह देखकर नगरवासी कुड़कर विचारने लगे— 'चाण्डाल कुल में उत्पन्न इन दोनों लड़कों ने सारे नगर को भ्रष्ट कर दिया है।' उन्होंने राजा के पास जाकर शिकायत की— "महाराज! इन दो चाण्डालपुत्र चित्र और सम्भूति ने हमारे सारे नगर को दूषित कर दिया। हमारी गृहणियों को इन्होंने अपने संगीत की रागरागिनियों से आकृष्ट कर कर्तव्यविहीन, आचरणहीन और धर्म-भ्रष्ट कर दिया है। अतः इन्हें शीघ्र ही नगर से निकाल दिया जाना चाहिए; अन्यथा ये अगर अधिक समय तक रहे तो आचारशुद्धि नहीं रहेगी।" राजा ने उनकी शिकायत सुनकर उन्हें नगर से निकाल दिया।

1. दूसरे स्थान पर कथा में इसके बाद कौमुदी महोत्सव में बुरखा ओढ़कर दोनों भाई जाते हैं। गायन गाते हैं। लोक आकर्षित होते हैं। कोई बुरखा खींचकर देखते हैं। ये कौन हैं। उनको पहचान ने पर धक्का मुक्की से मारकर निकालते हैं तब निम्न विचार करते हैं। (इतना वर्णन अधिक है)

उस समय चित्र और सम्भूति मन में सोचने लगे—“हमारी कला की कद्र करने के बजाय हमें नीच कुल का समझकर राजा ने नगर-निर्वासित करवा दिया! धिक्कार है, ऐसे सम्मानहीन जीवन को! और दुष्काल के दोष से दूषित ऐसी कला से भी क्या लाभ? अतः अब तो इस अपमानित जीवन का अंत कर डालना चाहिए।” ऐसा विचारकर वे एक पर्वत पर झंपापात करने के लिए चढ़े; और दोनों हाथ से ताली बजाकर नीचे गिरने की तैयारी में ही थे कि अकस्मात् निकटवर्ती एक गुफा में तपस्या करने वाले किसी साधु ने उन्हें देखा और वहीं से कहा—“भाई! यों मत गिरो। यह मानव जीवन यों ही नष्ट करने के लिए नहीं है। मैं तुम्हें आश्रय दूंगा।” साधु के तीन-चार बार दोहराये हुए अमृतोपम वचन सुनकर आश्चर्यचकित होकर आँखें फाड़कर वे इधर-उधर देखने लगे कि—“इस जगत् में हम पददलितों और पतितों का कौन सहायक और नाथ है जो हमें पर्वत से गिरकर जीवन नष्ट करने के लिए मना कर रहा है?” सहसा उनकी आँखें गुफा में तपोलीन एक वात्स्यमूर्ति साधु पर पड़ी। वे तुरंत मुनि के पास दौड़कर पहुँचे। मुनि ने उनसे पूछा—“वत्स! तुम्हें ऐसा कौन-सा दुःख है कि असमय में ही अपने जीवन को यों नष्ट कर रहे हो?” उन्होंने अपनी सारी आपबीती सुनाई। साधु ने स्नेह पूर्वक कहा—“अगर धर्माचरण नहीं तो केवल कुल से क्या सिद्धि हो सकती है? और इस तरह अज्ञान-मरण से भी क्या लाभ मिलेगा? इस मृत्यु से तुम्हारा दुःख कम नहीं होगा। अतः श्री जिनेश्वर भगवान् के द्वारा भाषित धर्म की आराधना करो; जिससे इस लोक में और परलोक में तुम्हारे कार्य की सिद्धि हो, तुम्हें जीवन का वास्तविक आनंद मिले।” इस तरह तपोधनी साधु का उपदेश सुनने से उन्हें विरक्ति हो गयी। उन्होंने मुनि से चारित्र स्वीकार किया, तथा निरतिचार अतिदुष्कर तप करने लगे, उग्र विहार करने लगे। एक बार वे दोनों मुनि अपने पासक्षमण (एक महीने के उपवास) के दौरान एक गाँव से दूसरे गाँव विहार करते हुए हस्तिनापुर पहुँचें। वहाँ नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरें।

एक बार सम्भूति मुनि मासक्षमण के पारणे के लिए भिक्षार्थ हस्तिनापुर नगर के ऊँच-नीच-मध्यम घरों में घूम रहे थे। नमुचि भंत्री की दृष्टि मुनि पर पड़ी और वह उसे पहचान गया—“अरे यह तो सम्भूति नाम का चांडालपुत्र साधुवेष में आया है। संभव है यह मेरे दुश्चरित्र की बात-राजा से कह दे। उसने तुरंत एक नौकर को समझाकर संभूति मुनि को तिरस्कार पूर्वक गर्दन पकड़कर नगर से बाहर निकलवा दिया। उस समय सम्भूतिमुनि को उस पर बड़ा रोष उमड़ा—“हा! इस दुष्ट नमुचि ने यह क्या किया? हमने तो इसको मरने से बचाया, लेकिन इस दुष्ट

ने इस उपकार का बदला बुराई से चुकाया। मैं अभी इस निर्लज्ज को जला डालता हूँ।" उस मुनि की क्रोधाग्नि प्रकट हुई। उन्होंने कठोर तपस्या से प्राप्त तेजोलेश्या छोड़ी। मुंह से धुंए के बादल निकलने लगे; जिससे सारा नगर धुंए से आच्छादित हो गया। नगरनिवासी लोग भयभीत होकर परस्पर सोचने लगे—“यह क्या हो गया? क्यों हो गया? इसके पीछे किसका हाथ है? क्या नगर का पाप आज फूट निकला है?” कुछ लोग एकत्रित होकर झटपट चक्रवर्ती सनत्कुमार के पास पहुँचे और उन्हें घबराते हुए सारी हकीकत सुनाई और झटपट उपाय करने की प्रार्थना की। चक्रवर्ती सनत्कुमार सुनते ही भयाकुल होकर मुनि के पास आया, और मुनि के चरणों में गिर कर बोला—“प्रभो! मेरे अपराध क्षमा करें! मनुष्यों का संहार रोकियो। आप मुझ पर कृपा कीजिए। आप तो कृपा के समुद्र हैं, भक्तवत्सल हैं, क्षमाशील हैं। मैं दीन हूँ; और हाथ जोड़कर अर्ज कर रहा हूँ। अतः मुझ पर कृपा करके अपने क्रोध को शांत कीजिए।”

उस समय चित्रमुनि को अपने भाई सम्भूतिमुनि की बात का पता लगा तो वह वहाँ आया। उसे शांत करने के लिए बहुत से शांतिमय वचन सुनाये। शांतवचनों की अमृतधारा से सम्भूतिमुनि शांत हुए। उनका क्रोध अब शांत हो चुका था। सनत्कुमार ने नमुचि मंत्री की करतूत जानकर उसे रस्सियों से बंधवाया और मुनि के चरणों में गिराया। फिर चक्री ने पूछा—“मुनिवर! आप आज्ञा दीजिए कि इसे नमुचि को क्या दण्ड दिया जाय?” दोनों मुनियों ने कहा—“हमारा किसी के साथ वैरभाव नहीं है।” सनत्कुमार ने नमुचि को देशनिकाला दे दिया। बाद में दोनों मुनियों ने आत्मालोचन किया—‘अहो! क्रोधावेष में मनुष्य सब कुछ भूल जाता है। उसकी सदबुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है। सचमुच क्रोध महान् अनर्थ करने वाला है।’ कहा है कि—

जं अज्जियं चरित्तं देसूणाए य पुव्वकोडीए ।

तं पि अ कसायमित्तो, हारेइ नरो मुहुत्तेणं ॥३६॥

अर्थात् - एक करोड़ पूर्व वर्षों से कुछ ही कम समय तक चारित्ररत्न अर्जित किया हो, उसे कषाय को मित्र बनाकर मनुष्य एक मुहूर्त में हार जाता है। अर्थात्—एक मुहूर्त भर का कषाय एक करोड़ पूर्व तक पाले हुए चारित्र को नष्ट कर डालता है ॥३६॥ और भी कहा है—

कोह पइडो देहघरि, तिन्नि विकार करेह ।

आपो तावें पर तवे परनेह हाणि करेह ॥३७॥

१. कोह पइडिओ देह घरी तिन्नी विकार करेह । आप तपे पर संतपे, धननी हाणी करेह ॥

अर्थात् - शरीररूपी घर में क्रोध प्रविष्ट होकर तीन विकार पैदा करता है—१. अपने आपको तपाता है, २. दूसरे को तपाता है और, ३. दूसरे के साथ स्नेह को खत्म कर देता है ॥३७॥

“इसीलिए इस क्रोध के आश्रयभूत इस शरीर का ही क्यों न त्याग कर दिया जाय? अवगुणों के निवासस्थान इस शरीर को रखने से अब क्या लाभ?” इस तरह विचारकर दोनों मुनियों ने वन में जाकर आमरण अनशन (संथारा) अंगीकार किया। बहुत से मनुष्य उन्हें वंदन करने आने लगे। सनत्कुमार चक्रवर्ती को पता लगा तो वह भी परिवार-सहित वंदन करने के लिए आया। और वंदना एवं उनकी प्रशंसाकर लौट गया। इसके बाद चक्रवर्ती की स्त्रीरत्न पटरानी सुनंदा बहुत-सी स्त्रियों के साथ वंदना के लिए आयी। भक्तिभाव पूर्वक हाथ जोड़कर चित्र मुनि के चरणों में नमस्कार कर जब सम्भूति मुनि के चरणों में नमस्कार कर रही थी; उस समय काजल के समान श्याम कोमल बालों का चरणों में स्पर्श होने से मुनि को अत्यंत राग (आसक्ति) पैदा हो गया। सम्भूतिमुनि ने उस समय निदान (नियाणा) कर लिया—“यदि मेरे तप का फल प्राप्त हो तो ऐसा स्त्रीरत्न मुझे दूसरे जन्म में मिले।” सम्भूति मुनि को निकाचित निदान करते देख मनोभावज्ञाता चित्रमुनि ने कहा—“बन्धुवर! यह क्या कर रहो हो? क्यों मनुष्य जन्म और उत्तमचारित्र को हार रहे हो? दुष्ट परिणाम वाले इन विषय सुखों को तो जीव ने अनंतबार भोगे; तथापि इनसे तृप्ति नहीं हुई। अतः ऐसा निदान (दुःसंकल्प) छोड़ दो।” परंतु सम्भूति मुनि गाढ़ासक्त थे। अतः बोले—“मैंने दृढ़ मन से नियाणा कर लिया है। अब इसमें परिवर्तन होना असंभव है। आप इस बारे में मुझसे कुछ भी न कहें।” चित्रमुनि मौन रहे।

अनुक्रम से दोनों मुनि अनशन पूर्ण कर स्वर्ग गये। वहाँ दोनों एक ही विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ चिरकाल तक स्वर्ग सुखों का उपभोग कर पहले चित्र के जीव ने आयुष्य पूर्ण कर पुरिमिताल नगर में एक सेठ के घर पुत्र रूप में जन्म लिया, और सम्भूति का जीव नियाणा के प्रभाव से कांपिल्यपुर नगर में ब्रह्मदत्त नाम का बारहवाँ चक्रवर्ती हुआ। [इसकी उत्पत्ति का स्वरूप बाद में कहेंगे] इस चक्री ने क्रमशः ६ खण्डों पर विजय प्राप्त किया। एक दिन ब्रह्मदत्त चक्री राजसभा में बैठा था। उस समय एक फूल का गुच्छ देखते ही उसे जातिस्मरण (पूर्वजन्म का) ज्ञान हुआ। पूर्वजन्म का नलिनीगुल्म विमान का दृश्य उसके सामने स्पष्ट हो गया। साथ ही पाँच जन्मों का भी उसे स्मरण हो आया। इससे मन में विचार करने लगा—‘जिसके साथ पाँच जन्मों का संबंध था, वह प्रियभ्राता कहाँ मिलेगा? कहाँ गया

होगा? उसको मिलने के लिए चक्रवर्ती ने आधी गाथा (श्लोक) बनायी, वह इस प्रकार थी—

आस्वदासौ मृगौ हंसौ मातंगावमरौ तथा ।

इसका भावार्थ यह था कि "सर्वप्रथम हम दोनों दास थे, बाद में दोनों मृग हुए, उसके बाद दोनों हंस हुए, तत्पश्चात् चाण्डालपुत्र बनें और फिर देव हुए।"

जो इस गाथा को पूर्ण करेगा उसे मैं समझ लूँगा कि निश्चय ही मेरा भाई है। दूसरा कोई भी इस गाथा को पूर्ण नहीं कर सकता।" ऐसा निश्चित कर नगर में घोषणा करवायी कि जो इस गाथा का उत्तरार्द्ध पूर्ण करेगा, उसका मनोवांछित मैं पूर्ण करूँगा। कई मनुष्यों ने इस गाथा को पढ़ा, परंतु कोई भी इस समस्याको पूर्ण नहीं कर सका। इस तरह बहुत दिन व्यतीत हो गये।

इधर पुरिमताल नगर में सेठ के यहाँ उत्पन्न हुए चित्र के जीव ने समय पाकर संसार से विरक्त होकर एक मुनिवर से चारित्र अंगीकार किया। उसे भी जातिस्मरण ज्ञान हुआ, उसने भी सम्भूति के जीव के साथ पांच जन्म का सम्बन्ध जानकर मन में विचार किया कि 'मेरे भाई ने नियाणा किया था, इसीलिए वह भिन्न कुल में उत्पन्न हुआ है, और चक्रवर्ती बना है। अतः मैं जाकर उसे प्रतिबोध दूँ। ऐसा विचारकर वह मुनि कांपिल्यपुर नगर पहुँचें। उद्यान में ठहरें। वहाँ रहट चलाने वाले व्यक्ति के मुख से यह आधी गाथा सुनकर मुनि ने उत्तरार्द्ध गाथा पूर्ण की।"

एषा नौ षष्ठिका जातिरन्योन्याभ्यां वियुक्तयोः ।

इसका भावार्थ था—“यह हमारा छट्टा जन्म है, जिसमें हम एक दूसरे से अलग हुए हैं।"

मुनि के मुख से गाथा की उत्तरार्द्ध पंक्ति सुनकर रहट चलाने वाले ने राजा के पास जाकर उस गाथा का उत्तरार्द्ध पूरा किया। उसे सुनकर स्नेहवश राजा मूर्च्छित हो गया। राजा जब होश में आया तो उससे पूछा—“सच सच बता, इस गाथा की पूर्ति क्या तूने ही की है? या और किसी ने? उसने भयभीत होकर कांपते हुए कहा—“महाराज! मैं रहट चला रहा था। पास ही उद्यान में एक मुनि पधारें हुए हैं। उन्होंने सुना तो इस गाथा का उत्तरार्द्ध पूर्ण किया है; मैंने नहीं।" राजा को मुनि का आगमन सुनकर अतीव खुशी हुई उसे पारितोषिक देकर परिवार-सहित उन्हें वंदन करने के लिए गया। मुनि ने संसार की अनित्यता का उपदेश देते हुए चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त से कहा—“राजन्! यह विषयसुख बिजली की चमक के समान चंचल है। इसे तुम छोड़ दो और श्री जिनेश्वर देव के द्वारा भाषित धर्म की

आराधना करो। विषय में अनुराग का परिणाम बहुत बुरा होता है। तुमने पूर्वजन्म में नियाणा किया था। उस समय मैंने तुम्हें बहुत मना किया था। परंतु तुम मोक्षसुख देने वाले चारित्र्य को हारकर, राज्य और स्त्री के सुख के लिए अपने आपको भूल गये थे। अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा। यदि भोगों को सर्वथा नहीं छोड़ सकते तो कम से कम आर्य कर्म करो। जिससे नरक-तिर्य्यचगति से बच सकोगे। अन्यथा तुम्हें नरक का मेहमान बनना पड़ेगा।” पूर्वजन्म के साक्षी मुनिभ्राता के वचन सुनकर चक्री बोला—“बन्धु! मोक्षसुख किसने देखा है? यह विषय आदि सुख तो प्रत्यक्ष हैं। इसीलिए भाई! तुम भी मेरे घर चलो और वहाँ मैं तुम्हारे लिये देवसुख के साधन जुटा दूंगा। सांसारिक सुख का अनुभव करो। इस सिर मुंडाने में क्या विशेषता है? घर-घर भीख मांगना शोभा नहीं देता। अतः पधारो, पहले अच्छी तरह से भोगों का सुखभोग कर लो। बाद में संयम अंगीकार कर लेना।” ब्रह्मदत्त के ये वचन सुनकर मुनि ने कहा— भला ऐसा कौन भूख होगा जो राख के लिए चन्दन को जलाएँ? “भला कौन ऐसा मूढ़ होगा, जो जीने के लिए कालकूट विष खाये? कौन नीच मनुष्य लोहे की कील के लिए सवारी को तोड़ेगा? कौन धागे के लिए मोती का हार तोड़ेगा? कोई भी समझदार ऐसा कार्य नहीं करता। इसीलिए हे भाई! अब प्रतिबोध प्राप्त करो।” इस तरह ब्रह्मदत्त ने भाई के वचन अनेक बार सुने, फिर भी उसे वैराग्य नहीं हुआ। अन्तन्तोगत्वा, यह दुर्बुद्धि वाला है, इसे बोध नहीं लग सकता; ऐसा जानकर चित्रमुनि ने भाई से अनुमति लेकर अन्यत्र विहार किया और ब्रह्मदत्त अपने घर में ही रहा। अनेक पापाचरण करने लगा। चित्रमुनि चिरकाल तक साधुजीवन की आराधना करके केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष के अधिकारी बनें, और ब्रह्मदत्त के द्वारा पूर्वभव में नियाणा करने से वह धर्म प्राप्ति से वंचित होकर अनेक पापकर्म उपार्जित करके सात सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर सातवीं नरक का अधिकारी बना।

इसी तरह जो मनुष्य गुरुकर्मा होते हैं, उन्हें प्रतिबोध नहीं लगता। अतः सुतभबोधि होना अति दुर्लभ है। यही इस कथा का तात्पर्य है।

उदायीनृप के हत्यारे का दृष्टांत

पाटलीपुत्र नगर में कोणिक राजा का पुत्र उदायी नाम का राजा राज्य करता था। उदायी राजा ने किसी का राज्य छीन लिया था। इसीलिए उसके वैरी राजा ने एक दिन अपनी सभा में घोषित किया—“जो उदायी राजा को मारकर आयेगा; उसे मैं उसकी इच्छानुसार इनाम दूंगा।” यह सुनकर उस राजा के किसी

नौकर ने इस अनिष्टकाम को करने का बीड़ा उठाया। वह वहाँ से पाटलिपुत्र आया, और उसने अनेक उपाय किये, परंतु कोई भी उपाय कारगर नहीं हुआ। आखिर उस दुष्ट ने विचार किया—‘विश्वास में लिये बिना उदायी राजा को मारा नहीं जा सकता!’ इसीलिए उसने धर्मगुरु के पास जाकर उनके सामने वैराग्य प्राप्त हो जाने की मीठी-मीठी चिकनी-चुपड़ी बातें करके उनसे मुनि-दीक्षा धारण कर ली। उन आचार्य (गुरु) को उदायी राजा बहुत मानता था। उनके पास वह मुनि वेशधारी नौकर अध्ययन करने लगा, वह साधुओं का अत्यन्त विनय व सेवा-शुश्रूषा करने लगा। अतः आचार्य आदि के मन को अपने विनय गुण से वशीभूत कर लिया।

उदायी राजा अष्टमी और चतुर्दशी के दिन, एक अहोरात्र भर का पौषध करता था। आचार्य उस दिन उसे धर्म-उपदेश देने के लिए रात को अत्यन्त निकटवर्ती उसकी पौषधशाला में जाते थे। एक दिन अष्टमी के दिन गुरु जाने के लिए तैयार हुए, तब उस नव-दीक्षित साधु ने कहा—“स्वामी! आपकी आज्ञा हो तो मैं भी साथ चलूँ।” गुरु ने उसके हृदय के भावों को जानकर उसे साथ नहीं लिया। वह हर बार गुरु के साथ जाने को इस तरह कहता, परन्तु उसे गुरु साथ नहीं ले जाते थे। इस तरह बारह वर्ष व्यतीत हो गये। एक बार चतुर्दशी के दिन गुरु महाराज उदायी की पौषधशाला में जा रहे थे, उस समय उस कपटी साधु ने कहा—‘गुरुदेव आपकी आज्ञा हो तो मैं भी साथ चलूँ?’ भवितव्यता के कारण गुरु महाराज ने कहा—“अच्छा, चलो।” बस, फिर क्या था? वह गुरुदेव के साथ पौषधशाला में आया और दंभ से संथारे (आसन) पर बैठा। उदायी राजा ने गुरु को वंदन किया, प्रतिक्रमण किया और बाद में संथारा पौरसी पढ़कर शयन किया। जब राजा और आचार्य दोनों निद्राधीन हो गये, तब उस दुष्ट कुशिष्य ने उठकर पास में गुप्त रूप से रखी हुई कंकजातीय लोहे की छुरी निकाली और राजा के गले पर फेर दी। राजा तत्काल मर गया। वह कुशिष्य छुरी वहीं रखकर भाग गया। बाहर खड़े हुए राजसेवकों (सिपाहियों) ने साधु जानकर उसे नहीं रोका। इधर राजा के शरीर से इतना खून निकला कि वह गुरु के संथारे तक आ गया। उसके स्पर्श से गुरुमहाराज जागे और विचार करने लगे, कि ‘यह क्या हुआ? मेरे पास जो शिष्य था वह नहीं दीखता? हो न हो, वही कुशिष्य राजा को मारकर भाग गया है।’ यों विचारकर उन्होंने चिन्तन किया—‘यह तो महान अनर्थ हो गया। प्रातःकाल राजा को मृत देखकर लोग कहेंगे—“जैन मुनि इस प्रकार का कुकर्म करते हैं।’ इस तरह जैनधर्म की महानिन्दा होगी। अतः इस निन्दा के निवारण का सच्चा उपाय यही है कि मैं भी अपनी इस महान् भूल (एक अयोग्य को दीक्षा

देने की) का प्रायश्चित्त करूँ।" अतः आचार्य ने तुरंत वही छुरी लेकर अपने गले पर फेर ली। और समाधिपूर्वक थोड़ी ही देर में अपना शरीर छोड़ दिया। आचार्य और राजा दोनों मरकर देव बनें।

इसी तरह दूसरे भी अभव्य या दुर्भव्य आदि जीव को बहुत उपदेश से भी प्रतिबोध प्राप्त नहीं होता। वह दुष्टकर्म करने वाला साधुवेष छोड़कर अपने राजा के पास गया, और अपने साहस की सभी बातें उनसे कहीं। राजा ने उसकी सारी बातें ध्यान से सुनीं। राजा के मन में उसके प्रति धृणा हो गयी। उसे फटकारा—“अरे दुष्ट! तूने राजा को वीरता-पूर्वक नहीं मारा; किन्तु छल से, धर्म का बाना पहनकर मारा है। इसीलिए तू बड़ा क्रूरकर्मी और महापापी है। अतः तू इनाम के योग्य नहीं, देशनिकाला देने योग्य है।” यह कहकर उसे तिरस्कारपूर्वक देशनिकाला दे दिया॥३१॥

इस कथा का सारांश यह है कि ऐसे गुरु (भारी) कर्मी जीव को प्रतिबोध नहीं लगता।

गयकञ्चचलाए, अपरिचत्ताए, रायलच्छीए ।

जीवा सकम्मकलिमलभरियभरा तो पडंति अहे ॥३२॥

शब्दार्थ - जो जीव, हाथी के कान की तरह चंचल राजलक्ष्मी को नहीं छोड़ते, वे अपने दुष्कर्म के कलिमल के भार से अधोगति में गिरते हैं॥३२॥

भावार्थ - राज्यलक्ष्मी हाथी के कान की तरह चंचल है; ऐसा जानता हुआ भी, यदि जीव उसका त्याग नहीं करता तो वह अपने कर्मरूपी कीचड़ से भर जाता है। और उस भार से वह जीव अधोगति (नरक आदि) में जाता है। अतः राज्यलक्ष्मी से क्या लाभ? कुछ भी नहीं है ॥३२॥

योतूणयि जीवाणं, सुदुक्कराइं ति पावचरियाइं ।

भयवं जा सा सा सा, पच्चाएसो हु इणमो ते ॥३३॥

शब्दार्थ - कितने ही जीवों के पापचरित्रों को मुख से कहना भी अति दुष्कर होता है। इस बारे में दृष्टांत है—भगवान् से पूछा—यह वही है? भगवान् ने कहा—हाँ, यह वही है ॥३३॥

भावार्थ - कई जीवों के पापकर्म ऐसे प्रबल होते हैं कि अपने मुख से दूसरे के सामने कहना भी अति लज्जास्पद होता है। एक पुरुष ने समंवसरण में आकर भगवान् से पूछा—“(जा सा) वह स्त्री मेरी बहन है?” भगवान् ने कहा—“(सा सा) अर्थात् वही स्त्री तेरी बहन है।” यहाँ नीचे ‘जा सा, सा सा’ का दृष्टांत दे रहे हैं—

‘जा सा, सा सा’ का दृष्टांत

वसंतपुर नगर में अनंगसेन नाम का एक सुनार रहता था। वह अत्यन्त स्त्री लंपट था। उस सुनार ने पाँच सौ स्त्रियों से शादी की थी। वे स्त्रियाँ बहुत रूपवती थीं। अनंगसेन उन्हें कभी बाहर जाने नहीं देता था, जबर्दस्ती उन्हें घर में ही बंद रखता था। एक दिन वह सुनार अपने मित्र के यहाँ भोजन करने गया। उस समय सभी स्त्रियों ने विचार किया—“आज सुअवसर मिला है, अपना मनचाहा करने का।” सभी ने एकमत होकर स्नान, विलेपन, आभूषण, काजल, सिंदूर, तिलक आदि धारण कर अपने हाथ में शीशा लिया और बड़े गौर से अपना रूप निहारने लगीं। साथ ही वे परस्पर हंसने, तमाशा करने, गीत गाने और खेलने लगीं। क्योंकि हमेशा तो उनमें से जिसकी बारी होती, उसी को वह सुनार (पति) आभूषण आदि शृंगार करने देता था, अन्य को नहीं। इसीलिए आज अपनी इच्छा के अनुसार उन सबने मनमानी क्रीड़ा करनी शुरू की। इतने में ही सोनी अपने घर आया। उसने अपनी स्त्रियों की यह चेष्टा देखी तो उनमें से एक स्त्री को पकड़कर उसके मर्मस्थान पर दे मारा। इससे वह तत्काल मर गयी। यह देख अन्य स्त्रियों ने सोचा—‘इसने एक को कुमौत मारा है, शायद दूसरों को भी मारें। अतः क्यों न हम सब मिलकर इसी को ही मार डालें।’ ऐसा निर्णयकर सभी ने अपने-अपने हाथ में लिया हुआ शीशा एक साथ जोर से स्वर्णकार के ऊपर फेंका। शीशों के एक साथ प्रहार से स्वर्णकार वहीं ढेर हो गया। सभी स्त्रियों ने लोकनिन्दा होने के भय से उस मकान में आग लगा दी। आग की लपटें बढ़ जाने से काबू में न आयी। इससे वे सबकी सब उसी मकान में वहीं झुलसकर मर गयीं। मरकर चोरपल्ली में चोर के रूप में उनका जन्म हुआ।

प्रथम जो स्त्री मरी थी, उसने किसी गाँव में किसी सेठ के यहाँ पुत्र रूप में जन्म लिया, और स्वर्णकार के जीव ने उसी सेठ के घर पुत्री रूप में जन्म लिया। वह पूर्वजन्म के कामासक्ति के अभ्यास के कारण जन्मते ही अतिकामातुर होकर रुदन करती थी। एक दिन उसके भाई का हाथ उसकी योनि पर लग गया; इससे उसने तत्काल रोना बंद कर दिया। इस प्रकार उसे चुप रखने का उपाय मिल गया। अब जब भी वह रोती थी, तब हमेशा वह उसी तरह किया करता था। एक दिन उसके पिता ने उसे वैसा करते देख लिया। पिता ने उसे रोका, परंतु वह नहीं माना। फलतः उसे घर से निकाल दिया। वह चोरपल्ली में (जहाँ कि उसके पूर्वजन्म की सौतेलें ने जन्म लिया था) चला गया। वहाँ रहते-रहते वह उन ५००

चोरों का स्वामी बन गया। एक दिन उन सभी ने एकत्रित होकर उसी गाँव में डाका डाला। वह कामासक्त कन्या, जो अब जवान हो गयी थी, मिली। चोरों ने उसे देखा तो पूर्वजन्म के स्नेहवश वे सब कामातुर हो गये। उस कन्या ने भी चोरों से कहा— 'आप मुझे अपनी पत्नी रूप में स्वीकार करें।' मोहित चोरों ने उसकी प्रार्थना सुनकर उसे स्वीकार कर ली। इस प्रकार वह कामासक्त कन्या पाँच सौ चोरों की पत्नी बनी। उसकी कामलोलुपता इतनी बढ़ी हुई थी कि उसे पाँच सौ पुरुषों से भी संतोष नहीं होता था। "अहो स्त्रीणां कामलौल्यं" स्त्रियों की कामलोलुपता कैसी है? कहा है कि—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठौघैनापगाभिर्महोदधिः ।

नान्तकः सर्वभूतेभ्यो, न पुंभिर्वामलोचना ॥३८॥

अर्थात् - इन्धनों के ढेर से अग्नि तृप्त (शांत) नहीं होती; नदियों (के पानी) से समुद्र तृप्त नहीं होता; सर्व-जीवों से यमराज तृप्त नहीं होता और पुरुषों से कामिनी तृप्त नहीं होती ॥३८॥ और भी कहा है—

नागरजातिरदुष्टा, शीतो वह्निर्निरामयः कायः ।

स्वादु च सागरसलिलं, स्त्रीषु सतीत्वं न संभवति ॥३९॥

अर्थात् - नागर जाति में सरलता, अग्नि में शीतलता, काया में निरोगता, समुद्रजल में मिठास और स्त्रियों में सतीत्व रहना सम्भव नहीं है ॥३९॥

एक दिन चोरों ने विचार किया— "यह अकेली स्त्री हम पाँच सौ पुरुषों के सहवास से दुःखी होती होगी, इसीलिए एक और स्त्री को ले आवें।" इस प्रकार उस पर दया लाकर वे दूसरी स्त्री ले आये। नयी स्त्री को देख पहले की स्त्री ने विचार किया— "अहो! मेरे होते हुए भी ये दूसरी स्त्री ले आये हैं, यह मेरे विषयसुख में हिस्सेदार होकर मेरे विषयसुख में रुकावट डालेगी।" यह सोचकर उस दुष्टा ने एक दिन उस नयी स्त्री को कुएं में गिरा दी; कुएँ में पड़ते ही वह स्त्री मर गयी। पल्लीपति को इस बात का पता लगा तो उसने विचार किया— "अहो! यह तो बनी-बनायी काम रूपी महाग्नि है और महापापिनी है, यह तीव्र कामराग वाली कहीं मेरी बहन तो नहीं है?" अपने इस संशय को मिटाने के लिए पल्लीपति श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में गया, और उन्हें वंदनकर उसने पूछा— "हे भगवन्! या सा सा सेति? अर्थात् यह वही है?" भगवान् ने कहा— "सा सा सेति?" अर्थात् "वह वही है।" यह सुनते ही उसे वैराग्य प्राप्त हो गया और भगवान् से व्रत अंगीकार कर वह शुभगति का अधिकारी हुआ। गौतम स्वामी ने प्रभु से पूछा— "भगवन्! आपको पल्लीपति ने पूछा था—

‘या सा सा सेति’ और आपने उसका उत्तर दिया ‘सा सा सेति’, परंतु यह अटपटी पहली मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आयी। कृपा करके समझाएँ।” भगवान् ने कहा—‘उसने यह पहली पूछी थी कि जो मेरी बहन थी, क्या यह (जो मेरी पत्नी के रूप में है) वही है? लज्जा के कारण उसने अपनी स्त्री का स्वरूप नहीं पूछा। गौतम! तब मैंने भी उस पहली का उत्तर दिया—‘या सा सा सेति’ अर्थात् जो तेरी बहन थी, वही तेरी पत्नी है।’ इसे सुनकर बहुत से जीवों को प्रतिबोध हुआ।

मोहकर्म के अधीन होकर जीव अनाचरणीय कर्मों का भी आचरण करता है; यही इस कथा का सारांश है ॥३३॥

पडिवज्जिऊण दोसे, निअए सम्मं च पायपडिआए ।

तो फिर मिगावईए उप्पन्नं केवलं नाणं ॥३४॥

शब्दार्थ - अपने दोष स्वीकारकर सम्यक्प्रकार से गुरु के चरणों में पड़ी; इसी कारण मृगावती को केवलज्ञान प्राप्त हुआ ॥३४॥

भावार्थ - यह मेरा ही दोष है, ऐसा अंगीकार कर सम्यग्रूप से मन, वचन और काया इन तीनों योगों की शुद्धि से गुरुणी के चरणों में गिरकर, नमस्कार किया। यही कारण है कि श्री मृगावती साध्वी को पाँचवा ज्ञान-श्रीकेवलज्ञान प्रकट हुआ। अतः विनय ही सर्व-गुणों का निवासस्थान है ॥३४॥

यहाँ प्रसंगवश मृगावती की कथा दी जाती है—

मृगावती का दृष्टांत

कौशाम्बी नगरी में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारें उस समय सभी सुर, असुर, इन्द्र, करोड़ों देवताओं के साथ उन्हें वंदन करने के लिए आये। उस समय सूर्य और चन्द्र भी अपना मूलविमान लेकर वहाँ आ गये। उस समय आर्या चन्दनबाला साध्वी भी साध्वी मृगावती आदि को साथ लेकर वंदनार्थ वहाँ आयी। आर्या चन्दनबाला आदि साध्वियाँ तो प्रभु को वंदनकर वापस अपने उपाश्रय में आ गयी। परंतु साध्वी मृगावती सूर्य के प्रकाश के कारण दिन जानकर समवसरण में बैठी रही। यानि संध्याकाल हो गया था, तो भी दिन के उजले की तरह सूर्य के प्रकाश के कारण वह नहीं जा सकी। काफी रात बीत गयी थी। सभी लोग भगवान् को वंदनकर अपने घर चले गये। परंतु मृगावती को बहुत रात होने पर भी मालूम नहीं हुआ। जब सूर्य और चन्द्र अपने-अपने मूलविमान में चढ़कर अपने स्थान को लौट गये; तब समवसरणभूमि पर अंधकार फैल गया। एकदम अंधकार फैला देख मृगावती हक्कीबक्की हो गयी। रात्रि काफी हो गयी थी, इसीलिए तुरंत वहाँ से

उठकर नगर में जहाँ साध्वियों का उपाश्रय था, वहाँ आयी। आते ही वह भयभीत—सी आर्या चन्दनबालाजी के पास पहुँची। उस समय आर्याचन्दना साध्वी प्रतिक्रमण करके संधारा पोरसी पढ़ाकर संधारे (शयनासन) पर बैठी मन में विचार कर रही थी कि—“मृगावती कहाँ रह गयी? इतनी रात चली गयी, फिर भी वह नहीं आयी। कहाँ चली गयी?” इतने में ही मृगावती को सामने खड़ी देखकर उसकी वंदना स्वीकारकर उपालम्भ देने लगी—‘साध्वी मृगावती! तुम्हारे जैसी कुलीन साध्वी के लिए ऐसा करना योग्य नहीं है। साध्वियों को रात पड़ने पर उपाश्रय (अपने स्थान) से बाहर रहना उचित नहीं है। तुमने साध्वीधर्म—विरुद्ध यह आचरण किया है।’ इस तरह आर्य चंदना के उलाहनाभरे वचन सुनकर मृगावती की आँखों से पश्चात्ताप के आंसू गिरने लगे। और मन ही मन वह आत्मनिन्दा करने लगी—“धिकार है मुझे! मैंने अपने इस अयोग्य व्यवहार से गुणवती गुरुणीजी के मन में संताप पैदा कर दिया।” मृगावती साध्वी शुद्धहृदय से पश्चात्ताप करते हुए हाथ जोड़कर अपनी गुरुणीजी से कहने लगी—“हे भगवती महाभाग! मैं मन्दभागिनी हूँ, जो आपके हृदय को आघात पहुँचाकर आपको अप्रसन्न कर दिया; बात यह थी कि सूर्यचन्द्र के दिन के उजाले की तरह प्रकाश देखकर प्रमाद के वश मैं रात होने के समय को नहीं जान सकी। मेरा अपराध क्षमा करें। भविष्य में मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूँगी।” इस तरह बार-बार क्षमायाचना करने लगी। और गुरुणी के चरणों में विनय पूर्वक नमस्कार करती और वैयावृत्य करती रही। आर्या चन्दना को निद्रा आ गयी। मृगावती आत्मनिन्दा करती रही। इस प्रकार आत्मनिन्दा करते-करते मृगावती में शुक्लध्यान रूपी अग्नि बढ़ती गयी और उसमें कठिन कर्म रूपी इन्धन—समूह जलता गया। फल स्वरूप साध्वी मृगावती को वहीं केवलज्ञान प्रकट हो गया। संयोगवश उसी समय एक काला विषधर सांप आर्या चन्दनाजी के संधारे के पास से जा रहा था, मृगावती को केवलज्ञान से दिखाई दिया तो उसने तुरंत आर्या चन्दना का हाथ, जो संधारा से बाहर था, वहाँ से हटाकर संधारे पर कर दिया। अपने हाथ से मृगावती के हाथ का स्पर्श होते ही आर्या चन्दनबालाजी जाग उठी और उन्होंने पूछा—‘मेरा हाथ किसने उठाया? मृगावती ने कहा—‘स्वामिनि! मेरा अपराध क्षमा करें। आपका हाथ मैंने ही उठाकर शय्या पर रखा था।’ चंदनबाला—‘साध्वी! क्या कारण था, मेरे हाथ को उठा कर शय्या पर रखने का?’ मृगावती—‘गुरुणीजी! एक सांप शय्या के पास आपके हाथ के पास होकर जा रहा था; इसीलिए मैंने आपका हाथ हटा दिया।’ चंदनबाला—‘ऐसे घने अंधेरे में तुम्हें सांप का पता कैसे चला? क्या कोई अतिशयी ज्ञान तुम्हें हुआ

है?" मृगावती-जी हाँ, गुरुणीजी! आपकी कृपा से ऐसा ही हुआ है?" चन्दनबाला-
"प्रतिपाती ज्ञान या अप्रतिपाती?" मृगावती-अप्रतिपाती!" चन्दनबाला-“तब तो
मैंने केवलज्ञानी की आशातना की! केवलज्ञानी का दिल कठोर शब्द कह कर
दुखाया! मुझे क्षमा करना! आपको केवलज्ञान हुआ है, इसका मुझे पता नहीं था।”
इतना कहकर चन्दनबाला साध्वी पश्चात्ताप की आग में आगे बढ़ी हुई केवलज्ञानी
मृगावतीजी के चरणों में गिर पड़ी और अपनी आत्मनिन्दा में तत्पर हो गयी। जिससे
आर्या चन्दनबालाजी को भी केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

जैसे मृगावती साध्वी ने उपालम्भ के रूप में हितकर, किन्तु कठोर बात
को सुनकर किसी प्रकार का कषाय नहीं किया; उसी प्रकार अन्य साधकों को भी
कठोर शब्दों में कही गयी हितकर बात सुनकर अपने में कषाय पैदा नहीं होने देना
चाहिए ॥३४॥

इस कथा के द्वारा यही उपदेश दिया गया है।

किं सक्का योतुं जे, सरागधम्मंमि कोइ अकसाओ ।

जो पुण धरिज्ज धणियं, दुब्बयणुज्जालिए स मुणी ॥३५॥

शब्दार्थ - क्या यह कहा जा सकता है कि सरागधर्म में अकषायी कोई होता
है? नहीं, मगर इस धर्म से युक्त जो साधक दुर्वचन रूपी आग से प्रज्वलित न होकर
अकषाय को धारण करता है, वह धन्य है, वही वास्तव में मुनि है ॥३५॥

भावार्थ - क्या ऐसा कहा जा सकता है कि वर्तमानकाल में सरागधर्म
(राग-द्वेष के सर्वथा न छूटने से चारित्र में जहाँ रागादि का अंश रहता है)
में किसी भी मुनि का सर्वथा कषाय रहित होना सम्भव नहीं, है। क्योंकि सर्वथा
निष्कषायता आजकल कहाँ हो सकती है? परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि
सरागधर्म के दौरान किसी भी समय कषायरहितता नहीं हो सकती। बल्कि जो
साधक किसी के द्वारा उच्चारित दुर्वचन रूपी इन्धन से प्रज्वलित (उत्तेजित) की
हुई कषाय रूपी आग को अपने अंदर ही अंदर धारण कर लेता है, कषाय का
उदय होने पर भी उसे प्रकट नहीं होने देता, वही मुनि धन्य है। क्योंकि सर्वथा
कषाय-त्याग करना कठिन होते हुए भी जो दूसरों के कहे हुए दुर्वचनों को
समभाव से सहकर उदित होते हुए कषायों को रोक लेता है, वही धन्य है; वह
महापुरुष है ॥३५॥

कडुअं कसायतरुणं, पुण्हं च फलं च दोवि विरसाइं ।

पुण्हेण झाइं कुविओ, फलेण पावं समापरइ ॥३६॥

शब्दार्थ - कषाय रूपी वृक्ष के फूल और फल दोनों कड़वे और बेस्वाद होते हैं। फूल के कारण व्यक्ति कुपित होता है और फल के कारण पाप का आचरण करता है ॥३६॥

भावार्थ - मनुष्य के जीवन में जब इन्द्रिय-विषयों, कषायों और संयम का भंग होता है, तभी कषाय रूपी पेड़ ऊगता है, जिसमें कड़वे फूल और बेस्वाद फल लगते हैं। फूल के कारण जीव क्रुद्ध होता है, अभिमानी, स्वार्थी और जिद्दी बनकर दूसरों को मारने आदि के उपायों और अनर्थ का चिन्तन (ध्यान) करता है; दूसरों को मारने-पीटने और सताने आदि से पापकर्म करता है। यही कषाय वृक्ष का फल है। इसीलिए कषाय वृक्ष का फूल (कषाय करते समय) भी कड़वा है और फल (भोगते समय परिणाम) भी कड़वा है। दोनों से आखिरकार नरकगति मिलती है ॥३६॥

संतेडवि कोडवि उज्झाइ, कोवि असंतेडवि अहिलसइ भोए ।

चयइ परपच्चएण वि, पभवो दट्ठण जह जंबू ॥३७॥

शब्दार्थ - विषयभोग के साधन होने पर भी कोई उन्हें छोड़ देता है और कोई विषयभोग के साधन अपने पास न होने पर उनको पाने की (मन ही मन) अभिलाषा करता है। कोई दूसरे के निमित्त से (दूसरे को विषयभोग छोड़ते देखकर) विषयभोगों का त्याग कर देता है; जैसे जम्बूकुमार को देखकर प्रभव ने विरक्त होकर विषयभोग छोड़ दिये थे ॥३७॥

भावार्थ - किसी पुरुष के पास भोग के विपुल साधन मौजूद होते हुए भी वह महान् आत्मा उनका त्याग कर देता है, किसी नीचकर्म के पास साधन कुछ भी न होने पर भी वह संसार के अगणित विषयसुखों की लालसा करता रहता है। और कोई जीव किसी अन्य पुरुष को विषयसुखों के साधन छोड़ते देखकर स्वयं वैराग्य की प्रेरणा पाता है, जागृत हो जाता है और विषयभोगों का त्याग कर देता है। जैसे श्री जम्बूस्वामी का महात्याग देखकर पाँच सौ चोरों के सहित प्रभव नामक चोर ने विषय-भोगों का त्याग कर दिया था।

यहाँ प्रसंगवश जम्बूस्वामी की कथा, उनके पूर्वभव के वर्णन सहित दे रहे हैं—

जम्बूस्वामी की कथा

एक बार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचरण करते हुए राजगृह नगर में पधारे। श्रेणिक राजा उन्हें वंदना करने के लिए गया। उस समय प्रथम देवलोक

का एक देव भी वहाँ आया और सूर्याभदेव के समान उसने प्रभु के सामने नाटक करके उनकी भक्ति की और उनसे विनयपूर्वक अपना स्वरूप पूछा। भगवान् ने उनसे कहा—‘आज से सातवें दिन तुम यहाँ से च्यवन (आयुष्यपूर्ण) करके मनुष्यजन्म प्राप्त करोगे।’ यह सुनकर प्रसन्नतापूर्वक वह देव वहाँ से अपने स्थान को लौटा। तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने विस्मयवश पूछा—‘भगवन्! यह देव मनुष्यलोक में कहाँ और किसके यहाँ उत्पन्न होगा?’ महावीर स्वामी ने कहा—‘राजन्! यह देव इसी राजगृह नगर में जम्बू नाम का अंतिम केवलज्ञानी होगा।’ जिज्ञासा बढ़ जाने से श्रेणिक राजा ने भगवान् से उसके पूर्वजन्म का स्वरूप बताने को कहा। भगवान् ने इस प्रकार कहा—

‘‘इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में सुग्रीव नामक गाँव था। उसमें राबड नामक एक दरिद्र रहता था। उसकी पत्नी का नाम रेवती था। उसके भवदेव^१ और भावदेव दो पुत्र हुए। भवदेव ने समय पाकर विरक्त होकर मुनिदीक्षा धारण कर ली। दूर-सुदूर देशों में विचरण करते-करते एक बार वे अपने पूर्वश्रम के गाँव में आये। भावदेव की शादी हुए अभी थोड़े ही दिन हुए थे। मुनि बने हुए अपने भाई का गाँव में आगमन सुनकर लोकलज्जावश भावदेव भी उनके दर्शनार्थ गया। लज्जा से (भाई मुनि के उपरोध से) उसने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। भवदेव मुनि जन्म तक रहे तब तक भावदेव का मन संयम में स्थिर रहा; किन्तु भवदेव मुनि आयुष्य पूर्णकर स्वर्गगामी हो जाने के बाद भावदेव मुनि का चित्त संयम से डाँवाडोल हो उठा। वे संयम की बांध तोड़कर मन ही मन अपनी नवपरिणीता पत्नी नागिला को याद करने लगे। रातदिन उसी की रट लगाते हुए विषयभोगों की अभिलाषा से वे अपने गृहस्थाश्रम के गाँव की ओर चल पड़े। क्रमशः विचरण करते हुए वे सुग्रीव गाँव के बाहर श्रीऋषभदेव स्वामी के मंदिर में ठहरे। तपस्या से दुर्बल बनी हुई नागिला ने जब भावदेव मुनि का आगमन सुना तो वह भी उनके दर्शनार्थ पहुँची। उसने अपने गृहस्थपक्ष के पति को पहचान लिया और उसकी कामातुर-की-सी चेष्टाएँ और भावभंगियाँ देखकर उसे बड़ा ही दुःख हुआ। नागिला ने साहस करके उनसे पूछा—‘‘मुनिवर! इस गाँव में और अकेले आपका पधारना कैसे हुआ?’’ मुनि ने उत्तर दिया—‘‘यहाँ एक नागिला नाम की स्त्री है, जो मेरी गृहस्थाश्रम की

१. हेयोपादेय टीका में श्रेणिक के द्वारा अंतिम केवली का प्रश्न पूछते समय ही इसी देव का आना और उसकी तेजोलेश्या की कांति का पूछने पर भगवंत ने सातवें दिन च्यवन की बात कहने का वर्णन है।
२. हेयोपादेय टीका में भवदत्त और भवदेव ये दो नाम लिखे हैं। प्रचलित भी ये दो नाम हैं।

पत्नी है; उसी के स्नेहवश मैं उससे मिलने आया हूँ। मैंने आवेशवश बड़े भाई की शर्म से मुनिदीक्षा ले ली थी; लेकिन नागिला के प्रति मन में रहा हुआ प्रेमभाव कैसे दूर हो सकता था? वह प्रेमांकुर ही मुझे यहाँ खींच लाया है। अब तो नागिला मिल जाय तो मेरा समस्त मनोवांछित कार्य सफल हो जाय।" नागिला ने मुनि के असंयम के विचारों को सुनकर उन्हें कहा—“मुनिव! जरा विचार तो कीजिए, आप किस पद पर हैं? इस उच्च विश्ववन्दनीय पद को छोड़कर नीच पद पर क्यों आना चाहते हैं आप? कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो चिंतामणि को छोड़कर कंकण ग्रहण करेगा? जो हाथी की सवारी छोड़कर गधे की सवारी करना चाहेगा? समुद्रतारिणी नौका को दूर से छोड़कर कौन मूढ़ पत्थर की शिला का आश्रय लेगा? कल्पवृक्ष को छोड़कर कौन धतूरे के वृक्ष को उगाना चाहेगा? मैंने ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार कर लिया, उसे मैं हर्गिज नहीं तोड़ सकती। इसीलिए आप किम्पाकफल के समान विषयभोगों की लालसा छोड़ दें और अपने संयम में स्थिर रहें।” नागिला ने इस प्रकार का सुंदर उपदेश देकर अपने पति (भावदेवमुनि) के विचारों को बदला और उन्हें चारित्र्य में दृढ़ किया। पुण्यात्मा नागिला का जीव एक जन्म लेकर फिर मोक्ष प्राप्त करेगा और भावदेव मुनि चारित्र्य की आराधना करके ७ सागरोपम आयुष्य वाले तीसरे देवलोक के देव बनें।

देवलोक का आयुष्य पूर्णकर भावदेव का जीव जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र के वीतशोक नगर में पद्मरथ राजा के यहाँ वनमाला रानी की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम रखा गया—शिवकुमार। क्रमशः यौवन अवस्था प्राप्त होने पर ५०० राजकन्याओं के साथ उसका विवाह किया गया। एक दिन महल के गवाक्ष में बैठे हुए शिवकुमार ने एक मुनि को देखा। तुरंत महल से नीचे उतरकर वह राजमार्ग पर आया और उन मुनिजी से पूछा—“आप इतना कष्ट किसलिए सहते हैं?” मुनि ने कहा—‘धर्म के लिए।’ शिवकुमार—“वह धर्म कौन-सा और किस प्रकार का है?” मुनि—“अगर तुम्हारी इच्छा धर्म के विषय में जानने और सुनने की ही तो हमारे गुरुदेव के पास चलो।” शिवकुमार उन मुनिवर के साथ उनके गुरु धर्मधोष आचार्य के पास आया। उनसे जब उसने धर्म-विषयक बातें सुनीं तो ऊहापोह करने लगा, जिससे जाति (पूर्वजन्म) स्मरणज्ञान हो गया। गुरुदेव को नमस्कार कर अपने कर्तव्य का निश्चय कर वह घर आया। अपने माता-पिता से उसने मुनिदीक्षा लेने की अनुमति मांगी। परंतु माता-पिता ने उसे आज्ञा न दी।

1. हेयोपदेया टीका में पूर्वभव के भाई मुनि सागरदत्त के दर्शन की बात है। उन पर स्नेह आने से पूछने पर वे पूर्वभव का वर्णन सुनाने की बात है।

फलतः वह घर में ही रहकर निरंतर छट्ट (बेला) तप और पारणे में आम्बिल तप करने लगा। इस तरह लगातार १२ वर्ष तक तपस्या करके वह वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर प्रथम देवलोक में चार पत्न्योपम की आयु वाला विद्युन्माली नाम का देव बना। श्रेणिक! यही विद्युन्माली देव अभी यहाँ आया था।”

इसके बाद पांचवें भव (जन्म) में विद्युन्माली देव आयु पूर्ण कर राजगृह नगर में ऋषभदत्त सेठ के यहाँ धारिणीदेवी की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। माता द्वारा स्वप्न में जम्बू (जामुन) का वृक्ष देखने से उसका नाम जम्बूकुमार रखा गया। बालक ने सभी कलाओं का अध्ययन किया। क्रमशः यौवनवय में पैर रखा। यौवन में चेहरा ऐसा दमकने लगा मानो तरुणी रूपी हिरनियों के लिए वे मोहपाश हों। उसी नगर के आठ धनाढ्य सेठों ने अपनी-अपनी कन्या का जम्बूकुमार के साथ विवाह निश्चित किया अर्थात् संबंध तय किया।

उन्हीं दिनों गणधर श्री सुधर्मास्वामी अपनी शिष्यमंडली सहित राजगृह में पधारें। राजा कोणिक उन्हें वंदनार्थ पहुँचा। सेठ ऋषभदत्त भी अपने सुपुत्र जम्बूकुमार को साथ लेकर उनके दर्शनार्थ आया। सुधर्मास्वामी की पुष्करमेघ की जलधारा के समान संसाररूपी दावानल के ताप को शांत करने वाली उपदेशधारा बरसी। उन्होंने संसार की अनित्यतता बताते हुए कहा—“जैसे कामिनी का मन चंचल होता है, जल में पड़ता हुआ चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चंचल होता है, मूषा (सोने को गलाने की कुंडी) में पड़ा हुआ सोना तरल और चंचल होता है; वैसे ही संसार का स्वरूप चंचल (अस्थिर) है। जैसे अपने अंगूठे को चूसने वाला बालक अपने ही मुख से निकलती हुई लार को पीकर उसमें सुख मानता है, उसी प्रकार यह जीव भी निन्दनीय विषयभोगों का पानकर उनमें सुख मानता है। लोगों की यह कैसी मूर्खता है? जिसमें से वह उत्पन्न हुआ है, उसी में आसक्त होता है; जिसका पान किया है, उसी का स्पर्श करने से खुश होता है।” इस प्रकार का वैराग्यमय उपदेश सुनकर जम्बूकुमार को संसार के भोगों से विरक्ति हो गयी। उन्होंने श्री सुधर्मास्वामी से प्रार्थना की—“गुरुदेव! संसार-सागर-उत्तारिणी जैनेन्द्री दीक्षा देकर मेरा उद्धार करो।” सुधर्मास्वामी ने कहा—“देवानुप्रिय! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो; किन्तु शुभकार्य में विलम्ब न करो।” गुरुवचन सुनकर जम्बूकुमार अपने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति लेने चल पड़े। रास्ते में राजमार्ग के एक चौराहे पर बहुत-से राजकुमार शस्त्रास्त्रचालन का अभ्यास कर रहे थे। सहसा लोह का एक गोला धम्म से जम्बूकुमार के पास आकर गिरा। जम्बूकुमार सोचने लगे—“अगर यह यंत्र का गोला मुझे आकर लग जाता तो मैं

यही परलोकधाम पहुँच जाता और मेरे मनसूबे धरे रह जाते। इसीलिए अच्छा तो यही है, इसी घटना से प्रेरणा लूँ।" जल्दी से जल्दी वापिस गुरु के पास जाकर उन्होंने लघुदीक्षा (आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत) का अंगीकार किया। फिर घर आकर माता-पिता को प्रणाम करके विनय पूर्वक बोले—“माताजी और पिताजी! सुधर्मास्वामी की वाणी सुनकर मुझे संसार से विरक्ति हो गयी है। यह संसार अनित्य है। विषयभोग भी पानी के बुलबुले के समान चंचल और अस्थिर है। कुटुम्ब-परिवार भी कर्मों के फलभोग के समय, सहायक रक्षक या शरणदाता नहीं होता। अतः आप मुझे दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान करें।

मैंने अपना एक अन्तरंग-कुटुम्ब बना लिया है, उसी में मैं अनुरक्त हूँ। अब मैं औदासीन्य रूपी घर में निवास किया करूँगा। इस कुटुम्ब में विरति रूपी माता की सेवा करूँगा, योगाभ्यास रूपी पिता, समता रूपी धायमाता, निरागता रूपी प्रिय बहन, विनय रूपी अनुयायी बन्धु, विवेक रूपी पुत्र और सुमति रूपी प्राणप्रिया से स्नेह करूँगा। सम्यक्त्व रूपी मेरा अक्षय भंडार होगा और अमृत भोजन होगा ज्ञान का। अब मैं महान् दुःख देने वाले अन्तरंग मोह रूपी राजा की सेना को पराजित करने के लिए तप रूपी घोड़े पर सवार होऊँगा; भावना रूपी कवच को धारण करूँगा; अभयदान आदि मंत्रियों सहित संतोष रूपी सेनापति को आगे करके संयम के अनेक गुणों रूपी सेना सजाकर क्षपकश्रेणी रूपी गजघटा से परिवृत होकर, गुरु-आज्ञा रूपी शिरस्त्राण (युद्ध के समय मस्तक की रक्षा के लिए पहना जाने वाला लोहे का टोप) धारण करके धर्मध्यान रूपी तलवार से मोह सेना को मारूँगा। लड़ूँगा।

पुत्र के ये वैराग्यमय वचन सुनकर माता-पिता दंग रह गये। उन्होंने कहा—“बेटा! पहले उन आठ कन्याओं के साथ तुम शादी करके हमारे मनोरथ पूर्ण करो। ऐसे माता-पिता के वचन श्रवणकर आठ कन्याओं से पाणिग्रहण किया। परंतु मन से निर्विकार ही था। आठों पत्नियों में से प्रत्येक के पितृगृह से नौ-नौ करोड़ स्वर्ण-मुहरें देहज में आयी थीं, आठ करोड़ स्वर्णमुहरें आठों कन्याओं को मामा के यहाँ से प्राप्त हुई थीं, और एक करोड़ स्वर्णमुहरें जम्बू कुमार को मामा से मिली थी, ये ८१ करोड़ और १८ करोड़ स्वर्णमुहरें अपने घर में थीं। इस तरह जम्बूकुमार कुल ९९ करोड़ स्वर्णमुहरों के स्वामी थे। फिर भी वे अंतर से इन सबसे सर्वथा निरासक्त, निर्लेप और निर्विकारी थे।

जम्बूकुमार रात को अपने शयनगृह में अपनी आठों पत्नियों से घिरे हुए बैठे हैं; लेकिन उनकी ओर राग या मोह की दृष्टि से नहीं देखते और न ही उन्हें

खुशामद करके संतुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। आठों रमणियों ने उन्हें अपने हावभाव से, चेष्टाओं से और मधुर प्रेमालापों से विचलित करने का बहुतेरा प्रयत्न किया; लेकिन जम्बूकुमार जरा भी विचलित न हुए। ठीक उसी समय प्रभव नाम का चोरों का सरदार अपने ५०० चोर-साथियों के साथ जम्बूकुमार के यहाँ अपार धन चुराने की लालसा से आया।^१ उसने जब घर के आंगन में धन का ढेर देखा तो अपने साथियों की सहायता से झटपट करोड़ों स्वर्णमुहरें गठड़ियों में बांधी और उन्हें सिर पर रखकर वे चलने लगे। जम्बूकुमार उस समय पंचपरमेष्ठी नमस्कारमंत्र का जाप कर रहे थे। उसके प्रभाव से सभी चोर दीवार पर चित्रित चित्र की तरह वहीं स्तम्भित (स्थिर) हो गये। चोरों के पैर वहीं ठिठक गये, वे एक कदम भी आगे न चल सके। इससे प्रभवचोर बहुत घबराया। उसने जम्बूकुमार को सम्बोधित करके कहा—‘प्रिय जम्बूकुमार! आप जीवों पर दया करने वाले हैं। अभयदान के समान इस दुनिया में कोई पुण्य नहीं है। प्रातःकाल होते ही राजा कोणिक हम सबको गिरफ्तार करवा कर मरवा डालेगा। अतः दया करके हमें छोड़कर अभयदान दीजिए और हमारे पास तालोद्घाटिनी (ताला खोलने की) और अवस्वापिनी (निद्राघीन करने वाली) जो दो विद्याएँ हैं, उन्हें कृपा करके ग्रहण कीजिए एवं मुझे आपकी स्तम्भिनी विद्या दीजिए।’ जम्बूकुमार ने कहा—“भाई! मेरे पास तो एक धर्मकला नाम की विद्या है, और कोई विद्या नहीं। और न ही मुझे किसी अन्य विद्या की जरूरत है। क्योंकि धर्मकला की विद्या के बिना सारी विद्याएँ कुविद्याएँ हैं। उनसे आत्मा का कोई कल्याण नहीं हो सकता। इसीलिए मैं तो तिनके के समान समस्त विषयभोगों का परित्यागकर प्रातःकाल होते ही सुधर्मास्वामी से मुनिदीक्षा लेने वाला हूँ। भोगों में फँसकर मैं अब मधुबिन्दु-पुरुष के समान (जन्म मरण के) दुःख नहीं पाना चाहता।”

प्रभवचोर ने उत्सुकता पूर्वक पूछा—“मधुबिन्दु पुरुष कैसे दुःख पाता है? मुझे सुनाइये।” जम्बूकुमार ने कहा—“लो, सुनो! अपने साथियों से बिलुड़ा हुआ एक आदमी एक भयंकर जंगल में घूम रहा था। एक जंगली हाथी ने उसे देखा और उसे मारने के लिए उसके सामने दौड़ा। वह आदमी भी भयभीत होकर बेतहाशा भागा। हाथी ने उसका पीछा किया। काफी भागने के बाद जब उसने रक्षा का कोई उपाय न देखा तो घट से एक कुंए में लटकती हुई वटवृक्ष की शाखा को पकड़कर लटक गया। परंतु ज्यों ही उसने नीचे देखा तो दो अजगर मुंह फाड़े खड़े थे। उन्हीं के पास ४ बड़े सांप बैठे थे। जिस वटवृक्ष की शाखा उसने पकड़

१. अन्य कथानक में अवस्वापिनी एवं तालोद्घाटिनी विद्या के प्रयोग की बात लिखी है।

रखी थी, उसके ऊपर मधुरस (शहद) से भरा हुआ मधुमक्खियों का एक छत्ता टंगा हुआ था; जिसमें से मधुमक्खियाँ उड़-उड़कर उसे बार-बार काट रही थी; साथ ही उस वृक्ष की शाखा को दो चूहे कुतर रहे थे। इतने महाकष्ट में पड़ा हुआ वह मूढ़ मनुष्य मधु के छाते से पड़ती हुई बूंद के स्वाद के कारण स्वयं को सुखी मान रहा था। उसी समय कहीं से कोई विद्याधर अपने विमान में बैठकर वहाँ आया और उसे दुःखी हालत में देखकर उसने उस पर दया लाकर उसके पास आकर कहा—“क्यों दुःखी हो रहे हो? आओ, मेरे विमान में बैठ जाओ। मैं तुम्हें दुःख से मुक्त कर दूँगा।” परंतु उस मूर्ख ने कहा—“एक क्षण ठहर जाओ, मैं एक मधुबिन्दु का स्वाद लेकर आपके पास आया।” परंतु एक क्षण के बाद फिर वही बात दोहराता जाता था—“एक बूंद और ले लूँ, एक बूंद और!” विद्याधर उसकी मूढ़ता देखकर वहाँ से चला गया। बाद में वह मूर्ख अत्यन्त दुःखी हुआ पछताने लगा।”

इसीलिए हे प्रभव! मधुबिन्दु के समान ही संसार के इन विषयभोगों का विपाक है। यह संसार भी एक गहन जंगल है। इसमें अपने घर्मात्मा साथियों से बिछुड़कर जीव अकेला रहकर रंक बन जाता है। मृत्यु रूपी हाथी उसके पीछे दौड़ता है। वह उससे पीछा छुड़ाने के लिए विषयजल से भरे हुए जन्म मरण रूपी कुएं में लटकती हुई आयुष्य रूपी वट की शाखा को पकड़कर लटक जाता है। परंतु उसी कुएं में नरकगति और तिर्यचगति रूपी दो अजगर हैं, उनके पास ही क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी ४ महासर्प हैं। कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष रूपी दो चूहे आयुष्य रूपी डाली को कुतर रहे हैं। विषयसुख रूपी मधुबिन्दु का छाता वही टंगा हुआ है, जिसमें आसक्त होकर जीव रोग, शोक, वियोग, भय आदि अनेक कष्टों को सहता रहता है। धर्म ही महान् सुख का कारण है। धर्मधुरंधर गुरुदेव विद्याधर के समान सुख को देने वाले हैं; वे धर्म-सुख रूपी विमान में आकर उसे उपदेश देते हैं कि “तुम धर्म रूपी विमान में आ जाओ; और विषयसुख रूपी मधुबिन्दु का लोभ छोड़ो। परंतु मूढ़ जीव उसी में फंसा रहता है।” यही मधुबिन्दु पुरुष का प्रेरणादायक दृष्टांत है।

प्रभव ने खुश होकर जम्बूकुमार से कहा—“जवानी में ही आपका परिवार, स्त्री आदि समस्त परिवार के साथ इस तरह सम्बन्ध तोड़ना ठीक नहीं है।” जम्बूकुमार ने कहा—“भाई! प्रत्येक जीव के साथ अनंत बार परस्पर अनेक रिश्तेनाते (सम्बन्ध) जुड़े हैं और बिछुड़े हैं। यही नहीं, एक ही जन्म में १८ रिश्तेनाते (सम्बन्ध) भी जुड़े हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इन्हें तोड़ने में

ही सार है।" प्रभवचोर—"एक ही जन्म में १८ रिश्तेनाते (सम्बन्ध) कैसे जुड़े? जरा इसे विस्तार से खोल कर कहिए।" जम्बूकुमार कहने लगे—

"मथुरा नगरी में कुबेरसेना नाम की एक वेश्या रहती थी। एक बार उसके पुत्र और पुत्री का जोड़ा पैदा हुआ। पुत्र का नाम कुबेरदत्त और पुत्री का नाम कुबेरदत्ता रखा। वेश्या ने अपने किसी स्वार्थवश दोनों को नामांकित (नाम खुदी हुई) अंगूठी अंगुली में पहनाकर एक पेटी में रखकर उसे यमुनानदी में बहा दी। वह पेटी नदी में बहती हुई शोरीपुर के पास पहुँची। वहाँ के दो सेठों ने उस पेटी को देखकर बाहर निकाली। पेटी खोली तो उसमें वे दोनों लड़का-लड़की मिले। फलतः उन दोनों सेठों में से एक ने लड़का रख लिया और एक ने लड़की रख ली। दोनों का पालन-पोषण दोनों सेठों के यहाँ होने लगा। जब वे दोनों जवान हो गये तो देवयोग से दोनों सेठों ने परस्पर बातचीत करके उन दोनों का परस्पर विवाह कर दिया। दोनों सगे भाई-बहन अब पति-पत्नी हो गये। एक दिन वे दोनों चौपड़ (पाश) खेल रहे थे; तभी अचानक कुबेरदत्ता की दृष्टि कुबेरदत्त (पति) की नामांकित अंगूठी पर पड़ी। उस पर 'कुबेरदत्त' नाम लिखा हुआ देखकर कुबेरदत्ता ने सोचा—"यह तो मेरा भाई है। हाय! हाय!! मैंने यह क्या अनर्थ कर डाला! सगे भाई के साथ दाम्पत्य-सम्बन्ध! अहो! संसार के मोह और विषयासक्ति की बड़ी प्रबलता है।" इस प्रकार विचार करते-करते कुबेरदत्ता को संसार से विरक्ति हो गयी। उसने एक चारित्रशीला साध्वीजी से साध्वीदीक्षा ले ली। शास्त्रों का अध्ययन किया, तपश्चर्या की। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से उस साध्वी को अवधिज्ञान प्राप्त हो गया।

इधर कुबेरदत्त किसी कार्यवश एक दिन मथुरा गया था। वहाँ कुबेरसेना वेश्या (जो उसकी माता थी) के प्रेम में फंस गया। दोनों के संयोग से एक पुत्र हुआ। कुबेरदत्ता साध्वीजी को अवधिज्ञान से ज्ञात हो गया कि "यह तो अनर्थ पर अनर्थ हो रहा है। माता और पुत्र के संयोग से सन्तानोत्पत्ति! मेरा कर्तव्य हो जाता है कि मैं इस समय मथुरा जाकर कुबेरदत्त और कुबेरसेना दोनों को समझाऊँ। साध्वी उन्हें प्रतिबोध देने के लिए मथुरा पहुँची। और कुबेरसेना के यहाँ ठहरी। जिस समय वह बालक रोने लगा, उस समय साध्वीजी प्रतिबोध का उचित अवसर जानकर उस बालक के पालने के पास आकर उसे सम्बोधित कर कहने लगी— "अरे बालक! क्यों रो रहा है? चुप रह भाई! तू मुझे प्रिय है; क्योंकि तेरे साथ मेरे ६ रिश्तेनाते (सम्बन्ध) हैं—१. तू मेरा पुत्र भी लगता है, २. तू मेरे भाई का भी पुत्र है, ३. तू मेरा भाई भी लगता है, ४. तू मेरा देवर भी लगता है, ५. तू

मेरा चाचा भी लगता है, ६. एक रिश्ते से तू मेरा पौत्र भी है। हे वत्स! इसी तरह तेरे पिता के साथ भी मेरे ६ नाते हैं—१. वह मेरा पति है, २. मेरा पिता भी लगता है, ३. मेरा बड़ा भाई भी है, ४. एक रिश्ते से मेरा पुत्र भी है, ५. मेरा श्वसुर भी लगता है और ६. मेरा पितामह (दादा) भी लगता है। और इसी तरह तेरी माता के साथ भी मेरे ६ नाते हैं—१. वह मेरे भाई की पत्नी होने से भाभी भी लगती है, २. मेरी सौत भी है, ३. मेरी माता तो है ही, ४. मेरी सास भी लगती है, ५. मेरी पुत्रवधू भी है और ६. मेरी मातामही (दादी) भी है।” कुबेरदत्ता ने साध्वीजी के मुख से जब इन १८ रिश्तेनातों का वर्णन सुना तो भौंचक्की हो गयी और ग्लानि से सिहर उठी। उसने तत्काल ही इस पापमय जीवन को और निःसार विषयभोगों की आसक्ति को छोड़ने का निश्चय कर लिया। फलतः उसने साध्वीजी से व्रत ग्रहण किये और सांसारिक मोहसागर से पार उतरी। इसीलिए प्रभव! ऐसे रिश्तेनाते (सम्बन्ध) तो संसार में अनन्त बार जुड़े हैं और जुड़ेंगे। अब मुझे धर्म और धर्मावतारों से ही सम्बन्ध जोड़ना है, क्योंकि वे ही वास्तविक सुखदाता, आत्मरक्षक परमबन्धु हैं।”

यह सुनकर प्रभव ने फिर कहा—“जम्बूकुमार! यह तो ठीक है। परंतु पुराणों में कहा है—‘जिसके पुत्र नहीं होता, उसकी सद्गति नहीं होती; इसीलिए कम से कम कुछ समय तक गृहस्थाश्रम का सुखभोग करके पुत्रोत्पत्ति हो जाने पर ही संयममार्ग पर कदम रखना चाहिए।’ जम्बूकुमार ने उत्तर दिया—ऐसा कोई नियम नहीं है कि पुत्र होने पर ही मनुष्य को सद्गति मिले, अन्यथा दुर्गति में जाना पड़े। यह तो सांसारिक लोगों की मोह जनित भ्रान्ति है। कई लोगों के पुत्र हो जाने पर भी उनकी सद्गति तो क्या; यहीं बड़ी भारी दुर्गति होती है, जैसे महेश्वरदत्त की हुई। महेश्वरदत्त के पुत्र होने पर भी वह उसके किसी काम नहीं आया।” प्रभव ने पूछा—“जम्बूकुमारजी! यह महेश्वरदत्त कौन था? जरा विस्तार से कहिए।” जम्बूकुमार कहने लगे—“विजयपुर में महेश्वरदत्त नामक एक सेठ रहता था। उसके महेश्वर नामक इकलौता पुत्र था। महेश्वरदत्त ने अपनी मृत्यु के समय अपने पुत्र को पास बुलाकर कहा—“बेटा! जिस दिन मेरा श्राद्ध करो, उस दिन एक बैसा मार कर उसके मांस से सारे परिवार को तृप्त करना।” महेश्वर ने स्वीकार किया। महेश्वरदत्त की एक दिन मृत्यु हो गयी। वह मरकर जंगली बैसा बना। पुत्र ने पिता के अंतिम समय के वचन याद रखे। कुछ दिनों बाद महेश्वर की माता भी मर गयी। घर में अत्यंत आसक्ति होने से वह मरकर उसी घर में कुतिया बनी। महेश्वर की पत्नी व्यभिचारिणी थी। महेश्वर ने अपनी पत्नी के साथ उसके यार को रतिक्रीड़ा

करते देख गुस्से में आकर जान से मार डाला। संयोगवश वह भी मरकर महेश्वर की पत्नी की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। महेश्वर अपने उस पुत्र से बहुत प्यार करता था। दैवयोग से श्राद्ध के दिन अपने पिता के जीव जंगली भैंसे को ही ले आया। उसे मारकर सारे परिवार को उसी का मांस खिलाकर तृप्त किया। इसी समय धर्मघोष मुनि भिक्षा के लिए वहाँ से होकर जा रहे थे कि उन्होंने ज्ञान से महेश्वर के घर का सारा वृत्तांत जानकर मुस्कराते हुए कहा—

मारितो वल्लभो जातः, पिता पुत्रेण भक्षितः ।

जननी ताडयते सेयं, अहो मोहविजृम्भितम् ॥४०॥

अर्थात् - मारा हुआ यार ही प्रिय (वल्लभ) पुत्र के रूप में पैदा हुआ; भैंसे बने हुए पिता को ही पुत्र ने (मारकर) भक्षण किया; और कुतिया बनी हुई माता को पीटता है। अहो! मोहदशा बड़ी विचित्र है॥४०॥

यह श्लोक सुनते ही महेश्वर आश्चर्यचकित होकर पूछने लगा—
“स्वामिन्! आपने यह क्या अनोखी बात कही? यह बात तो कुछ-कुछ मेरे पर उतरती है। इसका रहस्य खोलकर कहिए।” मुनि ने सारी बात यथार्थरूप से बता दी। परंतु महेश्वर को उनकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। मुनि ने उसे प्रतीति कराने के लिए कुतिया को अपने पूर्वजन्म का घर में गड़ा हुआ धन बताने का कहा। जब कुतिया ने वह गड़ा हुआ धन बता दिया तो महेश्वर को विश्वास हो गया। महेश्वर ने तुरंत श्राद्ध आदि हिंसक तथा मिथ्याकर्म छोड़कर श्रावकधर्म का स्वीकार किया। कुतिया को जातिस्मरणज्ञान (पूर्वजन्म का ज्ञान) हो जाने से उसने भी मिथ्यात्व का त्याग किया और वहाँ से मरकर वह देवलोक में गयी। इसीलिए प्रभव! जरा सोचो तो सही; पुत्र के होने से कौन-सा श्रेय सिद्ध हुआ? कल्याणकार्य में कौन-सी सफलता मिली?”

प्रभव ने सुनकर कहा—“जम्बूकुमारजी! मैं आपकी बात को भलीभाँति समझ गया। परंतु आपने जैसे मुझे जीवितदान देकर पुण्यकार्य किया, वैसे ही मेरे परिवार के लोगों को भी बंधनमुक्त कर दीजिए। तब मैं भी निश्चित होकर आपके साथ ही मुनि दीक्षा ग्रहण कर लूंगा।” प्रभव के मुँह से अपने पति के दीक्षा लेने की बात सुनते ही जम्बूकुमार की प्रथम पत्नी समुद्रश्री बोली—“भाई प्रभव! तुम-जैसे दुष्कर्मकर्ता पुरुषों के लिए तो मुनिदीक्षा लेना उचित है, क्योंकि दुःखी जीवों को तो महासुख प्राप्ति की अपेक्षा से साधुजीवन अंगीकार करना श्रेयस्कर है; मगर जो सुखी जीव हैं, उन्हें संयम के घोर कष्टों में पड़कर अपने लिये अनिष्ट को क्यों बुलाना चाहिए? और संयम के घोर कष्टों में पड़े हुए लोग प्रायः दूसरों

के सुखी घरों को उजाड़ने की लालसा अपने मन में बसाये रखते हैं। इसीलिए हे प्रभव! अगर जम्बूकुमार तुम्हारे कहने से मुनिदीक्षा ले लेंगे तो अवश्य ही उन्हें उस किसान की तरह बाद में पछताना पड़ेगा।" प्रभव—“बहन! वह किसान कौन था, जो बाद में पछताया।” इस पर समुद्रश्री कहने लगी—

“मरुदेश में बग नामक एक किसान रहता था। वह खेती करता था। अपने खेत में वह कोद्रव, कांग आदि अनाज बोया करता था। एक बार वह अपनी लड़की के ससुराल गया। वहाँ उसे गुड़मिश्रित मालपूए खिलाये गये। उसे मालपूए बड़े अच्छे लगे। उसने जाना कि मालपूए में डाले हुए गुड़ की उत्पत्ति गन्ने के रस से होती है। यह जानकर मन में निश्चय किया मैं भी अपने खेत में इस बार गन्ने बोऊंगा और ऐसे मधुर रस से परिपूर्ण गुड़ के मालपूए खाऊंगा।” घर आकर अपनी पत्नी को उसने अपना निश्चय सुनाया। उसने उसे बहुत मना किया; परंतु हठी किसान टस से मस न हुआ। उसने अपनी हठाग्रही बुद्धि से चलकर अनाज के लहलहाते हरेभरे खेत को काटकर नष्ट कर दिया और उसकी जगह ईख बोयी। परंतु मरुभूमि में इतना जल कहाँ था कि ईख ऊग सके! फलतः ईख भी नहीं ऊगी और अनाज की पहले बोई हुई फसल भी नष्ट कर दी गयी थी। यह देखकर वह किसान सिर धुन-धुनकर अपने भाग्य को कोसने और पछताने लगा—“हाय! मैं क्या जानता था कि यहाँ ईख नहीं ऊगेगी! मैंने मिष्ट भोजन की आशा से मूर्खतावश पहले की पकी हुई अनाज की फसल भी अपने हाथों से नष्ट कर डाली।”

“हे प्राणवल्लभ! आप भी उस किसान की तरह बाद में पश्चात्ताप करेंगे। अतः अप्राप्त अधिक सुख की आशा में प्राप्त सुख को ठुकराने का विचार आपको छोड़ देना चाहिए।”

जम्बूकुमार ने उत्तर दिया—“प्रिये! तुम्हारा कहना एक दृष्टि से ठीक है; परंतु दुःख तो उसी के पल्ले पड़ता है, जो लौकिक सुखों की आशा करता है। मगर जो यह विश्वास करके चलता है कि—

“ज्ञानात्परं धनं न, समतासदृशं सुखं न, जीवितसममाशीर्वचनं न,
लोभसदृशं दुःखं न, आशासदृशं बन्धनं न, स्त्री सदृशं च जालबन्धनं न वर्तते।”

‘ज्ञान से बढ़कर कोई धन नहीं है, समत्व से बढ़कर कोई सुख नहीं है, ‘चिरंजीवी बनो’ इसके समान कोई आशीर्वाद नहीं, लोभ के समान कोई दुःख नहीं, आशा के समान कोई बंधन नहीं, और स्त्री के समान कोई जाल नहीं।

उसे कभी दुःख प्राप्त नहीं होता। परंतु इस विश्वास को छोड़कर जो मनुष्य स्त्रियों में अत्यंत आसक्ति करता है, वह उस कौए के समान महान् अनर्थ पाता

है।” जम्बूकुमार की पत्नियाँ पूछने लगीं—“वह कौआ कौन था, जिसने अनर्थ पाया?”

जम्बूकुमार बोले—“भृगुकच्छ में रेवानदी के किनारे एक हाथी मर गया। इसीलिए वहाँ बहुत-से कौए इकट्ठे हो गये; उनके आने-जाने का तांता लग गया। जैसे दानशाला में ब्राह्मण इकट्ठे होकर भोजन पर टूट पड़ते हैं, वैसे कौए भी इकट्ठे होकर मरे हुए हाथी की लाश पर टूट पड़े और उसे नोचने लगे। उनमें से एक कौए ने हाथी की गुदा में प्रवेश किया। “यहाँ बहुत मांस है। अब मुझे बाहर जाने की क्या जरूरत है;” यह सोचकर वह मांसलोलुप कौआ गुदा में ही बैठा रहा। ग्रीष्मकाल होने से कुछ ही दिनों में गुदा का द्वार सिकुड़ गया और गुदाद्वार बंद हो गया। इस कारण वह कौआ अंदर ही बंद हो गया। वर्षाऋतु आने से हाथी का शब पानी के प्रवाह में बह गया। अब गुदाद्वार खुला तो वह कौआ बाहर निकला। मगर चारों दिशाओं में पानी ही पानी देखकर वह कौआ वहीं मर गया। इस संसार में मरे हुए हाथी की लाश के समान स्त्री है; विषयासक्त पुरुष कौए के समान है। वह संसाररूपी जल में डूबकर मर जाता है। इसीलिए विषयलोभ की अधिकता के कारण ही मनुष्य शोक-संताप करता है।”

यह सुनकर द्वितीय पत्नी पद्मश्री तपाक से बोली—“स्वामिन्! अतिलोभ से तो मनुष्य उस बंदर की तरह दुःख पाता है।” बीच में ही प्रभवचोर पूछने लगा—“बहनजी! वह कौन-सा बंदर था? उसने कैसे दुःख पाया? खोलकर कहिए।” पद्मश्री बोली—“किसी जंगल में एक बंदर का जोड़ा बड़े आनंद से रहता था। एक दिन बंदर वहाँ के एक देवाधिष्ठित तालाब में गिर पड़ा। गिरते ही देव-प्रभाव से वह मनुष्य बन गया। उसे देखकर बंदरी भी उसी तालाब में कूद पड़ी और वह भी सुंदर स्त्री बन गयी। एक दिन मनुष्य रूपधारी उस बंदर ने कहा—“इस तालाब में एक बार गिरने से मैं मनुष्य बन गया तो अब दूसरी बार गिरने से अवश्य ही देव बन जाऊँगा।” उसकी स्त्री ने उसे बहुतेरा समझाया और ऐसा करने से मना किया। मगर वह उसकी एक न मानकर पुनः उसी तालाब में कूदा। फल स्वरूप वह मनुष्य से वापिस बंदर हो गया। वहाँ उस समय कोई राजा आया हुआ था। वह उस रूपवती स्त्री (बंदरी) को अकेली देख अपने यहाँ ले आया। और वह बंदर किसी मदारी के हाथ में पड़ गया। मदारी ने उसे नृत्य करना सिखाया, शहर में नृत्य करता हुआ बंदर मदारी के साथ उसी राजा के महल में पहुँचा। वहाँ बंदर ने अपनी स्त्री को देखा तो मन ही मन अत्यंत दुःखी हुआ और पछताने लगा। इसी बंदर की तरह आपको भी दुःखी न होना पड़े, इसीलिए दीर्घदृष्टि से विचार करें।”

जम्बूकुमार कहने लगे—‘प्रिये! इस जीव ने अनंतबार देवलोक के भोगों का अनुभव किया है, फिर भी जब इसे तृप्ति नहीं हुई; तब भला मनुष्यलोक के सुख उनके सामने किस बिसात में हैं? अंगारदाहक के समान उसे भी तृप्ति नहीं होती। एक अंगरदाहक (कोयला बनाने वाला) था। एक दिन वह कोयले बनाने के लिए जंगल में गया। धूप बहुत तेज पड़ रही थी। दोपहर को उसे बहुत जोर की प्यास लगी। उसके पास पानी के जितने बर्तन भरे हुए थे, उन सबका पानी वह पी गया। पानी के सभी बर्तन खाली कर देने पर भी उसकी प्यास नहीं बुझी। निदान वह एक पेड़ की छाया में सो गया। नींद में उसने एक स्वप्न देखा कि वह सभी समुद्रों, नदियों और तालाबों का पानी पी गया, फिर भी प्यास इतनी तीव्र थी कि वह मिटी नहीं। आखिरकार एक जगह छोटीसी तलैया में कीचड़ से सना गंदा पानी था, उसे पीने लगा। मगर उसकी तृप्ति नहीं हुई।’ जिसे समुद्रजल से तृप्ति नहीं हुई, उसे कीचड़ वाले पानी से तृप्ति होती भी कहाँ से? जैसे उस अंगारदाहक को समुद्रजल से तृप्ति नहीं हुई तो कीचड़ वाले जल से तृप्ति होनी कठिन थी, वैसे ही समुद्रजल के समान देवलोक के दिव्य सुखभोगों को लाखों-करोड़ों वर्ष सागरोपमों तक वहाँ रहकर भोगने के बाद भी जब तृप्ति नहीं हुई तो पंकमिश्रित जल के समान मनुष्य शरीर के अल्प सुखभोगों से तृप्ति कैसे हो सकती है?’

यह सुनते ही तीसरी पत्नी पद्मसेना बोली—“बिना विचार किये सहसा किसी काम को कर बैठने से नूपुरपण्डिता के कथानक में रानी के समान पश्चात्ताप करना होगा।” बीच में ही प्रभव ने पूछा—“रानी को कैसे पश्चात्ताप करना पड़ा? जरा खोल कर कहिए।” पद्मसेना कहने लगी—

“राजगृह नगर में देवदत्त नामक एक सुनार रहता था। उनके देवदत्त नाम का एक पुत्र था। उसकी पत्नी का नाम दुर्गिला था। दुर्गिला एक बार नदी पर वस्त्र धोने गयी थी। एक पुरुष पर, प्रेम हो गया। उसको कृष्ण पक्ष की पंचमी को मध्य रात्रि में पीछे के द्वार से आने का संकेत उसकी भेजी हुई तापसी के साथ किया। उसका यार आया। परस्पर विनोद करते हुए वे दोनों रात को शय्या पर सो गये। संयोगवश दुर्गिला का श्वसुर देवदत्त रात को पेशाब करने के लिए वहाँ से होकर जा रहा था, तभी उसने अपनी पुत्रवधू को परपुरुष के साथ सोयी देखकर चुपके से उसके दांये पैर का नूपुर (नेवर) निकाल लिया। जागने पर दुर्गिला को अपने दांये पैर के नूपुर गायब होने का पता चला तो उसने सारा अनुमान लगा लिया कि श्वसुर ने ही नूपुर निकाल लिया है और वह हमारे गुप्तप्रेम सम्बन्ध को जान गया है; तो उसने अपने प्रेमी (यार) को झटपट जगाकर उसे सारी बातें समझाकर

अपने घर भेज दिया। स्वयं घर के अंदर सोये हुए पति को जगाकर मधुरस्वर में कहने लगी—“प्राणेश! यहाँ मुझे नींद नहीं आ रही है। अतः यहाँ से चलिए; हम आज अशोकवृक्ष के नीचे जाकर सोयेंगे।” पति ने सरलभाव से उसकी बात मान ली। दोनों वहाँ से चलकर अशोकवृक्ष के नीचे आकर सो गये। कुछ ही देर हुई थी कि दुर्गिला ने गाढ़ निद्रा में सोये हुए अपने पति को जगाया और कहने लगी—“स्वामिन्! गजब हो गया! आपके यहाँ यह कैसा विचित्र रिवाज है कि श्वसुर सोई हुई अपनी पुत्रवधू के पैर में पहने हुए नूपुर निकाल ले जाय। मेरे साथ आज ऐसी ही घटना हुई है।” यह सुनते ही देवदित्र को अपने पिता पर बहुत गुस्सा आया। उसने सुबह होते ही अपने पिता को आड़े हाथों ले लिया—“पिताजी! आपकी यह बात बहुत ही अनुचित है कि जब मैं अपनी पत्नी के साथ सोया हुआ था तो आप चुपके से आकर उसके पैर से नूपुर निकालकर ले गये। पुत्रवधू के गुह्य को देखना श्वसुर के लिए सरासर नीति-विरुद्ध है।” पिता ने कहा—“बेटा! यों ही स्त्री की बातों के बहकावे में न आओ। तुम्हें रहस्य का पता नहीं है। मैंने तुम्हारी पत्नी को अपनी आँखों से पराये पुरुष के साथ सोये हुए देखी है। इसीलिए मैंने ऐसा किया था। बाद में इसने अपने दुर्गुण को छिपाने के लिए तुझे बहकाकर दूसरी जगह सोने के लिए ले गयी। और वहाँ जाकर तुम्हें यह बात कही। अतः यह सब इसकी कपटक्रिया है।” दुर्गिला जोश में आकर तुरंत बोली—“यह बात बिलकुल झूठी है। मैं अपनी सच्चाई का सबूत देवता के सामने दूँगी।” यों कहकर अपने परिवार और पड़ोसियों को साथ लेकर नगर के बाहर किसी प्रभावक यक्ष के सामने अपने सत्य को प्रमाणित करने के लिए वह चल पड़ी। लोगों की भीड़ इसे देखने के लिए उमड़ पड़ी। पूर्व संकेत के अनुसार रास्ते में उसका वह यार भी पागलों का-सा वेष बनाये हुए आ मिला और एकदम दुर्गिला से चिपट गया। लोगों ने उसे पागल समझकर कुछ न कहा। उसे दूर हटाकर दुर्गिला यक्ष के मंदिर में गयी। यक्ष की पूजा करके उसके सामने उच्चस्वर से बोली—“हे देव! इस पागल पुरुष तथा मेरे पति के सिवाय किसी अन्य पुरुष से मेरा सम्बन्ध रहा हो तो मुझे उचित सजा देना।” यक्ष सुनकर विचार में पड़ गया कि इसका यह सत्य (सच्चाई सिद्ध करने के लिए रचा गया जाल) असत्यरूप है। अतः इसका क्या किया जाय?” इसी बीच दुर्गिला उत्तर की राह देखे बिना ही यक्ष की जंघा के बीच से होकर निकल गयी। इससे लोगों को उस पर प्रतीति हो गयी। लोगों में उसकी प्रशंसा और उसके श्वसुर की निंदा होने लगी। तब से उसका नूपुरपंडिता नाम प्रसिद्ध हो गया। यह देखकर देवदत्त की निंद उड़ गयी। राजा ने उसे पहरेदार रखा। रानी का महावत

से संबंध था। रात को रानी पर देवदत्त को शंका हुई वह कपट निद्रा में सोया, रानी महावत के पास गयी। महावत ने देर से आने के कारण सांकल से पीटी। यह देखकर देवदत्त ने सोचा राजा के घर में ऐसा होता है तो मेरे घर में हो उसमें क्या आश्चर्य। वह गहरी निंद में सो गया। प्रातः बड़ी मुश्किल से जगाने के बाद राजा के पूछने पर उसने सारी घटना बतायी। राजा ने हाथी, महावत और रानी को पर्वत पर से गिरने का आदेश दिया। प्रजा के बहुत कुछ कहने पर पर्वत पर चढ़े हाथी को पुनः लोटाने को कहा। हाथी के तीन पैर उठ गये थे। महावत ने अभयदान मांगने पर उस हाथी के लिए उन दोनों को अभयदान दिया। हाथी को लोटाया दोनों को देश निकाला दिया।

मार्ग में चोर को बचाने महावत को चोर दर्शाकर पकड़वाया। महावत को शूली पर चढ़ाया। प्यास लगी एक श्रावक 'नमो अरिहंताण' गिनने का कहकर पानी लाने गया। इतने में जाप करते उसके प्राण निकल गये। वह व्यंतर बना। चोर ने रानी को अविश्वसनीय मानकर उसके वस्त्रालंकार लेकर नदी के एक किनारे छोड़ दी। वहां व्यंतर ने प्रतिबोधित कर साध्वी के पास दीक्षा दिलवायी।

जैसे वह रानी राजा के साथ के सुखोपभोग छोड़कर दुःखी बनी वैसे आप दुःखी होंगे।

जम्बूकुमार इस पर विद्युन्मालि का दृष्टांत कहा— **जो** मातंगी विद्या के संगत से सभी विद्या हार गया। "इस भरतक्षेत्र में कुशवर्धन नामक गाँव था। वहाँ एक ब्राह्मण के यहाँ विद्युन्माली और मेघरथ नाम के दो भाई रहते थे। एक बार वे किसी कार्यवश जंगल में गये। वहाँ एक विद्याधर ने उन्हें मातंगी नाम की विद्या और उसे सिद्ध करने की विधि बताई। अंत में उसने कहा कि विद्या की साधना करते समय मातंगी नाम की देवी तुम से विषय सम्भोग की प्रार्थना करेगी। परंतु यदि तुम उस समय मन में स्थिरता रखोगे और विचलित नहीं होओगे तो यह विद्या सिद्ध होगी, अन्यथा नहीं।" दोनों खुश होकर उस विद्या की साधना करने बैठे। दोनों में से विद्युन्माली का मन तो देवी के हावभाव और रतिसुख की प्रार्थना से चलायमान हो गया। मगर दूसरा भाई मेघरथ विद्याधर के वचन पर श्रद्धा रखकर अटल रहा। उसकी विद्या सिद्ध हो गयी।¹ उसे ६ महीने में बहुत-सा धन मिला।

1. हेयोपदेया टीका में चंडालणी कन्या से विवाह कर एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन कर जाप करने का लिखा है। वहाँ विद्युन्माली काली कलुटी स्त्री में मुग्ध हो गया। मेघरथ ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहकर जापकर विद्या सिद्ध बना। भाई को दूसरे वर्ष भी बुलाने आया पर वह उसका मोह छोड़ न सका। वह दुःखी हुआ। ऐसा लिखा है।

परंतु विद्युन्माली दुःखी हो गया। इसीलिए जो मनुष्य विद्युन्माली के समान अपने साध्य को भूलकर मातंगी के समान सुंदरियों के भोगजाल में फंस जाता है, वही दुःखी होता है? परंतु जो मेघरथ के समान स्त्री सम्बन्धी कामभोगों में विचलित न होकर अपने साध्य पर अविचल रहता है, वह सुखी होता है। इसीलिए सुखार्थी मनुष्यों को संसार के कंचन-कामिनी आदि सुखभोगों का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

यह सुनकर कनकसेना नामक चौथी पत्नी बोली—“प्राणनाथ! अगर हम मातंगी के समान थीं, तो आपने हमारे साथ विवाह क्यों किया? पानी पीकर जाति पूछना उचित नहीं होता। अगर आप अपना आग्रह नहीं छोड़ेंगे तो आपको भी अतिलोभ के कारण उस कौटुम्बिक की तरह पश्चात्ताप करना पड़ेगा।”

“सुरपुर में एक कौटुम्बिक रहता था। वह खेती करके अपनी आजीविका चलाता था। उसने सोचा—“ये पक्षी दाना चुग जाते हैं, उन्हें आने से रोकने के लिए रात को भी शंख बजाना शुरू किया। एक दिन कुछ चोर रात को गायेँ चुराकर गाँव के बाहर उसके खेत के पास ले आये और वहीं पड़ाव डालने का विचार करने लगे। किन्तु रात को कौटुम्बिक की गंभीर शंखध्वनि सुनकर वे तमाम गायेँ वहीं छोड़कर भाग खड़े हुए। सुबह होते ही कौटुम्बिक ने उन सब गायों को बेच दी और काफी पैसा कमाकर सुख से रहने लगा। ऐसी घटना तीन बार हुई। चौथी बार वे चोर यह सारी बदमाशी कौटुम्बिक की जानकर उसके पास आये। सबने मिलकर उसे रस्सों से बांधा और मारपीटकर उसका कचूमर निकाल दिया। इसीलिए स्वामिन्! आप भी उस कौटुम्बिक की तरह अतिलोभ न कीजिए; नहीं तो आपको भी उसी प्रकार दुःखी होना पड़ेगा।”

जम्बूकुमार बोला—“तुम्हारी बात सच है, जो अतिकामी और लालसापरायण होता है, वह उस तृषातुर बंदर की तरह पीड़ित होता है। लो, मैं उसकी कथा सुनाता हूँ—एक बंदर को ग्रीष्मकाल में बड़ी प्यास लगी। वह अपनी प्यास मिटाने के लिए पानी की भ्रान्ति से चिकने कीचड़ में जा गिरा। उसके शरीर में ज्यों ज्यों कीचड़ का स्पर्श होता गया, त्यों-त्यों उसे अपने शरीर में ठंडक महसूस होती गयी। मगर उसका पूरा शरीर कीचड़ से लथपथ हो जाने पर भी उसकी पिपासा शांत न हुई। बल्कि जब सूरज की तेज धूप पड़ने लगी तो वह कीचड़ सूख गया और उसके शरीर में अत्यन्त पीड़ा होने लगी। वह बंदर पीड़ा से छटपटाता रहा। इसीलिए हे प्रिये! मैं अपना शरीर उस बंदर की तरह विषयसुख रूपी कीचड़ से लिपटने नहीं दूंगा, जिससे मुझे बाद में छटपटाना पड़े।”

यह सुनकर नभसेना नाम की पाँचवी पत्नी बोली—“स्वामिन्! अतिलोभ नहीं करना चाहिए। अतिलोभ से तो सिद्धि और बुद्धि की तरह मनुष्य की अकल मारी जाती है। लो सुनो, मैं वह किस्सा सुनाती हूँ किसी गाँव में सिद्धि और बुद्धि नाम की दो बुढ़ियाएँ रहती थीं। दोनों बड़ी गरीब थीं। बुद्धि बुढ़िया प्रतिदिन प्रातःकाल भोलकयक्ष की आराधना किया करती थी। उसकी भक्ति देखकर यक्ष प्रकट होकर बोला—“मैं तेरी भक्ति से प्रसन्न हूँ। यथेष्ट वर मांग लो।” बुद्धि ने कहा—“देव! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो यह वरदान दीजिए कि मुझे पेटभर रोटी मिल जाय।” यक्ष ने कहा—“रोजाना मठ के पीछे से खोदकर एक स्वर्णमुहर ले जाया करना।” बुद्धि प्रतिदिन ऐसा ही करने लगी। इस प्रकार वह सुख से ज़िंदगी बिताने लगी। सिद्धि के मन में बुद्धि का सुखी जीवन देखकर ईर्ष्या पैदा हुई। उसने कपट पूर्वक चिकनी चुपड़ी बातें बनाकर बुद्धि से सुखी होने का रहस्य जान लिया और वह भी उसी तरह बल्कि उससे भी बढ़कर उस यक्ष की सेवाभक्ति करने लगी। भोलकयक्ष ने एक दिन प्रसन्न होकर उसे वर मांगने का कहा। सिद्धि ने यही वर मांगा कि “मुझे बुद्धि से दुगुना मिला करो।” फलतः उसे प्रतिदिन दो स्वर्णमुहरें मिलने लगीं। थोड़े ही दिनों में सिद्धि बुद्धि से अधिक धनाढ्य हो गयी। यह देखकर बुद्धि ने पुनः यक्ष की आराधना करनी शुरू की। वह अब घंटों यक्ष की सेवापूजा में बिताने लगी। इससे यक्ष ने प्रसन्न होकर फिर उसे वर मांगने का कहा। इस बार बुद्धि ने सोचा—“इस बार मुझे ऐसा वर मांगना चाहिए, जिससे सिद्धि का अनिष्ट हो।” उसने कुछ क्षण विचार कर यक्ष से कहा—“देव! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हों तो मुझे यही वर दीजिए कि मेरी एक आँख फूट जाय।” यक्षराज ने भी उसकी इच्छानुसार कर दिया। सिद्धि को जब यह पता लगा कि बुद्धि ने यक्ष की फिर आराधना की है और कुछ प्राप्त किया है, तो ईर्ष्यावश वह भी तीसरी बार फिर यक्ष की आराधना में जुट पड़ी। यक्ष ने जब प्रसन्न होकर वर मांगने का कहा तो उसने इस प्रकार से वरयाचना की—“आपने सिद्धि को जो कुछ दिया है, मुझे वही चीज दुगुनी दें। यक्ष के ‘तथाऽस्तु’ कहते ही सिद्धि की दोनों आँखें फूट गयीं। सच है, देववचन व्यर्थ नहीं जाता। इसीलिए हे प्राणनाथ! जिस तरह सिद्धि ने प्रथम प्राप्त सम्पत्ति से संतुष्ट न होकर अतिलोभ वश अपनी भारी हानि कर ली, उसी तरह आप भी पूर्वकृत पुण्यप्रभाव से प्राप्त सुखसम्पदा से अतृप्त होकर अधिक सुख की लालसा करके हानि उठायेंगे।”

यह सुनकर जम्बुकुमार ने मुंहतोड़ जवाब देते हुए कहा—“प्रिये! तुम्हारे कथन के अनुसार उन्मार्ग गामी वही होता है, जो जातिवान न हो। मैं उस जातिवान

घोड़े की तरह कदापि उन्मार्ग पर कदम नहीं बढ़ाऊंगा। जातिवान घोड़ा कैसा होता है, सुनो—वसंतपुर नगर में जितशत्रु नाम का राजा राज्य करता था। उसके पास एक सुलक्षण सम्पन्न जातिवान घोड़ा था। राजा ने एक बार जिनदास श्रावक के यहाँ उसे धरोहर के रूप में रख दिया था। चोर-पल्लीपति (चोरों के सरदार) को किसी समय पता लगा कि जिनदास के यहाँ एक जातिवान घोड़ा है तो उसने उस घोड़े को वहाँ से चुरा लाने के लिए अपने सेवक को भेजा। सेवक जिनदास के यहाँ पहुँचा और उसने दीवार में सेंध लगाकर उस घोड़े को बाहर निकाला। लेकिन ज्यों ही घोड़े को आगे चलाना चाहा तो वह समझ गया कि यह मुझे उन्मार्ग में ले जाना चाहता है। अतः घोड़ा वहीं ठिठक गया। एक कदम भी आगे न बढ़ा। उस सेवक ने बहुत जोर लगा लिया, लेकिन घोड़ा अपने स्वभाव का इतना पक्का था कि राजमार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग पर चलने के लिए जरा भी तैयार न हुआ। यों रस्साकस्सी होते-होते जिनदास सेठ जाग गया। उसे घोड़े को चुराकर ले जाने के लिए आमदा चोर-सेवक का पता लगा। उसने रंगे हाथों फौरन चोर को पकड़ा और अपना घोड़ा छुड़ा लिया। बाद में चोर-सेवक द्वारा माफी मांगने पर उसे भी सेठ ने छोड़ दिया। प्रिये! इसी प्रकार मैं भी उस जातिवान घोड़े के समान शुद्ध संयम रूपी राजमार्ग को छोड़कर चोर जैसी तुम्हारे द्वारा आकर्षित भी उन्मार्ग में कदापि नहीं जाऊंगा।”

इस पर उनकी छद्मी पत्नी कनकश्री ने कहा—“स्वामिन्! आपका अत्यन्त हठ (जिद्द) करना योग्य नहीं है। बुद्धिमान् पुरुष को दूरदर्शी बनकर भविष्य का भी विचार करना चाहिए; उस ब्राह्मणपुत्र की तरह गधे की पूँछ पकड़े नहीं रहना चाहिए।” बीच में ही प्रभव ने पूछा—“बहनजी! वह ब्राह्मणपुत्र कौन-था, जिसने गधे की पूँछ पकड़कर छोड़ी नहीं?” कनकश्री कहने लगी—

“एक गाँव में एक ब्राह्मण का लड़का था। वह बड़ा मूर्ख और जिद्दी था। उसकी माँ उसे सदा कहा करती थी—“बेटा! जिस वस्तु को पकड़ो, उसे छोड़ना नहीं चाहिए।” मूर्ख ने मन में इस बात की गाँठ बांध ली। एक दिन किसी कुम्भार का गधा उसके घर से छूटकर भागा जा रहा था। कुम्भार उसे पकड़ने के लिए पीछे-पीछे भाग रहा था। कुम्भार ने वहाँ इस मूर्ख ब्राह्मणपुत्र को देखकर जोर से आवाज दी—“अरे भाई! इस गधे को पकड़ लेना।” ब्राह्मणपुत्र ने झट दौड़कर गधे की पूँछ पकड़ ली। गधा अपने स्वभाव के अनुसार दुलत्ती झाड़ने लगा। मगर पकड़ी हुई पूँछ छोड़ें वे दूसरे! लोगों ने इस मूर्खराज को बहुतेरा कहा—“मूर्खराज! गधे की पूँछ छोड़ दे।” पर उसने सबको करारा

जबाब दे दिया—“तुम चाहे जितना जोर लगा लो, मैं इसे कदापि नहीं छोड़ सकता। मेरी माता ने कह रखा है—जिसे पकड़ो, उसे कभी मत छोड़ो।” लोग आगे चल दिये। किन्तु मूर्ख अपने कदाग्रह के कारण कष्ट पाता रहा। इसीलिए हम कहती हैं कि आप भी अपना मिथ्या आग्रह (हठ) छोड़ दें, नहीं तो इसी तरह कष्ट पाना पड़ेगा।”

यह सुनकर जम्बूकुमार मुस्करा कर बोले—“प्रिये! तुम्हारी बात बिलकुल ठीक है। तुम सब खर (गधे) के सरीखी हो और तुम में आसक्त होकर बंधे रहना मेरे लिये खर की पूँछ को पकड़े रहने के समान है। मुझे अब उसे पकड़े रहना उचित नहीं है। तुम सबका लज्जावती महिलाएं होकर इस प्रकार के तीखे वचन कहना उचित नहीं है। ऐसे वचनों को तो वही सहन करता है, जिसके रहने का कहीं ठौर-ठिकाना न हो; जो उस ब्राह्मण की तरह पूर्वभव का कर्जदार हो, वही उस घर में दास बनकर रहता है। लो सुनो, मैं तुम्हें उस ब्राह्मण का उदाहरण सुनाता हूँ—

“कुशस्थलपुर में एक क्षत्रिय था। उसके यहाँ एक घोड़ी थी। उसकी सेवा के लिए उसने एक नौकर रखा। नौकर ऐसा हराम था कि घोड़ी के लिए मालिक से जो खाना मिलता था, उसे वह खुद चुपके से चट कर जाता था। रोजाना इस तरह करने से घोड़ी को खाना न मिलने के कारण वह बहुत कमजोर हो गयी, उसकी हड्डियाँ निकल आयी और कुछ ही दिनों में वह घोड़ी मर गयी। घोड़ी मरकर उसी नगर में वैश्या के यहाँ पैदा हुई और जवान होने पर वह भी वेश्या बन गयी। इधर वह नौकर मरकर ब्राह्मण के यहाँ पैदा हुआ। एक दिन उस नौजवान ब्राह्मणपुत्र ने उस वेश्या को देखा। देखते ही पूर्वजन्म के सम्बन्ध (ऋणानुबन्ध) के कारण वह उस वेश्या के यहाँ नौकरी करने लगा। वह वेश्या के यहाँ घर का सब काम पूरा कर लेता; तभी उसे खाना मिलता था। इस तरह जिंदगीभर अपना कर्ज चुकाने, और सुख सुविधा पाने की आशा से वह दास बन कर रहा। मगर मैं उसकी तरह भोगों की आशा का दास बनकर घर में अब क्षणमात्र नहीं रहूँगा।”

इस पर उनकी सातवीं पत्नी रूपश्री कहने लगी—“नाथ! इस समय आप हमारा कहना नहीं मानते, लेकिन बाद में आपको मासाहस पक्षी की तरह संकट उठाने पड़ेंगे, तब आप मानेंगे। मासाहस पक्षी की कथा इस प्रकार है, सुनिए—

“मासाहस नाम का एक पक्षी किसी जंगल में रहता था। वह पक्षी ऐसा

था कि सोये हुए बाघ के मुंह में प्रवेश कर उसकी दाढ़ों में लगे हुए मांसपिण्ड को अपनी चोंच में लेकर बाहर निकल आता और कहता—“ऐसा साहस मत करो!” इसीसे उसका नाम “मासाहस” पड़ गया। मगर वह बार-बार जैसा कहता था, उससे ठिक विपरीत आचरण करता था। उसे ऐसा साहस न करने के लिए सभी पक्षियों ने समझाया, लेकिन इसके बावजूद भी वह मांस लोलुपता के कारण बार-बार बाघ के मुंह में प्रवेश करता था। एक दिन जब वह बाघ के मुंह में घुसा था, तभी अचानक बाघ जाग गया और अपने शिकार को मुंह में घुसे देख खा गया।”

यह सुनकर जम्बूकुमार ने कहा—हे नारियों! तुम तो मुझे मौत से क्या बचाओगी; इस संसार में कोई भी किसी की रक्षा नहीं कर सकता! केवल धर्म रूपी मित्र की शरण में जाने पर ही मनुष्य की रक्षा हो सकती है। जैसे मंत्री की रक्षा धर्म रूपी मित्र के सिवाय और किसी ने नहीं की। लो सुनो, मैं तुम्हें पूरा दृष्टांत सुनाता हूँ—

“सुग्रीवपुर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसके सुबुद्धि नाम का मंत्री था। उसने अपने जीवन में तीन मित्र बनाये। पहला नित्यमित्र था; जिसके साथ वह रात-दिन सम्पर्क रखता था और उस पर संकट आने पर वह हजारों रुपये खर्च करके उसे शांति पहुँचाया करता था। दूसरा पूर्वमित्र था, जिसे कभी त्यौहार या उत्सव के मौके पर उचित सम्मान दिया करता था; अन्य दिनों में उससे खास कोई सम्पर्क नहीं होता था। तीसरा था प्रणाममित्र; जिसके साथ रास्ते में मिल जाने पर प्रणाम करने-भर की मित्रता थी। एक बार सुबुद्धि मंत्री से एक बड़ा भारी अपराध हो गया, जिसके कारण राजा कुपित होकर उसे प्राणदण्ड देने की सोच रहा था। मंत्री को पता लगा तो उसके होश गायब हो गये, वह रातोंरात भागकर अपनी प्राणरक्षा के लिए नित्य मित्र के वहाँ पहुँचा उसके यहाँ छिपे रहने की इच्छा की बात बताई। सुनते ही नित्यमित्र ने साफ़ इन्कार कर दिया और उसे झटपट वहाँ से चले जाने का कहा। निराश होकर मंत्री पूर्वमित्र के यहाँ पहुँचा और उसे भी अपना सारा हाल दुःखित होकर सुनाया एवं शरण देने की प्रार्थना की। पूर्वमित्र ने भी लाचारी प्रकट करते हुए कहा—“भाई! वैसे तो मैं तुम्हें रख लेता। परंतु तुम राजा के अपराधी हो। राजा को पता लग जाने पर तुम्हारे साथ-साथ मैं और मेरा परिवार भी बर्बाद हो जायगा। अतः मेरे परिवार पर कृपा करके आप और कहीं पधारें, यही उचित है।” आखिर निराश और उद्विग्न होकर मंत्री प्रणाम मित्र के यहाँ पहुँचा। मंत्री को आये देखकर प्रणाममित्र ने खड़े होकर हाथ जोड़े और प्रीति पूर्वक

उसका सम्मान किया। फिर अपने पास बिठाकर उससे कुशल समाचार पूछा। मंत्री ने अपनी सारी आपबीती सुनाई और उस मित्र से सहायता और शरण की याचना की। प्रणाम मित्र ने मंत्री को आश्वासन देते हुए कहा—“आप जरा भी न घबराएँ। जब तक मेरे दम में दम है, तब तक कोई भी आपका बाल बांका नहीं कर सकता। मैं आपको ऐसी जगह आश्रय दूंगा; जहाँ आपकी पूरी सुरक्षा रहेगी। वहाँ राजा भी आपका अनिष्ट नहीं कर सकता।” ऐसा कहकर मंत्री को उसने एक सुरक्षित व भयमुक्त स्थान पर पहुँचा दिया; जहाँ निश्चित होकर मंत्री सुख पूर्वक रहने लगा। कुछ ही दिनों में उसका अपराध झूठा प्रतीत होने पर राजा ने मंत्री को दण्डमुक्त भी घोषित कर दिया। ये तीनों मित्र सुबुद्धि मंत्री-रूपी सांसारिक जीव के साथ लगे हुए हैं। कहा भी है—

नित्यमित्रसमो देहः स्वजनाः पर्वसन्निभाः ।

जुहारमित्रसमो ज्ञेयो धर्मः परमबान्धवः ॥४१॥

अर्थात् - शरीर नित्य मित्र के समान है, स्वजन सम्बन्धी-पर्व मित्र के समान हैं और प्रणाम मित्र के समान वीतरागभाषित धर्म है, जो जीव का परमबन्धु है ॥४१॥

क्रूरराजा के समान कर्मराजा है; जो सुबुद्धि रूपी सांसारिक जीव को अपराध होने पर सजा सुनाता है। परंतु उस समय न तो नित्यमित्र-शरीर ही उसे सहायता पहुँचाता है और न पर्वमित्र-स्वजनसम्बन्धी ही उसे शरण देते हैं। एकमात्र प्राणमित्र-धर्म ही; अंतिम समय में जो उसकी शरण में जाता है, उसे शरण देता है, कुशलक्षेमपूर्वक उसे अपने स्थान पर पहुँचाता है। इसीलिए हे भद्रे! मैं अक्षय सुख देने वाले परममित्र धर्म की उपेक्षा कदापि नहीं करूँगा।”

अंत में घनावह सेठ की पुत्री, आठवीं धर्मपत्नी जयश्री जम्बूकुमारजी से कहने लगी—“प्राणनाथ! इतना वादविवाद क्यों छेड़ रहे हैं आप? हमने आपके साथ अभी नई ही शादी की है; इसीलिए हमारा आपके साथ वृथा विवाद में उतरना ठीक नहीं है। परंतु आप ऐसी कल्पित मनगढ़त कहानियाँ सुनाकर हमें ठगते क्यों हैं? आपने जितनी भी कहानियाँ कहीं, वे सब कल्पित हैं। जैसे एक ब्राह्मणीपुत्री ने कल्पित कहानियों से राजा का मनोरंजन किया था, वैसे आप भी कल्पित कहानियों से हमारा मन बहलाना चाहते हैं।” जयश्री के कथन का बाकी सब स्त्रियों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। उन सबने उससे कहा—“बहन जयश्री! ऐसी प्रभावोत्पादक कथा सुनाओ, जिसे सुनकर अपने प्रियतम घर में ही रह जाय।” जयश्री कहने लगी—“तो लो सुनो”—

“भरतक्षेत्र में लक्ष्मीपुर नगर में नयसार नामक राजा राज्य करता था। उसे संगीत, कथाएँ, नाटक, पहेलियाँ, अन्त्याक्षरी आदि सुनने का बहुत शौक था। वह हमेशा कोई न कोई नयी कहानी सुनने का आदि था। इस नवीनकथारसिक राजा ने एक दिन नगर में ढिंढोरा पिटवाया कि “नगर के सभी लोग बारी-बारी से रोजाना राजा के पास आकर नयी कहानी सुनाएँ।” इससे प्रेरित होकर लोग अपनी नयी कहानी गढ़कर प्रतिदिन राजा को सुना आते। एक दिन एक ब्राह्मण की बारी आयी। वह अत्यंत मूर्ख था, इसीलिए उसे कथा कहनी नहीं आती थी। परंतु उसको एक कन्या थी, जो बहुत चतुर थी। उसने अपने पिता से कहा—“पिताजी! आप निश्चित रहिये। आपके बदले मैं राजा को कहानी सुना आऊंगी।” फलतः वह राजा के पास गयी। राजा ने उससे कहा—“कोई ऐसी कहानी कहो, जिससे मेरा मनोरंजन हो।” ब्राह्मणीपुत्री ने कहा—“महाराज! आज मैं आपको अपने अनुभव की कथा कहूँगी, जिससे आपको बड़ी प्रेरणा मिलेगी। सुनिए—“मैं बचपन बिताकर जब जवान हुई तो मेरे माता-पिता ने एक सुकुलोत्पन्न ब्राह्मण-पुत्र के साथ मेरी सगाई कर दी। जिसके साथ मेरी सगाई हुई थी, वह भावी-पति मुझे देखने और मिलने के लिए मेरे पिता के यहाँ आया। उस समय मेरे माता-पिता खेत पर गये हुए थे; घर में मैं अकेली ही थी। फिर भी मैंने उसका स्नान-भोजन आदि से उचित सत्कार करके उसे संतुष्ट किया। परंतु वह तो मेरा अद्भुत रूप-लावण्य देखकर कामातुर हो गया और अपनी कामवासना को तृप्त करने के इशारे से पलंग पर बैठा-बैठा अंगड़ाई लेने लगा; प्रणयरसभरी मीठी-मीठी गुदगुदाने वाली बातें करने लगा और बार-बार मेरी ओर ताककर इशारे करने लगा। मैं उसकी चेष्टाओं से उसके मनोभावों को ताड़ गयी। मैंने उससे कहा—“स्वामिन्! इतनी उतावली न करो। शादी हुए बिना विषयवासना-सेवन के कार्य नहीं हुआ करते। आदमी अत्यन्त भूखा हो तो भी क्या दोनों हाथों से खाता है? इसीलिए आपकी इस समय विषयसेवन की भावना सम्योचित नहीं है।” परंतु वह अत्यंत कामज्वर से पीड़ित था, इसीलिए उसके पेट में एकाएक शूलरोग पैदा हुआ; और देखते ही देखते उसने वहीं दम तोड़ दिया। मैंने सोचा—“इसे यहाँ मरा हुआ देखकर लोग मुझ पर दोषारोपण करेंगे, इसीलिए मैंने उसके शव को वहीं गड़ढा खोदकर झटपट गाड़ दिया। किसी को उस बात का पता तक न लगा। न मेरे माता-पिता ही जान पाये।”

“राजन्! मैंने आपको मेरे नैतिक व्यवहार की अनुभवयुक्त कथा सुनाई है। आशा है, आपको पसंद आई होगी।” इस अनुभवपूर्ण कथा को सुनकर कल्पित कहानियों से ऊँचा हुआ राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राजा से ईनाम पाकर वह ब्राह्मण

कन्या अपने घर लौट आयी।”

जयश्री ने आगे कहा—“जैसे कल्पित कथा की अनुभव का रूप देकर उस चतुर ब्राह्मण कन्या ने राजा का चित्त प्रसन्न कर दिया था, वैसे ही आप हमारे दिल को बहला रहे हैं। लेकिन आपकी यह प्रवृत्ति आत्मीयजनोचित नहीं है। सौ बात की एक बात यही है कि जो मनुष्य दीर्घद्रष्टा बनकर सोचविचारकर कदम उठाता है, उसी की शान बनी रहती है। इसीलिए आप पहले अपनी विवाहिता पत्नियों को संतुष्ट करके, विषयों का उचित मात्रा में सेवन करने के बाद ही मुनि दीक्षा ग्रहण करके अपने श्रेय को सिद्ध करें।

जयश्री के युक्तिसंगत वचन सुनकर जम्बूकुमार बोले—“प्रिये! तुम सब तो बुद्धिमती हो। बुद्धिमान मनुष्य जानबूझकर अहितकारी कामों में नहीं पड़ता। मोह से घिरा हुआ मूढ़व्यक्ति ही विषयासक्ति जैसी अधर्मयुक्त प्रवृत्ति को धर्म मानता है और अपने को लिप्त करके भारी कर्मों को बांधता है। परंतु विषयसेवन का परिणाम बहुत ही बुरा और दुःखमय होता है। विष और विषय दोनों में काफी अंतर है। विष एक ही बार मारता है, लेकिन विषय तो बार-बार और मरे हुए को भी मारता है। नीतिज्ञों ने ठीक ही कहा है—

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं, शय्या च भूः, परिजनो निजदेहमात्रं ।
वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमयी च कन्था, हा हा! तथापि विषया न परित्यजन्ति॥४२॥

अर्थात् - खाने के लिए भिक्षा से प्राप्त नीरस भोजन और वह भी एक बार मिला हो; सोने के लिए सिर्फ धरती हो, परिवार में केवल अपना शरीर हो और वस्त्र में केवल एक पुरानी एवं सौ जगह से फटी हुई गुदड़ी हो; ऐसी स्थिति में भी खेद है कि मनुष्य को ये विषय नहीं छोड़ते ॥४२॥ (या ऐसा व्यक्ति भी विषयों से मुक्त नहीं होता)

इसीलिए हे धर्मपत्नियों! यदि तुम मेरे साथ पक्का वादा करो कि जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, वियोग और शोक आदि शत्रु मेरे पास नहीं आयेंगे, तब तो मैं तुम्हारे साथ विषयभोगों का रसास्वादन करने के लिए घर में रह सकूंगा। अन्यथा, अगर तुम मुझे जबर्दस्ती घर में रखोगी तो भी रोगादि के आने पर मुझे बचा नहीं सकोगी! रोग आदि से बचाने की है तुम में ताकत? सभी ने एक स्वर से कहा—“स्वामिन्! यह तो हमारे सामर्थ्य से बाहर की बात है। कौन ऐसा समर्थ है, जो संसार की इन स्थितियों को रोक सके!” इस पर जम्बूकुमार ने कहा—“यदि तुम सब इन शत्रुओं से रक्षा करने में असमर्थ हो, तब फिर मैं अशुचि (गंदगी) से भरी हुई और मोह की कुंडी के समान तुम्हारी देह पर प्रीति कैसे

कर सकता हूँ? क्योंकि अनंत पापराशि संचित होती है, तब स्त्रीशरीर मिलता है। कहा भी है—

अर्णता पावरासीओ, जया उदयमागया ।

तया इत्थीत्तिणं पत्तं सम्मं जाणाहि, गोयमा ॥४३॥

अर्थात् - हे गौतम! इसे तू भलीभांति जान ले कि अनंत पापराशियाँ जब उदय में आती हैं, तभी स्त्रीत्व प्राप्त होता है ॥४३॥

और भी कहा है—

दर्शने हरते चित्तं, स्पर्शने हरते बलम् ।

संगमे हरते वीर्यं, नारी प्रत्यक्षराक्षसी ॥४४॥

अर्थात् - नारी दर्शन से चित्त हरण कर लेती है; स्पर्श करने पर बल का हरण (नाश) करती है और इसके साथ संगम (सहवास) करने पर वीर्य का हरण (नाश) करती है। इसीलिए नारी साक्षात् राक्षसी है ॥४४॥

“इसीलिए मैं उस ललितांगकुमार के समान स्त्रियों के मोह में नहीं फँसता; जिससे अपवित्र (गंदे) कुंए सरीखे भवकूप में मुझे गिरना पड़े।” सभी पत्नियों ने उत्सुकता से पूछा—“वह ललितांगकुमार कौन था, प्राणेश! जो गंदे कुंए में गिरा था?” जम्बूकुमार कहने लगे—लो, सुनो—

“वसंतपुर नगर में शतप्रभ नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम रूपवती था। वह ‘यथा नाम तथा गुण’ को सार्थक कर रही थी। रूप में इतनी अद्वितीय मोहिनी थी, मानो मोहराजा की ही राजधानी हो। राजा को वह अत्यंत प्रिय थी, लेकिन थी वह व्यभिचारिणी। एक दिन रूपवती अपने महल के गवाक्ष में बैठी हुई थी, तभी उसने ललितांग नामक एक सुंदर युवक को राजमार्ग से जाते हुए देखा। रानी उसका रूप देखते ही मोहित और कामातुर हो गयी। उसने अपनी एक विश्वस्त दासी से कहा—“अरी! एक काम कर। किसी तरह से राजमार्ग पर जा रहे इस युवक को मेरे पास ले आ।” दासी झटपट ललितांग के पास पहुँची और उसे मधुर और नम्र शब्दों में कहा—“महाशय! आपको रानीजी याद कर रही हैं। बहुत जरूरी काम है, आपसे। चलिये आप मेरे साथ, मैं उनके महल में आपको पहुँचा देती हूँ।” ललितांग भी कामपिपासु और विषयवासना की भिक्षा के लिए भटकता था। उसने चट से आमंत्रण स्वीकारकर लिया और रानी के महल में जा पहुँचा। ललितांग को देखते ही रानी हावभाव और कामचेष्टाएँ करने लगी। लज्जा छोड़कर उसने अपने अंगों को प्रदर्शित करके कुछ ही देर में ललितांग को अपनी ओर

आकर्षित कर लिया।" कहा भी है—

स्त्री कान्तं वीक्ष्य नाभिं प्रकटयति, मुहुर्विक्षिपन्ती कटाक्षान्,
दोर्मूलं दर्शयन्ती रचयति कुसुमापीडमुत्क्षिप्तपाणिः ।

रोमाञ्चस्वेदज्जम्भाः श्रयति कुचतटं स्रंसि वस्त्रं विधत्ते,

सोल्लस्यं वक्ति, नीवीं शिथिलयति, दशत्योष्ट्रमङ्गं भनक्ति ॥४५॥

अर्थात् - स्त्री अपने प्रेमी को देखकर अपनी नाभि बार-बार दिखाती है, बार-बार तीखे कटाक्ष फेंकती है, बार-बार हाथ ऊंचे करके उसे काम पीड़ावश करती है। हाथ के मूल भाग (कांख) को दिखाती है और कामवासना उत्तेजित करती है; उसके रोमाञ्च और पसीना हो आता है। वह जम्बुहाइयां लेने लगती है, वस्त्र इस प्रकार से बार-बार उतर जाता है, जिससे वह उसे स्तन पर रखती है, बेधड़क बोलती है, अधोवस्त्र की गांठ ढीली करती है; दांतों को होठ से काटती है और अंगों को मोड़कर हाव भाव दिखाती है ॥४५॥

“रानी के मदमाते यौवन और तिरछे नेत्रों के कटाक्ष तथा हाव भाव को देखकर ललितांगकुमार अत्यंत मुग्ध और कामातुर हो गया। वह निःशंक होकर रानी के साथ रतिक्रीड़ा में मग्न हो गया। उसे यह होश भी नहीं रहा कि वह किसके साथ, कहाँ और कौन से समय सहवास कर रहा है? ठीक इसी समय राजा अपने महल में आ रहे थे। द्वार पर खड़ी दासी ने राजा के आने के समाचार रानी को दिये। सुनते ही रानी किंकर्तव्यमूढ़ हो गयी। अतिभय के कारण ललितांग को छिपाने का और कोई गुप्त स्थान न देखकर रानी ने उसे पाखाने (मलमूत्रस्थान) के संकड़े और गंदे कुएं में डाल दिया। जैसे कुछ भी न बना हो, इस प्रकार से रानी राजा के साथ हास्य और विनोदपूर्वक बातें करने लगी। इधर ललितांग गंदगी के उस दुर्गन्धित कुएं में पड़ा-पड़ा विचार करता है—“हाय! मैंने बड़ा अकृत्य करके अपने हाथों से दुःख को बुलाया है! धिक्कार है मेरी विषय लंपटता को।” वहाँ असह्य बदबू से ललितांग की नाक फटी जा रही थी; ऊपर से भी उस पर मल-भूत्र गिरता था, साथ ही साथ वह भूख और प्यास भी सहन कर रहा था, पर कुछ कर नहीं सकता था; क्योंकि सर्वथा पराधीन था। इस प्रकार की भयंकर कष्टकर स्थिति में दिन पर दिन बीतते चले गये। वह वहाँ अधमरा-सा हो गया; मगर किसी ने उसे पाखाने से बाहर नहीं निकाला। रानी तो अपने आमोद-प्रमोद में ललितांग को बाहर निकलवाना भूल गयी। मानो ललितांग से उसका कोई वास्ता ही न हो। व्यभिचारिणी स्त्री का प्रेम होता भी क्षणिक, स्वार्थी और बनावटी! परंतु

ललितांग का आयुष्य कुछ लम्बा था। अतः देवयोग से वर्षा के दिनों में वह गंदा कुंआ पानी से लबालब भर गया; इससे पानी के बहाव के जोर से बाहर निकलने के साथ ही ललितांग बह कर बाहर निकला। इधर उसके घरवाले बिता कर रहे थे। वह जाकर उनसे मिला और उन्हें सारी आपबीती सुनाई। अब उसने अपने मन में ठान ली कि भविष्य में वह कभी कामवासना के चक्कर में नहीं पड़ेगा। ललितांग का शरीर उस कष्टकर स्थिति में रहने के कारण अशक्त हो गया था, इसीलिए कुछ दिन घर में आराम और उपचार के बाद वह स्वस्थ और सशक्त हुआ। एक दिन वह वायुसेवन करने के लिए पूर्वपरिचित रास्ते से चला जा रहा था कि रानी ने उसे देखा, और सहसा उसकी आँखों के सामने सारा पूर्व दृश्य चलचित्र की तरह आने लगा। रानी ने फिर काम पिपासा शांत करने के लिए ललितांग को बुलाने दासी को भेजा। मगर ललितांग ने उसे टका-सा जवाब दे दिया—“मैं अब इस चक्कर में कभी नहीं फँसूंगा। देख लिया मैंने तुम्हारी रानी का प्रेम और कामवासना का नतीजा! जानबूझ कर विषयासक्ति में फँसकर अपार वेदना को कौन न्यूँता दे?” ललितांग का स्पष्ट इन्कार सुनकर दासी वापिस लौट गयी। किन्तु तभी से ललितांग कामवासना से विरक्त होकर सुखी हुआ। इसीलिए हे स्त्रियों! मैं अगर विषयभोगों में आसक्त हो जाऊंगा तो ललितांग की तरह मुझे भी अपार दुःख उठाने पड़ेंगे। इसीलिए मेरा विषयासक्ति से दूर रहना ही अच्छा है।”

जम्बूकुमार ने ये और इस प्रकार के बहुत-से उपदेश देकर अपनी पत्नियों को समझाया। वह सारी रात इसी प्रकार के उत्तर-प्रत्युत्तरों में और प्रेरणादायिनी कहानियों के कहने-सुनने में बीत गयी। अंत में सभी पत्नियों ने निरुत्तर और विरक्त हृदय होकर उनसे कहा—“प्राणनाथ! आपने जिस ढंग से वैराग्यरस की अनुपम बातें कहीं, वह हमारे गले उतर गयी है। वास्तव में सब रसों में वैराग्य (शांत) रस ही उत्तम, स्थायी सुखशांति का दाता और स्वपरश्रेयस्कर है। महाव्रतों का पालन अतिदुष्कर होते हुए भी भवभ्रमण मिटाने के लिए अच्छा है। जो वैराग्यरस नष्ट घूट पीकर महाव्रतों की भलीभांति आराधना करता है, वह अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है। हम आपकी सभी बातों से सहमत हैं और इस पथ में आपके साथ हैं।”

चोरनायक प्रभव ने भी कहा—“जम्बूकुमारजी! मेरा भी आज अहोभाग्य था कि चोर होते हुए भी मैं आपकी वैराग्य पूर्ण बातें सुन सका और महाविषम विषयासक्ति का परिणाम जान सका। वास्तव में मोही जीवों के लिए विषयराग का छोड़ना अतिदुष्कर है! धन्य है आपको कि आपने यौवन वय और समस्त

विषयसुख के साधन होते हुए भी इन्द्रियों को वश में किया है और संयम के महामार्ग पर चलने को तैयार हुए हैं।" जम्बूकुमार ने प्रभव को विभिन्न युक्तियों द्वारा धर्मपालन का उपदेश दिया। अंत में, प्रभव ने भी वैराग्यवासित और प्रभावित होकर अपने उद्गार निकाले—“जम्बूकुमारजी! आपने मुझ पर महान् उपकार किया है। आपने द्रव्य और भाव दोनों रूप में बन्धनों को तोड़ने की अभिलाषा मुझ में जगा दी है। अब मैं भी अपने साथियों को सहमत करके आपके साथ ही महाव्रतों का पथ अंगीकार करूँगा।”

प्रभात हुआ। आज का सुनहला प्रभात राजगृह नगर के लिए नई रोशनी, नया संदेश और नया उत्साह लेकर आया। जहाँ देखो, वहाँ जम्बूकुमार के वैराग्य की चर्चा हो रही थी। प्रभव आदि ५०० चोरों के विरक्त होने की बात सुनकर तो लोग आश्चर्य से दाँतों तले अँगुली दबाने लगे। सम्राट् कोणिक के कानों में भी यह बात पड़ी। सम्राट् ने भी जम्बूकुमार को मुनिदीक्षा न लेने के लिए बहुतेरा समझाया, पर वे अपने निश्चय पर अटल रहे। माता-पिता, सास-ससुर तथा परिवार के सब लोगों ने जम्बूकुमार को समझाया, पर उन्होंने एक न मानी। आखिर जम्बूकुमार ने उत्साहपूर्वक पुण्योपाजित करने के लिए सातों धर्मक्षेत्रों में बहुत-सा द्रव्य खुले हाथों दिया। कोणिक सम्राट् ने जम्बूकुमार आदि सबका दीक्षा-महोत्सव अपनी ओर से किया। प्रभव आदि ५०० चोर, जम्बूकुमार के माता-पिता, आठ पत्नियाँ और उनके माता-पिता, यों कुल ५२७ व्यक्ति जम्बूकुमार के साथ जैनेन्द्रदीक्षा अंगीकार करने के लिए आर्यश्री सुधर्मास्वामी के पास आये और ५२७ ही व्यक्तियों ने चारित्र धारण किया। जम्बूकुमार ने मुनि बनने के बाद क्रमशः द्वादशाब्दी का अध्ययन किया, चतुर्दशपूर्वधर हुए और चार ज्ञान प्राप्त करके श्री सुधर्मास्वामी के उत्तराधिकारी गणधर पद से विभूषित हुए। उसके बाद चार घनघाती कर्मों का क्षय करके उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष में जा बिराजे। एक श्लोक में उनकी गुणगाथा इस प्रकार है—

धन्योऽयं सुरराजराजिमहितः श्रीजम्बूनामा मुनिस्तारुण्येऽपि,

पवित्ररूपकलितो यो निर्जिगाय स्मरम् ।

त्यक्त्वा मोहनबन्धनं निजवधूसम्बन्धमत्यादरान्,

मुक्तिस्त्रीवरसङ्गमोद्भवसुखं लेभे मुदा शाश्वतम् ॥४६॥

अर्थात् - धन्य है इन्द्रों के द्वारा पूजित श्री जम्बू नामक मुनि को, जिन्होंने पवित्र रूप और लावण्य से सम्पन्न तरुणाई में भी कामदेव को जीत लिया और मोह के मूल कारण—अपनी पत्नियों के साथ संबंध—को अत्यंत आदर पूर्वक छोड़कर

प्रसन्नता पूर्वक मुक्ति कामिनी के श्रेष्ठ संगम से उत्पन्न शाश्वत मोक्षसुख को प्राप्त किया ॥४६॥

मतलब यह है कि जम्बूस्वामी जैसे कई सुज्जन सब प्रकार के विषय सुख साधन उपलब्ध होते हुए भी क्षणिक समझकर स्वेच्छा से, स्वतः प्रेरणा से छोड़ देते हैं और शाश्वत सुख में रमण करते हैं। कई प्रभव चोर सरीखे सुलभबोधि व्यक्ति जम्बूस्वामी जैसों के प्रभाव से—परतः प्रेरणा से—विरक्त होकर संसारसागर को तरने में समर्थ हो जाते हैं। यहाँ तक ३७ वीं गाथा से सम्बन्धित विषय समझना चाहिए।

दीसन्ति परमघोरायि, पथरथम्मप्यभावपडिबुद्धा ।

जह सो चिलाइपुत्तो, पडिबुद्धो सुंसुमाणाए ॥३८॥

शब्दार्थ - अत्यंत भयंकर और रौद्रध्यानी व्यक्ति भी (धर्मप्रवरों के) श्रेष्ठ और शुद्ध धर्म के प्रभाव से प्रतिबुद्ध (अधर्म को छोड़कर धर्म में जाग्रत) होते दिखाई देते हैं। जैसे चिलातीपुत्र को सुसुमा के निमित्त से प्रतिबोध प्राप्त हो गया था ॥३८॥

भावार्थ - बहुत-से लोग अत्यंतघोर रौद्रध्यानी प्रतीत होते हुए भी शुद्ध और विशिष्ट धर्म के प्रभाव से प्रतिबुद्ध हो जाते हैं। आर्हत-धर्म के प्रभाव से उनकी मिथ्यात्वनिद्रा उड़ जाती है; उनकी अज्ञान में सोयी हुई आत्मा धर्मध्यान में जाग्रत हो जाती है। जैसे धनावह सेठ की दासी चिलाती का पुत्र घोर रौद्रकर्म करने वाला था, लेकिन उसी सेठ सुसुमा नाम की पुत्री के निमित्त से उसे प्रतिबोध हो गया।

नीचे हम पूर्वभव के वर्णन पूर्वक चिलातीपुत्र की कथा दे रहे हैं—

चिलातीपुत्र की कथा

क्षितिप्रतिष्ठित नगर में यज्ञदेव नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह व्याकरण, काव्य, तर्क, मीमांसा आदि शास्त्रों के वादविवाद में अत्यंत निपुण था और अनेक शास्त्रों में पारंगत था। एक बार उसने ऐसी प्रतिज्ञा कर ली कि—“जो मुझे विवाद में जीत लेगा, मैं उसका शिष्य बन जाऊंगा।” इस प्रतिज्ञा के बाद यज्ञदेव ने अनेक प्रतिवादियों को शास्त्रार्थ में जीत लिया। मगर एक दिन एक छोटेसे साधु के साथ विवाद में वह हार गया और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वह उनका शिष्य बन गया। मुनिधर्म की दीक्षा धारण करके वह भाव पूर्वक महाव्रतों का पालन करने लगा। परंतु मनुष्य का जातिस्वभाव सहसा नहीं जाता। यज्ञदेव मुनि भी अपनी पूर्वजाति

के संस्कारवश शरीर और वस्त्रों के मैले हो जाने पर भी समभाव पूर्वक सहन करने के परिषह को लेकर धर्म की निन्दा करने लगा। कभी-कभी सोचने लगा—‘यह मुनिधर्म का मार्ग अन्य सभी मार्गों से अच्छा है, लेकिन इसमें स्नान-प्रक्षालन आदि का निषेध होने से महानिन्दा का कारण है।’ यद्यपि मलपरिषह उसे असह्य लगता था, फिर भी चारित्रिनाश के भय से वह स्नानादि द्वारा शरीर आदि का प्रक्षालन नहीं करता था।

एक दिन यज्ञदेव मुनि के उपवास का पारणा था। वे भिक्षा के लिए घूमते-घूमते ‘कपोतवृत्ति’ न्याय से अपनी पूर्वाश्रम की पत्नी के यहाँ जा पहुँचे। उसने अपने पति को देखा तो मोहवश पूर्वस्नेह के कारण उन पर सम्मोहन-प्रयोग किया, उससे दिनों-दिन उनका शरीर दुर्बल होने लगा। उनका शरीर जब सूखकर कांटा हो गया तो वे अन्यत्र विहार करने में अशक्त हो गये। अपना अंतिम समय नजदीक जानकर उन्होंने आजीवन अनशन (संथारा) कर लिया और कालधर्म (मृत्यु) प्राप्त करके वहाँ से देवलोक में पहुँचे। मुनि की पूर्वाश्रम की पत्नी को जब यह पता लगा तो वह अत्यंत पश्चात्ताप करने लगी—“हाय! मैं क्या जानती थी कि मेरे सम्मोहन प्रयोग से उनका शरीर छूट जायगा। धिक्कार है मुझे! मैंने अपने पति की हत्या का महापाप किया! इस मुनिहत्या से मुझे नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा! मैं अशरण और अनाथ अब कहाँ जाऊँ? यह श्रमणधर्म का वेश ही अब मेरे लिये शरणदाता बनेगा।” यों सोचकर उसने संसार से विरक्त होकर एक चारित्रशीला साध्वी से दीक्षा ले ली। साध्वी बनने के बाद उसने ज्ञानाभ्यास के साथ-साथ कठोर तपश्चर्या की और सम्यग् रूप से महाव्रतों की आराधना करके अंतिम समय में अपने पूर्व पापों की भलीभांति आलोचना-निन्दा करके प्रायश्चित्त ग्रहण कर, शुद्ध होकर वहाँ से मरकर वह देवलोक में पहुँची।

दूसरे भव में यज्ञदेव मुनि का जीव देवलोक से आयुष्य पूर्ण करके पूर्वजन्म में साधुधर्म की निन्दा करने के कारण उपाजित नीचगोत्रकर्म के फल स्वरूप राजगृह नगर में धनावह सेठ की दासी चिलाती की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। सब लोग उसे ‘चिलातीपुत्र’ कहने लगे। उसकी पत्नी—जो बाद में साध्वी बनी थी—का जीव देवलोक से आयुष्य पूर्णकर उसी सेठ धनावह के घर में उसकी पत्नी भद्रा की कुक्षि से पुत्री रूप में उत्पन्न हुई। उसका नाम रखा गया—‘सुसुमा’। चिलातीपुत्र कुछ बड़ा हो जाने पर सेठ की लड़की सुसुमा को हरदम खेलाता था। पूर्वजन्म के संस्कारवश चिलातीपुत्र का सुसुमा के प्रति अत्यंत स्नेह

हो गया। एक क्षण भी वे दोनों स्वयं को एक दूसरे से अलग नहीं देख सकते थे। दोनों युवा थे और बार-बार एक-दूसरे से एकान्त में मिला करता। सेठ ने चिलातीपुत्र को सुसुमा से एकान्त में मिलने और बात करने से मना भी किया, लेकिन वह न माना। एक दिन सुसुमा के साथ चिलातीपुत्र को कामचेष्टा करते देख कर धनावह सेठ ने विचार किया—‘यह दासीपुत्र दुर्व्यसनी, शराबी, झगड़ालू और अनाचारी हो गया है, इसीलिए अब इसे अपने घर में एक दिन भी रखना ठीक नहीं।’ फलतः उसे अपमान पूर्वक घर से निकाल दिया। उसकी मां पहले ही मर गयी थी। मन में भयंकर प्रतिक्रिया जागी। सभ्य कहलाने वाले समाज से उसे नफरत हो गयी। वह ऐसे समाज में रहना चाहता था, जहाँ उसे सब प्यार करें। दूँढते-दूँढते वह एक दिन चोरपल्ली में पहुँच गया। वहाँ कुछ ही दिनों में वह चोरों के साथ घुलमिल गया और चोरी करने में निपुण हो गया। सभी चोरों ने चिलातीपुत्र को अतिसाहसिक जानकर पल्लीपति (सरदार) बना दिया। उसकी हिंमत इतनी बढ़ गयी थी कि भयंकर से भयंकर पापकर्म; बल्कि किसी की हत्या तक करने में—वह जरा भी नहीं हिचकिचाता था। परंतु यहाँ आने पर भी सुसुमा उसके मन से गयी नहीं थी।

एक दिन उसने पल्ली के सब चोरों को एकत्रित करके कहा—‘‘भाईयो! आज हम धनावह सेठ के यहाँ चोरी करने चलेंगे। वहाँ जो भी माल मिले, वह तुम सबका; सिर्फ सुसुमा मेरी।’’ सबने यह शर्त मंजूर कर ली और शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर सभी चोर चिलातीपुत्र के नेतृत्व में राजगृह नगर में सीधे धनावह सेठ के महल में जा धमके। उनका अप्रत्याशित आगमन देख सब भौंकके रह गये। सुसुमा उस समय विवाह के वस्त्राभूषण पहने एक कोने में दुबकी हुई बैठी थी। अन्य सभी चोर धनमाल बटोरने में लग गये और चिलातीपुत्र सीधे सुसुमा के पास पहुँचा। उसने सुसुमा को उठाया और वहाँ से भागा। अन्य चोर धनमाल की गठड़ियाँ बांधकर उठाये हुए दौड़े। सेठ ने यह देखकर शोर मचाया। दुर्गपाल को इस दुर्घटना की खबर दी गयी। तुरंत कई विकट योद्धाओं को साथ लेकर उसने चोरों का पीछा किया। सेठ भी अपने पुत्रों को लेकर दुर्गपाल के साथ चल पड़ा। आगे-आगे चोर और पीछे-पीछे दुर्गपाल, उसके साथी और सेठ का परिवार! चोरों के सिर पर गठड़ियों का बोझ होने से उनके लिये फुर्ती से चलना कठिन हो गया। कई चोरों ने गठड़ियों को जमीन पर मार गिराया। दुर्गपाल वगैरह अन्य चोरों से निपटने में लगे थे कि चिलातीपुत्र सुसुमा को लेकर उन सबकी आँख बचाकर दूसरी दिशा में भागा। धनावह सेठ ने देख लिया। ‘धन की रक्षा के लिए तो

दुर्गपाल आदि ही काफी हैं,' यह जानकर सेठ अपने पुत्रों सहित चिलातीपुत्र के पीछे दौड़ा। सुसुमा भी थक गयी थी और चिलातीपुत्र भी। सुसुमा को साथ लेकर उसके लिये तेज भागना अब कठिन हो गया था। परंतु सुसुमा को वह दूसरों के हाथों में जाने देना नहीं चाहता था। इसीलिए फौरन निर्णय करके उसने तलवार निकाली और सुसुमा का सिर धड़ से अलग कर दिया। अब वह सुसुमा के धड़ को वहीं छोड़कर, कटे हुए सिर को लेकर भाग चला। धनावह सेठ आश्चर्य से देखता ही रह गया। अब आगे भागना निरर्थक समझकर वह अपने पुत्रों सहित वापिस लौट गया।

चिलातीपुत्र पागलों की तरह कटे हुए सुसुमा के सिर को हाथ में लिये भागा जा रहा था। इसी रौद्रदशा में जाते-जाते रास्ते में उसने एक शांत, निर्विकार ध्यानस्थ मुनि को देखा। देखते ही वह उल्लंघता से बोला हे मुंड! धर्म कहे" [नहीं तो तलवार से सिर उड़ा दूंगा।] मुनि ने अपने ज्ञान से जाना कि "यह है तो महापापी, लेकिन धर्मबोध प्राप्त करके महान् बन सकता है।" मुनि ने संक्षेप में उसे कहा—“उपशम, विवेक और संवर प्राप्त करना धर्म है।” तीन रत्नों के समान यह त्रिपदी बताकर मुनि “नमो अरिहंताय” बोलकर अपनी लब्धि के बल से आकाश में उड़ गये। चिलातीपुत्र कुछ देर तक तो आश्चर्यचकित रहा, फिर अंतर की गहराई में डूब गया। सोचा—“इस शांत, निःस्पृह और संतुष्ट महात्मा ने मुझे यथार्थ ही कहा है। वास्तव में मेरे सरीखे महापापी के लिए यहीं धर्म है; क्योंकि उपशम (शांति) प्राप्त किये बिना मैं क्रोध और आवेश की दशा में सही सोच नहीं सकता, सही विवेक नहीं कर सकता और न ही पापकर्मों से रुक सकता हूँ। और धर्माचरण किये बिना मेरी आत्मशुद्धि कदापि नहीं हो सकती। इसीलिए मुझे इन महापुरुष के वचनानुसार अवश्य चलना चाहिए; तभी मैं इनके समान शांत, निःस्पृह और संतुष्ट हो सकूंगा। धिक्कार है मुझे! मैं क्रोधांध बनकर अपने आपे में न रहा, एक युवती के पीछे मोहांध बनकर मैंने अपनी शांति खो दी, लोभांध बनकर मैंने चोरी का धंधा अपनाया, जिससे मेरा संतोष-धन नष्ट हो गया, मानांध बनकर मैंने हत्याएँ की। अब इस महापाप को घोने और अपनी आत्मा में स्थित होने के लिए 'उपशम' यानी क्रोधादि कषायों को शांत करना चाहिए, 'विवेक' यानी विकारोत्पादक बाह्य वस्तुओं का त्याग करना चाहिए और 'संवर' अर्थात् मन-वचन-काया के दुष्ट (अशुभ) व्यापारों (प्रवृत्तियों) को रोकना चाहिए।” यों सोचकर चिलातीपुत्र ने फौरन अपने हाथ में ली हुई तलवार और सुसुमा का

सिर एक ओर फेंक दिये। अधोवस्त्र के सिवाय सारे कपड़े उतारकर फेंक दिये; शांत और निश्चिन्त होकर आँखों को मूंदकर, शरीर के अंगोपांगों और इन्द्रियों की चेष्टाओं को रोककर वही कायोत्सर्ग (ध्यान) में लीन हो गया। मन में उन्हीं तीन पदों पर गहराई से चिन्तन मनन और अन्तर्मथन करने लगा। शरीर और कपड़े पर लगे हुए खून की गंध से शीघ्र ही वहाँ बहुत-सी वज्रमुखी चींटियाँ इकट्ठी हो गयीं; वे चिलातीपुत्र के शरीर पर चढ़ गयीं। और निःशंक होकर उसके शरीर का रक्त और मांस काटकर खाने लगीं। परंतु चिलातीपुत्र उस समय आत्मध्यान में इतना तन्मय हो गया था कि उसे आत्मा के सिवाय किसी और चीज का भान न रहा। 'यह शरीर मेरा नहीं, न मैं इसका हूँ' इस प्रकार के विचार में डूबकर उसने शरीर के प्रति आसक्ति भी छोड़ दी। आत्मध्यान से जरा भी विचलित न होने के कारण सिर्फ ढाई दिनों में चिलातीपुत्र ने अपने बहुत-से पापकर्मों का क्षय कर डाला और शरीर छूटने पर वहाँ से वह देवलोक में पहुँचा।^१

धन्य है इस धर्म को और इस धुरंधर को; जिनके प्रभाव से चिलातीपुत्र जैसा घोर पापी भी स्वर्गमुख का अधिकारी बना। धर्म का लक्षण और भेद इस प्रकार है—

दुर्गतिप्रपतत्-प्राणिधारणाद्धर्म उच्यते ।

संयमादि-दशविधः सर्वज्ञोक्तो हि मुक्तये ॥४७॥

अर्थात् - यह धर्म इसीलिए कहलाता है कि यह दुर्गति में गिरते हुए प्राणियों को धारण करता है, बचाता है। वह सर्वज्ञों द्वारा कथित धर्म मुक्ति (कर्म-बन्धनों से) के लिए ही है और वह संयम आदि १० प्रकार का है। ४७॥

कई भोलेभाले लोग ऐसी शंका कर बैठते हैं कि बहुत पापकर्म करने वाले व्यक्तियों को धर्म कभी नहीं तार सकता; उनके समाधान के लिए धर्म के प्रभाव पर चिलातीपुत्र का ज्वलन्त उदाहरण ऊपर दिया गया है। चिलातीपुत्र ने जिस प्रकार धर्मधुरंधर मुनि के द्वारा कथित त्रिपदी पर मंथन करके संकल्पबद्ध होकर अपना कल्याण कर लिया था, उसी प्रकार अन्यजीवों को भी प्रवृत्त होना चाहिए। ३८॥

१. जो तिहिं य पएहिं धम्मं, समहिगओ संजमं समभिरुद्धो । उवसम-विवेग-संवर, चिलाइपुत्तं नमंसांमि ॥१॥ २. अहिसरिया पाएहिं सोणियगंधेण जरस्स कीडीओ । खायंति उत्तमंगं, तं दुक्करकारयं वंदे ॥२॥ ३. धीरो चिलाइपुत्तो मुइंगलियाहिं चालणिव्व कओ । सो तह वि खज्जमाणो, पडिवन्नो. उत्तमं अट्ठं ॥३॥ ४. अड्ढाइज्जेहिं राइदिएहिं, पत्तं चिलाइपुत्तेणं । देविदामरभवणं, अच्छरगणसंकुलं रम्मं ॥४॥ [आवश्यक निर्युक्ति ८७२-८७५]

उसी धर्मपालन के प्रभाव पर कहते हैं—

पुष्कियफलिए तह पिउधरंमि, तण्हा-छुहा-समणुवद्धा ।

ढंढेण तहा विसडा, विसडा जह सफलया जाया ॥३९॥

शब्दार्थ - ढंढणकुमार अपने पिता के यहाँ बहुत फूले-फले थे, लेकिन मुनि बनकर जैसे उन्होंने तृषा (प्यास) और क्षुधा (भूख) समभाव से सहन की, वैसे ही सहन करने (सहिष्णुता) से सफलता मिलती है ॥३९॥

भावार्थ - ढंढणकुमार ने कृष्ण वासुदेव के यहाँ जन्म लिया था। वे अपने घर में सर्वथा पुष्पित-फलित—यानि सब प्रकार की सुखभोग की सामग्री से युक्त, भरेपूरे घराने के थे। लेकिन कर्मक्षय करने के लिए वे मुनि बनें और अलाभपरिषद को समभाव से उन्होंने सहन किया। परिणाम स्वरूप उन्हें अपने कर्मक्षय रूप कार्य में सफलता मिली; केवलज्ञान रूपी उत्तम फल प्राप्त हुआ।

ढंढणकुमार की कथा इस प्रकार है—

श्री ढंढणकुमार की कथा

ढंढणकुमार अपने पूर्वजन्म में पाँच-सौ हलधरों (किसानों) पर अधिकारी था। दोपहर में जब उनके भोजन का समय होता और उन सबके लिए भोजन आता, उस समय वह उनसे कहता—मेरे “खेत में एक-एक क्यारी में पहले हल चलाओ, उसके बाद ही तुम्हें भोजन करने दिया जायगा। बैलों को भी तभी खाने को दिया जायगा।” बेचारे पाँच सौ हलधर और एक हजार बैल उतनी देर तक भूख के मारे छटपटाते रहते। ५०० हलधरों और १००० बैलों के आहारपानी में प्रतिदिन इसी तरह अंतराय डालने के फलस्वरूप ढंढणकुमार के जीव ने उस जन्म में भारी अंतरायकर्म का बंध कर लिया। वहाँ से मरकर चिरकाल तक अनेक भवों में भटकने के बाद उसने द्वारिका नगरी में कृष्ण वासुदेव के यहाँ ढंढणारानी की कुक्षि से पुत्ररूप में जन्म लिया। ढंढणकुमार नाम से वह प्रसिद्ध हुआ। बचपन बीत जाने पर यौवन में कदम रखते ही उसके पिता श्री कृष्णजी ने उसका धूमधाम से विवाह किया। पत्नियों के साथ वैषयिक सुखों का उपभोग करते हुए सुख में काफी समय व्यतीत हुआ।

एक बार भगवान् श्री अरिष्टनेमि अपने शिष्य-समुदाय-सहित द्वारिका नगरी के बाहर एक विशाल उद्यान में पधारे। ढंढणकुमार आदि को साथ लेकर श्री कृष्णजी प्रभु को वंदन करने के लिए पहुँचे। सभी प्रभु को वंदना करके यथायोग्य स्थान पर बैठे। भगवान् ने कुबुद्धिरूपी अंधकारनाशिनी, पतितजनों का उद्धार

करनेवाली, अमृतनिर्झर के समान, मोहमल्लनाशिनी, सर्वक्लेशहारिणी पवित्र धर्मदेशना दी। वैराग्यरस से ओतप्रोत भगवद्वाणी सुनकर ढंढणकुमार का मन वैराग्यसागर में हिलोरे लेने लगा। उसने माता-पिता की आज्ञा से भगवान् अरिष्टनेमि के पास भागवती मुनिदीक्षा अंगीकार की। दीक्षा-ग्रहण करने के बाद ढंढणमुनि द्वारिका नगरी में भिक्षा के लिए घर-घर जाते हैं। श्री कृष्ण वासुदेव के पुत्र और श्री अरिष्टनेमिनाथ के शिष्य के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी उन्हें कहीं शुद्ध (आहार ग्रहण के दोषों से रहित) आहारपानी नहीं मिलता। भगवान् अरिष्टनेमि ने एक दिन इसका रहस्योद्घाटन किया—“मुने! तुम्हें शुद्ध आहार नहीं मिलता, उसका कारण और कोई नहीं, पूर्वजन्म में बांधा हुआ अंतरायकर्म ही है। वह कर्म अब उदय में आया है। अतः ऐसा करो कि तुम्हारे लिये दूसरे मुनि जो आहार लावें, उसे तुम ग्रहण कर लिया करो” शुद्ध भावों की तीव्रता और बांधे हुए अंतराय कर्म का क्षय करने की तमन्ना को लेकर ढंढणमुनि ने भगवान् से हाथ जोड़कर सविनय प्रार्थना की—“त्रिलोकनाथ प्रभो! आज से मुझे ऐसा अभिग्रह (सत्संकल्प) करा दीजिए कि जब तक मेरे अंतरायकर्म का क्षय नहीं हो जाता तब तक मैं अपनी लब्धि से प्राप्त और स्वयं लाया हुआ आहार ही ग्रहण करूँगा, दूसरे की लब्धि का या दूसरे के द्वारा लाया हुआ आहार आज से मुझे अकल्प्य-अग्राह्य होगा।”

प्रभु ने उन्हें ‘जहासुहं’ कहकर वैसा अभिग्रह करा दिया। अभिग्रहधारी ढंढणमुनि शांत और अव्याकुलचित्त से भिक्षा के लिए नगरी में घूमते हैं; लेकिन उन्हें अपने अभिग्रह के अनुसार शुद्ध आहार नहीं मिलता। इस प्रकार समभावपूर्वक भूखप्यास को सहते हुए उन्हें बहुत समय बीत गया।

एक दिन भगवान् अरिष्टनेमि को वंदनार्थ श्रीकृष्ण वासुदेव आये। उन्होंने वंदना करके भगवान् से पूछा—“भगवन्! आपके १८००० साधुओं में दुष्कर कृत्य करने वाला साधु कौन है?” भगवान् ने कहा—“मेरे सभी मुनियों में संयम की उत्कृष्ट आराधना करने वाले ढंढणमुनि हैं।” श्रीकृष्ण—“भगवन्! उनमें कौन-से गुण की विशेषता है? भगवान् ने ढंढणमुनि के दुष्कर अभिग्रह (सत्संकल्प) लेने की बात कही। सुनकर श्री कृष्ण हर्ष से नाच उठे और कहने लगे धन्य-धन्य है ढंढणमुनि को, जिन्होंने इस प्रकार का विकट अभिग्रह धारण किया है! भगवन्! ढंढणमुनि इस समय कहाँ है? मुझे उन्हें वंदन करने की तीव्र इच्छा है।” भगवान् ने कहा “वह इस समय नगरी में भिक्षा के लिए गया हुआ है। तुम्हें रास्ते में सामने आता हुआ मिलेगा।” श्रीकृष्ण अपने हाथी पर बैठे हुए द्वारिका नगरी के बाजार से गुजर रहे थे, तभी सामने से ढंढणमुनि को आते हुए उन्होंने देखा।

वे फौरन हाथी से नीचे उतरे और ढंढणमुनि को भक्तिभावपूर्वक तीन बार प्रदक्षिणा करके वंदना की; और कहा—“धन्य हो मुनिवर आपको! आप अत्यंत पुण्यशाली हैं। प्रबल भाग्य के बिना आपके दर्शन सुलभ नहीं हैं।” उस समय श्रीकृष्णजी के साथ १६००० राजा थे, उन्होंने भी मुनि के चरणों में नमस्कार किया। ठीक उसी समय अपने घर के गवाक्ष में बैठा हुआ एक वणिक् यह सब देख रहा था। उसने अपने वणिक्-संस्कारवश सोचा—“हो न हो, यह मुनि बड़े प्रभावशाली जान पड़ते हैं, जिससे महासमृद्धिशाली श्रीकृष्ण आदि राजा भी इनके चरणों में नमन करते हैं। अतः क्यों न मैं भी इन्हें बुलाकर बढ़िया लड्डू इनके भिक्षापात्र में देकर इस महापुण्य का लाभ लूं!” फलतः वह तुरंत वहाँ से उठकर राजमार्ग पर आया। ढंढणमुनि को वह अति आदरपूर्वक अपने घर ले गया और बड़े भक्तिभाव से उनके पात्र में लड्डू वहोराएँ।

ढंढणमुनि स्वाभाविक रूप से प्राप्त आहार जानकर उसे लेकर भगवान् के पास आये और हर्षविश में उनसे सविनय पूछा—“भगवान्! क्या आज मेरा अंतरायकर्म समाप्त हो गया?” भगवान् ने कहा—“नहीं, वत्स! अभी तक तुम्हारा अंतरायकर्म क्षीण नहीं हुआ।” ढंढणमुनि—“तो भगवन्! आज मुझे जो आहार मिला है, वह क्या मेरी लब्धि से नहीं मिला?” “नहीं, वत्स! यह आहार तेरे अंतरायकर्म के क्षय होने से या तेरी अपनी लब्धि से प्राप्त नहीं हुआ। यह तो श्री कृष्ण वासुदेव की लब्धि से तुझे प्राप्त हुआ है।” भगवान् ने रहस्य खोला। “तब तो भगवान्! मेरे लिये यह आहार अकल्पनीय और अग्राह्य है। मैं इसे कदापि ग्रहण नहीं करूँगा, क्योंकि इससे मेरी सत्य प्रतिज्ञा में आंच आयेगी। मैं इसे निरवद्य स्थान में परिष्ठापन (डाल) कर आता हूँ।” यों कहकर भगवान् से अनुमति लेकर ढंढणमुनि उस आहार को निरवद्य भूमि पर परिष्ठापन करने चल पड़े। वे मोदकों को चूरते जाते हैं, साथ ही साथ विशुद्ध से विशुद्धतर भावों (अध्यवसायों) के सोपान पर चढ़कर, शुक्लध्यान रूपी अग्नि से अपने पूर्वकृत अंतरायकर्म ही नहीं, चारों घनघाती कर्मों को चूर-चूरकर डालते हैं। फलस्वरूप उन्हें वहीं केवलज्ञान प्राप्त हो गया। देवों ने उसकी खुशी में दुंदुभियां बजाई। चारों और जयजयकार के नारों से द्वारिकानगरी गूंज उठी। श्रीकृष्ण आदि भव्यजनों को यह जानकर अपार हर्ष हुआ। तत्पश्चात् केवलज्ञानी ढंढणमुनि काफी समय तक स्व-पर कल्याणार्थ भूमंडल पर विचरते रहे और अंत में जन्म-मरण से सर्वथा रहित होकर मोक्ष में जा बिराजे। ३९॥”

अन्य मुनियों को भी इसी प्रकार धर्माचरण करके कर्मक्षय करना चाहिए।

आहारेसु सुहेसु अ, रम्मावसहेसु काणणेषु च ।

साहूण नाहिगारो, अहिगारो धम्मकज्जेसु ॥४०॥

शब्दार्थ - बढ़िया आहार, रमणीय उपाश्रय (धर्मस्थान) या सुंदर उद्यान पर साधुओं का कोई अधिकार नहीं होता; उनका अधिकार तो केवल धर्मकार्यों में ही होता है ॥४०॥

भावार्थ - स्वादिष्ट खानपान पर, आलीशान उपाश्रय (धर्मस्थान) पर या रमणीय बाग-बगीचों पर साधुओं का अपना कोई अधिकार (स्वामित्व) नहीं होता; क्योंकि इन सबके प्रति स्वामित्व (मालिकी हक) वे छोड़ चुके हैं। मुनियों का अधिकार केवल धर्मकार्य करने-[कराने] में है। क्योंकि त्याग, तप, जप, इन्द्रियनिग्रह, क्षमा, कषायोपशमन आदि धर्मकार्य-धर्मप्रवृत्ति तो उनके आधीन हैं। कोई भी किसी भी समय उन्हें इन धर्मकार्यों को करने से रोक नहीं सकता। मगर उपर्युक्त वस्तुओं का उपयोग तो वे धर्मप्राप्त (भिक्षाधर्म से प्राप्त) होने पर ही कर सकते हैं। किन्तु उन वस्तुओं पर अपना स्वामित्व हक स्थापित करके अपना कब्जा नहीं जमा सकते; न उन इन्द्रियसुखकारी पदार्थों पर वह आसक्तिभाव ही रख सकते हैं ॥४०॥

साहू कंठारमहाभएसु, अवि जणवए वि मुइयम्मि ।

अवि ते सरीरपीडं, सहंति न लहंति, य विरुद्धं ॥४१॥

शब्दार्थ - साधु महाभयंकर घोर जंगलों में भी सुखसामग्री से समृद्ध जनपद (प्रदेश) की तरह निरुपद्रव समझकर सर्वत्र कष्टसहिष्णु होकर शारीरिक पीड़ा सहन करते हैं; किन्तु साधुधर्म के नियमों के विरुद्ध आहारादि ग्रहण नहीं करते ॥४१॥

भावार्थ - साधुगण महाभयंकर जंगलों में भी अपने को निरुपद्रव समृद्ध जनपद में हूँ, ऐसा समझकर शारीरिक पीड़ा सहन करते हैं, मगर संयम विरुद्ध आचरण नहीं करते। यानी चाहे जैसे कष्ट उपस्थित होने पर मुनिजन अनैषणीय (अशुद्ध), अकल्पनीय (नियमविरुद्ध) आहारादि नहीं लेते और न दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा सामने लाया हुआ आहारादि का भी वे सेवन करते हैं। मतलब यह है कि आहारादि लेने का उन पर प्रतिबंध नहीं है, प्रतिबंध है तो एकमात्र धर्माचरण का ही, सर्वत्र धर्म का विचार करके विचरण करना ॥४१॥

जंतेहिं पीलियावी हु, खंदगसीसा न चेव परिकुविया ।

विइयपरमत्थसारा, खमंति जे पंडिया हुंति ॥४२॥

शब्दार्थ - यंत्र (घाणी) में पीलने पर भी स्कन्दकाचार्य के शिष्य कुपित

नहीं हुए, क्योंकि वे परमार्थ के तत्त्व को जान गये थे। जो पण्डित होते हैं, वे स्वयं कष्ट सहते हैं, किन्तु अपकारी को भी क्षमा कर देते हैं ॥४२॥

भावार्थ - 'पालक नाम के पुरोहित ने स्कन्दकाचार्य के ५०० शिष्यों को घानी में पील दिया, फिर भी उन्होंने क्रोध नहीं किया। प्रत्युत, उपसर्ग देने (कहर बरसाने) वाले पर भी उनके मन में करुणा थी। जो परमार्थवेत्ता और तत्त्वज्ञ होते हैं, वे सदा क्षमाधारण करते हैं, प्राणांत कष्ट होने पर भी वे संयममार्ग से विचलित नहीं होते; वे विषम परिस्थितियों में भी अपने धर्म पर शुद्धनिष्ठा पूर्वक स्थिर रहते हैं।' इस सम्बन्ध में स्कन्दकाचार्य के शिष्यों का ज्वलन्त उदाहरण देखिए—

स्कन्दकाचार्य व उनके शिष्यों की कथा

श्रावस्ती नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम धारिणी था। उसकी कुक्षि से स्कन्दककुमार का जन्म हुआ। 'पुरन्दरयशा' स्कन्दक की बड़ी बहन थी। भाई-बहन में बड़ा स्नेह था। बड़ी होने पर पुरन्दरयशा की शादी कुम्भकारकटक नगर के राजा दण्डक से कर दी गयी। दण्डक राजा के दरबार में पालक नाम का पुरोहित था। एक बार दण्डक राजा ने किसी आवश्यक कार्य से पालक को अपने ससुराल जितशत्रुनृप के पास भेजा। पालक जितशत्रु की राजसभा में पहुँचा और उनसे अपने आने का प्रयोजन बताया। बातचीत के सिलसिले में वहाँ धर्मचर्चा चल पड़ी। पालक ने अपने नास्तिक मत का प्रतिपादन किया, जिसका वहाँ बैठे हुए जैनतत्त्वों के विशेषज्ञ स्कन्दककुमार ने अपनी अकाट्य युक्तियों से खण्डन कर दिया। पालक निरुत्तर और हतप्रभ हो गया। उसके अहंकार को चोट लगने के कारण चोट खाये हुए साँप की तरह वह क्रोध से तमतमा उठा। मगर वहाँ वह कुछ न कर सका। अपने कार्य से निवृत्त होकर वह कुम्भकारकटक वापिस आया और अपमान का बदला लेने की ताक में रहने लगा।

एक बार भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी में पधारें। स्कन्दककुमार भी उनके दर्शन और वंदन के लिए गया। प्रभु का वैराग्यमय धर्मप्रवचन सुनकर स्कन्दककुमार को संसार से विरक्ति हो गयी। उसने ५०० राजपुत्रों के साथ मुनि-दीक्षा अंगीकार की। स्कन्दकमुनि दूर-सुदूर देशों में उग्रविहार करने लगे; सकल सिद्धान्त के ज्ञाता जानकर भगवान् ने उन्हें ५०० साधुओं का आचार्य बना दिया। एक दिन आचार्य स्कन्दकमुनि ने भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी के पास आकर सविनय प्रार्थना की—“भगवन्! अगर आप आज्ञा दें तो मैं अपने गृहस्थपक्ष के बहन-बहनेई—पुरन्दरयशा और दण्डक राजा-आदि को प्रतिबोध देने कुम्भकारकटक

नगर जाऊँ।” भगवान् ने कहा—“आचार्य! तुम वहाँ जाओ भले ही। लेकिन वहाँ तुम सब पर प्राणांतक उपसर्ग आयेंगे।” प्रभो! मैं उस उपसर्ग के निमित्त से आराधक होऊँगा या विराधक?” स्कन्दकाचार्य ने उत्सुकतावश पूछा। भगवान् ने कहा—“तुम्हारे सिवाय सब आराधक होंगे?” “प्रभो! तब तो मुझे खुशी है कि मेरी सहायता से मेरे सिवाय सभी मुनि आराधक होंगे। इसीमें मैंने सब कुछ भर पाया, यही समझूँगा।” यों कहकर भगवान् से आज्ञा प्राप्त करके स्कन्दकाचार्य ५०० साधुओं के साथ वहाँ से विहार करके कुम्भकारकटक नगर में पहुँचे। पालक पुरोहित ने जब यह जाना कि स्कन्दकाचार्य आ रहे हैं तो उसने पूर्व वैर का बदला लेने की दृष्टि से मुनियों के नगर में आने के पहले ही उनके रहने के योग्य वनभूमि में गुप्तरूप से अनेक हथियार गड़वा दिये। आचार्य स्कन्दक निःशंकभाव से नगर के बाहर वनभूमि में ठहरें। दण्डक राजा को उनके आगमन का पता लगते ही वह और नागरिक लोग उनके दर्शन को उमड़ पड़े। आचार्यश्री ने क्लेशनाशक धर्मोपदेश दिया, संसार की अनित्यता का स्वरूप बताया; जिसे सुनकर राजा और प्रजाजन बड़े आनन्दित हुए।

दुष्ट पालक ने उचित मौका देखकर एकान्त में राजा दण्डक के कान भरे—“स्वामिन्! यह स्कन्दकाचार्य साधु मालूम नहीं होता; यह तो पाखण्डी है; अपने साधुधर्म के आचरण से भ्रष्ट हो गया है। हजार-हजार सुभटों के साथ युद्ध कर सके ऐसे ५०० पुरुषों को यह साथ में लाया है। आपके साथ युद्ध में जीतकर यह आपका राज्य हथियाने के लिए आया है।” दण्डकराजा—“यह बात तुम कैसे जानते हो?” पालक ने कहा—“महाराज! हाथकंगन को आरसी क्या? मैं आपको इसकी धूर्तता का प्रत्यक्ष प्रमाण बताता हूँ। आप मेरे साथ चलकर देख लें!” राजा को पालक की बात कुछ वजनदार लगी। पालक ने चालाकी से स्कन्दकाचार्य आदि सभी साधुओं को दूसरे वन में भेज दिये, और उनके जाने के बाद वह राजा को साधु जहाँ ठहरे हुए थे; उसी वनभूमि में ले गया एवं जहाँ पहले उसने शस्त्र गाड़े थे, वहाँ से खोदकर निकाले और राजा को बताये। शस्त्रों को देखते ही राजा क्रोध से आगबबूला हो उठा। राजा ने तुरंत पालक को अनुमति दे दी—“तुम इन्हें जो भी दण्ड देना चाहो, दे सकते हो; तुम्हें खुल्ली छूट है। पालक की बाछें खिल गयीं। राजा तो इतना

कहकर अपने महल में लौट आया। लेकिन दुष्ट पालक ने अपना वैर वसूल करने के लिए मन में युक्ति सोचकर मनुष्यों को पीलने वाला एक महायंत्र (कोल्हू)

मंगाया। राजा के नाम से उसने सजा का हुक्म जारी किया। और स्कन्दकाचार्य के देखते ही देखते क्रमशः एक-एक साधु को कोल्हू में डलवाया। कोल्हू में अपने शिष्यों को पीलते देख स्कन्दकाचार्य प्रत्येक साधु को शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान का उपदेश देकर उसे आलोचना करवाते हैं, यथोचित प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते हैं, मन में समाधिभाव उत्पन्न करवाते हैं। फलस्वरूप उन साधुओं ने शरीर पर से ममत्त्व का सर्वथा त्याग कर दिया। और यही सोचा—“पीलने वाले का कोई दोष नहीं, दोष हमारी आत्मा का है; जिसने ऐसे भयंकर कर्म किये हैं। किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना उसका क्षय नहीं हो सकता।” इस प्रकार राग-द्वेष से रहित और अन्तःकरण में पालक आदि के प्रति करुणा से व्याप्त होकर उन मुनियों ने शुक्लध्यान से कर्मरूपी इन्धन को जलाकर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर पालक द्वारा कोल्हू में पिलते-पिलते अंतिम समय में केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार आचार्य के सामने ४९९ साधु मुक्ति में पहुँच गये। जब उनका एक छोटा शिष्य शेष रह गया; उसे भी पापात्मा पालक जब कोल्हू में डालने लगा तो स्कन्दकाचार्य से न रहा गया। उन्होंने पालक को ललकारते हुए कहा—“अरे दुष्ट! इतने से भी तेरी तृप्ति नहीं हुई है तो तू पहले मुझे कोल्हू में पील, बाद में इस बालमुनि को पीलना।” पर उसने आचार्य की एक न सुनी और झटपट कोल्हू में डालकर बालमुनि को पील डाला। स्कन्दकाचार्य यह देखकर तिलमिला उठे। सोचने लगे—“इस पिशाच की कैसी दुष्टता है? मेरी आँखों के सामने इस दुष्टात्मा ने कैसा अधमकार्य किया है? मन में आता है कि इसे भुन डालूँ।” आचार्य का चेहरा क्रोध से लालसूख हो गया। उनकी भ्रुकुटी तन गयी। एक ही क्षण में वे अपने आपे से बाहर हो गये। क्रोधाग्नि ने उनके संयमगुणों को भस्म कर डाला। कोल्हू में पीलने के समय अत्यंत आवेश में आकर उन्होंने पालक से कहा—“ले दुरात्मा, सुन ले! मैं तुझ दुष्ट को, अधम राजा को और अतिनिर्दय नगरनिवासियों को इस दुष्टता का मज्जा चखाये बिना न रहूँगा। मेरे तप-संयम का फल मुझे यही मिले कि मैं तुम्हारा, राजा का और इस नगर का सत्यानाश करने वाला बनूँ।” पालक उनको पीलकर पूर्व की हार को विजयोन्मत्त योद्धा की तरह विजय मानकर चला गया। आचार्य ने क्रोधावेश में भान भूलकर जो नियाणा (निदान, दुःसंकल्प) किया था, उसके फलस्वरूप वहाँ से मरकर अग्निकुमार-निकाय में देव बना।

मृत आचार्य के खून से लिपटे हुए रजोहरण को भ्रांति से हाथ समझकर एक गीध ने उठाया। दूसरा गीध यह देखकर उससे लड़ने लगा। इसी छीना-झपटी

में रजोहरण उसकी चौंच से छूट गया और रानी पुरन्दरयशा के महल के आंगन में आकर गिरा। पुरन्दरयशा पहचान गयी कि यह तो मेरे भ्राता-मुनि का रजोहरण है। परंतु उसे रक्त से लिस देखकर उसे गहरी आशंका हुई। इतने में तो नगर में मुनियों को कुमौत मारने का भयंकर शोरशराबा होता सुना और जब अपने विश्वस्त व्यक्तियों से सारी घटना यथार्थरूप से सुनी तो पुरन्दरयशा जोर से चिल्ला उठी—
“हाय रे पापात्मा! महान् अत्याचारी! दुष्ट! यह क्या भयंकर दुष्कर्म कर डाला? मुनिहत्या का पाप तो सातों ही पीढ़ियों को भस्म कर देगा। मुनिहत्या साधारणहत्या नहीं है! धिक्कार है तुम्हें! मैं अब ऐसे पापमहल में और पापमय संसार में नहीं रह सकती!” उसे संसार से विरक्ति हो गयी। उसकी आत्मा साधुत्व की साधना के लिए तड़फ उठी। शासनदेवता ने सपरिवार उठाकर उसे मुनिसुव्रतस्वामी की सेवा में पहुँचा दिया। वहाँ उसने साध्वी दीक्षा लेकर स्वकल्याण की साधना की।

इधर स्कन्दकाचार्य का जीव मरकर अपने पूर्वकृत निदान के फल स्वरूप अग्निकुमार-निकाय में देव बना। उसने अवधिज्ञान से उपयोग लगाकर कुम्भकारकटक नगर देखा। देखते ही क्रोधांध होकर उसने राजा दण्डक, दुष्ट पालक तथा नगरवासियों के सहित उस सारे प्रदेश को भस्म कर डाला। इसी कारण वह प्रदेश ‘दण्डकारण्य’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ कहना यही है कि स्कन्दकाचार्य के, सभी शिष्य प्राणान्त कष्ट दिये जाने पर भी क्रोधित न हुए, अपने क्षमाधर्म से जरा भी न डिगे, जिसके कारण वे सभी मोक्ष पहुँचे। इसीलिए शास्त्र में कहा है—
‘उवसमसारं खु सामण्णं’, (श्रमणत्व का सार उपशम-शांति है) कहा भी है—
क्षमाखड्गं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति ।

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥४८॥

अर्थात् - जिसके हाथ में क्षमारूपी तलवार है, उसका दुर्जन क्या बिगाड़ सकेगा? क्योंकि तृणरहित स्थान पर पड़ी हुई आग स्वयमेव शांत हो जाती है ॥४८॥

कथा का सारांश यही है कि ऐसी उत्कृष्ट क्षमा का धारण करना ही मोक्षप्राप्ति का प्रधान कारण है॥४२॥

जिणवयण-सुइ-सकण्णा, अवगणसंसारघोरपेयाला ।

बालाण खमंति जई, जइति किं एत्थ अच्छेरं? ॥४३॥

शब्दार्थ - जिनेन्द्र भगवान् के वचन सुनने से जिसके कान ‘सुकर्ण’ हो गये हैं, और जिन्होंने घोर संसार के असार स्वरूप को जान लिया है, ऐसे स्वरूपज्ञ व्यक्ति

यदि दुष्टचेष्टा वाले बालजीवों को क्षमा कर देते हैं तो इसमें कौन सी आश्चर्य की बात है? ॥४३॥

भावार्थ - लोकव्यवहार में जो कान वाला होता है, उसे सुकर्ण कहते हैं, मगर वास्तविक रूप से सुकर्ण वही है, जिसने जिनेश्वरदेवों का वचनामृत सुना है और उसे हृदय में धारण किया है। ऐसा सुकर्ण संसार के घोर विकटस्वरूप को भलीभांति जानता है। यदि ऐसे सुकर्ण और संसारतत्त्वज्ञ स्कन्दकाचार्य के मुनि शिष्यों ने यदि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवों की दुष्ट चेष्टाओं को सह ली और उन्हें क्षमा कर दिया तो इसमें कौन-सी आश्चर्य की बात हुई? क्योंकि दुष्टों के अपराधों को सहन करना और उन्हें बाल (अज्ञानी) समझकर क्षमा करना ही मुनियों के लिए उचित है ॥४३॥

न कुलं एत्थ भूहाणं, हरिएसबलस्स किं कुलं आसि? ।

आकंपिया तवेणं, सुरा पि जं पज्जुवासंति ॥४४॥

शब्दार्थ - इस धर्म में कुल की प्रधानता नहीं है। क्योंकि मुनि हरिकेशबल का कौन-सा कुल था? फिर भी उनके तप से आकर्षित (प्रभावित) होकर देव भी उनकी सेवा करते थे ॥४४॥

भावार्थ - जैनशासन में धर्मारामना करने में कुल को कोई प्रधानता नहीं दी जाती। ऐसा कोई यहाँ नियम या विधान नहीं है कि उग्र, भोग आदि उच्चकुल में पैदा हुआ व्यक्ति ही धर्मारामना कर सकता है। बल्कि उच्चकुल में जन्म लेकर भी यदि कोई नीच कार्य-धर्मविरुद्ध अनाचार-करता है तो वह नरकादि नीच गतियों में अवश्य जाता है और नीच कहलाने वाले कुल में पैदा होकर भी कोई सज्जन मुनि-धर्म या श्रावक-धर्म की सम्यक् आराधना करता है तो वह सद्गति का भाजन बनता है। क्या हरिकेशीबल का जन्म उच्चकुल में हुआ था? नहीं, उसका जन्म हुआ था, चाण्डाल के कुल में। लेकिन साधु-जीवन अङ्गीकार कर के उन्होंने वैराग्यपूर्वक तप, जप और संयम की इतनी उत्कृष्ट आराधना की थी कि मनुष्यों की तो बात ही क्या, देवता भी आकर्षित होकर उनकी सेवा-भक्ति में तत्पर रहते थे। इसीलिए जैनधर्म में सदाचरण की ही प्रधानता है, कुल जाति आदि की नहीं। यहाँ पूर्वजन्म के वर्णन पूर्वक हरिकेशबल की कथा दे रहे हैं—

हरिकेशबल मुनि की कथा

किसी समय मथुरा नगरी में शंख नामक राजा राज्य करता था। वह न्याय करने में बहुत निपुण था। एक बार शंख राजा ने मुनिराज का उपदेश सुना और

संसार की असारता जानकर वैराग्य-भाव से मुनि-दीक्षा ग्रहण की। विहार करते हुए वे एक बार हस्तिनापुर पधरें। वे शहर में जाने का रास्ता नहीं जानते थे। इसीलिए भिक्षा के लिए जाते समय उन्होंने सोमदेव पुरोहित से शहर में जाने का मार्ग पूछा। सोमदेव को मुनि-वेश पर बड़ा द्वेष था। इसीलिए उसने व्यन्तर से अधिष्ठित अग्नि के समान तप्त मार्ग बता दिया। मुनि सहजभाव से उसी मार्ग पर चल पड़े। सोमदेव सोचने लगा—'बड़ा अच्छा हुआ! अभी यह साधु मेरे बताये मार्ग से जायेगा और वहीं राख की ढेर हो जायेगा। जरा देखू तो सही तमाशा!' वह अपने घर के गवाक्ष में बैठकर तमाशा देखने लगा। परंतु उसकी आशाओं पर पानी फिर गया। शंख राजर्षि ईर्यासमिति-पूर्वक सावधानी से मंदगति से चले जा रहे थे। उनके तप-तेज और धर्माचरण के प्रभाव से वह व्यन्तर भी वहाँ से भाग गया; जिससे वह रास्ता शीतल हो गया। मुनि जब उस रास्ते से निर्विघ्न पार हो गये तो सोमदेव बड़ा प्रभावित हो गया। सोचने लगा—“यह इन मुनिवर का और धर्म का ही प्रभाव है, जिसके कारण अंगारों के समान तपतपाता यह मार्ग अत्यन्त ठंडा हो गया, व्यन्तर भी कोई उपद्रव न कर सका! धन्य है इस मुनि-वेश को! धन्य है इस धर्म को!” यों शुभ-विचारों में डूबता-उतरता वह मकान से नीचे उतरा। राजमार्ग पर जाते हुए शंख राजर्षि के चरणों में गिर पड़ा और बोला—“महात्मन्! मेरा अपराध क्षमा करें। मैंने अज्ञान और द्वेषवश यह दुष्कृत्य किया है।” मुनि ने उसे क्षमा किया और योग्य जानकर धर्मोपदेश दिया, जिसे सुनकर सोमदेव पुरोहित को प्रतिबोध हुआ। वह मन ही मन सोचता रहा—‘ये मुनि कितने उपकारी हैं, जो अपकार करने वाले पर भी उपकारी बुद्धि रखते हैं।’ पुरोहित ने आगे बढ़कर मुनि से प्रार्थना की—“भगवन्! जब आपने मुझ पर इतना उपकार करके जागृत किया है तो अब कृपा करके भवसागर में गोते खाते हुए मुझे चारित्र रूपी नौका का आश्रय देकर पार उतार दें।” शंख-राजर्षि ने उसे संयम के योग्य समझकर मुनि-दीक्षा दे दी। सोमदेव मुनि बनकर निर्दोष रूप से चारित्र की आराधना करने लगा। किन्तु ब्राह्मण जाति के अभिमान (मद) के संस्कार उसमें बार-बार उछल-कूद मचाने लगे। वह नीच कुल में जन्म लेने वालों का अपमान कर बैठता और अपनी उच्च जाति-कुल का अभिमान प्रकट करता। महाव्रतों की आराधना तो चिरकाल तक की, लेकिन अंतिम समय में अपने जाति-मद की आलोचना नहीं की। यहाँ से मरकर वह देव बना।

वहाँ चिरकाल देवलोक के सुखों का उपभोगकर अपना आयुष्य पूर्ण करके सोमदेव पुरोहित का जीव नीचगोत्र के कर्मबंध के कारण गंगातट पर बलकोट नामक चण्डाल की पत्नी गौरी की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ।

माता ने स्वप्न में नीलवर्ण का यक्ष देखा था; इसीलिए उसका नाम *हरिकेशबल* रखा। बड़ा होने पर हरिकेश एक दिन अपने समान आयु वाले लड़कों के साथ खेल रहा था। बसंत का उत्सव चल रहा था। हरिकेश भी अपने मस्तीभरे बचपन में दूसरों को कुछ नहीं गिनता था। वह अक्सर दूसरे बालकों को पीट दिया करता था। बचपन में बच्चे का स्वभाव ऐसा ही होता है। कहा भी है—

न सहति इकमिक्कं, न विना चिट्ठंति इकमिक्केण ।

रासह-वसह-तुरंगो, जुआरी पंडिया डिंभा ॥४९॥

अर्थात् - गधा, बैल, घोड़ा, जुआरी, पंडित और बालक; ये एक दूसरे को सहन नहीं कर सकते और न एक दूसरे के बिना रह ही सकते हैं ॥४९॥

हरिकेशबल का शरारती स्वभाव देखकर सब बालकों ने मिलकर उसे अपनी मंडली से निकाल दिया। उन्हीं दिनों में वहाँ एक बार सर्प निकला। सर्प को देखते ही लोग उस पर टूट पड़ें और उसे मार डाला। उसी समय एक दूसरा सर्प निकला, जो दो मुंह वाला था, वह विषधारी नहीं था, न किसी को डसता था। अतः लोगों ने उस सर्प को निर्विष समझकर मारे-पीटे बिना ही छोड़ दिया। हरिकेशबल ने जब ये दोनों घटनाएँ देखीं तो उसके दिमाग में विचारों की किरण फूटी—“इस अगाध संसार रूपी कूप में जीव अपने ही कर्मों से दुःखी होते हैं, अपने ही कर्मों से सुखी! दूसरे तो सिर्फ निमित्त हैं। कहा भी है—

रे जीव सुहदुहेसु निमित्तमित्तं परं वियाणाहि ।

सकयंफलं भुंजतो, कीस मुहा कुप्पसि परस्स ॥५०॥

अर्थात् - ‘अरे जीव! सुख और दुःख में दूसरे को तो निमित्तमात्र समझा वास्तव में तो तू अपने ही किये हुए कर्म का फल भोगता है। फिर क्यों दूसरे (निमित्त) पर क्रोध करता है? ॥५०॥

“दरअसल, जीव अपने ही गुणों से सुखी होता है। सुख और दुःख का मूल कारण व्यक्ति की अपनी आत्मा ही है। इसीलिए प्राणी के जीवन की निर्विषता ही उसे सुख प्राप्त कराती है। जिसके जीवन में विषय रूपी विष है, वह मृत्यु प्राप्त करता है। विषय-विषरहित मनुष्य को धन्य है! निर्विष को लोग नहीं सताते, विषैले को ही सताते हैं।” इस प्रकार चिन्तन में डुबकी लगाते-लगाते उसके हृदय-नेत्र खुल गये। संसार प्रपंच का उहापोह करते-करते संसार-तापहारी जातिस्मरण ज्ञान पैदा हो गया। ज्ञान के प्रकाश में उसने संसार का स्वरूप भलीभांति देखा—“अहो! मैं तीसरे भव में सोमदेव पुरोहित था। मुनि के प्रतिबोध से मुझे वैराग्य हुआ था; मैंने दीक्षा ग्रहण करके चारित्र पालन किया; मगर जाति का

अभिमान करने के कारण मैंने चारित्र को दूषित किया और नीचगोत्र कर्म का बंध किया; जिसके फलस्वरूप मैं यहाँ चाण्डाल के घर में जन्मा। विशुद्ध चारित्रधर्म की आराधना करने पर अवश्य ही स्वर्गादि सुख मिलता है। सिद्धान्त भी इस बात का साक्षी है—

तणसंधारनिविट्ठो वि, मुणिवरो भट्टरागमयमोहो ।

जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्रवट्ठी वि ॥५१॥

अर्थात् - जिसके राग, द्वेष, भय और मोह नष्ट हो गये हैं, वह मुनिवर अपने तृण के संधारे (घास के संधारे) पर बैठा-बैठा ही जिस मुक्ति के सुख को प्राप्त करता है, चक्रवर्ती को भी वैसा सुख कहाँ है? ॥५१॥

इस तरह संवेग के रंग में हरिकेश का मन रंग गया। उसने अपने वैराग्य को सार्थक करने और संयम का रास्ता पाने के लिए उत्तम गुरु की खोज की। गुरु से अनुपम जिनप्रवचन सुनकर उसने उनसे मुनि-दीक्षा ग्रहण की। और दुष्कर छट्ट (बेला), अट्टम (तेला) आदि तप करने लगा। विषयों को विष के समान समझकर हरिकेश मुनि उन्हें छोड़कर तप-संयम पूर्वक विचरण करने लगे। एक बार घूमते-घूमते एक मास के उपवास तप करके वे वाणारसी पहुँचे। वहाँ तिन्दुकवन में तिन्दुकयक्ष के मंदिर में वे कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े थे। उनकी तपःशक्ति से प्रभावित होकर तिन्दुकयक्ष भी उनकी सेवा में तत्पर हो गया। सचमुच, तप का बड़ा ही प्रभाव है। एक अनुभववी ने कहा है—

यदूरं यद्वाराध्यं यत्पुरैरपि दुर्लभम् ।

तत्सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम् ॥५२॥

अर्थात् - जो चीज दूर है या बड़ी कठिनाई से आराध्य है और देवों के द्वारा भी दुर्लभ है, वह सब तपस्या के द्वारा प्राप्त हो सकती है। क्योंकि तप का फल अचूक है ॥५२॥

जब मुनि ध्यानस्थ खड़े थे, ठीक उसी समय वाणारसी के राजा की पुत्री राजकुमारी सुभद्रा अपनी अनेक दासियों के साथ पूजा की सामग्री लेकर यक्ष की पूजा के लिए वहाँ आयी। यक्षमंदिर की प्रदक्षिणा करते समय राजकुमारी ने मलिन शरीर और मैले कुचैले वस्त्र वाले इन मुनि को देखकर कहा—“अरी! देखो तो यह भूत-सा मैले और गंदे शरीर वाला कौन है?” यों कह वह नाक-भों सिकोड़ने लगी। थू-थू करने लगी। यक्ष राजकुमारी को मुनि की आशातना करते देख बहुत गुस्से में होकर सोचने लगा—बड़ी दुष्ट कर्मकारिणी है यह राजकन्या! जिनके चरणों की सेवा-पूजा सुर-असुर सभी करते हैं, उनकी

यह अवज्ञा कर रही है! इसे इस अवज्ञा का फल चखाना चाहिए। “फलतः यक्ष ने राजकन्या के शरीर में प्रवेश किया। यक्षाविष्ट होने से वह अत्यंत बकवास करने लगी, गले का हार तोड़ डाला, वस्त्र फाड़ डाले तथा शरीर और कपड़ों पर गंदगी पोतने लगी।” सेवकों ने राजकुमारी की ऐसी हालत देखकर उसे अपने माता-पिता के पास पहुँचा दिया। राजा ने पुत्री के स्नेहवश राजकुमारी की बहुत चिकित्सा करवाई। अनेक मांत्रिकों, तांत्रिकों और वैद्यों को बुलाये, लेकिन कोई भी उसे ठीक न कर सका। जब सभी निराश होकर लौट गये; तब यक्ष ने प्रकट होकर कहा— “राजन्! अपने रूप की अभिमानिनी तुम्हारी पुत्री ने मेरे पूज्य मुनिराज का उपहास किया है। अब इसको मैं तभी छोड़ सकता हूँ, जब यह मुनि के चरणों की दासी बनकर उनकी सेवा करे; इसके सिवाय और कोई चारा नहीं।” राजा ने सोचा— ‘चलो, मुनि, को समर्पित कर देने से मेरी कन्या के प्राण तो बच जायेंगे और मैं उसे जिंदा तो देख सकूँगा।’ राजा ने अपने परिजनों के साथ सलाह करके राजकुमारी को पहले से विनयादि करना सिखाकर हरिकेशमुनि के पास भेजा। राजकुमारी यक्षमंदिर में मुनि के पास पहुँची और उन्हें वंदन करके विनयपूर्वक बोली— “ऋषिवर! आप मेरे साथ पाणिग्रहण करके मुझे स्वीकारें। मैं आपके चरणों की दासी बनकर आपकी आज्ञावर्ती होकर आपकी सेवा में रहने आई हूँ।” समभावी मुनि ने कहा— “भद्रे! मुनि कामादि विषयों की आसक्ति से सर्वथा दूर रहते हैं। इसीलिए हमें तेरे साथ पाणिग्रहण करने से कोई मतलब नहीं।” तित्दुकयक्ष ने मौका देखकर मुनि के शरीर में प्रवेश किया और राजकन्या के साथ शादी करके उसको तिरस्कृत करके छोड़ दी। इस शादी को स्वप्नोपम जानकर कन्या हताश हो रोती हुई अपने पिता के पास पहुँची। उनसे सारी आपबीती घटना सुनाई। संयोग वश रुद्रदेव नाम का राजपुरोहित भी वहाँ बैठा था। उसने सुनकर कहा— “महाराज! यह कन्या ऋषिपत्नी बनी है और अब ऋषि ने इसे छोड़ दी है। इसीलिए ऋषित्यक्ता पत्नी ब्राह्मण को अर्पित की जाती है; इस वेदवाक्य के विधानानुसार आप इसे ब्राह्मण को अर्पण कर दें।” राजा ने उसी समय अपनी कन्या रुद्रदेव पुरोहित को समर्पित कर दी।

रुद्रदेव यज्ञ-याग करने वाला पुरोहित था। एक बार उसने यज्ञ प्रारंभ किया। यज्ञ में पति के साथ-साथ पत्नी को भी भाग लेना जरूरी होता है। राजकुमारी सुभद्रा को रुद्रदेव ने पत्नी के रूप में नियुक्त की। यज्ञमण्डप में उस समय बहुत से ब्राह्मण आये हुए थे। कुशल याज्ञिक यज्ञकर्म करने में तल्लीन थे। उन सबके लिये अनेक प्रकार का स्वादिष्ट भोजन तैयार कराया गया था।

उसी दरम्यान महामुनि हरिकेशबल अपने मासक्षमण के पारणे के लिए भिक्षा ग्रहण करने संयोगवश उसी यज्ञमण्डप में प्रविष्ट हुए। मुनि को यज्ञमण्डप में आते देख रोषाविष्ट होकर ब्राह्मण चिल्लाने लगे—“अरे! यह कालाकलूटा, भूत-सा भयंकर मैलेकुचैले शरीर व वस्त्रों वाला बेडौल और बदसूरत कौन यहाँ आ रहा है? रोको इसे वहीं!” उसी समय तपस्वी महामुनि ने ब्राह्मणों द्वारा आगमन का प्रयोजन पूछने पर शांतभाव से कहा—“विप्रो! मैं एक भिक्षाजीवी मुनि हूँ। भिक्षा द्वारा निर्वाह करना मेरा धर्म है। तुम्हारे यहाँ बहुत-सा आहार बना है, मैं उसमें से थोड़ा-सा भिक्षा के रूप में लेना चाहता हूँ।” किन्तु आचार्य ब्राह्मण यह कब सुनने लगे! उन्होंने क्रुद्ध होकर कहा—“अरे पिशाचरूप! यह भोजन तेरे जैसे अधम शूद्रों को देने के लिए नहीं है; यह तो उत्तम ब्राह्मणों को देने के लिए बनाया गया है, जिन्हें देने से हजार गुना पुण्य मिलेगा, तुम्हें देना तो राख में घी डालने के समान है। इसीलिए चला जा यहाँ से! यहाँ क्यों खड़ा है? तुझे यह भोजन नहीं मिल सकता?” यों कहकर सभी ब्राह्मण मुनि को ताने मारने और उपहास करने लगे। यक्ष ने मुनि का अनादर होते देख उनके शरीर में प्रवेश किया और बोला—“विप्रो! सुनो, मैं एक श्रमण (जैनमुनि) हूँ, यावज्जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला और अहिंसादि महाव्रतों का पालक हूँ। इसीलिए मैं सुपात्र हूँ, ब्राह्मण सुपात्र नहीं; क्योंकि वे पशुवध आदि पाप करने वाले हैं; मुख से न कहने योग्य स्त्री के गुहास्थान का मर्दन करने वाले और उत्तमज्ञान से कोसों दूर हैं। अतः मैं ही सुपात्र हूँ, तुम्हें पुण्यलाभ देने के लिए मैं यज्ञमण्डप में आया हूँ। मुझे शुद्ध आहार दो।” यह सुनते ही ब्राह्मणों का पारा और गर्म हो गया, ये मुनि को मारने के लिए दौड़े। वे लाठियों, मुक्कों और पत्थरों से उन पर एकदम टूट पड़े। यक्ष यह देखकर बहुत रुष्ट हुआ और उसने उन ब्राह्मणों पर इतना जोर से प्रहार किया कि वे सबके सब जर्जरित होकर औंधें मुंह धरती पर गिर पड़े और उनके मुंह से खून बह निकला। इससे चारों ओर बड़ा कोलाहल मच गया। दौड़ो-दौड़ो, बचाओ-बचाओ की आवाज सुनकर सभी ब्राह्मण वहाँ पहुँच गये। यह शोर शराबा सुनकर राजकुमारी सुभद्रा भी घटनास्थल पर पहुँची। वह मुनि को देखते ही पहिचान गयी। भयभीत होकर वह अपने पति रुद्रदेव आदि से कहने लगी—“अजी! आप लोगों को क्या दुर्बुद्धि सुझी कि इन पवित्र तपस्वी मुनि को सताया। इसी का दुष्परिणाम आप देख रहे हो। अब और अधिक इन्हें सताओगे तो यमलोक पहुँच जाओगे। यह मुनिराज महाप्रभाकशाली और तपस्वी हैं और त्रिन्दुकयक्ष के पूजनीय हैं। मैंने इन्हें ध्यान से विचलित करने के लिए पहले बहुत प्रयत्न किया, लेकिन धन्य हैं, इन मुनिवर को, यह जरा भी

विचलित नहीं हुए।" यों कहकर सुभद्रा ने मुनि के चरणों में नमन करके कहा—
—“कृपासिन्धो! ये सब अनाड़ी और मूर्ख लोग हैं। मेरे अनुरोध से आप इनका अपराध क्षमा करें। मैं इनके बदले आपसे क्षमा मांगती हूँ।” मुनि ने कहा—
“देवानुप्रिये! मैंने इन पर क्रोध नहीं किया है। मुनि को किसी पर भी क्रोध नहीं करना होता। क्रोध से बड़ा अनर्थ होता है। कहा भी है—

जं अज्जियं चरितं देसूणाए पुव्वकोडीए ।

तं पि अ कसायमित्तो हारेइ नरो मुहुत्तेण ॥५३॥

“एक करोड़ पूर्व वर्ष से कुछ समय कम तक अर्जित किये हुए चारित्रधन को साधक सिर्फ एक मुहूर्त (४८ मिनट) तक कषाय (क्रोधादि) करके सर्वस्व गंवा देता है।” ॥५३॥

इसीलिए मुनि को किसी भी प्रकार का क्रोधादि न करके समभाव में स्थिर रहना चाहिए। मैंने भी ऐसा ही किया है। परंतु मेरे प्रति भक्तिवश यक्ष ने ही यह सब किया है। रुष्टयक्ष को आप सब लोग प्रसन्न करें। मुनिवचन सुनकर ब्राह्मणों ने उस यक्ष से क्षमा मांगकर उसका अर्चन करके उसे प्रसन्न किया; जिससे थोड़ी ही देर में सभी घायल ब्राह्मण होश में आये और स्वस्थ हो गये। मुनि के तपस्तेज से प्रभावित सभी ब्राह्मण अब यज्ञकर्म को छोड़कर उनके चरणों में गिर पड़े उनकी स्तुति की और भिक्षा के लिए पधारने की प्रार्थना करने लगे। मुनि यज्ञमंडप में पहुँचे। उन्हें भक्तिभाव से शुद्ध आहार भिक्षा में दिया। मुनि को दान देने के प्रभाव से देवों ने वहाँ पाँच दिव्य प्रकट किये। इस अद्भुत दृश्य को देखने के लिए आश्चर्यविस्फारित नेत्रों से जनता की भीड़ वहाँ जमा हो गयी। राजा के कानों में यह बात पड़ते ही वह भी पहुँचा। सभी लोग उस सुपात्रदान की प्रशंसा करने लगे। कहा है—

व्याजे स्याद् द्विगुणं वित्तं, व्यवसाये स्याच्चतुर्गुणम् ।

क्षेत्रे शतगुणं प्रोक्तं, पात्रेऽनन्तगुणं तथा ॥५४॥

अर्थात् — कहा है, व्याज पर देने पर धन दुगुना हो जाता है, व्यवसाय में लगाने पर चार गुना होता है, उत्तम पुण्यक्षेत्र में खर्च करने पर सौगुना हो जाता है, और पात्र को दान देने पर वही धन अनंतगुना हो जाता है ॥५४॥

सुपात्रता के लिए बताया है—

मिथ्यादृष्टिसहस्रेषु वरमेको ह्यणुव्रती ।

अणुव्रतिसहस्रेषु वरमेको महाव्रती ॥५५॥

महाव्रतिसहस्रेषु वरमेको हि तात्त्विकः ।

तात्त्विकस्य समं पात्रं न भूतं न भविष्यति ॥५६॥

अर्थात् - हजारों मिथ्यादृष्टियों से एक अणुव्रतधारी श्रावक अच्छा है, हजारों अणुव्रतियों की अपेक्षा एक महाव्रती श्रेष्ठ है और हजारों महाव्रतधारियों में एकतत्त्ववेत्ता मुनि (गणधरदेव) अधिक श्रेष्ठ होते हैं। ऐसे तात्त्विक मुनि के समान उत्तमोत्तम पात्र तो न कोई हुआ है और न होगा ॥५५-५६॥

"इसीलिए इन सुपात्र श्रमणों को दान देना श्रेष्ठ है और इनसे धर्मश्रवण कर ज्ञान प्राप्त करना भी हमारा कर्तव्य है।" ऐसा कहते हुए वे सब लोग वहीं यज्ञमंडप में बैठ गये और मुनि को उपदेश देने की प्रार्थना करने लगे। मुनि ने उचित अवसर देखकर धर्मोपदेश दिया। जिसे सुनकर सभी ब्राह्मणों ने देशाविरति श्रावकधर्म अंगीकार किया। हरिकेश मुनि ने भी महाव्रतों की सम्यक् प्रकार से आराधना करके केवलज्ञान प्राप्त किया और अंत में मोक्ष प्राप्त किया।

इसीलिए जैनशासन में कुल की प्रधानता नहीं है, गुणों की ही प्रधानता है। अगर आत्मा में गुण न हों तो उच्च कुल भी क्या कर सकता है? अतः यह आत्मा कर्मानुसार नट की तरह नये-नये स्वांग धारण करके नाना योनियाँ प्राप्त करके अनेक प्रकार के शरीर (संसारपरिभ्रमणवश) धारण करता है। कुल के अभिमान को इसमें अवकाश ही कहाँ है? कर्मों को शुभ करने या क्षीण करने के लिए आत्मा में सत्य-अहिंसा, क्षमा आदि गुण प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना चाहिए ॥४४॥

जन्मों की विचित्रता

अब विभिन्न कुलों या योनियों में जन्म के कारण भूत कर्मों की विचित्रता बताते हैं—

देवो नेरइओ ति य, कीडपयंगु ति माणुसो एसो ।

रुवस्सी य विरुवो, सुहभागी दुक्खभागी अ ॥४५॥

राउ ति य दमगुति य, एस सपागु ति एस वेयविकु ।

सामी दासो पुज्जो, खलो ति अधणो धणवइ ति ॥४६॥

न चि इत्थ कोडवि नियमो, सकम्मविणिविट्ठसरिसकयचिट्ठो ।

अनुन्न रुववेसो, नडु व्व परियत्तए जीवो ॥४७॥

शब्दार्थ - यह जीव अपने-अपने कर्मवश देव बना, नारक बना, कीड़ा और पतंग आदि अनेक प्रकार का तिर्यच बना, मनुष्य का रूप धारण किया, कभी

रूपवान बना, कभी कुरूप बना, कभी सुखभागी बना और कभी दुःखभागी, कभी राजा बना, कभी रंक बना, कभी चाण्डाल बना और कभी वेदवेत्ता ब्राह्मण बना, कभी स्वामी, कभी दास, कभी पूज्य (उपाध्याय आदि), कभी दुर्जन बना, कभी निर्धन और कभी धनवान। संसार में ऐसा कोई नियम नहीं है कि उच्चकुल में जन्मा हुआ भविष्य में उच्चगति, योनि या गोत्र में ही पैदा हो और नीचकुल में जन्मा हुआ भविष्य में नीच गति, योनि या गोत्र में ही पैदा हो। अपितु जीव के जैसे अपने कर्म होते हैं, उसी प्रकार की चेष्टा करता हुआ वह नट की तरह नये-नये रूप और वेश धारण करके संसार में परिभ्रमण करता है ॥४५-४६-४७॥

भावार्थ - ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है कि मनुष्य मरकर भविष्य में मनुष्य, पशु मरकर पशु और देव मरकर देव ही बनता हो; अपितु जो जीव जैसे-जैसे शुभाशुभ कर्म करता है, तदनुसार चेष्टा करके वैसी ही योनि प्राप्त करता है और नट की तरह नये-नये आकार वाला वेश धारण करके इस संसारचक्र में परिभ्रमण करता रहता है।

संसार के इस स्वरूप को जानकर जो विवेकी पुरुष मोक्षाभिलाषी होते हैं, वे कदापि कंचन और कामिनी में आसक्त नहीं होते ॥४५-४६॥ इसीलिए आगे की गाथा में साधुजनों की निलोभता का वर्णन करते हैं—

कोडीसएहिं धणसंचयस्स, गुणसुभरियाए कन्नाए ।

न वि लुद्धो वयररिसि, अलोभया एस साहणं ॥४८॥

शब्दार्थ - सैंकड़ों कोटि धनराशि और गुणों से परिपूर्ण कन्या उनके चरणों में आयी, मगर वज्रस्वामी जरा भी लुब्ध नहीं हुए। इसी प्रकार अन्य साधुओं को भी ऐसी निलोभता धारण करनी चाहिए ॥४८॥

भावार्थ - रूप-लावण्य आदि गुणों से सम्पन्न रुक्मिणी नाम की अपनी कन्या करोड़ों सुवर्णमुद्राओं के सहित धनवाह सार्थवाह श्री वज्रस्वामी के चरणों में समर्पित कर रहा था, लेकिन वज्रस्वामी के दिल के किसी कोने में धन या स्त्री में जरा भी आसक्ति-भाव नहीं आया। बल्कि उन्होंने उसे योग्य धर्मोपदेश देकर धर्म-बोध प्राप्त करवाया और साध्वीदीक्षा दी। सभी मुनियों को ऐसी ही निलोभता रखनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में प्रसंगवश वज्रस्वामी का दृष्टांत दे रहे हैं—

श्री वज्रस्वामी की कथा

तुम्बवन गांव में धनगिरि नाम का एक कुशल व्यापारी रहता था। वह

अत्यंत भद्रिक था। उसकी पत्नी का नाम सुनंदा था। उसके साथ सांसारिक सुखों का उपभोग करते हुए अनेक वर्ष बीत गये। एक बार धनगिरि को गुरुवर का उपदेश सुनकर वैराग्य हो गया और उन्होंने अपनी धन-सम्पत्ति, जमीन जायदाद एवं सगर्भा पत्नी को छोड़कर गुरुवर सिंहगिरि से मुनि-दीक्षा अंगीकार की। मुनि बनकर वे उग्र तपस्या करने लगे और गुरुसेवा में तल्लीन होकर सारणा (हितशिक्षा देना), वारणा (विपरीत कार्य से रोकना), चोयणा (प्रेरणा करना) और पड़िचोयणा (बार-बार प्रेरणा करना) आदि धर्म प्रेरणाओं में निपुण हो गये। धनगिरि के दीक्षा लेने के बाद सुनंदा की कुक्षि से पुत्र का जन्म हुआ। पुत्र-जन्म की बधाई देने के लिए सुनंदा के यहाँ स्वजन-सम्बन्धी आने लगे। वे परस्पर कहने लगे—“इस बालक के पिता ने तो दीक्षा ले ली है। अगर गृहस्थ में रहते तो वे भी धन्यवाद देने के योग्य होते।” स्वजनों के मुँह से ऐसी बात सुनकर बालक वज्र मन ही मन आश्चर्यपूर्वक सोचने लगे—“ओहो! ये लोग क्या कह रहे हैं? यह दीक्षाधर्म क्या होता है? क्या कभी मैंने भी इसका अनुभव किया है?” इस प्रकार ऊहापोह करते-करते उसे जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हो गया; इससे उसने पूर्वजन्म में अनुभूत मुनिधर्म का स्वरूप जान लिया और विरक्त हृदय से सोचने लगा—“कहाँ यह जन्म-जरा-मृत्यु-शोक आदि दुःखों की परंपरा से व्याप्त संसार का विलास और कहाँ शाश्वत सुख के प्रकाशक मुनिधर्म में निवास? अरे मेरे जीव! तूने अनंत-अनंत बार विषय-सुखों का उपभोग किया, फिर भी अब तक तुझे संतोष नहीं हुआ? कहा भी है—

धनेषु जीवितव्येषु भोगेष्वहारकर्मसु ।

अतृप्ताः प्राणिनः सर्वे, याता यास्यन्ति यान्ति च ॥५७॥

अर्थात् - धन से, जीने से, भोगों से और आहार प्राप्त करने के कामों से सभी प्राणी अतृप्त रहते हैं, फिर भी सभी जीव इस दुनिया से चले गये, जायेंगे और जाते हैं ॥५७॥ और भी कहा है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तर्षं वयमेव तप्ताः ।

कालो न यातो वयमेव याता स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥५८॥

अर्थात् - हमने भोगों का भोग नहीं किया, भोगों ने ही हमारा भोग (बलि) ले लिया, हमने तप नहीं तपा, किन्तु स्वयमेव तप गये; काल नहीं गया, हम ही चले गये; हमारी तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई, हम ही बूढ़े हो गये ॥५८॥

अतः सांसारिक विषयसुख सुलभ है, मगर इस बोधि (सम्यक् श्रद्धा) रत्न प्राप्त करना अत्यंत दुर्लभ है। अनुभवी पुरुषों का कहना है।

सुलहो विमाणवासो, एगच्छता वि मेइणी सुलहा ।

दुल्लहा पुण जीवाणं जिणंदवरसासणे बोहि ॥५९॥

अर्थात् - वैमानिक देव बनना सुलभ है; पृथ्वी पर एकछत्र राज्य (चक्रवर्तित्व) प्राप्त करना भी आसान है, किन्तु जिनेश्वरदेव के श्रेष्ठ शासन में बोधि प्राप्त करना परम दुर्लभ है ॥५९॥

“परंतु माता के मोहजाल को कैसे छुड़ाया जाय?” इस पर विचार करते-करते वज्र को सहसा एक युक्ति सूझी। माता को हैरान करने के उद्देश्य से वह जोर-जोर से रोने लगा। माता ने उसका रोना बंद कराने के लिए बहुतेरे उपाय किये, पर सब व्यर्थ! ज्यों-ज्यों वह उसे चुप करने का प्रयत्न करती, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक रोता जाता। माता के हृदय में बालक के प्रति वात्सल्य भरपूर था, लेकिन बालक के अतिरुदन से वह झुंझला उठती। माता की झुंझलाहट कम होगी तो उसका मोह पुनः जाग उठेगा; इस लिहाज से बालक वज्र ने अपना रोना जारी रखा। इस तरह ६ महीने हो गये। सुनंदा उद्विग्न होकर सोचने लगी कि अगर पतिदेव आ जाएँ तो उन्हें सौंपकर इस बला से छुट्टी पाऊँ। उन्हीं दिनों सिंहगिरि आचार्य उस गाँव में पधारे। नागरिक लोग उनके दर्शनार्थ आये। आचार्यश्री ने उन्हें धर्मोपदेश दिया। धर्मसभा विसर्जित हो जाने के बाद जब भिक्षापात्र झोली में डालकर धनगिरि मुनि आचार्यश्री से भिक्षार्थ जाने की आज्ञा प्राप्त करने आये तो उन्होंने उनसे कहा- “आज भिक्षाचरी में तुम्हें सचित्त या अचित्त जो भी मिले, ले आना।” गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर धनगिरि भिक्षा के लिए गाँव में गये।

भिक्षाटन करते-करते वे सुनंदा (पूर्वाश्रम की पत्नी) के यहाँ पहुँच गये, उसे धर्मलाभ कहा। सुनंदा ने सबसे पहले उन्हें यही कहा—“स्वामिन्! अपने पुत्र को ले जाओ। इसने तो मुझे परेशान कर दिया; एक क्षण के लिए भी चुप नहीं रहता, जब देखो तब दिन-रात रोता रहता है।” धनगिरि मुनि को गुरुदेव की आज्ञा का स्मरण हो आया। उन्होंने किसी प्रकार की अनाकानी किये बिना सुनंदा से पुत्र को भिक्षा रूप में लेकर अपनी झोली में रख लिया। वहाँ से वे सीधे झोली में वज्रकुमार को उठाये हुए उपाश्रय में आये और गुरुदेव को भिक्षा में प्राप्त बालक दिखाया। वज्र के समान बालक में भार और तेज होने से गुरुदेव ने उसका नाम वज्रकुमार रखा। दीक्षा योग्य उम्र न होने से आचार्यश्री ने वज्रकुमार को साध्वियों के उपाश्रय में भिजवा दिया। वहाँ अनेक श्राविकाएँ आती थीं, वे इसकी सेवा करने लगीं। वहाँ पालने में सोते-सोते वज्रकुमार ने साध्वियों के मुख से ११

अंगशार्खों का स्वाध्याय करते समय श्रवण करके उन्हें कण्ठस्थ कर लिया।

वज्रकुमार क्रमशः तीन साल का हुआ। अब वह बिलकुल रोता नहीं था; शांत और प्रसन्न रहता था। इस कारण उसका चेहरा भी भव्य और दिव्य तेजस्वी बन गया। वज्र की माता सुनंदा भी प्रतिदिन अपने पुत्र का मुंह देखने के बहाने आया करती थी। पुत्र को अब शांत और दिव्यरूप वाला देखकर वह पुनः मोहविकल हो उठी और उसने धनगिरि से अपने पुत्र को वापिस सौंप देने की मांग की। कहने लगी—“पुत्र मेरा है। मैं ही इसे अपने घर ले जाकर पालूंगी—पोसूंगी।” धनगिरि मुनि ने कहा—“तुमने जब इसे अपने हाथों से मुझे समर्पित कर दिया है, तब मैं इसे तुम्हें वापिस कैसे दे सकता हूँ?” वादविवाद काफी बढ़ गया। फलतः सुनंदा और धनगिरिमुनि दोनों राजदरबार में पहुँचे। राजा ने दोनों पक्ष की बातें सुनकर कहा—“इस पुत्र पर तुम दोनों का समान अधिकार है। परंतु इस विवाद का निर्णय करने के लिए मैंने एक युक्ति सोची है—“तुम दोनों बारी-बारी से इस बालक को अपने पास बुलाओ। बुलाने पर यह बालक जिसके पास चला जाय, उसीका पुत्र समझा जायगा। यही मुझे न्याययुक्त लगता है।” सुनंदा को पहले मौका दिया गया। उसने बालक को बुलाने और अपनी ओर खींचने के लिए बढ़िया-बढ़िया खाने की वस्तुएँ, विचित्र आभूषण तथा बालक के मन को बहलाने वाले विविध खिलौने आदि सामने सजाकर रखे और वात्सल्यमय मधुर कोमल शब्दों में पुकारा—“वत्स! आओ, इधर देखो, यह रथ, घोड़ा और हाथी लो; यह लो लड्डू, नारंगी और सेव! बेटा! देर मत करो, मेरी गोद में आ जाओ।” माता के बार-बार ऐसा कहने पर वज्रकुमार ने जरा भी उसके सामने या खिलौनों व मिठाइयों की ओर देखा तक नहीं। माता यह देखकर बड़ी दुःखित हो गयी। इसके बाद धनगिरि मुनि ने रजोहरण दिखाते हुए कहा—“वत्स! यदि तू सांसारिक मोहबन्धन से छूटकर आत्मिक सुख को पाने के लिए मुनि-दीक्षा लेना चाहता है, तो यह धर्मध्वज-रजोहरण—ले ले।” यह सुनते ही मोहशृंखला को तोड़ने के लिए तत्पर वज्रकुमार ने तुरंत दौड़कर गुरु महाराज के हाथ से रजोहरण ले लिया और उसे अपने मस्तक पर चढ़ाकर हर्षोत्फुल्ल नेत्रों से नाचने लगा। राजा ने फौरन ही धनगिरि मुनि के पक्ष में फैसला दे दिया। और बालक वज्रकुमार उन्हें सौंप दिया। वहाँ उपस्थित सभी लोगों को आश्चर्य के साथ प्रसन्नता हुई। सभी कहने लगे—“देखो तो सही, तीन साल के बालक के ज्ञान को!” समस्त संघ सहित मुनिराज वज्रकुमार को लेकर उपाश्रय में आये।

क्रमशः ८ साल के होने पर वज्रकुमार को मुनिदीक्षा दी। पुत्र-मोह से

मुग्ध सुनंदा ने भी संयम अंगीकार किया। वज्रमुनि को योग्य जानकर गुरुदेव ने उन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। आचार्य वज्रस्वामी को दशपूर्वों के जानकार तथा उग्रतपश्चरणरत देखकर उनके पूर्वजन्म के एक मित्रदेव ने उन्हें वैक्रिय लब्धि और आकाशगामिनी विद्या दी।

पाटलिपुत्र नगर में ही धनावह नामक एक श्रेष्ठी रहता था। उसके रुक्मिणी नामक एक अत्यंत रूपवती कन्या थी। एक दिन साध्वियाँ वज्रस्वामी के रूप, लावण्य, विद्या, लब्धि आदि गुणों की प्रशंसा कर रही थीं। श्रेष्ठिकन्या रुक्मिणी भी उस समय वहीं बैठी यह सुन रही थी। वज्रस्वामी के अनुपम गुणों से मुग्ध होकर रुक्मिणी ने प्रतिज्ञा कर ली—“वज्रस्वामी के सिवाय और किसी से भी मैं शादी नहीं करूँगी।” घर जाकर अपने माता-पिता के सामने भी उसने अपनी प्रतिज्ञा का जिक्र किया। पिता पहले तो बहुत चिन्तित हुआ। लेकिन पुत्री की दृढ़ता देखकर उसने वज्रस्वामी को आकर्षित करने का उपाय सोचा। एक बार अनेक विद्याओं और लब्धियों से सम्पन्न आचार्य वज्रस्वामी विचरण करते हुए पाटलिपुत्र पधारें। नगर की जनता उनके दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी। आचार्य वज्रस्वामी ने लब्धिबल से आकर्षक रूप बनाकर प्रभावशाली धर्मोपदेश दिया; जिसे सुनकर लोग मंत्रमुग्ध हो गये और परस्पर प्रशंसा करने लगे—“धन्य हो गुरुदेव को! सचमुच इनकी वाणी में जादू है। जैसा इनका भव्य रूप है, वैसी ही भव्य इनकी वाणी है।” प्रवचन सुनकर सभी लोग अपने-अपने घर लौट गये। वज्रस्वामी को देखकर रुक्मिणी ने अपने पिता से अपनी प्रतिज्ञा की बात दुहराई। तब पुत्री स्नेहवश करोड़ों रत्न तथा देवागंनासम उत्तम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित अपनी पुत्री को लेकर धनावह सेठ आचार्य वज्रस्वामी की सेवा में पहुँचा। सेठ ने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक उनसे निवेदन किया—“भगवन्! प्राणों से भी अधिक प्रिय, सरल और सेवादिगुण-सम्पन्न यह मेरी कन्या है। इसने आपके साथ विवाह करने की प्रतिज्ञा कर ली है। इसीलिए आप इसके साथ पाणिग्रहण करके इसे स्वीकारें और यह रत्नराशि लेकर मुझे अनुगृहीत करें।” आचार्य वज्रस्वामी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—“देवानुप्रिय! तुम्हारी यह कन्या बहुत ही भोली है, यह साधुजीवन का स्वरूप नहीं जानती; इसीलिए ऐसी प्रतिज्ञा कर बैठी है। आप तो समझते हैं कि हम साधु बन जाने के बाद मन-वचन-काया से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। संसार की सभी स्त्रियाँ हमारे लिये माता-बहन-पुत्री के समान हैं। किसी भी सांसारिक स्त्री से हम शादी नहीं करते, हमने तो मुक्तिकन्या के साथ पाणिग्रहण कर लिया है। और फिर मल-मूत्र आदि अशुचि से पूर्ण स्त्री शरीर पर आसक्ति

करना, यहाँ तक कि स्पर्श करना भी अनर्थकर है। कहा भी है—

वरं ज्वलदयःस्तम्भ-परिरम्भो विधीयते ।

न पुनर्नरकद्वाररामा-जघनसेवनम् ॥६०॥

अर्थात् - जलते हुए लोहे के खंभे का आलिंगन करना अच्छा, मगर नरक के द्वार समान नारी के जघन का सेवन करना अच्छा नहीं है ॥६०॥

वास्तव में, मोह की निवासस्थली रूप नारी का शरीर जीवों के लिए पाशबंधन के समान है। अनुभवियों का भी कथन है—

आवर्तः संशयानामविनयभवनं, पत्तनं साहसानां,

दोषाणां सन्निधानं कपटशतमयं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।

स्वर्गद्वारस्य विध्नं, नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं,

स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषयमृतमयं प्राणिनामेकपाशः ॥६१॥

अर्थात् - स्त्री संशयों का भंवरजाल है, अविनय का घर है, साहसों का व्यापारिक नगर है, दोषों का खजाना है, सैकड़ों कपटों की पुतली है, अविश्वासों का क्षेत्र है, स्वर्ग के द्वार की रुकावट है, नरकपुरी का मुख है, समस्त माया की पिटारी है। न जाने किसने प्राणियों को फंसाने के लिए एकमात्र जालरूप तथा विषय-विषमय इस स्त्री यंत्र को बनाया है ॥६१॥

आश्चर्य है कि लोगों को विषमयी होने पर भी स्त्री अमृतमयी लगती है! धन्य है, जिसने स्त्रीसंग का परित्याग किया है उन्हें! ब्रह्मचारियों को स्त्री-संग से सर्वदा दूर रहना चाहिए; रागदृष्टि से उसके अंगोपांग भी नहीं देखने चाहिए। क्योंकि नीतिकार कहते हैं—

स्नेहं मनोभवकृतं जनयन्ति नार्यो, नाभी-भुज-स्तन-विभूषण-दर्शितानि ।

वस्त्राण्यसंयमित-केश-विमोक्षणानि, भ्रूक्षेपकम्पितकटाक्ष-निरीक्षणानि ॥६२॥

अर्थात् - नारी अपनी नाभि, भुजाएँ, स्तन, आभूषण, वस्त्र आदि तथा अपने बिखरे हुए खुले केशों को दिखाकर एवं अपने नेत्र की भौंहे फैंककर व चंचल कटाक्ष दिखाकर पुरुष के मन में काम जनित स्नेह (आसक्ति) पैदा कर देती है ॥६२॥

“अतः विश्व में विष से भी अधिक विषम-विषय का वर्णन करना भी बुरा है, तो फिर इसका सेवन करना तो और भी बुरा क्यों न होगा? और जो ज्ञान और क्रिया रूप दोनों पंखों से शुद्ध मुनिराज हंस सुमति-हंसनी के साथ धर्म-संघ रूपी मानसरोवर में एकत्रित हुए हैं तथा निर्मल शुक्लध्यान रूपी मुक्ताफल में लीन हैं, तथा जड़ और चैतन्य का, स्वभाव और विभाव का विवेक-पृथक्करण

करने में कुशल राजहंस तुल्य, ऐसे मुनि को स्त्री के रक्त, मांस, चर्बी और मज्जा से परिपूर्ण इस अपवित्र शरीर रूपी कूप में रहना श्रेयस्कर नहीं। इसीलिए हमें ऐसी विवेक-विकल मनुष्यों के योग्य बातों से मतलब भी क्या? इसीलिए सेठ! अगर तुम्हारी पुत्री का मुझ पर वास्तविक स्नेह है तो उसे मेरे (संयम-साधना) मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। इसीसे मेरा चित्त प्रसन्न होगा।”

धनावह ने अपनी पुत्री को समझाया। उसके मन में वज्रस्वामी का उपदेश सुनकर पहले ही वैराग्य का अंकुर प्रकट हो गया था। वह संसार के वास्तविक स्वरूप को जान गयी थी। उसके नेत्रों से हर्षाश्रु उमड़ पड़े। उसने हाथ जोड़कर वज्रस्वामी से कहा—“स्वामिन्! मुझे भवजलतारिणी दीक्षा-नौका का आश्रय देकर कृतार्थ कीजिए, जिससे मैं आपके बताये और आपके चरण-चिह्नों से अंकित संयममार्ग का अनुसरण कर सकूँ।” वज्रस्वामी ने कहा—“भद्रे! कुलीन नारियों के लिए यही मार्ग उचित है। तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो! परंतु शुभ कार्य में विलम्ब करना ठीक नहीं।” तदनन्तर धनावह श्रेष्ठी ने दीक्षा की आज्ञा प्रदान की और खूब धूमधाम से दीक्षामहोत्सव किया। रुक्मिणी ने उच्चतम वैराग्यभाव से दीक्षा ली। दीक्षा धारण करने के पश्चात् साध्वी रुक्मिणी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्यग् आराधना करके देवलोक में पहुँची।

इस प्रकार वज्रस्वामी ने अपने उपदेश द्वारा अनेक भव्यजीवों का उद्धार किया। वे सिर्फ ८ साल तक गृहस्थावस्था में रहे, ४४ वर्ष तक गुरुसेवा में रहे; ३६ साल तक युगप्रधान पद से विभूषित रहे और भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण से ५८४ वर्ष व्यतीत होने के बाद ८८ साल की उम्र में अपना आयुष्य पूर्णकर देवलोक में पहुँचे।

यह है धर्म का जीवन में जीताजागता आचरण! जैसे प्रभावशाली धर्मधुरन्धर वज्रस्वामी में निलोभता-धर्म, रम गया था, वैसे ही अन्य साधुओं को भी निलोभता-धर्म अपनाना चाहिए ॥४८॥

यही इस कथा से मुख्यतया प्रेरणा मिलती है।

अंतेउर-पुर-वल-वाहणेहिं, वरसिरिघरेहिं मुणिवसहा ।

कामेहिं बहुविहेहिं य, छंदिज्जंता वि नेच्छंति ॥४९॥

शब्दार्थ - ‘सुंदर कामिनियों, नगर, चतुरंगिणी सेना, हाथी-घोड़े आदि सवारियों, उत्तम धन के भण्डार और अनेक प्रकार के साधन पंचेन्द्रिय-विषयसुख सामग्री—के लिए निमन्त्रित करने पर भी मुनि वृषभ (श्रेष्ठ साधु) इन्हें बिलकुल नहीं

चाहते। वे तो सिर्फ अपने चारित्र्य धर्म को सुरक्षित रखने की इच्छा करते हैं" ॥४९॥
चूंकि परिग्रह सभी अनर्थों का मूल है। इसी बात को आगे की गाथा में बताते हैं-

छेओ भेओ वसणं, आयास-क्लेश-भय-विवागो य ।

मरणं धम्मभंसो, अरई अत्था उ सव्वाइं ॥५०॥

शब्दार्थ - छेदन, भेदन, व्यसन (विपत्ति), आयास, क्लेश, भय, विवाद, मृत्यु, धर्मभ्रष्टता और अरति (जीवन से ऊब जाना) ये सब अनर्थ अर्थ (धन) से होते हैं ॥५०॥

भावार्थ - 'धनप्राप्ति के लिए मनुष्य अपने कान, नाक आदि अंगों को काट या कटवा लेता है, तलवार आदि शस्त्रों से टुकड़े कर देता है अथवा स्वजन-सम्बन्धियों में आपस में फूट डालता है, अनेक प्रकार की मुसीबतें सहता है, काफी मेहनत करता है, मन में भी क्लेश करता है, डरता भी है, धन के कारण परस्पर कलह से विवाद भी होता है अथवा मुकद्दमेबाजी भी होती है; धन के कारण किसी समय मृत्यु की सजा भी मिल जाती है। धनलोभी मनुष्य चारित्र्य से भ्रष्ट हो जाता है, अथवा अर्थ प्राप्त हो जाने पर मनुष्य अनेक बुराइयों में फँसकर अपने आचरण से गिर जाता है, चित्त में व्याकुलता या जिदगी से ग्लानि भी पैदा हो जाती है। यह सब अनर्थ धन के निमित्त से होते हैं। इसीलिए धन की आसक्ति का सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥५०॥

दोससयमूलजालं, पुव्वरिसिविवज्जियं जई वंतं ।

अत्थं वहसि अणत्थं, कीस अणत्थं तवं चरसि? ॥५१॥

शब्दार्थ - सैकड़ों दोषों का मूल कारण होने से मूर्च्छाजाल (धनादि के प्रति आसक्तिजाल) रखना पूर्ववृत्तियों द्वारा वर्जित है। यदि साधु होकर भी वमन किये हुए (स्वयं द्वारा त्यागे हुए) अनर्थकारी धन को रखता है तो फिर वह व्यर्थ ही तपश्चरण क्यों करता है? ॥५१॥

भावार्थ - सैकड़ों दोषों-अनर्थों-की जड़ समझकर ही जम्बूस्वामी, वज्रस्वामी आदि पूर्व-मुनिवरों ने दीक्षा के समय में ही धन का त्याग कर दिया था। हे मुने! यदि तू पहले त्याग किये हुए अनर्थकर धन का मूर्च्छा से पुनः संग्रह करता है तो फिर व्यर्थ ही तप क्यों करता है? विवेकशून्य कार्य करने से तो शरीर को ही वृथा कष्ट होता है। साधु के लिए धन का संचय अनेक दूषणों को पैदा करने वाला है। इससे साधु शीघ्र ही संयम से भ्रष्ट हो जाता है। धनसंचय का परिणाम नरकगति की प्राप्ति आदि महान् अनर्थकर है। इसीलिए विवेकी साधुजन वर्तमान

समय, कर्म, काल आदि का आलंबन न लेकर, पूर्व पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग का ही आलंबन लें और परिग्रह का सर्वथा त्याग करें, यही श्रेयस्कर मार्ग है ॥५१॥

यह-बंध-मारण-सेहणाओ, काओ परिग्रहे नत्थि? ।

तं जइ परिग्रहज्जिय, जइधम्मे तो नणु पवंचो! ॥५२॥

शब्दार्थ - क्या परिग्रह के कारण मारपीट, बंधन, प्राणनाश, तिरस्कार आदि नहीं होते? इसे जानता हुआ भी साधु यदि परिग्रह रखता है तो उसका यतिधर्म प्रपंचमय ही है ॥५२॥

भावार्थ - क्या परिग्रह के साथ लट्टी आदि से मारपीट, रस्सी आदि से बांधना या कारागार में डाल देना, जान से मार डालना, अनेक प्रकार की यातनाएँ अनर्थ नहीं लगे हुए हैं? परिग्रह से ये सब चीजें सम्बंधित हैं ही। ऐसा जानकर भी जो साधु परिग्रह रखने के लिए ललचाता है तो उसका साधुधर्म केवल प्रपंची ही होता है। यानी धनसंचय करना साधुवेश की विडम्बना है। परिग्रहधारी साधु कदापि संतोष रूपी अमृत को चखने में समर्थ नहीं होता। इसीलिए साधु को किसी भी प्रकार का परिग्रह रखना उचित नहीं ॥५२॥

यही इस गाथा का सारांश है।

किं आसी नंदिसेणस्स, कुलं जं हरिकुलस्स चिउलस्स ।

आसी पिप्पामहो सच्चरिणं वसुदेवनामुत्ति ॥५३॥

शब्दार्थ - "नंदीषेण कौन-सा उत्तम कुल का था? वह तो दरिद्र ब्राह्मणकुल में जन्मा था; लेकिन उत्कृष्ट धर्माचरण से ही वह (नंदीषेण का जीव) विशाल हरिवंश में यादवकुल के पितामह वसुदेव के रूप में पैदा हुआ।" अतः सिर्फ कुल तारने वाला नहीं होता; अपितु किसी भी कुल में जन्म लेकर की हुई उत्कृष्ट धर्मकरणी ही जन्मांतर में हितकारिणी और भवोत्तारिणी हुई ॥५३॥

विज्जाहरीहिं सहरिसं, नरिंद-दुहियाहिं अहमहंतीहिं ।

जं पत्थिज्जइ तइया, वसुदेवो तं तवस्स फलं ॥५४॥

शब्दार्थ - उस समय जो विद्याधरियों और राजपुत्रियों ने 'मैं पहले-मैं पहले' इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा पूर्वक सहर्ष वसुदेव को विवाह के लिए प्रार्थना की थी, वह (उसकी) तपस्या का ही फल था ॥५४॥

भावार्थ - 'मतलब यह है कि वसुदेव ने पूर्वजन्म-नंदीषेण के भव में वैयावृत्य (मुनि सेवा) नामक आभ्यंतर तप किया था, उसी के फलस्वरूप वसुदेव को सुख-साग्रीरूप फल मिला। इसीलिए परिग्रह का त्याग करके आभ्यंतर

तप करना ही श्रेयस्कर है।' इसी विषय में आगे की गाथा में कहते हैं—

प्रसंगवश यहाँ नंदीषेण की कथा दी जा रही है—

नंदीषेण की कथा

मगधदेश में नंदी नाम का एक गाँव था। वहाँ चक्रधर नामक चक्र को धारण करने वाला एक दरिद्र ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम सोमिला था। उनके नंदीषेण नाम का एक पुत्र हुआ। पुत्र का जन्म होते ही उसके माता-पिता चल बसे। अतः नंदीषेण का मामा उसे अपने घर ले आया। वहाँ उसने नंदीषेण को पालपोस कर बड़ा किया। नंदीषेण अत्यंत कुरूप और बेडौल था। उसका सिर बड़ा था, पेट भी ढोल जैसा था, नाक टेढ़ी थी, शरीर बौना था, आँखें बिगड़ी हुई थी, कान टूटे से थे, केश पीले-पीले थे, पैर से लंगड़ा, कुबड़ा और चिन्तौना था। घर में उसे कोई चाहता नहीं था, दुर्भाग्य ने मानो यहीं आकर अपना डेरा जमाया था। कोई भी महिला उससे प्यार नहीं करती थी। वह सबका घृणा-पात्र था। जो भी उसे देखता, कहता—“अरे दुर्भाग्यशिरोमणी! तू क्यों दूसरे के यहाँ चाकरी (दासता) करता है? परदेश जा और धन कमाकर अपनी शादी क्यों नहीं कर लेता? कहावत है—‘स्थानान्तरितानी भाग्यानि’ (भाग्य दूसरे स्थान पर ही खुलता है)।” लोगों की बातें सुन-सुनकर उसे अपने मामा के यहाँ रहना और गुलामी करना अखरने लगा। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह परदेश जाकर ही अपना भाग्य अजमाएगा। जब मामा के सामने उसने अपनी यह इच्छा प्रकट की तो मामा ने फुसलाते हुए कहा—“भाई! तू क्यों व्यर्थ ही परदेश जा रहा है? कर्म तो वहाँ भी तेरा पीछा नहीं छोड़ेंगे। इससे बेहतर यह है कि तू मेरे घर में ही रहा। मेरी सात कन्याएँ हैं; इनमें से एक के साथ तेरा विवाह कर दूंगा। फिर तुझे परदेश जाने की क्या जरूरत है?” नंदीषेण ने मामा की बात मान ली और वहाँ रहने लगा। एक दिन मामा ने नंदीषेण को अपनी सातों कन्याएँ बताई और उससे कहा—“इनमें से जो कन्या तुझे पसंद हो या जो कन्या तुझे चाहे, उसी के साथ तेरी शादी कर दूंगा।” परंतु कन्याओं ने जब यह सुना तो सबकी सब एक स्वर से बोल उठी—“पिताजी! हमें आत्महत्या करके मर जाना स्वीकार है; लेकिन इस कालेकलूट, बेडौल व भाग्यहीन के साथ हम कदापि शादी नहीं करेंगी।” यह सुनकर नंदीषेण मन ही मन सोचने लगा—“मामाजी ने मेरे लिए कोई कसर न रखी, परंतु मेरे कर्मों का दोष है कि कोई मुझे यहाँ चाहता नहीं। जब तक ये अशुभ कर्म भोगे नहीं जायेंगे, तब तक शुभ कर्म (भाग्य) का उदय

नहीं होगा और एक के बाद एक मुसीबत झेलनी पड़ेगी।" कहा भी है—

कर्मणो हि प्रधानत्वं, किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहाः ।

वशिष्ठदत्तलग्नोऽपि रामः प्रव्रजितो वने ॥६३॥

अर्थात् - 'संसार में कर्म की ही प्रधानता है। उसमें शुभ ग्रह बेचारे क्या कर सकते हैं?' श्रीरामचन्द्रजी के राज्याभिषेक के लिए वशिष्ठ मुनि ने शुभ मुहूर्त निकाला था, लेकिन उसी मुहूर्त में (कर्मवशात्) श्रीरामचन्द्रजी को वनगमन करना पड़ा ॥६३॥

नंदीषेण को इस दुःख से विरक्ती हो गयी। वह कर्मदोष को दूर करने के लिए दृढ़ निश्चय करके मामा के यहाँ से चल पड़ा। घूमते-घूमते संध्या-समय वह रत्नपुरी के बाहर एक उपवन में पहुँचा। वहाँ उसने एक स्त्री पुरुष के जोड़े को निर्वस्त्र होकर अत्यंत काम्नासक्ति पूर्वक गाढ़ आलिंगन करते एवं कामक्रीड़ा करते देखा। इसे देखकर उसे कामिनी की प्राप्ति में बाधक अपने दुष्टकर्मों के प्रति बड़ी ग्लानि हुई। मनुष्य की दुष्ट कर्मगति पर विचार करते-करते वह इस नतीजे पर पहुँचा कि उसे कर्मों का अंत करने के लिए शरीर का ही अंत कर देना चाहिए। फलतः वह आत्महत्या करने के लिए वहाँ से एक निर्जन वन में पहुँचा। वहाँ एक शांत-दान्त परोपकारी, निःस्पृह सुस्थित नामक मुनि ने उसे आत्महत्या के लिए उतारू होते देखा। मुनि उसकी वृत्ति को जान गये। वे एकदम उसके निकट आये और हाथ के इशारे से उसे रोककर कहा—“भोले भाई! इस प्रकार की अज्ञानमृत्यु से क्या मिलेगा? तू इन विषयसुखों की अप्राप्ति के कारण जिंदगी से ऊबकर ही तो अपने शरीर का अंत करना चाहता है न! पर जरा विचार करा पूर्वजन्मों में अनंत बार एक से एक बढ़कर विषयसुखों का सेवन तेरे जीव ने किया है; फिर भी क्या सफलता मिली? कौन-सी सिद्धि प्राप्त हुई? इसीलिए मेरा कहना माना तू इन विषयसुखों का मार्ग छोड़कर धर्ममार्ग की शरण ले। मैं तुम्हें अपनाता हूँ। तू एकनिष्ठ होकर धर्माचरण कर, जिससे तेरे सारे कर्मदोष मिट जायेंगे और न चाहने पर भी अनायास ही विषय-सुख साधन तेरे सामने प्रस्तुत होंगे। सर्प के फंशों के समान भयंकर और कटु-परिणामप्रद इन विषयभोगों के सेवन से कोई लाभ नहीं। इनके सेवन से न तो कर्मदोष हटेंगे और न इनका परिणाम ही अच्छा आयेगा। उलटे, नये भारी कर्मों का बंध होने से दुःख की परम्परा ही बढ़ेगी। शरीर भी रोग का घर बन जायेगा। शरीर में कितनी व्याधियाँ हैं? सुनो—

पणकोडी अडसट्टी लक्खा नव नवइसहस्र पंचसया ।

चुलसी अहिआ निरए, अपइड़ाणम्मि वाहिओ ॥६४॥

अर्थात् - 'अप्रतिष्ठान नामक सातवें नरक में कुल ५ करोड़ ६८ लाख ९९ हजार ५८४ व्याधियां हैं' ॥६४॥

ये व्याधियां तो सिर्फ नारकीय जीवों को विषाकोदय होने पर होती हैं; अन्य जीवों को नहीं। परंतु मनुष्य शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं। प्रत्येक रोमराजि पर पौने दो व्याधियां हैं। इससे अनुमान लगा लो, मानवशरीर कितनी व्याधियों से घिरा हुआ है। अतः इस शरीर का सार यही है कि मनुष्य इस दुर्लभ अनित्य मानवशरीर को धर्माचरण, तपश्चरण आदि में लगाये। धर्माचरण के बिना मनुष्य शरीर निरर्थक है। कहा भी है—

संसारे मनुष्यं सारं मनुष्ये च कौलिन्यम् ।

कौलिन्ये च धर्मित्वं, धर्मित्वे चापि सदयत्वम् ॥६५॥

'संसार में सार मनुष्य जन्म की प्राप्ति है, मनुष्य जन्म का सार है कुलीनता, कुलीनता के होने पर धर्माचरण सार रूप है और धर्माचरण में भी दयायुक्त होना सारभूत है।' ॥६५॥

इस प्रकार निःस्पृह मार्गदर्शक गुरु का अमृतोपम उपदेश सुनकर नंदीषेण का विषयताप शांत हो गया और स्वस्थ होकर उनसे साधुदीक्षा अंगीकार की। नंदीषेण मुनि दीक्षा ग्रहण के बाद अपने गुरु की सेवा में रहकर उग्रविहार करते हुए निरंतर छट्-छट् तप (दो उपवास) के अनंतर पारणा करने लगा। उसने गुरु से नियम लिया कि "मैं आजीवन अम्लान-भाव से प्रतिदिन ५०० साधुओं की वैयावृत्य (सेवा) करूँगा।" इस नियम के अनुसार वह रोजाना गौं से आहार-पानी लाकर मुनियों की सेवाभक्ति करता था। पारणा भी दूसरे साधुओं को आहार-पानी देकर ही करता था। सचमुच, साधुओं की वैयावृत्य से महान् लाभ है। कहा है—

वैयावच्चं निययं करेह उत्तमगुणे धरंताणं ।

सर्वं किर पडिवाई, वैयावच्चं अपडिवाई ॥६६॥

'उत्तम-गुण-धारक मुनिराजों की नित्य वैयावृत्य (सेवा) करनी चाहिए। क्योंकि अन्य सभी धर्म क्रिया का फल प्रतिपाती हैं मगर वैयावृत्य का फल अप्रतिपाती है।' ॥६६॥

वैयावृत्यगुण के कारण नंदीषेण मुनि की संघ में सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। एक दिन सौधर्म-देवलोक के इन्द्र ने भी नंदीषेण मुनि की सेवागुण में वृद्धता की प्रशंसा की। दो देवों को इन्द्र की बात पर प्रतीति न हुई। वे नंदीषेण मुनि की परीक्षा लेने के लिए वेष बदलकर रत्नपुरी पहुँचे। उनमें एक ने रोगी साधु का रूप

बनाया और नगरी के बाहर उद्यान में लेट गया; और दूसरा देव मुनि का रूप धारण कर वहाँ पहुँचा, जहाँ नंदीषेण मुनि अभी पारणा करने के लिए बैठे ही थे। मुनि नंदीषेण पहला कौर मुंह में रखने वाले ही थे कि मुनि रूपधारी देव ने कहा—

“अरे नंदीषेण! वैद्यावृत्य करने वाले साधु के नाम से तुम्हारी बड़ी प्रसिद्धि है, परंतु मेरे गुरु नगरी के बाहर उद्यान में अतिसार रोग से पीड़ित पड़े हैं और तुम यहाँ मजे से निश्चित होकर आहार कर रहे हो!”

यह सुनते ही तुरंत नंदीषेण ने हाथ में लिया हुआ कौर वहीं रख दिया और आहार पर वस्त्र ढाँककर देव मुनि के साथ नगरी के बाहर चल पड़े। वहाँ पहुँचने पर मुनि वेशी देव ने कहा—

“अरे मुनि! पहले इनका मल से भरा शरीर साफ करने के लिए प्रासुक पानी तो ले आओ।” नंदीषेण मुनि पानी के लिए पात्र लेकर वापिस नगर में आये। कई घरों में घूमे, परंतु जहाँ भी जाते वहाँ देवमाया के कारण प्रासुक एषणीय निर्दोष जल नहीं मिलता। दूसरी बार वे फिर नगरी में प्रासुकजल के लिए घूमे, मगर फिर भी देव के उपरोध के कारण न मिला। मुनि ने हिम्मत न हारी। तीसरी बार फिर निर्दोष जल लेने के लिए नगरी में घूमने लगे। इस बार लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम की प्रबलता से और अपनी तपोलब्धि के कारण देव का उपरोध हट जाने से नंदीषेण मुनि को प्रासुकजल मिला। वे उस जल को लेकर देव मुनि के साथ सीधे रुग्ण मुनि के पास वन में आये। आते ही रुग्ण मुनि ने नंदीषेण मुनि को अत्यंत कठोर वचन कहे। लेकिन नंदीषेण मन में जरा भी क्रोध कलुषित नहीं हुए। उन्होंने अपना ही दोष माना और रुग्णमुनि से कहा—“मुनिराज! मेरे अपराध क्षमा करें। मुझ से भूल हो गयी है।” इसके पश्चात् उन्होंने गंदगी से लिपटा हुआ रुग्ण मुनि का शरीर जल से धोकर साफ किया और उनसे प्रार्थना की—

“स्वामीनाथ! आप उपाश्रय में पधारें, जहाँ औषध आदि लेने से आपका रोग शांत हो जायगा।” रुग्ण मुनि वेशी देव—“भाई! उपाश्रय तक चलने की शक्ति मुझ में कहाँ है? मैं चलने में असमर्थ हूँ।” नंदीषेण मुनि ने विनयपूर्वक उन्हें समझाकर अपने कंधे पर बिठाया और चल पड़ा। रास्ते में रुग्ण मुनि ने नंदीषेण पर अत्यंत बदबूदार अशुचि (विष्टा) कर दी; साथ ही कठोर शब्दों में डांट फटकार की बौछार की—“अरे भाई! तुम अत्यंत जल्दी-जल्दी चल रहे हो, इससे मुझे बहुत कष्ट होता है। मुझे कष्ट देने के लिए क्यों लाये? इससे तो वहीं पड़ा रहता तो अच्छा था।” इस प्रकार के कठोर उपालंभ के बावजूद भी नंदीषेण ने जरा भी नाक-भौं नहीं सिकोड़ी; उलटे उनके मन में तीव्रतर शुभभावों की धारा फूट

निकली—“इन मुनि को मेरे निमित्त से आज बहुत कष्ट हुआ है! अतः शीघ्र ही ये स्वस्थ हो जाय तो मेरा श्रम सार्थक हो।” फिर तुरंत ही वे रुग्ण मुनि से पुनः क्षमायाचना करते हुए बोले—“मुनिवर! आप जरा भी न घबराएँ! मैं आपको बहुत अच्छी तरह उपाश्रय पहुँचाऊँगा।” यों कहकर आगे चल पड़े। मुनिवेशी देव गद्गद होकर सोचने लगा—“धन्य है इस सेवाभावी मुनि को! मैंने इन्हें इतना डांटा-फटकारा, इतना कष्ट दिया; फिर भी ये अपने सेवाव्रत से जरा भी विचलित न हुए। अतः इन्द्र का कथन अक्षरशः सत्य है।” इस तरह विचारकर दोनों देवों ने अपना वैक्रिय से बनाया हुआ रूप समेट लिया और असली देव रूप में नंदीषेण मुनि के सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये। कहने लगे—“धन्य हो मुनिवर! आपकी आत्मा पवित्र है! इन्द्र ने आपकी सेवावृत्ति की जैसी प्रशंसा की थी, वैसे ही गुण आप में हमने पाये। सचमुच, आप क्रोधादि-कषायों को जीतकर और अपनी इन्द्रियों का दमन करके सेवानिष्ठा में उत्तीर्ण हुए हैं। हमने आपको बहुत कष्ट दिया; हमारे अपराध क्षमा करें।” यों बार-बार उनकी प्रशंसा करके तथा उनके चरणों में नमस्कार करके दोनों देव अपने स्थान को लौट गये।

देव प्रभाव से नंदीषेण मुनि के शरीर पर गोशीर्षचन्दन का लेपन हो गया था। उसके पश्चात् चिरकाल तक वैयावृत्य, अभिग्रहतप तथा अनेक प्रकार के दुष्कर तप करते हुए नंदीषेण मुनि ने १२ हजार वर्ष^१ तक चारित्र्य पालन किया। अंतिम समय में उन्होंने दर्भासन पर बैठकर चारों ही आहार और अठारह ही पापस्थानों के त्यागरूप अनशन (संल्लेखना-संथारा) स्वीकार किया। कर्मोदय-वश उस दौरान नंदीषेण मुनि ने अपने पूर्व दुर्भाग्यपूर्ण गार्हस्थ्यजीवन का स्मरण करके इस प्रकार का निदान कर लिया—“इस तप और चारित्र्यादि के फलस्वरूप आगामी जन्म में मैं नारी-वल्लभ बनूँ।” निदान सहित वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर वे ८ वें (सहस्र १२) देवलोक में पहुँचे।

देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर नंदीषेण के जीव ने सौरीपुर नगर में अंधकविष्णु राजा की सुभद्रारानी की कुक्षि में पुत्र रूप से जन्म लिया। नाम रखा गया—वसुदेव। समुद्र-विजय आदि ९ वसुदेव से बड़े भाई थें। पूर्वजन्म में किये हुए निदान (दुःसंकल्प) के फल स्वरूप वसुदेव अत्यंत सुंदर, सलौना, भाग्यशाली और लोकप्रिय था। साथ ही वह नगर में अपनी इच्छा से बेखटके घूमा करता था। लाड़ला होने के कारण उसे कोई कुछ भी नहीं कहता था। उसका कामदेव-सा सुंदर रूप देखकर ललनाएँ मोहित हो उठतीं और अपने घर के

१. एक कथा में पचावन हजार वर्ष का आयुष्य भी लिखा है।

आवश्यक काम छोड़कर भी उसके पीछे-पीछे घूमने लगती। कुलवती लज्जशील महिलाओं ने भी अपना कुलाचार छोड़ दिया। कई धर्मभ्रष्ट भी होने लगी। कुलांगनाओं को आचार-भ्रष्ट होते तथा इस प्रकार वसुदेव के रूप पर पागल देख नागरिकजनों ने समुद्रविजय नृप से अर्ज की—“स्वामिन्! हमारी गृहिणियाँ वसुदेव के रूप पर फिदा होकर घर का काम छोड़ बैठती हैं तथा कुलाचार आदि को भी तिलांजलि दे देती हैं। अतः आप वसुदेवकुमार को कहीं बाहर न घूमने दें। अन्यथा, समस्त कुलांगनाएं धीरे-धीरे आचार छोड़ बैठेंगी। अगर आप इस अनाचार को न रोकेंगे तो इसका सारा दोष आपके सिर पर होगा।” समुद्रविजयजी को यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने वसुदेव को बुलाकर हितशिक्षा देकर महल में ही रखा। वहीं उसे विद्याएं-कलाएं सिखाने लगे।

एक बार गर्मी की मौसम में गर्मी को शांत करने के लिए गोशीर्ष चंदन घिसकर महारानी शिवादेवी ने उसे कटोरे में भर कर दासी के साथ महाराजा समुद्रविजयजी के लिए भेजा। परंतु रास्ते में दासी से हाथ से कटोरा झपट कर वसुदेव ने अपने शरीर पर उस चंदन का लेप कर लिया। इससे दासी ने गुस्से में आकर कहा—“तुम ऐसी नाजायज हरकतें करते हो, इसीलिए बंदीखाने में रखे गये हो।” वसुदेव ने कुछ विश्वस्त व्यक्तियों से पिछली सारी घटनाएँ सुनीं तो वह झुंझला उठा और पिछली रात्रि को युक्तिपूर्वक अकेला नगर से बाहर निकल गया। फिर मरघट से किसी मुर्दे को चुपके से उठा लाया और नगर के सदर दरवाजे के पास लाकर उसे फूंक दिया। वहाँ उसने अपने हाथ से लिख दिया—“वसुदेव यहाँ जल मरा है। इसीलिए नगर के लोग अब निश्चितता पूर्वक सुख से रहें।” नंदीषेण इस प्रकार लिखकर उस नगर को छोड़कर चल दिया। प्रातःकाल राजा समुद्रविजयजी को जब इस बात का पता लगा तो वे शोकमग्न हो गये। सोचने लगे—“बड़ा आश्चर्य होता है कि सुकुलोत्पन्न होकर भी वसुदेव ने दुष्कुलोचित आचरण किया और स्वयं ही स्वेच्छा से इस संसार से चला गया। मगर अब क्या किया जाय? निरुपायता है! जो होने वाला होता है, वह होकर ही रहता है।” इस प्रकार मन को आश्वस्त किया।

वसुदेव भी विभिन्न देशों में नये-नये रूपों, वेशों और आचारों को धारण करके १२० वर्ष तक पर्यटन करता रहा। विभिन्न देशों में घूमते हुए प्रबल भाग्योदय एवं रूपलक्ष्मी के कारण विद्याधरों, राजाओं तथा अन्य वर्णों की ७२००० कन्याओं के साथ वसुदेव ने पाणिग्रहण किया। राजकुमारी रोहिणी के स्वयंवर में कुबड़ा रूप धारण करके गया, फिर भी राजकुमारी ने रूप से आकर्षित होकर वसुदेव के गले

में वरमाला डाली। यादवकुमारों ने नीचजाति का समझकर इसके साथ युद्ध किया। मगर युद्ध में भी अपना जौहर दिखाकर वसुदेव ने अपना स्वरूप प्रकट किया। इससे समुद्रविजय आदि को बहुत ही आनंद हुआ। आश्चर्यपूर्वक लोग कहने लगे— "वसुदेव के पूर्व पुण्यराशि की ही प्रबलता है; जिसके कारण इसने इतने चमत्कार दिखाये।" वहाँ से वसुदेव अपने स्वजनों के साथ सौरीपुर आया। अंत में देवकराजा की पुत्री देवकी के साथ विवाह हुआ। देवकी की कुक्षि से उनके श्रीकृष्ण वासुदेव नामक महाप्रतापी पुत्र हुए। और उनके पुत्र शाम्भ, प्रद्युम्न आदि हुए। इसी कारण वसुदेव हरिवंश के पितामह कहलाते थे।

वसुदेव को यह सब फल पूर्वजन्म में आचरित साधुधर्म, वैयावृत्य रूप आभ्यंतर तप और छट्ट (बेला) अट्टम (तेला) आदि बाह्यतप के कारण मिला था। इसी प्रकार अन्य साधुओं को भी तपश्चरण में पुरुषार्थ करना चाहिए ॥५४॥

सपरक्कम राउलवाइएण, सीसे पलीचिलिए नियए ।

गयसुकुमालेण खमा, तहा कया जह सिचं पत्तो ॥५५॥

शब्दार्थ - पराक्रमी श्रीकृष्ण वासुदेव के छोटे भाई गजसुकुमार; (जिसका बड़ी अच्छी तरह से लालन पालन हुआ था) मुनि के मस्तक पर जलते हुए अंगारे रखे गये। फिर भी उन्होंने ऐसी उत्कृष्ट क्षमा धारण की, जिससे शीघ्र मोक्ष प्राप्त किया ॥५५॥

प्रसंगवश यहाँ गजसुकुमार मुनि की कथा दे रहे हैं—

श्री गजसुकुमान मुनि की कथा

द्वारका नगरी में राजा श्री कृष्ण वासुदेव राज्य करते थे। उनकी माता का नाम देवकी था। एक बार भगवान् श्री अरिष्टनेमि वहाँ पधारें। देवों ने आकर समवसरण रचा। भगवान् ने दर्शनार्थ आये हुए श्रोताओं को उपदेश दिया। जिसे सुनकर हर्षित होकर सभी अपने-अपने घर को लौटे। भद्रिलपुरनगर के एक साथ मुनि धर्म में दीक्षित ६ मुनि भ्राता भगवान् से अनुमति लेकर छट्टतप (बेले) के पारणे के लिए दो-दो के समूह से नगरी में भिक्षा के निमित्त गये। उनमें से प्रथम गुट के दो मुनि घूमते-घूमते महारानी देवकी के यहाँ पहुँचे। मुनियों को देखकर देवकी को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह उन्हें भोजनगृह में ले गयी और उन्हें बड़ी भावना से मोदक भिक्षा के रूप में दिये। उन दो मुनियों के चले जाने के कुछ ही देर बाद संयोगवश दूसरा दो मुनियों का गुट भी वहीं पहुँचा। देवकी महारानी ने उन्हें भी उसी भावना से मोदक दिये। उनके चले जाने के कुछ ही समय पश्चात् तीसरा मुनिद्वय का गुट भी अनायास ही वहीं पहुँच गया। तब देवकी ने विचार

किया कि “शुद्ध साधुओं को तीसरी बार गृहस्थ के घर में आहार के लिए आना नहीं कल्पता” किस कारण से आये हैं इनसे पूछुंगी फिर उन्हें भी सहर्ष भिक्षा देने के बाद देवकी रानी ने अंतिम गुट के मुनिद्वय से पूछा—“मुनिवर! क्या प्रत्यक्ष देवलोक के समान इतनी लम्बी-चौड़ी विशाल द्वारिका नगरी के लोगों की धर्मभावना में कमी आ गयी है कि मुनियों को आहारपानी नहीं मिलता; जिससे बार-बार उन्हें यहाँ आना पड़ा? कहीं मेरी भूल हो रही हो तो माफ करना।” मुनियों ने कहा—“महारानी! द्वारकानगरी के लोगों की धर्मभावना में कोई न्यूनता नहीं आयी, और न ही हम मुनि तुम्हारे यहाँ बार-बार आये हैं। मालूम होता है, पहला और दूसरा मुनिद्वय का गुट भी तुम्हारे यहाँ ही आया है, तुम भूल से प्रथम और द्वितीय गुट के मुनियों को ही हमें समझ रही हो। वे दूसरे थे, हम दूसरे हैं। महारानीजी! आपको हमारी एक-सी आकृति और एक सरीखा रूप-रंग देखकर एक होने का भ्रम हो गया है। असल में, हम छहों सहोदर भाई हैं, भद्रिलपुर के नाग गथापति के पुत्र हैं, हम छहों ने संसार की असारता जानकर भगवान् अरिष्टनेमि से वैराग्यपूर्वक दीक्षा ली है, और आजीवन छट्ठ-छट्ट (बेले-बेले) तप करते हैं। आज पारणे का दिन था। हम छहों मुनि तीन गुटों में विभक्त होकर भगवान् की अनुज्ञा लेकर द्वारिका नगरी में भिक्षा के लिए पृथक्-पृथक् निकले थे। हम तुम्हारे यहाँ अनायास ही आ पहुँचे हैं।” यह सुनकर देवकी का संशय दूर हो गया। मुनियों के चले जाने के बाद देवकी विचार करने लगी—“कितने सुंदर एक-सरीखे देवपुत्र सम लगते हैं ये छहों मुनि? मैंने तो थोड़ी-सी देर देखा इतने में मुझे पुत्रदर्शन-सा आनंद हुआ। मुझे तो इनका चेहरा कृष्ण-सा प्रतीत होता है। बचपन में एक बार अतिमुक्तक मुनि ने कहा था कि “तुम्हारे ८ अद्वितीय सुंदर पुत्र होंगे, भारतभर में अन्य कोई माता ऐसे पुत्रों को जन्म नहीं दे सकेगी।” परंतु मैं तो प्रत्यक्ष देख रही हूँ कि इनके समान सुंदर पुत्र और कौन होंगे? और इन्हें जन्म देने वाली माता को भी धन्य है! मुनि के वचन असत्य नहीं होते। अतः क्यों नहीं भगवान् के पास जाकर अपनी शंका का निवारण कर लूँ। दूसरे दिन प्रातःकाल देवकी भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ पहुँची और वंदना करके पूछा—“भगवान्! कल मेरे यहाँ छहों मुनि भिक्षा के लिए पधारे थे। उन्हें देखकर मेरे हृदय में अत्यंत वात्सल्य उमड़ने का क्या कारण है? साथ ही उन ६ मुनियों को देखकर मुझे अतिमुक्तक मुनि के कहे हुए भविष्यकथन में कुछ शंका भी पैदा हुई है; कृपा करके आप मेरा समाधान करें।” भगवान्—“देवानुप्रिये! ये छहों तुम्हारे ही पुत्र हैं; जिस समय तुम्हारे पुत्र-प्रसव होता था, उस समय कंस के भय से उनकी रक्षा के

लिए एक देव उन्हें तुम्हारे पास से उठाकर नागभाथापति की पत्नी सद्यः प्रसवा सुलसा के पास रख देता था, और उसके मृतपुत्रों को उठाकर तुम्हारे पास रख देता था। यही कारण है कि ये तुम्हारे पुत्र सुलसा के यहाँ सुरक्षित रहे और वहीं इनका पालन-पोषण हुआ; यौवन अवस्था होने पर उन्होंने ही (पालक माता पिता ने) ३२-३२ कन्याओं के साथ प्रत्येक की शादी की। किन्तु मेरा उपदेश सुनकर इन्हें संसार से वैराग्य हो गया और छहों भाइयों ने एक साथ घरबार छोड़कर मेरे पास दीक्षा ले ली। दीक्षा लेने के बाद ये दो-दो उपवास के अनंतर पारणा करते हैं। कल पारणा था, इसीलिए मेरी आज्ञा से ये तीन गुटों में विभक्त होकर पृथक्-पृथक् भिक्षा के लिए गये थे, वे तीनों गुट अनायास ही तुम्हारे पास पहुँच गये थे। तुम्हारे साथ माता-पुत्र का संबंध होने के कारण तुम्हारे हृदय में वात्सल्य उमड़ा था।” भगवान् के वचन सुनकर देवकी विविध विचारों के झूलती हुई हर्षोत्फुल्ल होकर महल में पहुँची। परंतु भगवान् के वचन याद आते ही अनमनी-सी होकर चिंतासागर में गोते लगाने लगी—“वे माताएँ धन्य हैं, पुण्यशालिनी हैं, जो अपने नन्हें-नन्हें मुत्रों को स्तनपान कराती हैं, कोमल हाथ फिराती हैं, उनके तुतलाते हुए मधुर वचन सुनती हैं, उन्हें अपनी गोद में बिठाती हैं, दुलार करती हैं, पुचकारती हैं और उन्हें खेलाती हैं, मैं तो बिल्कुल अधन्या और पुण्यहीन हूँ; क्योंकि मैंने सात-सात पुत्रों को जन्म दिया, परंतु एक का भी इस तरह लालन-पालन नहीं किया। ये ६ तो सुलसा के यहाँ पले और श्रीकृष्ण जन्म लेते ही नंद की पत्नी यशोदा के यहाँ गोकुल भेज दिया गया था, वहीं यह पला! हाय! मैं कितनी अभागिनी हूँ। दुनिया में मेरे समान कौन माता अभागी और पुण्यहीन होगी?” ठीक उसी समय श्रीकृष्णजी माता देवकी के चरणों में प्रणाम करने आये, परंतु माता को अत्यंत चिंतातुर देखकर उन्होंने चिंता का कारण पूछा। श्रीकृष्ण के अनुरोध पर देवकी ने अपनी सारी आपबीती और चिंता बता दी। माता की चिंता दूर करने के लिए श्रीकृष्णजी ने पौषधशाला में अट्टम (तेले का) तप किया और हरिणैगमैषी देव की आराधना की। देव ने सेवा में उपस्थित होकर स्मरण करने का कारण पूछा तो श्री कृष्णजी ने माता की चिंता का निवारण करने में सहायता करने का कहा। देव ने ज्ञान में देखकर उन्हें कहा—“देवलोक से आयुष्य पूर्णकर एक भाई तुम्हारी माता की कुक्षि से जन्म लेगा, परंतु जवानी में कदम रखते ही वह विरक्त होकर दीक्षा ले लेगा।”

1. एक कथानक में विहार कर पुनः द्वारिका में आने के पश्चात् कायोत्सर्ग का वर्णन आता है।

श्रीकृष्णजी ने प्रसन्न होकर माता को यह खुशखबरी सुनाई।

देवकी रानी गर्भवती हुई। उसने सिंह का स्वप्न देखा। तदनुसार गर्भकाल पूर्ण होने पर उसने एक सुंदर सुकुमार पुत्र को जन्म दिया। जन्मोत्सव खूब धामधूम से मनाया गया। उसका नाम रखा गया—गजसुकुमार। गजसुकुमार जब कुछ बड़ा हुआ तो एक दिन श्रीकृष्णजी के साथ भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ जा रहा था। रास्ते में श्रीकृष्णजी ने सोमिल ब्राह्मण की तेजस्वी कन्या को देखकर अपने छोटे भाई गजसुकुमार के साथ विवाह संबंध के लिए उसके पिता से याचना करके कुमारिकाओं के अन्तःपुर में रख देने का आदेश अपने विश्वासी सेवक को दिया। सेवक ने सोमिल ब्राह्मण से पूछकर आदेश का यथावत् पालन किया। श्रीकृष्णजी और गजसुकुमार भगवान् अरिष्टनेमि के चरणों में पहुँचकर उनका वैराग्यमय प्रवचन सुनने लगे। प्रवचन सुनकर गजसुकुमार का मन वैराग्यसागर में डुबकियाँ लेने लगा। घर आकर माता-पिता और बड़े भाई श्रीकृष्ण की आज्ञा लेकर गजसुकुमार ने भगवान् अरिष्टनेमि से मुनिदीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ली उसी दिन वे भगवान् से १२ वीं भिक्षुप्रतिमा अंगीकार कर उनकी आज्ञा से महाकाल स्मशान में जाकर कायोत्सर्ग में स्थित हो गये। संयोगवश सोमिल ब्राह्मण भी होम के लिए इन्धन आदि लेने वहाँ आया। गजसुकुमार मुनि को देखते ही वह आगबबूला होकर मन ही मन बड़बड़ाने लगा—“धिकार है इस दुष्ट को! यह मेरी निर्दोष पुत्री को निराधार छोड़कर साधु बन गया है! अभी मजा चखाता हूँ, इसे अपनी दुष्टता का!” इस प्रकार द्वेष वश सोमिल ने एक ठीकरे में जलते अंगारे उठाए और गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर चारों ओर मिट्टी की पाल बांधकर उन्हें रख दिये। मुनि का मस्तक असह्य ताप से जल उठा, परंतु उन्होंने उफ तक न किया और न ही सोमिल पर जरा-सा भी क्रोध किया। इस अपूर्व क्षमा के कारण शुक्लध्यान-रूपी अग्नि में अपने समस्त कर्मों को क्षय करके अंतकृत् केवलज्ञानी होकर वे मोक्ष में पहुँचे।

दूसरे दिन श्रीकृष्णजी अपने लघुभ्राता मुनि और भगवान् अरिष्टनेमि के वंदनार्थ आये। उन्होंने आते ही भगवान् से पूछा—“भगवन्! मेरे लघुभ्राता मुनि गजसुकुमार कहाँ हैं?” भगवान् ने बताया—“श्रीकृष्ण! उसने अपना समस्त कार्य सिद्ध कर लिया है।” श्रीकृष्णजी द्वारा पूछने पर भगवान् ने सारी घटना कही। श्रीकृष्णजी को इससे बड़ा धक्का लगा। सोचने लगे—“मेरे राज्य में मेरे होते हुए भी एक मुनि की हत्या! यह तो मेरे लिये सरासर कलंक है।” भगवान् से उन्होंने पूछा—“प्रभो! ऐसा कौन दुष्ट था, जिसने मुनि हत्या का कुकर्म किया?” भगवान्

ने उन्हें शांत होने तथा एक बूढ़े पर अनुकंपा कर उसकी ईंटें उठाने की सहायता की तरह एक परमसिद्धि प्राप्त करने में सहायता देने की बात कही। श्रीकृष्णजी ने जब पूछा कि—“मैं उसे कैसे जान पाऊंगा? भगवान् ने कहा—“तुम्हें देखकर जो भय के मारे धड़ाम से गिर पड़े और हृदय फटकर मर जाय; तुम जान लेना कि यह वही है।” श्रीकृष्ण शोकमग्न होकर वापिस अपने राजमहल की ओर लौट रहे थे कि सोमिल सामने से आता हुआ मिला, श्रीकृष्णजी को देखते ही अत्यंत भयाकुल होकर वह वहीं धड़ाम से गिर पड़ा और हृदय फट जाने से वहीं खत्म हो गया। ऋषि हत्या के फल स्वरूप मरकर वह सातवीं नरक में पहुँचा।

जिस प्रकार धैर्यवान गजसुकुमार मुनि ने मरणांत कष्ट आ पड़ने पर भी अत्यन्त क्षमा धारण की; उसी तरह आत्मार्षी साधुओं को सकल सिद्धि प्रदायिका क्षमा धारण करनी चाहिए ॥५५॥

इस कथा का यही सार है।

रायकुलेसुडवि जाया, भीया जर-मरण-गम्भवसहीणं ।

साहू सहंति सच्चं, नीयाण वि पेसपेसाणं ॥५६॥

शब्दार्थ - राजकुल में उत्पन्न होकर भी बुढ़ापा, मृत्यु, गर्भ आदि के दुःखों से भयभीत साधु नीचकुल में पैदा हुए नादान नौकर के दुर्वचन आदि उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहते हैं; उसी प्रकार सभी संयमी साधुओं को क्षमाशील बनकर सहन करना चाहिए ॥५६॥

पणमंति य पुच्चयरं, कुलया न नमंति अकुलया पुरिसा ।

पणओ इह पुच्चिं जइ जणस्स जह चक्कवट्टीमुणी ॥५७॥

शब्दार्थ - कुलीन पुरुष पहले नमस्कार करते हैं, किन्तु अकुलीन पुरुष नहीं। जैसे चक्रवर्ती मुनि बन जाने पर पूर्व दीक्षित मुनियों को नमस्कार करता है। अर्थात् चक्रवर्ती ६ खण्ड की राज्य-ऋद्धि छोड़कर भी गर्वोद्धत नहीं होता; अपितु मुनि बने जाने पर वह पहले अपने से दीक्षा में ज्येष्ठ मुनियों को नमन करता है ॥५७॥

जह चक्कवट्टीसाहू, सामाइय साहूणा तिरुवयारं ।

भणिओ न चेव क्विओ, पणओ बहुयत्तणगुणेणं ॥५८॥

शब्दार्थ - चक्रवर्ती मुनि जब ज्येष्ठमुनि को सरलता से प्रथम वंदन नहीं करता तो सामान्य साधु उसे कठोर शब्दों या तुच्छ शब्दों से कहे कि 'तू अपने से दीक्षापर्याय में बड़े साधु को वंदना क्यों नहीं करता?' इस पर भी चक्रवर्ती मुनि उस

पर जरा भी रोष नहीं करता, न झुंझलाकर जवाब देता है, अपितु तुरंत अपनी भूल सुधारकर बहुमान पूर्वक अपने से ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य गुणों में अधिक ज्येष्ठ मुनि को वंदना करता है; इसी प्रकार की गुणग्राहिता का व्यवहार सभी साधुओं को करना चाहिए ॥५८॥

ते धन्ना ते साह, तेसिं नमो जे अकज्जपडिविरया ।

धीरा वयमसिंहारं चरंति, जह थूलभद्रमुणी ॥५९॥

शब्दार्थ — उन सुसाधुओं-संतों को धन्य है, जो अकायों से निवृत्त हैं। उन धीरपुरुषों को नमस्कार है, जो तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं; जैसे स्थूलभद्र मुनि ने इस दुष्कर व्रत का आचरण किया था ॥५९॥

प्रसंगवश इस विषय में स्थूलभद्र मुनि का दृष्टांत दे रहे हैं—

स्थूलभद्र मुनि की कथा

पाटलीपुत्र में उन दिनों नंद राजा राज्य करता था। उसका मंत्री शकडाल था, जो नागर ब्राह्मण जाति का था। उसकी पत्नी का नाम लाछिलदेवी था। शकडाल के दो पुत्र थे—बड़े का नाम स्थूलभद्र था और छोटे का था—श्रीयक, तथा यक्षा आदि सात पुत्रियाँ थीं। एक दिन युवक स्थूलभद्र यौवन के उमंग में अपने मित्रों के साथ हास्यविनोद करते हुए वन के सुंदर दृश्यों को देखने गया था। वहाँ से वापिस लौट रहा था, तभी उसकी दृष्टि यौवन में मतवाली रूप लावण्य सम्पन्न कोशा वेश्या पर पड़ी। कोशा को देखते ही स्थूलभद्र उस पर मोहित हो गया। मित्रों का साथ छोड़कर वह सीधा कोशा की श्रृंगारशाला में पहुँच गया। कोशा ने उसकी बड़ी आवभगत की और अपने हावभाव एवं सम्भाषणचातुर्य से स्थूलभद्र को आकर्षित कर लिया। स्थूलभद्र भी अपना आगा-पाछा सोचे बिना रात दिन कोशा वेश्या के यहाँ रहने लगा। उसके नृत्य, गीत, राग-रंग, आमोद-प्रमोद, सहवास आदि विषय सुखों में वह इतना तल्लीन हो गया कि अपने माता-पिता और परिवार की भी कोई सुध न रही। पिता को यह मालूम होने पर बड़ा दुःख हुआ। उसने कई बार घर आने के लिए संदेश भिजवाये, मगर स्थूलभद्र आगे से आगे अपने लौटने का वादा बढ़ाता गया। पिता ने सोचा—“पुत्र को किसी प्रकार की तकलीफ न हो।” इसके लिए वह बार-बार धन भेजता रहा। १२ वर्षों में उसने स्थूलभद्र को साढ़े बारह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ भेजी, स्थूलभद्र ने इतना सब धन खर्च कर दिया। आखिर वररूचि ब्राह्मण के द्वारा किये गये षडयंत्र के कारण शकडाल

की मृत्यु हो जाने पर भी स्थूलभद्र नहीं आया। इधर नंदराजा ने शकडाल के स्थान पर श्रीयक को मंत्री-पद पर नियुक्त करना चाहा। श्रीयक ने यह कहकर मंत्रीपद लेने से इन्कार कर दिया कि 'मेरा बड़ा भाई स्थूलभद्र मंत्रीपद के योग्य है; उसे कोशा वेश्या के यहाँ से बुलाकर मंत्रीपद दे दीजिए।' नंदराजा ने तुरंत एक सेवक को स्थूलभद्र को बुलाने के लिए भेजा। स्थूलभद्र के आने पर राजा ने उसे मंत्रीपद स्वीकार के लिए कहा। स्थूलभद्र के मन में पिता की आकस्मिक मृत्यु का गहरा आघात था। इसीलिए राजा से उसने नम्रता पूर्वक कहा—“अभी तो मैं इतने वर्षों के बाद यहाँ लौटा हूँ; मुझे इस पर कुछ सोच लेने का अवकाश दीजिए; तभी मैं आपको इस बारे में यथार्थ उत्तर दे सकूंगा।” राजा ने उसे सोचने का मौका दिया। स्थूलभद्र तुरंत वहाँ से उठकर अशोकवाटिका के सुरम्य, एकान्त, शांत स्थान में पहुँचा और स्वस्थ व शांत होकर विचार करने लगा—“अहो! यह संसार कितना स्वार्थी है! जब तक मनुष्य किसी की हॉ में हॉ मिलाकर कार्य करता रहता है; तब तक वह ठीक है; परंतु जब कभी सत्य और हितकर लेकिन प्रतिकूल बात कहता या करता है तो तुरंत उसे मौत के मुंह में धकेल दिया जाता है। इसीलिए नीतिज्ञ कहते हैं—

वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः, शुष्कं सरः सारसाः,

पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा, दग्धं वनान्तं मृगाः ।

निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका, भ्रष्टं नृपं सेवकाः, सर्वः

स्वार्थवशाज्जनोऽभिरमते, नो कस्य को वल्लभः ॥६६॥

अर्थात् - वृक्ष के फलरहित होते ही पक्षी वृक्ष को छोड़कर चले जाते हैं, सरोवर के सूखते ही सारस देश छोड़ देते हैं, भौर कुम्हलाए हुए फूल को छोड़ देते हैं, हिरण जले हुए वनप्रदेश सरोवर को छोड़कर चले जाते हैं, वेश्याएँ धनहीन पुरुष को छोड़ते देर नहीं लगाती, सेवक राज्य से भ्रष्ट राजा को छोड़ देते हैं। इसीलिए इस संसार में सभी लोग अपने-अपने स्वार्थवश एक-दूसरे से प्यार करते हैं; परंतु वास्तव में कोई किसी का प्रिय नहीं है॥६६॥

इसीलिए मैं इस राज्य मुद्रा को लेकर क्या करूँगा! मेरे पिताजी ने राज्य का कार्य कुशलता पूर्वक किया, मगर ईष्यालु लोगों ने उनको भी मौत का शिकार बना डाला; तब फिर मुझे इस राज्य के पदाधिकारी बनने से कौन-सा सुख मिलेगा? धिक्कार है, अनेक अनर्थों के कारण इस राज्य को! जिन विषयसुखों की इच्छा-पूर्ति करने के लिए मनुष्य राज्य की खटपट में पड़ता है, वे विषयसुख भी तो क्षणिक हैं और उनके उपभोग का इच्छुक व्यक्ति भी क्षणिक होने से इन्हें बिना

भोगे ही अकाल में ही काल का ग्रास बन जाता है। मेरे पिताजी की मृत्यु का मुझे पता तक न चला। इस प्रकार विचारों के झूले में झूलते हुए स्थूलभद्र को वैराग्य हो गया। शासनदेव ने उन्हें मुनिवेश दिया। स्वयं मुनिवेश धारण करके स्थूलभद्र नंद राजा की राजसभा में पहुँचे। स्थूलभद्र को मुनिवेश में देख सबके आश्चर्य का पार न रहा। नंदराजा ने पूछा—“यह क्या कर लिया आपने?” स्थूलभद्र—“मैंने सोच समझकर योग्य ही किया है।” इतना कहकर वे सीधे आचार्य सम्भूतिविजय के पास पहुँचे और उनसे मुनि दीक्षा ग्रहण की।

कोशा वेश्या ने जब यह सुना तो उसके होश उड़ गये। विरह में व्याकुल होकर आँखों से अश्रुपात करती हुई वह विलाप करने लगी—“हे प्राणधार! आपने मुझे अधबिच में ही क्यों छोड़ दिया? मैंने ऐसा क्या अपराध किया था? अब मैं क्या करूँगी? कहाँ जाऊँगी? आपने राजमुद्रा को छोड़ भिक्षामुद्रा क्यों अंगीकार की? आपके बिना अब मेरा कौन आधार होगा?”

इधर चातुर्मास लगने में कुछ ही दिन बाकी थे कि आचार्य सम्भूतिविजय के शिष्यों में से एक ने उनके पास आकर प्रार्थना की—“गुरुदेव! मुझे आज्ञा दें, मैं यह चातुर्मास सिंह की गुफा में बिताऊँगा।” दूसरे शिष्य ने कहा—“गुरुदेव! मुझे साँप की बाँवी (बिल) पर चौमासा करने की अनुमति दें।” तीसरे शिष्य ने निवेदन किया—“गुरुदेव! कुँए की चौखट पर चातुर्मास व्यतीत करने की मुझे अनुज्ञा दें। इतने में स्थूलभद्रमुनि आये उन्होंने गुरुदेव से कोशा वेश्या के यहाँ चौमासा बिताने की आज्ञा माँगी। इस पर आचार्यश्री ने चारों को तद्-योग्य जानकर मनोनीत स्थलों पर चौमासा व्यतीत करने की आज्ञा दे दी। चारों ही मुनि प्रसन्न होकर अपने-अपने मनोनीत स्थलों की ओर चल पड़े। स्थूलभद्र मुनि भी गुरु-आज्ञा लेकर कोशा वेश्या के यहाँ पहुँचें। अपने यहाँ अपने पूर्व प्रेमी को अकस्मात् आये देख कोशा का रोम-रोम खिल उठा। उसने भाव-भक्ति पूर्वक पंचांग नमाकर नंदन-नमस्कार किया। हर्षाश्रु उमड़ पड़े। कहने लगी—“भले पधारें, नाथ! स्वागत है, आपका! दासी चरणों में हाजिर है। जो भी सेवा हो फरमाइए।” स्थूलभद्र मुनि ने उसकी चित्रशाला में चौमासा बिताने की अपनी इच्छा प्रकट की। कोशा ने साँचा—“अब मेरा मनोरथ पूर्ण हो जायगा। चार महीनों में तो मैं इनको पूर्णतया अपने वश में कर लूँगी।” कोशा ने सहर्ष अनुमति दे दी और उनके रहने के लिए चित्रशाला खोल दी। स्थूलभद्र ने कहा—मुझसे तेरह हाथ दूर रहकर बात करना। उसने स्वीकारा। कोशा १२ वर्ष के अपने गाढ़ परिचित पुराने प्रेमी स्थूलभद्र की शृंगाररस में सराबोर करने के लिए उनके सामने विविध हावभाव, चेष्टाएँ करती

है, बीच-बीच में विनोद पूर्वक व्यंग भी कर देती है, नेत्र और मुख द्वारा विरह-दुःख भी व्यक्त करती है, वीणा और मृदंग के मधुर शब्दों के साथ नृत्य, नाट्य संगीत आदि विविध मनोरंजन के कार्यक्रम प्रतिदिन प्रस्तुत करती है; वर्षाऋतु है, (मगध देश की) वारांगना की चित्रशाला है, बारह वर्ष की परिचित प्रेमिका है, भरपूर रूप, लावण्य और यौवन के उन्माद में मदमाती कोशावेश्या बार-बार उनसे भोगविलास की प्रार्थना करती है। इतने पर भी वैराग्य रस निमग्न स्थूलभद्र नहीं पिघले तो स्पष्ट शब्दों में प्रार्थना करती है—“प्राणनाथ! जरा मेरी ओर तो देखो! यह शरीर आपके चरणों में समर्पित है, फिर भी आप इस दासी के कुचस्पर्श और आलिंगन आदि प्रणयरस का सुख छोड़कर क्यों वैराग्य और तप की भट्टी में अपने यौवन को झौंककर कष्ट पा रहे हो।” प्रणयरसजों का कहना है—

संदष्टेऽधरपल्लवे सचकितं हस्ताग्रमाधुन्वती ।

मा मा मुञ्च शठेति कोपवचनैरानर्तितभ्रूलता ।

सीत्काराञ्चितलोचना सरभसं यैश्चुम्बिता मानिनी ।

प्राप्तं तैरमृतं श्रमाय मथितो मूढैः सुरैः सागरः ॥६७॥

अर्थात् - यौवन में उन्मत्त वनिता के ओष्ठपल्लवों को दांतों से काटे जाने पर वह चकित होकर हाथ के अग्रभाग को हिलाती है, ‘अरे, शठ! ऐसा मत करो, मत करो, छोड़ो, इस प्रकार के कोपमय वचन कहती हुई भौंहोंरूपी लताओं को नचाती है, साथ ही मुंह से सी-सी करती हुई आँखों को मटकाती रहती है, ऐसी मानिनी का झपटकर जिन लोगों ने चुम्बन किया है, वास्तव में उन्हीं पुरुषों ने अमृत प्राप्त किया है; बाकी तो मूढ़ देवों ने अमृत के लिए जो सागरमंथन किया था, उसमें अमृत क्या मिला? श्रम ही उनके पल्ले पड़ा था’ ॥६७॥

इसीलिए हे प्रियतम! यह वैराग्यरस की तान छेड़ने का समय नहीं है, इस समय तो आप मेरे साथ यथेच्छ कामसुखों का उपभोगकर प्रणयरस का स्वाद लें और दुर्लभ मनुष्य जन्म को सार्थक कर लें। फिर कब मनुष्यजन्म और दुर्लभ यौवन मिलेगा! वृद्धावस्था में यह कष्टकर तप, जप या संयम अपनाना उचित है। स्थूलभद्र कोशा की इन कामवर्द्धक बातों से जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने कोशा को समझाया—“भद्रे! मैं अब तक अज्ञानदशा में था, किन्तु अब गुरुकृपा से मुझे इस शरीर और विषय सुखों के वास्तविक स्वरूप का भान हो गया है। अब मैं इनके जाल में नहीं फंस सकता। कौन मूढ़ ऐसा होगा, जो जानबूझकर अपवित्र और मलमूत्र के भाजन घृणित कामिनीशरीर का आलिंगन करना चाहेगा? देखो, स्त्री के शरीर का स्वरूप—

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ ।

मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ।

स्रक्मूत्रक्लिन्नं करिवरशिरःस्पृष्टिं जघनं ।

मुहुर्निद्र्यं रूपं कविजन विशेषैर्गुरुकृतम् ॥६८॥

अर्थात् - स्त्रियों के दोनों स्तन मांस की गाँठों के सिवाय और क्या है, पर कवियों ने सोने के कलश से उनकी उपमा दी है; उनका मुख, कफ, धूक आदि का भंडार है, फिर भी चन्द्रमा से उसकी तुलना की गयी है। स्त्री के जघन से हमेशा पेशाब चूता रहता है, फिर भी उसे हाथियों के गण्डस्थल के समान बताया गया है। क्या कहें, स्त्री शरीर का सारा रूप ही निन्दनीय है, फिर भी कुछ विशिष्ट कवियों ने उसे बड़ा भारी महत्त्व दे दिया है।" ॥६८॥ हम तो इस नतीजे पर पहुँचे हैं—

वरं ज्वलदयः स्तम्भपरिरम्भो विधीयते ।

न पुनर्नरकद्वार-रामाजघन-सेवनम् ॥६९॥

अर्थात् - तपे हुए लोहे के थंभे का आलिंगन करना; अच्छा लेकिन नरक के द्वार रूपी नारी के जघन का सेवन करना अच्छा नहीं है ॥६९॥

और फिर यह बात भी है कि एक बार के स्त्री सम्भोग से अनेक जीवों का घात होता है। सुनो, वह गाथा—

मेहुणसन्नारूढो नवलक्खं हणेइ सुहुमजीवाणं ।

तिथ्यराण भणियं सदहियव्वं पयत्तेणं ॥७०॥

अर्थात् - मैथुन संज्ञा वश उस प्रकार की क्रिया में तत्पर व्यक्ति ९ लाख जीवों (पंचेन्द्रिय जीव) का घात करता है, ऐसा तीर्थंकरों का कथन है; इस पर प्रयत्नपूर्वक श्रद्धा करनी चाहिए ॥७०॥

“देवानुप्रिये कोशा! तुम थोड़े-से जवानी के काल तक विषयोपभोग करके तृप्त हो जाने की बात कहती हो; किन्तु हमने अनंतबार अनेक जन्मों में इन विषयों का उपभोग किया है, फिर भी तृप्ति नहीं हुई तो अब कैसे हो जायगी!” नीतिकार का कथन है—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः,

वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममृत् ।

ब्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः,

स्वयं त्यक्त्वा होते शिवसुखमनन्तं विदधति ॥७१॥

अर्थात् - ये विषय लम्बे समय तक रहकर भी आखिर एक दिन अवश्य

ही मनुष्य को छोड़कर चले जाते हैं। तब फिर विषयों के वियोग में और उन्हें स्वेच्छा से छोड़ने में अंतर ही क्या रहा? यदि मनुष्य विषयों को स्वयं नहीं छोड़ता है तो एक दिन विषय उसे स्वयं छोड़कर चले जाते हैं; परंतु वे मनुष्य के मन में अत्यंत परिताप पैदा कर जाते हैं। मगर जो मनुष्य स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक इन विषयों को छोड़ देता है, तो वे उसे असीम मोक्ष-सुख उत्पन्न करा देते हैं ॥७१॥

“इसीलिए भद्रे! सांप की कांचली के समान विषयों को स्वेच्छा से छोड़कर शील-रूपी आभूषण से अपने अंग सुसज्जित करा। धर्माचरण के बिना नष्ट किया हुआ मनुष्य-जन्म पुनः प्राप्त करना अति-कठिन है। धर्माचरण का कार्य ही सब कार्यों में उत्तम कार्य है।” कहा भी है—

न धम्मकज्जा परमत्थि कज्जो, न पाणिहिंसा परमं अकज्जं ।

न पेमरागा परमत्थि बंधो, न बोहिताभा परमत्थि लाभो ॥७२॥

अर्थात् - धर्मकार्य से बढ़कर कोई भी कार्य संसार में नहीं है; प्राणिहिंसा से बढ़कर कोई अकार्य नहीं है, प्रणय-राग (कामासक्ति) से उच्चतम कोई बंधन नहीं है और बोधि-लाभ से उत्कृष्ट कोई लाभ नहीं है ॥७२॥

इस प्रकार का वैराग्यमय उपदेश सुनकर कोशा का अंतर्मन जागृत हो गया। उसका हृदय अब प्रणयरस के बजाय वैराग्यरस के समुद्र में डुबकियां लगाने लगा। सांसारिक विषयभोग उसे अब फीके और निःसार मालूम होने लगे। बरबस कोशा के मुंह से उद्गार निकले—

“धन्य हो कामविजेता! धर्मशासन के उद्योतकर्ता! एवं मिथ्यात्वतिमिर-विध्वंसक! आपने जीवन का वास्तविक फल पाया है। मैं अधन्य हूँ, अभागी हूँ; मैंने अज्ञान और मोह के वशीभूत होकर आपको काम के जाल में फंसाने और आपको संयममार्ग से चलायमान करने के भरसक प्रयत्न कर लिये, परंतु आप मेरुपर्वत के समान अचल रहे, जरा भी विचलित न हुए। आपकी तरह महाव्रतधारिणी साध्वी बनने की शक्ति तो इस समय मुझमें नहीं है; लेकिन मैं आपसे गृहस्थ श्रावक के लिए आचरणीय सम्यक्त्व सहित १२ व्रतों को अंगीकार करना चाहती हूँ।” कोशा श्रावकधर्म लेकर वाराङ्गना से वाराङ्गना (श्रेष्ठमहिता) बनी। उसने चतुर्थअणुव्रत इस प्रकार से ग्रहण किया कि “मैं आज से राजा के द्वारा भेजे गये खास पुरुष के सिवाय अन्य किसी भी पुरुष का मन-वचन-काया से सहवास की दृष्टि से स्वीकार नहीं करूंगी।” कोशा अब पापात्मा से पुण्यात्मा, धर्मपरायण और जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों की जानकार बन गयी।

स्थूलभद्र मुनि के तीनों गुरुभ्राता अलग-अलग स्थानों में चातुर्मास

बिताकर गुरुदेव आचार्य सम्भूतिविजय के पास पहुँच चुके थे। सबके पश्चात् स्थूलभद्र मुनि वेश्या को प्रतिबोध देकर चातुर्मासयापन करके पहुँचे। गुरुदेव ने तीनों मुनियों को एक बार 'दुष्कर कार्य किया' इतना कहकर सम्मानित किया, लेकिन जब स्थूलभद्र गुरुचरणों में पहुँचे तो उन्हें आदरपूर्वक तीन बार 'दुष्कर कार्य किया है,' ऐसा कहा। इससे ओर शिष्य तो संतुष्ट हो गये, लेकिन सिंहगुफा में चातुर्मास बिताने वाले साधु के मन में गुरु के इस अंतर पर मन ही मन रोष उमड़ा और ईर्ष्या जागी कि गुरुजी के विवेक को तो देखो। हम तीनों भूख और प्यास आदि से पीड़ित रहे, हमने भयंकर स्थानों पर रहकर सर्दी-गर्मी-बरसात के परिषह सहे, लेकिन गुरुजी ने हमें केवल एक ही बार 'दुष्कर किया' इतना कहा; जबकि जिसने वेश्या के मोहोत्पादक महल में रहकर सोने-से दिन और चांदी-सी रातें काटीं, षड्रसयुक्त स्वादिष्ट पकवान और भोज्यपदार्थ खाये, आमोद-प्रमोद, राग-रंग में दिन बिताये, उस स्थूलभद्र मुनि को तीन बार दुष्कर-दुष्कर-दुष्कर कहा। यह गुरुजी का पक्षपात है।" वह ईर्ष्यालु बनकर मन में गांठ बांधकर बैठ गया।

इधर कोशा वेश्या के यहाँ नंदराजा की आज्ञा से एक दिन एक रथकार आया। वह बाण चलाने में बड़ा निपुण था। उसने गवाक्ष में बैठे-बैठे ही बाणविद्या की कला से आम के पेड़ में लगे हुए पक्के आमों का एक गुच्छा तोड़कर कोशा को भेंट किया। यानी उसने इस खूबी से बाण चलाया कि बाण आम की डाली पर जाकर लगा फिर दूसरा बाण उस बाण में लगा और दूसरे के मूल में तीसरा बाण संलग्न हो गया और अंतिम बाण से उसने आमों का गुच्छा तोड़कर नीचे गिरा दिया। अपनी बाणचालन कला से रथकार गर्वोन्मत्त हो रहा था। यह देखकर कोशा ने भी अपने घर के आंगन में सरसों का ढेर लगवाया, उस पर तीखी सुइयाँ खड़ी करवाई और प्रत्येक सुई की नोक पर एक-एक फूल रखवाया। उस पर स्वयं ने कलापूर्वक नृत्य किया। रथकार यह नृत्य देखकर आश्चर्यचकित हो गया, उसका गर्व चूर-चूर हो गया। सहसा उसके मुँह से उद्गार निकले—“कोशा! सचमुच तुमने अतिदुष्कर कार्य किया है।” इसके उत्तर में कोशा ने मुनि स्थूलभद्र के दुष्करतम कार्य की प्रशंसा करते हुए कहा—

न दुष्करं अम्बयलुम्बतोडणं, न दुष्करं सरिसिवनच्चियाए ।

तं दुष्करं तं च महाणुभावं जं सो मुणी पमयवणंमि अमुच्छो ॥७३॥

अर्थात् - आमों का गुच्छा तोड़ना कोई दुष्करकार्य नहीं, और न सरसों पर नाचना भी दुष्कर है; दुष्कर तो वह है, जिसे महानुभाव स्थूलभद्र-मुनि ने प्रमदा (सुंदरी) रूपी अटवी में भी अमूर्च्छित रहकर किया है ॥७३॥

गिरौ गुहायां विजने वनान्तरे, वासं श्रयन्तो वशिनः सहस्रशः ।

हर्म्येति रम्ये युवतीजनान्तिके वशी स एकः शकडालनन्दनः ॥७४॥

अर्थात् - पर्वत पर, गुफा में, निर्जन वन में निवास करके इन्द्रियों को वश में करने वाले तो हजारों हैं, मगर अत्यंत रमणीय महल में मनोज्ञ सुंदरी के पास में रहकर इन्द्रियों को वश करने वाले तो वही एक शकडालपुत्र-स्थूलभद्र-है ॥७४॥

योऽग्नौप्रविष्टोऽपि हि नैव दग्धश्छिन्नो न खड्गाप्रकृतप्रचारः ।

कृष्णाहिरन्ध्रेऽप्युषितो न दष्टो नोऽक्तोऽगनागारनिवास्यहो यः ॥७५॥

अर्थात् - जो अग्नि में कूद पड़ने पर भी नहीं जला, तलवार की तीखी धार पर चल कर भी कटा नहीं, भयंकर काले सांप के बिल में रहने पर भी सांप ने जिसे डसा नहीं; तथा सुंदरीजनों के मकान में रहकर भी निष्कलंक रहा, वह तो एक स्थूलभद्र ही है ॥७५॥

वेश्या रागवती सदा तदनुगा षड्भी रसैर्भोजनम् ।

शुभ्रं धाममनोहरं वपुरहो नव्यो वयः सङ्गमः ॥

कालोऽयं जलदाविलस्तदपि यः कामं जिगायादरात् ।

तं वन्दे युवतीप्रबोधकुशलं श्रीस्थूलभद्रं मुनिम् ॥७६॥

अर्थात् - वेश्या जिन पर अत्यंत मुग्ध थी, सदैव आज्ञा में रहने को तत्पर थी, षड्रसों से युक्त स्वादिष्ट भोजन मिलता था, मनोज्ञ नयनाभिराम प्रासाद था, सुंदर शरीर था, नई उम्र का संगम था और कामोत्तेजक वर्षाकाल था, फिर भी जिसने अत्यंत श्रद्धा पूर्वक काम को जीत लिया; युवती को प्रबोधित करने में कुशल उन मुनि स्थूलभद्र को मैं वंदन करती हूँ ॥७६॥

रे काम! वामनयना तव मुख्यमस्त्रं, वीरा वसन्तपिक-पञ्चम-चन्द्रमुख्याः ।
तत्सेवका हरिविरञ्जिमहेश्वराद्या, हा हा! हताश! मुनिनाऽपि कथं हतस्त्वम् ॥७७॥

अर्थात् - हे कामदेव! सुंदर नेत्रों वाली ललना तेरा मुख्य अस्त्र हैं, वसंत ऋतु, कोयल की मधुर टेर, पंचमस्वर और चन्द्रमा आदि तेरे मुख्य सुभट हैं; और विष्णु, ब्रह्मा और महेश्वर आदि तेरे सेवक हैं, अफसोस है, फिर भी ऐ निराश! एक मुनि ने तुझे कैसे पछाड़ डाला? ॥७७॥

श्रीनन्दिषेण-रथनेमि-मुनीश्वरार्द्रबुद्ध्या त्वया मदन रे! मुनिरेष दृष्टः ।
ज्ञातं न नेमिमुनिजम्बुसुदर्शनानाम्, तुर्यो भविष्यति निहत्य रणाङ्गणे माम् ॥७८॥

अर्थात् - अरे मदन! तूने इन स्थूलभद्र मुनि को भी अपनी बुद्धि से नन्दिषेण, रथनेमि या आर्द्रककुमार मुनि समझ लिया होगा! तूने यह नहीं समझा कि

अरिष्टनेमि, जम्बुकुमार और सुदर्शन सेठ के बाद मुझे रणक्षेत्र में पछाड़ने वाला यह चौथा मुनि होगा ॥७८॥

श्री नेमितोऽपि शकडालसुतं विचार्य, मन्यामहे वयममुं भटमेकमेव ।
देवोऽद्रिदुर्गमधिरुह्य जिगाय मोहं, यन्मोहनालयमयं तु वशी प्रविश्य ॥७९॥

अर्थात् - विचार करने पर शकडाल पुत्र-श्रीस्थूलभद्र मुनि को हम श्रीनेमिनाथ भगवान् से भी अधिक अद्वितीय योद्धा समझते हैं। क्योंकि श्री नेमिनाथ भगवान् ने गिरनार पर्वत के दुर्ग पर चढ़कर वहाँ मोह को जीता था, लेकिन इस अनोखे इन्द्रियजेता ने तो मोह के घर में घुसकर उसका मानभेदन किया है ॥७९॥

पुष्पं फलाणं च रसं, सुराई महिलयाणं च ।

जाणंतो जे विरइया, ते दुक्कर-कारए वंदे ॥८०॥

अर्थात् - फूल, फलों का रस, शराब, मांस आदि का स्वाद एवं महिलाओं के विलास को जानते हुए भी जो इनसे विरक्त रहते हैं, ऐसे दुष्करकार्य करने वाले मुनियों को मैं वंदन करती हूँ ॥८०॥

इस प्रकार कोशा वेश्या ने स्तुति पूर्वक स्थूलभद्र मुनि का परिचय देकर अंत में कहा—“मेरे साथ उनका १२ वर्षों का पुराना घनिष्ठ परिचय था, और मेरे यहाँ सब प्रकार के सुख-साधनों के बीच रहते हुए भी वे जरा भी चलायमान न हुए, अतः इसे ही मैं दुष्करकार्य कहती हूँ। अगर आपको दुष्कर कार्य कर बतांना हो तो यही करके बताओ।”

वेश्या के स्तुतिमय तथा वैराग्यप्रद कथन से रथकार का भी अंतर्हृदय जाग उठा। उसने उसी समय मन में संकल्प किया और स्थूलभद्र मुनि के पास जाकर मुनि दीक्षा ले ली।

स्थूलभद्र मुनि ने भी दीक्षा के बाद १४ पूर्वों में से १० पूर्वों का अर्थसहित और शेष ४ पूर्वों का मूलसूत्र रूप में अध्ययन किया। यानी ये अंतिम चतुर्दशपूर्वधारी मुनि हुए। इन्होंने अनेक व्यक्तियों को प्रतिबोध दिया। अपनी निर्मल कीर्ति जगत् में फैलाई, सभी लोगों में प्रसिद्धि प्राप्त की। ब्रह्मचर्य का अनोखा आदर्श जगत् के सामने रखा। ये ३० वर्ष तक गृहवास में रहे, २४ वर्ष तक साधारण मुनि जीवन में और ४५ वर्ष तक युगप्रधानपद पर विभूषित रहे। इस तरह कुल ९९ वर्षों का आयुष्य पूर्ण करके श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण से २१५ वर्ष पश्चात् यह स्वर्गवासी हुए।

स्थूलभद्र मुनि ने जैसे दुर्धर ब्रह्मचर्यव्रत में सुदृढ़ रहकर आगामी ८४

चौबीसी तक अपना नाम अमर कर गये, उसी प्रकार अन्य मुनियों को भी गुरु-आज्ञा से व्रत पालन कर यशस्वी बनना चाहिए ॥५७॥

विसयाऽसिपंजरमिव, लोए असिपंजरमि तिवर्ग्रामि ।

सीहा व पंजरगया, वसंति तवपंजरे साहू ॥६०॥

शब्दार्थ - 'जैसे जगत् में तीक्ष्ण खड्गरूपी पींजरे से भयभीत सिंह लकड़ी के पींजरे में रहता है, वैसे ही विषयरूपी तीक्ष्ण तलवार से डरे हुए मुनि भी तप रूपी पींजरे में रहते हैं ॥६०॥

भावार्थ - यहाँ मुनि को सिंह की उपमा दी है। जैसे वीर पुरुष के हाथ में तीक्ष्ण तलवार, भाले आदि हथियार देखकर भय से सिंह लकड़ी के पींजरे में रहना पसंद करता है, वैसे ही शरीर रूपी पींजरे से मुक्त होकर निर्विषय सुख की इच्छा वाले मुनिवर भी विषय-कषाय रूपी भाले की तीखी नोक से डरकर तप-संयम रूपी पींजरे में ही रहना पसंद करते हैं। क्योंकि तप से संयम की और संयम से अहिंसा की रक्षा और वृद्धि होती है। अहिंसा से शुद्ध धर्म की पुष्टि होती है और आत्मा अजर-अमर पद की ओर बढ़ती है। इसीलिए प्रत्येक आत्माार्थी जीव को अहिंसाधर्म की रक्षा और वृद्धि के लिए पूर्वोक्त तप-संयम की आराधना करनी जरूरी है। संयम से मुनि नये आते हुए कर्मों को रोकता है और तप से पुराने कर्मों का क्षय करता है। इस प्रकार क्रमशः समस्त बाधक कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा में सहज, शुद्ध, निरुपाधिक, अहिंसक स्वभाव पूर्ण रूप से प्रकट होता है। ऐसा पूर्ण शुद्ध आत्मा जगत् के लिए कितना उपकारी हो सकता है? यह सहज ही समझकर समर्थ पुरुषों के पावन पद चिह्नों पर चलने का तप-संयममय पुरुषार्थ सभी आत्मारथियों को करना चाहिए ॥६०॥

जो कुण्ड अप्पमाणं, गुरुवचनं न य लहेइ उवएसं ।

सो पच्छा तह सोअइ, उवकोसघरे जह तवस्सी ॥६१॥

शब्दार्थ - जो गुरुवचनों को ठुकरा देता है, उनके हितकर उपदेश को ग्रहण नहीं करता; वह बाद में पछताता है। जैसे सिंहगुफावासी तपस्वी मुनि ने (स्थूलभद्र मुनि से ईर्ष्यावश) उपकोशा के यहाँ जाकर पश्चात्ताप किया था ॥६१॥

भावार्थ - 'जो मुनि मिथ्याभिमानवश गुरु के वचनों की उपेक्षा करके उनका हितोपदेश ग्रहण नहीं करता अथवा गुरुवचनों का अनादर करता है, वह स्थूलभद्र मुनि के गुरुभ्राता सिंहगुफावासी तपस्वी की तरह पछताता है। स्थूलभद्र मुनि से ईर्ष्या करके गुरुवचनों की परवाह न करके वे कोशा की बहन उपकोशा

वेश्या के यहाँ चातुर्मास बिताने चले गये थे। नतीजा यह हुआ कि उन्हें लेने के देने पड़ गये। अंततः उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ा। सच है, जो गुरु से विमुख रहता है, वह सन्मार्ग से विमुख हो ही जाता है। इसीलिए हितैषी गुरुदेव के हितकर वचनों का सर्वप्रथम आदर करना ही विनीत शिष्य का मुख्य कर्तव्य है।' इस विषय में सिंह-गुफावासी मुनि का दृष्टांत इस प्रकार है—

सिंहगुफावासी मुनि का दृष्टांत

पाटलीपुत्र नगर में ही आचार्य सम्भूतिविजय के सिंहगुफावासी मुनि ने स्थूलभद्र मुनि से ईर्ष्यावश दूसरा चौमासा कोशा वेश्या की बहन उपकोशा वेश्या के यहाँ बिताने की गुरु से आज्ञा मांगी। गुरु ने उसे इसके लिए अयोग्य समझकर आज्ञा न दी और भावी अनिष्ट की आशंका देख गुरु ने उसे समझाया—“वत्स! तेरा वहाँ चातुर्मास के लिए जाना ठीक नहीं; क्योंकि वहाँ जाने से तू अपने चारित्र को खो देगा।” परंतु गुरु के इन्कार करने पर भी आवेश में आकर सिंहगुफावासी मुनि वहाँ से चल पड़ा और उपकोशा वेश्या के यहाँ पहुँचकर उससे चातुर्मास-यापन के लिए स्थान की याचना की। उपकोशा ने मुनि को स्थान दिया। जब उसे यह पता लगा कि यह मुनि स्थूलभद्र मुनि से ईर्ष्या करके यहाँ आया है तो सोचा—“इसे ईर्ष्या का फल चखाना चाहिए।” फलतः उसने अपने शरीर को सभी प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित किया। कमर में मधुरस्वर करने वाली करधनी पहनी; पैरों में रणकार करते हुए मणिजटित नूपुर धारण किये; कामदेव की सजीव-मूर्ति-सी बनी हुई कमल के समान प्रफुल्ल नेत्रों वाली उपकोशा मुंह में ताम्बूल चबाती हुई कोयल के मधुर स्वर को भी मात करती हुई, हावभाव बताती, कटाक्ष फेंकती और अंगों को लचकाती हुई रात को मुनि के पास आयी। इस मृगलोचना को देखते ही मुनि का सुस्थिर मन भी कामविकारवश हो गया। सचमुच, कामविकार दुर्जेय है। इसीलिए अनुभवियों ने कहा है—

विकलयति कलाकुशलं, हसति शुचिं पण्डितं विडम्बयति ।

अधीरयति धीरपुरुषं, क्षणेन मकरध्वजो देव ॥८१॥

अर्थात् - कामदेव क्षणभर में कलाकुशल व्यक्ति को बेचैन बना देता है, पवित्र से पवित्र पुरुष की हंसी उड़ा देता है, पण्डित को भी विडम्बित कर देता है, धीर पुरुष को अधीर बना देता है ॥८१॥ और भी कहा है—

मतेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः, केचित्प्रचण्डमृगराजवधेषु दक्षाः ।

किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य, कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥८२॥

अर्थात् - इस भूमंडल पर मदनोन्मत्त हाथियों के कुम्भस्थल का विदारण करने में बड़े-बड़े शूरवीर व्यक्ति नजर आते हैं; कई प्रचण्ड केसरीसिंह को मारने में दक्ष मनुष्य भी देखे हैं। किन्तु मैं उन बलवानों के सामने दावे के साथ कह सकता हूँ कि कामदेव के दर्प को चूर करने में कुशल व्यक्ति विरले ही हैं ॥८१॥

उपकेशा के रूप-लावण्य को देखते ही सिंहगुफावासी मुनि एकदम कामातुर होकर उससे कामवासना तृप्त करने की प्रार्थना करने लगे। कुशल उपकेशा ने कहा—“महानुभाव! हम निर्धनों से प्रीति नहीं करती। पहले आप हमें संतुष्ट करने के लिए धन ले आइए। धन मिलने पर ही हम आपका मनोरथ पूर्ण करेंगी।” यह सुनकर मुनि जरा विचार में पड़ गये कि “धन कहाँ से लाऊँ?” सोचते-सोचते मुनि को सूझा कि उत्तर दिशा में नेपाल देश का राजा नवागंतुक मुनि को लक्षस्वर्णमुद्रा की कीमत की रत्नकम्बल देता है। इसीलिए वहाँ जाकर पहले रत्नकम्बल ले आऊँ। इतनी कीमती रत्नकम्बल पाकर तो यह अपने साथ मनमाना विषयभोग सेवन करने ही देगी।” ऐसा निश्चय करके कामुक मुनि वर्षाकाल में ही घनघोर वर्षा होने के बावजूद भी रत्नकम्बल पाने की धुन में नेपाल देश की ओर चल पड़ा। अनेक जीवों को कुचलते-दबाते व हिंसा करते हुए तथा अनेक कष्ट सहते हुए कई दिनों में वह मुनि नेपाल पहुँचा। वहाँ के राजा को आशीर्वाचन कहकर उसने रत्नकम्बल की याचना की। राजा ने उसे रत्नकम्बल दे दिया। उस रत्नकम्बल को लेकर वह वहाँ से लौट रहा था कि रास्ते में उसे चोरों ने घेर कर लूट लिया। फलतः निराश होकर वह पुनः नेपाल पहुँचा और राजा को सारी आपबीती सुनाकर रत्नकम्बल देने की याचना की। राजा ने उदारता करके दूसरी बार उसे रत्नकम्बल दे दिया। इस बार उसने रत्नकम्बल को एक पोले बांस में डाला और लेकर चल पड़ा। रास्ते में चोरपल्ली पड़ती थी। वहाँ के चोरों ने शकुनि पक्षी (तोता) पाल रखा था; उसने चोरों को मुनि के पास बहुमूल्य रत्नकम्बल होने का पता बता दिया। फलतः चोरों ने साधु को घेर लिया और कहा—“तुम्हारे पास एक लाख स्वर्णमुद्राओं का रत्नकम्बल है, बताओ वह कहाँ है?” पहले तो साधु ने झूठ बोला कि ‘मेरे पास कुछ नहीं है।’ लेकिन जब चोरों ने उसे धमकाया कि सच-सच बताओ, हमारा यह तोता कभी असत्य नहीं बोलता। सच बताओगे तो हम तुम्हें छोड़ देंगे। अन्यथा, तुम्हारी खैर नहीं है।” साधु ने गिड़गिड़ा कर सच-सच बता दिया। चोरों ने साधु समझकर उस पर दया करके छोड़ दिया। वहाँ से

छूटकर वह मुनि सीधे पाटलीपुत्र आया और उपकोशा वेश्या को वह रत्नकम्बल दे दीं। उपकोशा ने उस कम्बल से अपने पैर पोंछे और अपवित्रस्थान पर उसे फेंक दी। यह देखकर साधु ने उससे कहा—‘अरी अभागिनी! यह क्या किया तूने? अतिदुर्लभ रत्नकम्बल को गंदी नाली में फेंक दिया?’ वेश्या उपयुक्त अवसर देखकर हित-गर्भित वचन बोली—‘‘तुम से बढ़कर अभागों का शिरोमणि और कौन हो सकता है? मैंने तो यह एक लाख मूल्य की रत्नकम्बल अपवित्र स्थान में फेंकी है, लेकिन तुम अनन्त जन्मों में भी दुर्लभ्य अमूल्य सव्यगृदर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूपी रत्नत्रय को विषय वासना के कीचड़ में डालने को तैयार हो गये हो! अतिदुर्लभ साधुजीवन को नट-विट आदि पुरुषों के थूकने के स्थान और मल-मूत्र से भरे हुए अपवित्र इस धिनौने शरीर पर मोहित होकर भला तुम क्यों नष्ट करना चाहते हो? धिक्कार है तुम-से अविचारी कौ! पहले तो यह मनुष्य-जन्म मिलना ही दुर्लभ है; वह प्राप्त हो जाने पर उत्तम कुल, धर्म का श्रवण और श्रद्धातत्त्व का मिलना अत्यंत दुष्कर है; इतना होने पर भी साधुधर्म का आचरण मिलना तो अतीव दुर्लभ है। जरा सोचो तो सही, ऐसे अत्यंत दुर्लभ मुक्तिदाता साधुधर्म को छोड़कर तुम मेरे अंग पर मोहित होकर विषयसुख की आशा से धन के लिए वर्षाकाल में अनेक जीवों का घात करते हुए और अपने चारित्ररत्न को तिलांजलि देकर नेपाल देश में पहुँचो भला, इस अधर्माचरण के फलस्वरूप तुम्हें दीर्घकाल तक नरक आदि दुर्गति में यातना नहीं सहनी पड़ेगी?’’ मुनि अब निरुत्तर और लज्जित हो चुका था। उसके सामने दीक्षाकाल का वह दृश्य चलचित्र की तरह उपस्थित हो गया। कितने वैराग्यभाव से मैंने गुरुदेव से दीक्षा ली थी! कितना उत्कृष्ट चारित्र्य और तप था मेरा! पर हाय, भुझ अधर्मी ने विषयवासना के मोहजाल में फंसकर सबका सत्यानाश कर दिया, इतने कष्ट भी उठाए, अनेक लोगों की गुलामी भी की! यह वेश्या बहन मुझे सत्य कह रही है। इस प्रकार सोचकर मुनि पुनः वैराग्यवासित होकर वेश्या से कहने लगा—‘‘बहन! क्षमा करो मुझे! मैं विषयवासना के अंधे कुएं में गिरने जा रहा था, लेकिन तुमने मुझे इस कुएं में पड़ने से बचाया है, मुझे उबारा है। धन्य है तुम्हें। अब मैं भलीभांति विषयवासना के स्वरूप को समझ चुका हूँ। इसमें मैं नहीं फंसेगा। अब मैं इस अकृत्य से विरत हो रहा हूँ। वेश्या ने कहा—‘‘मुनिवर! आपको ऐसा ही करना उचित है।’’

इसके बाद सिंहगुफावासी वह मुनि वेश्या के यहाँ से चल पड़ा और

सीधे अपने गुरु के पास आया। सर्वप्रथम मुनि स्थूलभद्र के चरणों में नमन करके क्षमायाचना की और कहा—“मुनिवर! धन्य है आपको! ऐसा दुष्करकार्य आप ही कर सकते हैं। मेरे जैसा सत्त्वहीन पुरुष आपके दुष्करकार्य की महत्ता को नहीं जान सका।” इसके पश्चात् उसने गुरुदेव से निवेदन किया—“स्वामिन्! आपने मुनि स्थूलभद्रजी को तीन बार दुष्करकार्य करने को कहा था, वह वास्तव में यथार्थ था, मैं अपनी मूर्खतावश उस पर अश्रद्धा लाकर मुनि स्थूलभद्रजी को नीचा दिखाने के लिए आपकी आज्ञा की परवाह न करके चल पड़ा वेश्या के यहाँ चौमासा करने के लिए। परंतु आपने जैसा कहा था वैसा ही हुआ। मुझे क्षमा करें गुरुदेव! और आलोचना के अनुसार मुझे प्रायश्चित्त देकर शुद्ध कीजिए।” यह कहकर उसने गुरुजी के सामने शुद्ध हृदय से सारी आलोचना यथार्थरूप से की और प्रायश्चित्त के रूप में पुनः महाव्रत ग्रहण करके शुद्ध हुआ और सुगति का अधिकारी बना ॥६१॥

इस कथा का तात्पर्य है—गुरुमहाराज की आज्ञा का पालन करना।

जेद्व्ययपव्वयभर-समुव्वहणववसियस्स, अच्च्वंतं ।

जुवइज्जणसंवइयरे, जइत्तणं उभयओ भट्ठं ॥६२॥

शब्दार्थ - मेरुपर्वत के समान महाव्रतों के भार को जीवन पर्यन्त निभाने में अत्यंत उद्यमशील मुनि को युवतियों का अतिसम्पर्क उपर्युक्त कथा के अनुसार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से भ्रष्ट करने का कारण बनता है। इसीलिए मुमुक्षु साधक को स्त्रियों के परिचय से अवश्य बचना चाहिए ॥६२॥

जइ ठाणी जइ मोणी, जइ मुंडी वक्कली तवस्सी वा ।

पत्थन्तो अ अबंभं, बंभावि न रोयए मज्झं ॥६३॥

शब्दार्थ - कोई व्यक्ति चाहे कितना ही कायोत्सर्ग-ध्यान-करता हो, मौन रखता हो, मुंडित हो, (यानी सिर के बालों का लोच करता हो) वृक्षों की छाल के कपड़े पहनता हो, अथवा कठोर तपस्या करता हो, यदि वह मैथुनजन्य विषयसुख की प्रार्थना करता हो तो चाहे वह ब्रह्मा ही क्यों न हो, मुझे वह रुचिकर नहीं लगता विषयसुख में आसक्त व्यक्ति साधु होने का डोल करके चाहे जितना शरीर को कष्ट दे, वह सब निष्फल, निष्प्रयोजन है ॥६३॥

तो पढियं तो गुणियं, तो अ मुणियं चेइओ अप्पा ।

आवडियपेल्लियामंतिओ वि जइ न कुणइ अक्कज्जं ॥६४॥

शब्दार्थ - वास्तव में वही मनुष्य पढ़ा-लिखा है, वही समझदार है और

वही विचारक है, जो दुष्ट दुःशील मनुष्यों के कुसंसर्ग में पड़ जाने पर भी तथा पापी मित्रों से बुरे कार्यों में प्रेरित किये जाने पर भी अथवा सुंदरियों द्वारा आमंत्रित किये जाने पर भी अकार्य (मैथुन सेवन आदि) करने को तैयार नहीं होता ॥६४॥

अर्थात् विषय-विकार पैदा होने के प्रत्यक्ष निमित्त एवं वातावरण मिलने पर भी जो निर्विकारी रहता है, वस्तुतः वही धीर, वीर और गंभीर है। उसीका आत्मस्वरूप चिंतन प्रमाणभूत है। अन्य सब वाणीशूरो का चिंतन अप्रामाणिक है ॥६४॥

पागडियसव्यसलो, गुरुपायमूलंमि लहइ साहूपयं ।

अविसुद्धस्स न वड्डइ, गुणसेढी ततिया ठाइ ॥६५॥

शब्दार्थ - गुरु के चरणों में जो अपने समस्त शल्यों को खोलकर रख देता है; वही वास्तव में साधुपद को प्राप्त करने वाला है। परंतु जो व्यक्ति दोष-शल्यों से रहित होकर विशुद्ध नहीं बनता, उसकी गुणश्रेणी आगे नहीं बढ़ती, वह वहीं स्थिर हो (अटक) जाता है ॥६५॥

भावार्थ - तत्त्ववेत्ता गीतार्थ गुरुदेव के समक्ष जो सरलभाव से अपने सब दोषों को ज्यों के त्यों प्रकट करके, आलोचना करके निःशल्य हो जाता है, वहीं वास्तव में साधुत्व के आराधकपद को प्राप्त करता है। जो (लक्ष्मणा साध्वी की तरह) मन में शल्य (कपट) रखकर आलोचना करता है, वह आराधक नहीं हो सकता। ऐसा साधक ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूपी गुणों की श्रेणी में आगे विकास नहीं कर सकता; वहीं अटक जाता है ॥६५॥

जइ दुक्करदुक्करकारओलि, भणिओ जहडिओ साहू ।

तो कीस अज्जसंभूअविजय-सीसेहिं नवि खमियं? ॥६६॥

शब्दार्थ - अगर अपने ज्ञानादि आत्मस्वभाव में स्थित स्थूलभद्र मुनि को उनके गुरु आचार्य सम्भूतिविजय ने तीन बार दुष्करकारक कह दिया तो इसे उनके सिंहगुफावासी मुनि आदि अन्य शिष्यों ने सहन क्यों नहीं किया? ॥६६॥

भावार्थ - सद्गुरु केवल गुणों के पक्षपाती होते हैं। वे गुणवान् शिष्य की प्रशंसा करते ही हैं। इससे अन्य शिष्यों को ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ईर्ष्या का नतीजा हमेशा बुरा ही होता है। ईर्ष्या करने से गुरु की आशातना-अवहेलना होती है। कोशा वेश्या प्रतिबोधक स्थूलभद्र मुनि जब गुरु के पास आये तो उन्होंने प्रसन्न होकर उन्हें तीन बार दुष्कर-दुष्करकारक कहकर शाबाशी दी। परंतु यह बात ईर्ष्यालु सिंहगुफावासी मुनि को बिल्कुल अच्छी न लगी। वह मन ही मन जल-

भुन उठा। वास्तव में यह उसका अविवेक था। किसी के यथार्थ गुणों को देख-सुनकर ईर्ष्या व द्वेष भावना क्यों करनी चाहिए? यह तो निरी मूढ़ता है! उस समय समभाव रखना चाहिए और उन सद्गुणों पर अनुराग करना चाहिए ॥६६॥

जड़ ताव सब्बओ सुंदरुत्ति, कम्माण उवसमेण जई ।

धम्मं वियाणमाणो, इयरो किं मच्छंर वहइ ॥६७॥

शब्दार्थ - यदि कोई व्यक्ति कर्मों के उपशम से सर्वांग-सुंदर कहलाता है तो कर्मों के क्षय व उपशम रूप धर्म का ज्ञाता दूसरा साधक उससे ईर्ष्या-डाह-क्यों करता है? उसे स्वयं कर्मक्षय या कर्मोपशम करके वैसा सर्वांग सुंदर बनने का प्रयत्न करना चाहिए ॥६७॥

भावार्थ - कर्मबंधन के क्षय से या अप्रमत्त होकर धर्माचरण करने से ही जीव को सुंदरता-शोभा-प्रशंसा प्राप्त होती है। इस प्रकार जानने वाला तत्त्वज्ञ मुनि दूसरों को अपने से गुणों में उच्च देखकर ईर्ष्या क्यों करता है? तत्त्वज्ञ को अपने में गुणहीनता के कारण गुणवान व्यक्ति से डाह करना उचित नहीं है ॥६७॥

अइसुट्ठिओ ति गुणसमुइओ ति जो न सहइ जइपसंसं ।

सो परिहाइ परभवे, जहा महापीढ-पीढरिसी ॥६८॥

शब्दार्थ - अगर कोई व्यक्ति गुणवान् व्यक्ति की—'यह अपने धर्म में स्थिर है, गुण-समूह से युक्त है,' इस प्रकार की प्रशंसा नहीं सहता तो वह अगले जन्म में हीनत्व (पुरुषवेद से स्त्रीवेद) प्राप्त करता है। जैसे पीठ और महापीठ ऋषि ने असहिष्णु होकर अगले जन्म में स्त्रीत्व प्राप्त किया था ॥६८॥

भावार्थ - 'यह मुनि चारित्रधर्म में दृढ़ है, यह वैयावृत्य आदि गुणों से सम्पन्न है', इस प्रकार की जाने वाली गुणवान् व्यक्ति की प्रशंसा जो सहन नहीं कर सकता; वह पुरुष दूसरे जन्म में हीनत्व प्राप्त करता है। पुरुषत्व से स्त्रीत्व प्राप्त करता है। जैसे पीठ और महापीठ ऋषि के जीवों ने ब्राह्मी और सुंदरी के रूप में स्त्रीत्व प्राप्त किया।

प्रसंगवश यहाँ पीठ-महापीठमुनि की कथा दे रहे हैं—

पीठ-महापीठ मुनि की कथा

महाविदेहक्षेत्र में वज्रनाभ नामक एक चक्रवर्ती सम्राट् हो गया है। उसने अपनी समस्त राज्य-ऋद्धि छोड़कर मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली। उसके बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ नामक चार छोटे भाईयों ने भी विरक्त होकर दीक्षा

ग्रहण कर ली। वे सभी ११ अंगों के ज्ञाता बनें। उन चारों में बाहुमुनि ५०० मुनियों को आहार लाकर देता था; सुबाहुमुनि उतने ही मुनियों की वैयावृत्य (सेवा) करता था; पीठ और महापीठ मुनि विद्याध्ययन करते थे। एक दिन उनके गुरु ने बाहु और सुबाहु मुनि की प्रशंसा की, जिसे सुनकर पीठ और महापीठ मुनि ईर्ष्या से जल उठे। सोचने लगे—“इन गुरुजी का अविवेक तो देखो! अभी तक इनका राजत्व स्वभाव नहीं बदला, तभी तो अपनी वैयावृत्य करने वाले और आहार-पानी ला देने वाले मुनियों की प्रशंसा करते हैं और हम दोनों सदा स्वाध्याय-तप में रत रहते हैं, मगर हमारी प्रशंसा नहीं करते।” इस प्रकार ईर्ष्यावश गुणग्राहिता को छोड़कर अवगुण-दोषदृष्टि अपनाकर अशुभ कर्मबंधन कर लिया। चारित्रपालन करने से पाँचों मुनि वहाँ से आयुष्य पूर्णकर सर्वार्थसिद्ध विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके वज्रनाभ का जीव श्री ऋषभदेव भगवान् बना। बाहु और सुबाहु के जीव क्रमशः भरत और बाहुबलि बनें; किन्तु पीठ और महापीठ के जीवों ने पूर्वजन्मकृत ईर्ष्या के फल स्वरूप स्त्रीवेद-कर्म बांधने से ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी और सुंदरी के रूप में जन्म लिया।

मतलब यह है कि जो गुणी व्यक्ति की प्रशंसा सुनकर ईर्ष्या करता है, वह पीठ और महापीठ की तरह आगामी जन्म में हीनत्व प्राप्त करता है। इसीलिए विवेकी पुरुषों को गुणों के प्रति ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए ॥६८॥

परपरिचायं गिण्डइ, अट्टमय-विरल्लणे सया रमइ ।

उज्झइ य परसिरीए, सकसाओ दुक्खिओ निच्चं ॥६९॥

शब्दार्थ - जो दूसरे जीवों की निंदा करता है, आठों मनों में सदा आसक्त रहता है, और दूसरे की सुख-संपदा देखकर दिल में जलता है, वह जीव कषाययुक्त होकर सदा दुःखी रहता है ॥६९॥

विग्गह-विचाय-रुड्ढो, कुलगणसंघेण बाहिरकयस्स ।

नत्थि किर देवलोए वि, देवसमिईसु अवगासो ॥७०॥

शब्दार्थ - कलह और विवाद की रुचि वाले तथा कुल, गण और संघ से बाहर किये हुए जीव को देवलोका की देवसभा में भी अवकाश (प्रवेश) नहीं मिल सकता ॥७०॥

भावार्थ - दंगा-फिसाद करने वाला, मिथ्या विवाद करने वाला, कुल, गण-कुलों का समूह और चतुर्विध (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका-रूप) संघ ने जिस व्यक्ति को अयोग्य समझकर अपनी संस्था से बहिष्कृत कर दिया है, उसे

स्वर्ग की देवसभा में भी शुभ स्थान नहीं मिलता, तो फिर मोक्षगति का कहना ही क्या? वह किल्बिष-जाति के नीच देवों में उत्पन्न होता है; इसीलिए उसे देवसभा में बैठने का अधिकार नहीं मिलता। मनुष्यों में जैसे चांडाल, चमार आदि हीन गिने जाते हैं, वैसे देवों में भी किल्बिष देव निम्न जाति के गिने गये हैं ॥७०॥

जइ ता, जणसंववहारवज्जियमकज्जमापरइ अत्तो ।

जो तं पुणो यिकत्थइ, परस्स वसणेण सो दुहिओ ॥७१॥

शब्दार्थ - यदि कोई जीव लोकव्यवहार में वर्जित चौर्यादि अकार्य करता है तो वह अनाचार-सेवन से स्वयं दुःखी होता है और जो पुरुष उस पापकर्म को अन्य लोगों के समक्ष बढ़ा-चढ़ाकर कहता है, वह दूसरे के व्यसन (आदत) से दुःखी होता है ॥७१॥

अर्थात् - मनुष्य परनिंदा करने से निरर्थक पाप का भाजन होता है। अतः परनिन्दा त्याज्य है।

सुद्धवि उज्जममाणं पंचेव, करिंति रित्थं समणं ।

अप्पथुई परनिंदा, जिम्भोवत्था कसाया य ॥७२॥

शब्दार्थ - तप, संयम आदि धर्माचरण में भलीभांति पुरुषार्थ करने वाले साधु को ये पाँच दोष गुणों से खाली कर देते हैं—१. आत्मस्तुति, २. परनिन्दा, ३. जीभ पर असंयम, ४. जननेन्द्रिय पर असंयम और ५. कषाय ॥७२॥

भावार्थ - तप, जप, संयम आदि धर्माचरण संबंधी दुष्कर करणी करने वाले मुनिराज को भी ये पाँच दोष गुणरहित कर देते हैं—१. अपने मुख से अपनी प्रशंसा, २. दूसरे की निन्दा, ३. रसनेन्द्रिय की लोलुपता, ४. कामराग की अभिलाषा और ५. क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय का सेवन। इन पाँचों का त्याग करने से ही जीव सुखी हो सकता है ॥७२॥

परपरिचायमईओ, दूसइ वयणेहिं जेहिं जेहिं परं ।

ते ते पावइ दोसे, परपरिवाई इय अपिच्छो ॥७३॥

शब्दार्थ - दूसरों की निन्दा करने की बुद्धिवाला पुरुष जिन-जिन वचनों से पराये दोष प्रकट करता है, उन-उन दोषों को स्वयं में भी धीरे-धीरे प्रवेश कराता जाता है। ऐसा पुरुष वास्तव में अदर्शनीय है। अर्थात् परनिन्दाकारी पापी का मुख भी देखने योग्य नहीं है ॥७३॥

थद्धा छिइप्पेही, अवण्णवाई सयंमई चयत्ता ।

वंका कोहणसीत्ता, सीसा उव्वेअगा गुरुणो ॥७४॥

शब्दार्थ - स्तब्ध (अहंकारी), छिद्रान्वेषी, अवर्णवादी (निन्दक), स्वच्छन्दमति, चंचल, वक्र और क्रोधी शिष्य गुरु को उद्विग्न करने वाले बन जाते हैं ॥७४॥

भावार्थ - इस गाथा में कुशिष्य का लक्षण बताया है। स्तंभ की तरह अकड़ या अविनीत, सदा अभिमान में रहने वाला, दूसरों के छिद्र देखने वाला, दूसरों में जो दोष नहीं हों, उनको भी कल्पना से गढ़कर कहने वाला, स्वच्छन्द चलने वाला, चंचल स्वभाव वाला, वक्र और बात-बात में क्रोध करने वाला शिष्य शांत स्वभावी गुरु को भी उद्विग्न (झुंझलाने वाला) बना देता है ॥७४॥

जस्स गुरुस्मि न भत्ती, न य बहुमाणो न गउखं न भयं ।

नचि लज्जा नचि नेहो, गुरुकुलवासेण किं तस्स ॥७५॥

शब्दार्थ - जिस शिष्य में गुरु महाराज पर न तो विनय-भक्ति हो, न बहुमान हो, यानी हृदय में प्रेम न हो, न गुरु के प्रति गुरुबुद्धि हो; और न ही भय, लज्जा या किसी प्रकार का स्नेह हो; ऐसे शिष्य के गुरुकुलवास में रहने या रखने से क्या लाभ है? ॥७५॥ अर्थात् ऐसे दुर्विनीत शिष्य को गुरु के पास रहना या रखना व्यर्थ है।

रुसइ चोइज्जंतो, यहइ य हियएण अणुसयं भणिओ ।

न य कम्मिं करणिज्जे, गुरुस्स आलो न सो सीसो ॥७६॥

शब्दार्थ - जो शिष्य गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर रोष करता है, सामान्य हितशिक्षा देने पर भी गुरु के सामने बोलकर उन्हें डांटने लगता है; तथा जो गुरु के किसी काम में नहीं आता; वह शिष्य नहीं है। वह तो केवल कलंक-रूप है। शिक्षा ग्रहण करे, वही शिष्य कहलाता है ॥७६॥

उच्चिलण-सूअण-परिभवेहिं, अइभणिय दुट्ठभणिएहिं ।

सत्ताहिया सुविहिया, न चेय भिंदति मुहरागं ॥७७॥

शब्दार्थ - दुर्जनों के द्वारा उद्देगकर, सूचना-(चेतावनी)-रूप परिभव (तिरस्कार)-रूप अतिशिक्षा (डाट-फटकार) रूप कर्कश वचन कहे जाने पर भी सत्त्वगुणी सुविहित सुशिष्य अपने मुंह का रंग नहीं बदलते ॥७७॥

भावार्थ - यहाँ ग्रंथकार सुसाधु का लक्षण बताते हैं। दुर्जन लोगों द्वारा क्षोभ पैदा करने वाले, चेतावनी देने वाले, अपमानजनक, असम्बद्ध या तीखे कठोर वचन कहे जाने पर भी शांत प्रकृति वाले सुसाधु उन पर क्रोध नहीं करते, मुंह नहीं मचकोड़ते; अपितु अपने मन में उनके प्रति करुणा आदि भाव धारण करते हैं ॥७७॥

माणसिणो वि अयमाण-वंचणा ते परस्स ते न करंति ।

सुह दुक्खगिरणत्थं, साह उय्हिव्व गंभीरा ॥७८॥

शब्दार्थ - इन्द्रादिक के द्वारा सम्माननीय साधु दूसरों का अपमान या दूसरों के सुख को उच्छेदन करने व दुःख में डालने के लिए वंचना (ठगी) नहीं करते। वे तो सागर की तरह गंभीर होते हैं ॥७८॥

भावार्थ - मुनिराज इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के द्वारा पूजा-सत्कार से युक्त होते हैं; फिर भी दूसरों का अपमान नहीं करते तथा दूसरों को ठगते भी नहीं है। वे सुख-दुःख को समभाव से भोगकर कर्म का क्षय करने के लिए निज स्वभाव में रमण करते हैं। ऐसे मुनि सागर जैसे गंभीर होते हैं। वे समुद्र की तरह अपनी मर्यादा में ही रहते हैं। साधुत्व की मर्यादा का उल्लंघन करके वे दूसरों को पीड़ा नहीं देते ॥७८॥

मउआ तिहुअसहावा, हासदवयिवज्जिया विग्गहमुक्का ।

असमंजसमइबहुअं, न भणंति अपुच्छिया साह ॥७९॥

शब्दार्थ - साधु मूढ और शांत स्वभाव वाले होते हैं, हास्य और भय से दूर होते हैं, वे कलह, विकथा आदि से भी मुक्त होते हैं; पूछने पर भी वे असंबद्ध नहीं बोलते ॥७९॥

भावार्थ - अहंकाररहित, मूढ और शांत स्वभाव वाले, हास्य, भय और ईर्ष्या से रहित एवं देश-कथा, राज-कथा, भक्त-कथा और स्त्री-कथादि विकथा या कलह से दूर रहने वाले तथा असंबद्ध वचन नहीं बोलने वाले मुनि बिना पूछे नहीं बोलते। मुख्यतः वह मौन भाव को धारण करते हैं। किसी के पूछने पर मुनि कैसे बोलते हैं, वह कहते हैं ॥७९॥

महुरं निउणं थोवं, कज्जावडिअं अगच्चियमतुच्छं ।

पुब्बिमइसंकलियं, भणंति जं धम्मसंजुत्तं ॥८०॥

शब्दार्थ - साधु मधुर, निपुणता से युक्त, नये तुले शब्दों में, प्रसंग होने पर, गर्व रहित, तुच्छता रहित और पहले से भलीभांति बुद्धि से विचार करके, धर्मयुक्त और सत्य वचन बोलते हैं। प्राणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी वे अधर्मयुक्त वचनों का उच्चारण नहीं करते ॥८०॥

सट्ठिं वाससहस्सा, तिसत्तखुत्तोदण्ण थोएणं ।

अणुचिण्णं तामलिणा, अन्नाणतयुत्ति अप्यफलो ॥८१॥

शब्दार्थ - तामलितापस ने साठ हजार वर्ष तक छट्ट (दो उपवास) तप किया। पारणे के दिन वह इक्कीस बार जल से भोजन को धोकर पारणा करता था; परंतु अज्ञानतप होने से वह अल्पफल वाला हुआ ॥८१॥

भावार्थ - यदि यह तप दयायुक्त होता तो उसका फल मुक्तिदायी होता। इसीलिए जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा से युक्त तप ही प्रमाण है। तामलीतापस के द्वारा इतना महान् तप करने पर भी उसे तुच्छ देवगति मिली। प्रसंगवश तामलितापस का दृष्टांत दे रहे हैं—

तामलितापस की कथा

तामलिप्ती नगर में तामलि नाम का एक सेठ रहता था। उसने एक दिन अपने पुत्र को घर का सारा भार सौंपकर वैराग्यमय होकर तापसी दीक्षा ले ली, और नदी के किनारे कुटिया बनाकर रहने लगा। वह दो-दो (छट्ट-छट्ट) उपवास के बाद पारणा करने लगा। वह पारणे के दिन भी जो आहार लाता था, उसे नदी के सचित्त जल से इक्कीस बार धोकर नीरस बनाकर खाता था। इस तरह साठ हजार वर्ष तक उसने दुष्कर अज्ञान तप किया। और अंतिम समय में अनशन किया। उस समय बलीन्द्र का च्यवन (आयुष्य पूर्ण) होने से बलिचंचा की राजधानी के असुरों ने आकर अनेक प्रकार के नाटक और वैभव विलास बताकर तामलितापस से विज्ञप्ति की—‘स्वामिन्! आप नियाणा (निदान) करके हमारे स्वामी बनों। अब हम स्वामीरहित हैं।’ इस तरह उन्होंने तीन बार कहा, फिर भी तामलितापस ने अंगीकार नहीं किया, और निदान भी नहीं किया, अल्प-कषायी होने से तथा अत्यंत कष्टसहन करने के फलस्वरूप आयुष्य पूर्णकर वह ईशान देवलोक में इन्द्ररूप में उत्पन्न हुआ और वहाँ उसी समय सम्यक्त्व प्राप्त किया।

इसीलिए ज्ञानपूर्वक तप करना ही मोक्ष का कारण है। अतः चाहे थोड़ा-सा भी तप करे, दया और ज्ञान से युक्त होकर करे; तामलितापस के समान अज्ञान और हिंसा से युक्त होकर नहीं। यही इस कथा का सार है ॥८१॥

छज्जीवकायवहगा, हिंसगसत्थाइं उवइसंति पुणो ।

सुबहुं पि तयकिलेसो, बालतथस्सीण अप्पफलो ॥८२॥

शब्दार्थ - छह जीवनिकाय का वध करने वालों का, हिंसा की प्ररूपणा करने वाले शास्त्रों का उपदेश देने वालों और बाल-तपस्वियों का अतिप्रचुर तपक्लेश भी अल्पफल देने वाला होता है ॥८२॥

भावार्थ - पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये पाँच स्थावरजीव कहलाते हैं और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ये चार त्रसजीव कहलाते हैं—ये स्थावर और त्रस दोनों मिला कर ६ जीवनिकाय कहलाते हैं। इनकी अत्यासक्तिपूर्वक हिंसा करने वाले जगत् में हिंसाजनक शास्त्रों का उपदेश देने वाले, अज्ञान तपस्वी चाहे जितना भी दुष्कर तप करें, वह उन्हें अल्प फल देने वाला होता है। अतः हिंसा त्याग करने पर ही तप का महान् फल प्राप्त हो सकता है ॥८२॥

परिच्छन्ति य सच्चं, जहद्वियं अयितहं असंदिद्धं ।

तो जिणवयणयिहिन्नू, सहंति बहुअस्स बहुआइं ॥८३॥

शब्दार्थ - जो जीव-अजीव आदि सर्व पदार्थों के स्वरूप को यथावस्थित, सत्य और संदेह रहित जानता है; जिनवचन की विधि का जानकार होने से वह अनेक बार बहुत लोगों के दुर्वचन सहन कर लेता है ॥८३॥

भावार्थ - जो महानुभाव जीव-अजीवादिक सभी तत्त्वों को यथावस्थित सर्वज्ञ वचन के रूप में असंदिग्ध और सत्य जानते हैं और मानते हैं, तथा निःसंशय रूप से हेय-उपादेय के विवेकपूर्वक आचरण करते हैं; ऐसे सिद्धान्तमार्ग के रहस्य को जानकर सत्पुरुष ही अज्ञानी लोगों के दुर्वचन को सहन करते हैं। क्योंकि तत्त्वदृष्टि से वह मान अपमान को सम गिनता है और उसीका तप महा-फल-दायी होता है ॥८३॥

जो जस्स वट्टए हियए, सो तं ठावेइ सुंदरसहावं ।

यग्धीच्छावं जणणी, भदं सोमं च मन्नेइ ॥८४॥

शब्दार्थ - जो जिसके हृदय में बस जाता है, वह उसे सुंदर स्वभाव वाला मानने लगता है। बाघ की माँ अपने बच्चे को भद्र और सौम्य ही मानती है ॥८४॥

भावार्थ - जो जिसे रुचिकर होता है, वह उसे गुणयुक्त देखता है, उसके दोष वह नहीं देख पाता। व्याघ्री अभद्र, अशांत और सभी जीवों को भक्षण करने वाले अपने शिशु को भी भद्र और शांत मानती है। वैसे ही जीव अपने हृदय में जिसे जो रुचिकर लगता है, उस अपने अज्ञानतप को भी सम्यक्तप मानता है। परंतु उसका ऐसा मानना मिथ्या है ॥८४॥

मणि-कणगरयण-धण पूरियंमि, भवणंमि सालिभद्दोडचि ।

अन्नो किर मज्झ वि, सामिओत्ति जाओ विगयकामो ॥८५॥

शब्दार्थ - मणि; कंचन, रत्न और धन से भरे हुए महल में रहने वाला

शालिभद्र सेठ "मेरे पर भी और कोई स्वामी है" ऐसा जानकर विषय भोगों से विरक्त हो गया ॥८५॥

भावार्थ - मेरे सिर पर अभी तक दूसरा स्वामी है, यह बात लक्ष्य में आते ही 'यदि ऐसा ही है तो मेरे वैभव को धिक्कार है,' इस प्रकार का स्पष्ट विचारकर शालिभद्र ने विषय भोगों को छोड़ दिये और मुनि दीक्षा ले ली।

शालिभद्र की कथा जैनजगत् में प्रसिद्ध होने से यहाँ उसे संक्षेप में दे रहे हैं—

श्री शालिभद्र की कथा

शालि नाम के एक छोटे से गाँव में धन्या नाम की एक दरिद्र विधवा रहती थी। अपनी आजीविका के लिए उसने गाँव में रहना उचित न समझ अपने पुत्र-संगम-को लेकर राजगृही नगरी में आकर रहने लगी। वहाँ सम्पन्न घरों में वह उनके घर का कामकाज कर देती और बदले में कुछ मेहनताना ले लेती। संगम गाँवों के बछड़ों को चरा लेता था। एक दिन कोई त्योंहार था, इसीलिए प्रत्येक घर में खीर बनी थी। यह देखकर संगम ने भी अपनी माँ से खीर मांगी। माता विवश थी। वह कहाँ से खीर लाती। परंतु संगम का रोना सुनकर पड़ोस की उदार सेठनियाँ आयी, उन्होंने धन्या को समझाकर दूध, खांड, चावल आदि खीर बनाने की सामग्री धन्या को दी। वह सामग्री लेकर आयी। धन्या ने झटपट खीर बनायी और अपने बेटे की थाली में परोस दी। धन्या उसे यह कहकर गृहकार्य वश बाहर चली गयी कि 'जब ठंडी हो जाये, तब खा लेना।' संगम थाली की खीर ठंडी करने लगा। ठीक उसी समय मासिक उपवासी एक तपस्वी मुनि पारणे के लिए भिक्षार्थ वहाँ पधारें। मुनि को देख संगम को अत्यंत खुशी हुई। उसने भाव पूर्वक सारी खीर मुनि के भिक्षापात्र में उडेल दी। मुनि के चले जाने पर वह सोचने लगा—'आज मेरा अहोभाग्य है कि ऐसे सुपात्र साधु के दर्शन हुए और मुझे भी कुछ देने का लाभ मिला।' इस प्रकार दान और दानपात्र की प्रशंसा करने लगा। ऐसी अनुमोदना सहित दिया हुआ दान वास्तव में महान् फलदायी होता है। कहा भी है—

आनन्दाश्रूणि रोमाञ्चो बहुमानं प्रियं वचः ।

किञ्चानुमोदना-पात्र-दान-भूषणपञ्चकम् ॥८३॥

अर्थात् - "सुपात्रदान के पाँच भूषण हैं—१. दान देते समय आनंद से आँखों में आँसू उमड़ना, २. रोमाञ्च खड़े हो जाना, ३. बहुमानपूर्वक दान देना, ४. प्रियवचनपूर्वक दान देना और ५. दिये हुए दान की अनुमोदना करना।" ॥८३॥

संगम ने इस तरह मुनि को दान देकर बहुत पुण्य-उपार्जन किया।

व्याजे स्याद् द्विगुणं वित्तं, व्यवसाये चतुर्गुणम् ।

क्षेत्रे शतगुणं प्रोक्तं, पात्रेऽनन्तगुणं भवेत् ॥८४॥

अर्थात् - "धन व्याज पर देने पर दुगुना हो जाता है, व्यापार में लगाने पर चार गुना हो जाता है, योग्य क्षेत्र में खर्च करने पर सौगुना होता और सुपात्र को दान से अनंतगुना होता है" ॥८४॥ संगम ने जो दान दिया था, वह अतिदुष्कर दान था। क्योंकि—

दाणं दरिद्रिस्स पहुस्स खंती, इच्छानिरोहो य सुहोइयस्स ।

तारुण्णए इंदियनिग्गहो य, चत्तारि एयाइ सुदुक्कराइ ॥८५॥

अर्थात् - दरिद्रावस्था में दान देना, सामर्थ्य होते हुए भी क्षमा रखना, सुख के समय में इच्छा का निरोध करना, और जवानी में इन्द्रियों का निग्रह करना; यह चारों कार्य अति-दुष्कर हैं ॥८५॥

तपस्वी मुनि के चले जाने के कुछ देर बाद ही संगम की मां बाहर से आयी। उसने संगम की थाली खाली देखी तो हंडिया में जो खीर बची थी, वह भी परोस दी। संगम भूखा तो था ही, इसीलिए झटपट सारी खीर खा गया। यह देखकर माता सोचने लगी—क्या मेरा पुत्र रोजाना संकोचवश इतना भूखा रहता है? माता के रहते उसका पुत्र भूखा रहे, यह माता के लिए लज्जा की बात है। धिक्कार हे मुझे! मैं अपने बेटे को भरपेट खिला भी नहीं सकती!" संगम के मन में मुनि के कठोर तपस्वी जीवन के बारे में मंथन चल रहा था। भूख में खाने का विवेक न रहने से अधिक खीर खा लेने के कारण संगम के पेट में पीड़ा हुई और वह उसी रात को शुभध्यान में मृत्यु प्राप्त कर उसी नगर में गोभद्रसेठ के यहाँ भद्रा सेठानी की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसकी माता भद्रा ने उसके गर्भ में आते ही पके हुए शालिधान का खेत स्वप्न में देखा, इस कारण उसका नाम शालिभद्र रखा गया। बचपन पारकर जब शालिभद्र यौवन अवस्था में आया तो माता-पिता ने धनाढ्य सेठों की ३२ कन्याओं के साथ उसकी शादी कर दी। इसके बाद गोभद्रसेठ ने घर-बार छोड़कर मुनिदीक्षा ले ली और अंतिम समय में अनशन कर आयुष्य पूर्ण कर सौधर्म देवलोक में देव बनें। उन्होंने अवधिज्ञान से अपने पुत्र को देख अतीव स्नेहातुर होकर वहाँ आया और सबको दर्शन देकर भद्रा सेठानी से कहा—"मैं शालिभद्र के लिए सभी प्रकार की सुखभोग-सामग्री की पूर्ति करूँगा।" इतना कहकर देव चला गया। गोभद्र का जीव देव रोजाना ३३ वस्त्रों की, ३३ आभूषणों की एवं ३३ भोजनादि पदार्थों की पेटियाँ यानी कुल ९९ पेटियाँ

शालिभद्र और उसकी ३२ पत्नियों के लिए भेजता था। यह सब संगम के भव में मुनि को दान देने का फल था। इसीलिए कहा है—

यद्गोभद्रः सूरपरिवृत्तो भूषणाद्यं ददौ यज् ।

जातं जायापदपरिचितं कम्बलिरत्नजातम् ।

पुण्यं यच्चाजनि नरपतिर्यच्च सर्वार्थसिद्धि ।

स्तद्दानस्याद्भूतफलमिदं शालिभद्रस्य सर्वम् ॥८६॥

अर्थात् - देवों में श्रेष्ठ गोभद्र ने जिसे आभूषण आदि दिये; जिसकी पत्नियों के पैरों में रत्नकम्बल लोटती हैं, जिसने इतना पुण्योपार्जन किया कि राजा श्रेणिक भी देखकर चकित रह गया और जिसने अंत में सर्वार्थसिद्धि देवलोक प्राप्त किया, यह सब शालिभद्र के दान का ही अद्भुत फल था॥८६॥

यादाम्भोजरजःप्रमार्जनमपि क्षमापाल-लीलावतीदुष्प्रापाद्भुतरत्नकम्बलदलेर्यद्वल्लभानामभूत्
निर्माल्यं नवहेमंडनमपि क्लेशाय यस्यावनिपालालिंगमनयसौ विजयते दानात्सुभद्रप्रजः॥८७॥

अर्थात् - जिसकी सुकुमार प्रियतमाओं के चरणकमलों पर लगी धूल भी उन रत्नकम्बलों के टुकड़ों से पौछी जाती थी, जो रत्नकम्बल राजा श्रेणिक की रानी लीलावती (चेल्लणा) को भी दुष्प्राप्य था। जिनके नये सोने के गहने भी एक बार पहनने के बाद गंदे समझकर भंडार में डाल दिये जाते थे, राजा श्रेणिक का आलिंगन भी खुदरा होने से जिसे कष्टदायक प्रतीत होता था, वह सुभद्रा का बड़ा भाई श्रीशालिभद्र दान के प्रभाव से ही विजयी-यशस्वी बना था ॥८७॥

शालिभद्र की वैभव समृद्धि देखकर श्रेणिक राजा ने साश्चर्य होकर उद्गार निकाले थे—

स्नुही महातरुर्वह्निर्वृहद्भानुर्यथोच्यते । सारतेजोवियोगेन नरदेवास्तथा वयम् ॥८८॥

‘जैसे स्नुही वृक्ष छोटा-सा होते हुए भी महावृक्ष कहलाता है, तथा थोड़ी-सी अग्नि भी बृहत् (बड़ा) सूर्य कहलाता है’ इसके सामने तेज रहित होने पर भी हम राजा कहलाते हैं ॥८८॥

शालिभद्र ने अपने घर पर राजा श्रेणिक को आये देख तथा माता के कहने से अपना स्वामी जानकर अंतर की गहराई में डूब कर चिन्तन किया—
‘क्या मेरे पुण्य की इतनी कमी है कि मेरे सिर पर भी स्वामी हैं? मेरी लक्ष्मी भी पराधीन है? मुझे ऐसी करणी करनी चाहिए, जिससे मेरे पर भविष्य में कोई स्वामी न रहे।’ बस, इसी विचार ने शालिभद्र को संसार से विरक्त कर डाला और वह प्रतिदिन एक-एक करके अपनी पत्नी को छोड़ने लगा। जब शालिभद्र के बहनोई धन्ना ने शालिभद्र के वैराग्य की तथा प्रतिदिन एक-एक स्त्री के त्याग की बात

सुनी तो उन्होंने आकर उसे झकझोर कर जगाया—“शालिभद्र! दीक्षा ही लेनी है तो यह क्या नाटक कर रहे हो, एक-एक पत्नी को प्रतिदिन छोड़ने का? एक साथ ही क्यों नहीं छोड़ देते? क्या आयुष्य का तुम्हें पक्का भरोसा है?” शालिभद्र की आत्मा जाग उठी। उसने एक ही झटके में सभी स्त्रियों का त्याग कर दिया और दोनों ने भगवान् महावीर के पास जाकर दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेने के बाद शालिभद्र मुनि ने घोर तपश्चर्या करते हुए १२ वर्ष तक चारित्र्य पालन किया और अंतिम समय में एक मास का अनशन करके आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध विमान में ३३ सागरोपम की आयु वाले अहमिन्द्र देव बनें। धन्य है, शालिभद्रमुनि को, जिसने सबसे उत्तम साधना की।

अनुत्तरं दानमनुत्तरं तपो, ह्यनुत्तरं मानमनुत्तरं यशः ।

श्रीशालिभद्रस्य गुणा अनुत्तरा, अनुत्तरं, धैर्यमनुत्तरं पदम् ॥८९॥

अर्थात् - शालिभद्र के दान, तप, मान, यश, गुण, धैर्य और पद यह सभी अनुत्तर (उत्कृष्ट=अद्वितीय) थे ॥८९॥

इसी तरह ज्ञान सहित तप करने से महान् फल प्राप्त होता है ॥८५॥

न करति जे तव-संजमं च, ते तुल्लपाणिपायाणं ।

पुरिसा समपुरिसाणं, अवस्स पेसत्तणमुविंति ॥८६॥

शब्दार्थ - जो जीव तप-संयम का आचरण नहीं करता, वह आगामी जन्म में अवश्य ही पुरुष के समान हाथ पैर वाला पुरुष की सी आकृति वाला दास बनकर दासत्व प्राप्त करता है ॥८६॥

भावार्थ - श्री शालिभद्र ने विचार किया था कि “राजा श्रेणिक में और मेरे में हाथ-पैर आदि अंगों में कोई अंतर नहीं है, फिर भी वह स्वामी हैं और मैं सेवक हूँ, इसका कारण सिर्फ यही है न कि मैंने पूर्वजन्म में सुकृत कम किया है? ऐसा विचारकर उसने तप-संयम की भलीभांति आराधना की थी। इसीलिए जो साधक स्वाधीन बारह प्रकार के तप और १७ प्रकार के संयम^१ की आराधना नहीं करता, वह जीव अगले जन्म में पुरुष के समान हाथ-पैर वाला पुरुषाकार दास बनता है ॥८६॥

सुंदर-सुकुमाल-सुहोइएण, विविहेहिं तवधिसेसेहिं ।

तह सोसविओ अप्पा, जह नवि नाओ सभवणेउवि ॥८७॥

१. पृथ्वीकायादि ५ स्थावर तीन विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इन नौ की विराधना से बचना। १० अजीव (पुस्तकादि उपधि में उत्पन्न जीव की विराधना से बचना) ये १० संयम। ११ प्रेक्षा संयम, १२ प्रमाज्जना संयम, १३ परिष्ठापना संयम १४ उपेक्षा संयम १५-१७ तीनों योग का संयम।

शब्दार्थ - शालिभद्र ने मुनि बनकर विविध प्रकार की विशिष्ट तपश्चर्याओं से अपने शरीर को इस प्रकार सुखा दिया कि अपने घर जाने पर भी वे पहिचाने नहीं जा सके ॥८७॥

भावार्थ - सुकुमाल शरीर वाले रूपवान और सुख के अभ्यासी श्रीशालिभद्र ने वैराग्य से दीक्षा ली एवं विविध प्रकार की तपस्या से अपना शरीर इतना कृश कर डाला कि जब वे वापस राजगृह नगर में पधारे तब अपनी माता के घर आहार के लिए जाने पर घर के सेवकों आदि किसी के द्वारा भी पहचाने न जा सके।

दुक्कर-मुद्धोसकरं, अवतिसुकुमाल-महरिसी-चरियं ।

अप्पा यि नाम तह, तज्जइति अच्छेरयं एयं ॥८८॥

शब्दार्थ - अवतिसुकुमाल मुनि का चरित्र भी अतिदुष्कर है; जिसके सुनने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उस महात्मा ने अपनी आत्मा को भी इतनी तर्जित की थी कि उसका सम्पूर्ण चरित्र सुनने में आश्चर्यकारक है ॥८८॥ प्रसंगवश इसकी कथा दे रहे हैं—

अवतिसुकुमाल की कथा

अवन्ती देश में उज्जयिनी नगरी में भद्रा नाम की धनिक-पत्नी रहती थी। उसकी कुक्षि से नलिनीगुल्म-विमान से आयुष्य पूर्ण कर एक पुत्र हुआ। जिसका नाम अवतिसुकुमाल रखा। वह बत्तीस स्त्रियों के साथ विषयसुख का उपभोग करता हुआ सुख पूर्वक जीवन बिता रहा था। एक दिन अपने घर के निकटवर्ती उपाश्रय में बिराजमान श्री सुस्थित आचार्य के मुख से रात के प्रथम प्रहर में नलिनीगुल्मविमान का वर्णन सुनकर उसे जातिस्मरणज्ञान हो गया। इससे अपने पूर्वभव का स्वरूप देखकर उसके मन में नलिनीगुल्मविमान में जाने की उत्कण्ठा हुई। अवतिसुकुमाल ने आचार्यश्री के पास आकर विनय पूर्वक पूछा—‘भगवन्! आप नलिनीगुल्मविमान का स्वरूप किस उपाय से जानते हैं?’ उन्होंने कहा—‘हम सिद्धांत रूपी नेत्रों से उसका स्वरूप जानते हैं।’ अवतिसुकुमाल ने कहा—‘गुरुदेव! वह कैसे प्राप्त हो सकता है?’ आचार्यश्री ने कहा—‘चारित्र की आराधना से, क्योंकि चारित्र इसलोक और परलोक में अनेक प्रकार के सुख देता है।’ चारित्र का महात्म्य इस प्रकार है—

नो दुष्कर्मप्रयासो न कुर्याति-सुत-स्वामि-दुर्वाक्यदुःखम् ।

राजादौ न प्रणामोऽशनवसन-धन-स्थान-चिन्ता न चैव ॥

ज्ञानासिलोके पूजा-प्रशमपरिणतिः प्रेत्य नाकाद्यवाप्तिः ।

चारित्रे शिवदायके सुभगमतयस्तत्र यत्नं कुरुध्वम् ॥९०॥

अर्थात् - जिस चारित्र के अंदर दुष्कर्म संबंधी प्रयास नहीं होता, न कुलटा स्त्रियों का संसर्ग है, और न पुत्र या स्वामी के दुर्वचन सुनने का दुःख है। इस चारित्र में राजा आदि को नमस्कार नहीं करना पड़ता; न भोजन, वस्त्र, धन और स्थान की चिंता करनी पड़ती है। इसमें ज्ञान की प्राप्ति है, लोगों में पूजा-प्रतिष्ठा होती है; इस जन्म में परिणति (भावना) शांत रहती है और दूसरे जन्म में स्वर्ग एवं मोक्ष आदि की प्राप्ति होती है, हे विद्वान् पुरुषों! ऐसे मोक्षदाता चारित्र में आप प्रयत्न करो ॥८९॥

‘इसीलिए वत्स अवंतिसुकुमाल! जो चारित्र ग्रहण करके अनशन करता है, वही नलिनीगुल्म विमान प्राप्त कर सकता है।’ इस तरह गुरु महाराज के मुख से सुनकर अवंतिसुकुमाल ने कहा--“मैं चारित्र और अनशनभाव अंगीकार करना चाहता हूँ गुरु ने ज्ञान से जाना कि इसका कार्य इसी तरह सिद्ध होगा।” अतः रात को ही उसे साधुवेश देकर दीक्षित किया। उसने गुरु आज्ञा लेकर मुनिवेश में नगर के बाहर स्मशान भूमि में जाकर शोहर के वन में कायोत्सर्ग (ध्यान) किया। रास्ते में कांटे-कंकड़ आदि की रगड़ से अतिकोमल पैरों के तले से रक्त बहने लगा। उस गंध से पूर्वजन्म की अपमानित स्त्री इस समय शृंगाली के रूप में अपने बहुत से बच्चों के साथ वहाँ आयी और उसके शरीर को चाटने और खाने लगी। परंतु मुनि जरा भी क्षुब्ध नहीं हुए। स्थिर चित्त से समभाव पूर्वक असह्य वेदना सहन करने के कारण वे आयुष्य पूर्ण कर वहाँ से नलिनीगुल्मविमान में देव रूप में पैदा हुए। प्रातःकाल यह सारा वृत्तांत माता-भद्रा ने जाना। अतः एक गर्भवती पुत्रवधू को घर पर छोड़कर, सभी बहुओं के साथ भद्रा ने भी संसार से विरक्त होकर चारित्र ग्रहण किया। जो बहू घर में रही, उसके एक पुत्र हुआ। उस पुत्र ने स्मशानभूमि में एक मंदिर बनवाकर उसमें जिनप्रतिमा स्थापित की, और उस स्मशान का नाम ‘महाकाल’ रखा।

जिस तरह अवंतिसुकुमाल ने धर्मपालन के लिए अपने शरीर का त्याग कर दिया, मगर ग्रहण किये हुए व्रतों को नहीं छोड़ा। इसी तरह अन्य जीवों को भी धर्म-पालन के विषय में प्रयत्न करना चाहिए। यही इस कथा से मुख्य प्रेरणा मिलती है ॥८८॥

उच्छृङ्खल सरीरधरा, अत्रां जीवो सरीरमन्नति ।

धम्मस्स कारणे सुविहिता, सरीरं पि छड्ढन्ति ॥८९॥

शब्दार्थ - सुविहित पुरुष धर्म के लिए शरीर रूपी घर का मोह छोड़ देते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि 'यह जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है ॥८९॥

भावार्थ - आत्मा के साथ इस शरीर का संबंध तो एक ही जन्म का है, और जन्म-जन्म में नया शरीर मिलता है; परंतु यदि धर्म छोड़ देने पर फिर उसका मिलना अतिदुष्कर होता है। अतः सद्बिचेकी साधु समस्त सांसारिक सम्बन्धों को तिलांजलि देकर संयम के लिए प्राण को भी छोड़ देते हैं। सुविहित साधु प्राणांतकष्ट आ पड़ने पर भी संयम को नहीं छोड़ते। वे प्राणत्याग करके भी संयम की रक्षा करते हैं। ऐसे मुनियों को धन्य है ॥८९॥

एग दिवसंपि जीवो, पयज्जमुवागओ अतन्नमणो ।

जइ वि न पावइ मुक्खं, अयस्स वेमाणो होइ ॥९०॥

शब्दार्थ - अनन्यमनस्क होकर यदि कोई व्यक्ति एक दिन भी चारित्र्य की आराधना करता है तो उसके फलस्वरूप उसे यदि मोक्ष न मिले, तो वैमानिक देवत्व तो अवश्य मिलता ही है ॥९०॥

भावार्थ - विशुद्ध एकाग्रमन से एक दिन भी संयम का पालन करने वाला साधु यदि मोक्षपद प्राप्त न कर सके तो उसे वैमानिक देवलोक तो अवश्य मिलता है। एक दिन का विशुद्ध चारित्र्य भी सौभाग्य से ही मिलता है, ऐसा जानकर अप्रमत्त और सावधान होकर चारित्र्य की आराधना में यत्न करना उचित है ॥९०॥

सीसावेदेण सिरंमि, वेढिए निग्गयाणि अच्छीणि ।

मेयज्जस्स भगवओ, नय सो मणसा वि परिकुविओ ॥९१॥

शब्दार्थ - जिनके मस्तक पर गीले चमड़े की पट्टी बांधी गयी और धूप लगने से सूखने के कारण आँखें बाहर निकल आयी; फिर भी मैतार्य भगवान् मन से भी (पीड़ा देने वाले पर) क्रोधित नहीं हुए ॥९१॥

भावार्थ - 'जब मैतार्य मुनि सोनी के घर भिक्षार्थ गये, तब उस सोनी के बनाये हुए सोने के अक्षत कोई पक्षी निगल गया। सोनी ने मुनि पर शंका करके उस संबंध में उनसे पूछा। पक्षी के प्रति करुणावश मुनि मौन रहे। फलतः सोनी ने उनको ही स्वर्णयवों का चोर मानकर गीले चमड़े की पट्टी उनके सिर पर बाँधी, धूप लगने से जब वह सूखने लगी तो नसें तनने लगी और मुनि की दोनों आँखें निकल गयीं। इतना प्राणांत कष्ट होने पर भी मुनि जरा भी कोपायमान नहीं हुए। परम समतारस में तल्लीनता से मुनि ने मोक्षपद प्राप्त किया। ऐसी अनुपम समता के योग से ही साधक शीघ्र आत्मकल्याण कर सकता है। अन्य मुनिराजों को भी ऐसी क्षमा धारण करनी चाहिए।' प्रसंगवश मैतार्य मुनि की कथा कहते हैं—

श्री मैतार्यमुनि की कथा

साकेतपुर में चन्द्रावतंसक नाम का अतीव धार्मिक राजा था। उसकी रानी का नाम सुदर्शना था। उसकी कुक्षि से सागरचन्द्र और मुनिचन्द्र नाम के दो पुत्र हुए। उनमें से बड़े पुत्र को राजा ने युवराजपद और छोटे पुत्र को उज्जयिनी का राज्य दिया। राजा की दूसरी रानी का नाम प्रियदर्शना था। उससे गुणचन्द्र और बाल चन्द्र नाम के दो पुत्र हुए। इस तरह पुत्रों सहित आनंद से राजा धर्मध्यान में जीवन बीताता था।

एक दिन चन्द्रावतंसक राजा ने पौषधव्रत ग्रहण किया था, उस रात को एकान्त में रहकर राजा ने अभिग्रह किया कि 'जब तक यह दीपक जलेगा तब तक मैं कायोत्सर्ग (ध्यान) में खड़ा रहूंगा।' ऐसा अभिग्रह कर राजा कायोत्सर्ग में खड़े रहे। दासी को राजा के अभिग्रह का पता नहीं था, इसीलिए ज्यों ही दीपक बुझने को होता दासी उसमें तेल भरती जाती थी। इस कारण दीपक जलता रहने से राजा भी कायोत्सर्गमुद्रा में खड़ा रहा। बहुत देर तक कायोत्सर्ग में खड़े रहने के कारण राजा के सिर में अत्यंत पीड़ा हुई। उसी पीड़ा में राजा का देहांत हो गया। समभावपूर्वक पीड़ा सहने के कारण वह मरकर देवलोक में उत्पन्न हुआ। पिता का इस तरह आकस्मिक अवसान देखकर सागरचन्द्र ने विचार किया इस शरीर का आत्मा के साथ संबंध कृत्रिम और अस्थायी है। जो प्रातःकाल स्वस्थ दिखाई देता है; वह मध्याह्न में नहीं दिखाई देता, और जो मध्याह्न में दीखता है, वह रात को नष्ट हो जाता है। वायु के झोंके से हिलते हुए पत्ते के समान यह आयुष्य प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। अनुभवियों का कहना है—

आदित्यस्य गतागतेरहरहः संक्षीयते जीवितम्,

व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ।

दृष्ट्वा जन्म-जरा-विपत्ति-मरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,

पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥९१॥

अर्थात् - सूर्य के उदय और अस्त होने के साथ-साथ निरंतर आयुष्य का क्षय होता जाता है; बड़े-बड़े अनेक कार्यों के बोझ से और प्रवृत्तियों से समय कितना बीत गया, इसका पता भी नहीं चलता। और रोजाना जन्म, बुढ़ापा, विपत्ति तथा मृत्यु देखते-देखते (आदि हो जाने के कारण) मनुष्यों को इनका दुःख नहीं होता। मालूम होता है, कि 'यह जगत् मोहमयी प्रमाद रूपी मदिरा पी कर उन्मत्त हो गया है।' ॥९१॥

इस प्रकार के विचारों के ज्वार के कारण सागरचन्द्र के चित्त में वैराग्य पैदा हुआ; वह राज्य से परामुख रहने लगा। यह देख एक दिन उसकी विमाता ने उससे कहा—“मेरे दोनों पुत्र अभी राज्यभार उठाने में असमर्थ हैं; इसीलिए अभी तू ही राज्य का संचालन करा।” इस तरह सागरचन्द्र को जबरन राज्य पर पुनः स्थापित किया। मगर वह विरक्त मन से राज्य संचालन करने लगा। पुण्ययोग से सागरचन्द्र राजा की समृद्धि और कीर्ति बढ़ने लगी। इससे सौतेली मां के मन में उसके प्रति डाह पैदा हो गया; वह किसी भी उपाय से उसका सफाया करने की ताक में रहती थी।

एक दिन सागरचन्द्र राजा खेल के लिए उपवन में गया हुआ था। उसकी माता ने दासी द्वारा एक लड्डू भेजा। दासी लड्डू लेकर जा रही थी; उस समय विमाता ने उसे बुलाकर पूछा कि ‘यह क्या ले जा रही है; दासी बोली—‘मैं राजा के लिए लड्डू ले जा रही हूँ।’ विमाता ने कहा—“देखें, बताना; वह लड्डू कैसा है?” दासी ने विमाता के हाथ में दे दिया। उसने विषमिश्रित हाथों से उस लड्डू को अच्छी तरह छूकर दासी को दे दिया। दासी ने वह लड्डू ले जाकर राजा के सामने रखा। राजा ने लड्डू हाथ में उठाया। ठीक उसी समय राजा के सौतेले भाई हाथ जोड़कर सामने खड़े थे। उसको देखकर स्नेहवश राजा ने सोचा—‘अपने छोटे भाईयों को दिये बिना मुझे अकेले लड्डू खाना ठीक नहीं।’ इस विचार से राजा ने उस लड्डू के दो टुकड़े किये और दोनों भाईयों को आधा-आधा टुकड़ा दे दिया; स्वयं ने बिलकुल नहीं खाया। थोड़ी ही देर में दोनों भाईयों के शरीर में जहर फैल जाने से मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़े। यह देखकर राजा बहुत दुःखी हुआ और मणि-मंत्र आदि प्रयोग करके उनका विष उतार दिया। दासी से पूछताछ करने पर राजा को पता लगा कि विमाता द्वारा लड्डू के जहर लिप्त हाथ लगाने से ही ऐसा हुआ है।

सागरचन्द्र राजा ने विमाता को उपालंभ देते हुए कहा—“धिकार है तुम्हें! मैं जब राज्य सौंप रहा था, तब तुमने राज्य स्विकार नहीं किया और इस समय विष प्रयोग का अकार्य किया। लानत है तुम्हारी दुर्भावना को! स्त्रियों के चरित्र का पता लगाना बड़ा कठिन है।” नीतिकार कहते हैं—

नितम्बिन्यः पतिं पुत्रं, पितरं भ्रातरं क्षणम् ।

आरोपयन्त्यकार्येऽपि दुर्वृत्ताः प्राणसंशये ॥९२॥

अर्थात् - दुराचारी नारियाँ अपने पति, पुत्र, पिता और भाई तक को क्षणभर में प्राणों को खतरा हो, ऐसे अकार्य में जुटा देती हैं ॥९२॥

इसीलिए संभालो अपना राज्य! दुर्गति के कारणभूत इस राज्य से मुझे क्या सरोकार है? ऐसा विचार कर अपनी विमाता के पुत्र गुणचन्द्र को राज्य देकर सागरचन्द्र ने स्वयं दीक्षा ले ली। क्रमशः उग्रविहार करते हुए श्रुतधर गीतार्थ हो गये। एक बार उज्जयिनी से आये हुए किसी साधु ने श्री सागरचन्द्र मुनि से कहा—‘स्वामिन्! उज्जयिनी में आपके भाई का पुत्र और पुरोहित पुत्र दोनों मिलकर साधुओं का बड़ा अपमान करते हैं।’ यह सुनकर गुरु की आज्ञा लेकर सागरचन्द्र मुनि उनको प्रतिबोध देने के लिए उज्जयिनी पधरें और जहाँ राजपुत्र और पुरोहितपुत्र थे, वहाँ जाकर उच्चस्वर से ‘धर्मलाभ’ कहा। उसे सुनकर वे दोनों बड़े खुश होकर परस्पर कहने लगे—‘चलो, आज ‘धर्मलाभ’ आया है, उसे खूब नचायेंगे।’

यों मंत्रणा करके सागरचन्द्र मुनि का हाथ पकड़कर ये दोनों उन्हें महल में खींच लाये और अंदर से द्वार बंद करके उनसे कहा—“आज हमें नाचकर बताओ। नहीं तो हम तुम्हें बहुत पीटेंगे।” सागरचन्द्र मुनि ने समयसूचकता का विवेक करके उन दोनों से कहा—‘तुम दोनों बाजा बजाओगे तभी मैं नृत्य कर सकूंगा।’ दोनों तपाक से बोले—‘हमें बाजा बजाना नहीं आता।’ साधु ने कहा—‘मुझे नृत्य करना भी नहीं आता।’ तब उन दोनों ने उद्घण्डतापूर्वक कहा—‘तो फिर आओ, हमारे साथ मल्लयुद्ध करो।’ सागरचन्द्र मुनि को इस कला का गृहस्थाश्रम में अभ्यास था। इसीलिए दोनों उद्धत लड़कों के साथ मल्लयुद्ध करके दोनों की हड्डीपसलियाँ ढीली कर दीं और तुरंत दरवाजा खोलकर अपने उपकरण लेकर वहाँ से चल पड़े। सीधे नगरी के बाहर जाकर वे कायोत्सर्ग में स्थिर हो गये।

इधर राज-पुत्र और पुरोहित-पुत्र अत्यंत वेदना के कारण जोर से कराहने लगे। राजा सुनकर वहाँ आया और पूछा—“आज तुम्हें क्या हो गया? चिल्ला क्यों रहे हो?” तब लोगों ने राजा से कहा—“यहाँ एक मुनि आया था, उसी की करतूत दीखती है।” सुनकर राजा मुनि को ढूँढ़ने के लिए निकल पड़ा। वन में कायोत्सर्ग में खड़े अपने बड़े भाई को मुनि रूप में देख राजा ने वंदना करके सविनय निवेदन किया—“स्वामिन्! आप जैसे महात्माओं के लिए दूसरों को पीड़ा देना उचित नहीं है।” तब सागरचन्द्र मुनि ने उत्तर में कहा—“राजन्! तू धर्मावतार चन्द्रावतसंक राजा का पुत्र पञ्चम लोकपाल है; फिर भी साधु को दुःख देने वाले राजपुत्र और पुरोहितपुत्र को रोकता क्यों नहीं? अपने राज्य में अन्याय क्यों होने देता है?” यह सुन मुनिचन्द्र राजा सारी वस्तुस्थिति समझ गया कि यह दोनों लड़कों की ही शरारत दिखती है। अतः राजा हाथ जोड़कर बोला—“नाथ! मेरा अपराध क्षमा करिए। मेरे पुत्र को अपने किये हुए अपराध का फल मिल चुका है। आप

पिता के समान हैं। अतः कृपा करके दोनों लड़कों को ठीक कर दीजिए। “आपके सिवाय हड्डियों को बिठाकर स्वस्थ करने में कोई समर्थ नहीं है।” यह कहकर राजा मुनिचंद्र उन दोनों लड़कों को मुनि के पास ले आया। मुनि ने उन दोनों से कहा—“वत्स! यदि सुखपूर्वक जीना चाहते हो तो मुनि-दीक्षा ग्रहण करना स्वीकार करो। तभी मैं तुम्हें ठीक करूँगा; अन्यथा नहीं।” निदान उन दोनों लड़कों ने मुनि-दीक्षा लेना स्वीकार किया। मुनि ने तत्काल दोनों की हड्डियाँ बिठाकर उन्हें स्वस्थ कर दिया। और उन्हें मुनि-दीक्षा देकर साथ लेकर वहाँ से अन्यत्र विहार कर दिया। उन दोनों मुनियों में से जो पुरोहितपुत्र था, उसके जातिगत संस्कार उभर आये। ब्राह्मणत्व का जात्यभिमान करने के कारण उसने नीचगोत्रकर्म का बंध किया। दोनों मुनि चारित्र की आराधना करके आयुष्य पूर्णकर देव बने। उन दोनों में परस्पर गाढ़ स्नेह था। इसीलिए उन्होंने परस्पर एक दूसरे को वचन दिया कि हम दोनों में जो कोई यहाँ से पहले च्यवन होकर मनुष्यगति में उत्पन्न होगा, उसे देवलोक में रहा हुआ देव प्रतिबोध दे।” तदनन्तर देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर पुरोहितपुत्र का जीव वहाँ से राजगृही नगरी में जातिमद के कारण मेहर नामक चाण्डाल के यहाँ मैती नाम की उसकी पत्नी की कुक्षि में पुत्ररूप में पैदा हुआ। उसी नगरी के किसी श्रेष्ठी के यहाँ चाण्डाल पत्नी आया-जाया करती थी। सेठानी के साथ उसका अत्यंत स्नेह था। सेठानी मृतवत्सा थी, उसका कोई भी बच्चा जिंदा नहीं रहता था। इससे उसे मन में बहुत दुःख होता था। उसने चाण्डाल पत्नी से यह बात कही तो उसने कहा—‘सेठानीजी! चिन्ता न करो। अगर इस बार के गर्भ से मेरे पुत्र हुआ तो मैं आपको सौंप दूँगी।’ ठीक समय पर चाण्डाल पत्नी के पुत्रजन्म हुआ। उसने चुपके से वह पुत्र उस सेठानी को सौंप दिया। सेठानी बहुत हर्षित हुई। उसने खूब धूम-धाम से पुत्रजन्मोत्सव किया और बालक का नाम मैतार्य राखा। जब वह १६ वर्ष का हुआ तो पूर्वजन्म के मित्र-देव के साथ वचनबद्ध होने से वह मित्रदेव (राजपुत्र का जीव) मैतार्य को प्रतिबोध देने आया। परंतु किसी तरह भी उसे देव का दिया हुआ प्रतिबोध न लगा। उन्हीं दिनों में उसके पिता (सेठ) ने आठ वणिक् पुत्रियों के साथ मैतार्य की सगाई कर दी। यह देखकर मित्रदेव ने इस मोहजाल से निकालने के लिए चाण्डालपत्नी (उसकी असली माता) के शरीर में प्रवेश किया, जिससे वह उन वणिकों के यहाँ जाकर उन्हें कहने लगी—“मैतार्य सेठ का नहीं मेरा पुत्र है। तुम अपनी कन्याएँ उसे क्यों दे रहे हो? इसका विवाह तो हम करेंगे।” यों बड़बड़ाती हुई वह जबरन मैतार्य को पकड़कर अपने घर ले आयी। तब वहाँ मित्रदेव ने मैतार्य के सामने प्रकट होकर कहा—“तुम हमारे परस्पर हुए

वचन को भूल गये और मेरा कहना नहीं माना। इसी का फल तुम्हें चखाया है। देखा, कैसा तिरस्कार हुआ तेरा? इसीलिए यदि तू अपना भला चाहता हो मेरा कहना मान ले और चारित्र ग्रहण कर ले।” मैतार्य ने कहा—“अब मैं दीक्षा कैसे स्वीकार करूँ? क्योंकि तुमने मुझे इतना बदनाम कर दिया है कि मैं कहीं का न रहा। लोगों में तुमने मुझे चांडाल के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। अब यदि आप फिर प्रतिष्ठा पुनः बढ़ा दें और सेठ मुझे अपने पुत्र रूप में स्वीकार कर ले तथा राजा श्रेणिक मुझे अपनी कन्या दे दें तब तो मैं चारित्र अंगीकार कर लूंगा।” मित्रदेव ने उसी प्रकार कर देना कबूल किया।

फलतः देव ने पहला काम यह किया कि चाण्डाल के घर में गंदी विष्टा के बदले रत्नों की विष्टा (मींगणियाँ) करने वाला बकरा बांध दिया। देव-प्रेरणा से चाण्डाल (मैतार्य के पिता) ने रत्नों का थाल भरकर लगातार तीन दिन तक श्रेणिक राजा को रत्न भेंट दिये। यह देख मंत्री अभयकुमार ने पूछा—“तेरे यहाँ इतने रत्न कहाँ से आये?” चाण्डाल ने कहा—“मेरे यहाँ एक बकरा है, जो रत्नों की मींगणियाँ करता है।” “फिर तू इन रत्नों को भेंट किसलिये कर रहा है?” अभयकुमार ने प्रश्न किया। चाण्डाल—“मेरे पुत्र को राजाजी अपनी पुत्री दे दें, इसीलिए मैं यह भेंट कर रहा हूँ।” राजा ने कहा—“यह कैसे हो सकता है?” अभयकुमार ने चाण्डाल से बकरा राजमहल में ले आने का कहा। चाण्डाल ने बकरा लाकर राजमहल में बांध दिया, लेकिन वह यहाँ रत्नों की मींगणियों के बदले दुर्गन्धित विष्टा करने लगा। इससे आश्चर्यचकित होकर अभयकुमार ने कहा—“हो न हो इसमें कोई देवप्रभाव मालूम होता है। अन्यथा, चाण्डाल के द्वारा राजपुत्री की याचना कैसे सम्भव है? इसकी भलीभांति परीक्षा करनी चाहिए। जो कार्य मनुष्य के बलबूते से परे का हो, उस कार्य को यदि कोई मनुष्य करता हो तो उसमें देव का प्रभाव अवश्य होना चाहिए।” अतः काफी सोच-विचारकर अभयकुमार ने चाण्डाल से कहा—“यदि इस राजगृही के चारों ओर नया सोने का किला बना दो और वैभारगिरि पर्वत पर पुल बांध दो एवं गंगा, यमुना, सरस्वती और क्षीरसागर इन चारों को उसके नीचे प्रवाहित कर दो और उससे तुम्हारे पुत्र को स्नान करा दो तो राजा श्रेणिक उसे अपनी पुत्री दे देंगे।” देव के प्रभाव से अभयकुमार के कहने के अनुसार रातभर में ही यह सब काम हो गया। प्रातः उस जल से चाण्डालपुत्र-मैतार्य-को स्नान करा कर पवित्र हो जाने के बाद राजपुत्री से विवाह सम्पन्न हो गया। इसके बाद आठ वणिकों ने भी अपनी-अपनी कन्याओं की शादी मैतार्य के साथ कर दी। इस प्रकार ९ कन्याओं के साथ मैतार्य का धूमधाम से

विवाह हो गया। मित्रदेव ने पुनः आकर मैतार्य को चेतावनी दी—“अब तो तुम्हारा विवाह इज्जत के साथ हो गया है और तुम्हें पहले की तरह प्रतिष्ठा भी प्राप्त करा दी है, अतः अब मुनि दीक्षा ग्रहण कर लो।” मैतार्य बोला—“मित्र! तुम्हारी बात ठीक है, लेकिन मैंने अभी-अभी शादी की है, अतः कम से कम १२ साल तक तो इन स्त्रियों के साथ मुझे रह लेने दो, इन्हें संतुष्ट करने के बाद मैं अवश्य दीक्षा ले लूंगा।” देव ने उसकी बात कबूल कर ली। जब १२ वर्ष व्यतीत हो गये और मित्रदेव पुनः आया तो मैतार्य की सभी पत्नियों ने उससे हाथ जोड़कर विनम्र प्रार्थना की—“१२ वर्ष की मुदत आपने अपने मित्र को दे दी, उसी प्रकार १२ वर्ष की मुदत और हमारे लिये दीजिए।” उनके विनयभाव से प्रसन्न होकर देव ने और १२ वर्ष की मुदत मैतार्य को दी। इस प्रकार २४ वर्ष तक सांसारिक सुखों का उपभोग कर लेने के बाद मैतार्य ने वैराग्यभाव से भगवान् महावीरस्वामी के पास मुनि दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के बाद उन्होंने ९ पूर्वों का भलीभांति अध्ययन किया और जिनकल्प स्वीकारकर एकलविहारी बनें।

एक बार विहार करते हुए वे राजगृही पधारे। वहाँ एक दिन मासक्षमण के पारणे के रोज मैतार्य मुनि भिक्षा के लिए सुनार के यहाँ अनायास ही पहुँचे। स्वर्णकार उस समय श्रेणिकराजा के आदेशानुसार सोने के जौ (अक्षत) बना रहा था। मुनि को अपने घर आये देख काम छोड़कर एकदम उठा और भक्तिभाव पूर्वक आहार दिया। इतने में ही वहाँ एक क्रौंचपक्षी कहीं से उड़ता-उड़ता आ पहुँचा। वह उन स्वर्णयवों को खाने की चीज समझकर निगल गया और तुरंत वहाँ से उड़कर घर के ही एक ऊँचे पेड़ पर जा बैठा। मुनि ने उस पक्षी को जौ निगलते देख लिया था। सुनार ज्यों ही मुनि को भिक्षा देकर बाहर आया तो सोने के ताजे बनाये हुए जौ गायब! बहुत ढूँढ़ने पर भी जब वे नहीं मिले, तो उसे मुनि पर शंका हुई। तुरंत ही सुनार ने मुनि से जौ के बारे में पूछा—“महाराज! सोने के वे जौ कहाँ गये, जो मैंने अभी बनाये थे?” मुनि ने सोचा—“अगर मैं उस पक्षी का नाम लूंगा तो यह अभी उसे मार डालेगा और यदि अपना नाम लेता हूँ तो वह असत्य और साधुसंस्था के लिए निन्द्य होगा। अतः मौन रहना ही ठीक है।” मुनि पक्षी के प्रति करुणार्द्र होकर मौन रहे। ऐसे समय में साधु का मौन रहना ही उचित है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

बहुं सुणेइ कण्णेहि बहुं अच्छीहि पिच्छइ ।

न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥९३॥

— दशवैकालिक अध्याय ८ गाथा २०

“साधु कानों से बहुत-सी बातें सुनता है और आँखों से भी बहुत-सी चीजें देखता है; लेकिन देखी हुई या सुनी हुई सभी बातें साधु के लिए कहने योग्य नहीं होती ॥९३॥”

मैतार्य मुनि से सोनी के द्वारा बार-बार पूछे जाने पर भी जब जवाब नहीं मिला तो उसने मुनि को ही चोर मानकर क्रोधावेश में उन्हें घर में एक ओर ले जाकर धूप में खड़ा कर दिया और उनके मस्तक पर गीला चमड़ा कसकर बांध दिया। तेज धूप के कारण चमड़ा सूखकर सिकुड़ने और कठोर होने लगा, इससे मुनि के सिर की नसें तनने लगीं और आँखें एकदम बाहर निकल आयीं। मुनि को असह्य वेदना हो रही थी, फिर भी न तो सुनार पर रोष व द्वेष ही किया और न ही क्रौंचपक्षी के जों निगल जाने की बात कही। फलतः इस परम क्षमा के कारण शुक्लध्यानग्नि में समस्त कर्मों को भस्म कर केवलज्ञान प्राप्तकर आयुष्य पूर्ण होते ही मैतार्य मुनि मोक्ष पधार गये।

एक लकड़हारे ने उसी समय लकड़ियों की भारी जोर से डाली। उसकी जोर की आवाज सुनकर भय के मारे क्रौंचपक्षी ने घबराकर विष्टा की; उसमें वे निगले हुए सारे स्वर्णयव निकल पड़े। सोने के यवों को देखकर सोनी एकदम सकपका गया और अपने द्वारा हुए इस अकार्य से सिंहर उठा। उसने भयभीत होकर सोचा—‘हाय! आज मैंने कितना बड़ा अनर्थ कर डाला! एक मुनि की हत्या और वही भी राजा श्रेणिक के दामाद की! राजा को पता लगते ही वह मेरे सारे परिवार को बुरी मौत मरवा डालेगा!’ अब तो इससे बचने का और इस घोर अकार्य का प्रायश्चित्त करने का यही उपाय है कि मैं भगवान् महावीर के चरणों में जाकर अपने पापों का प्रायश्चित्त लूं और परिवार सहित मुनि जीवन अंगीकार कर लूं।’ स्वर्णकार अपने परिवार सहित भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में पहुँचा और सरलभाव से अपनी आलोचना करके प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हुआ और सपरिवार पंच-महाव्रत ग्रहण किये। स्वर्णकार ने भी सुगति प्राप्त की।

इसी प्रकार अन्य मुनिवरों को भी ऐसी उत्तम क्षमा धारण करनी चाहिए, यही इस कथा से प्रेरणा मिलती है ॥९१॥

जो चंदणेण बाहुं, अलिंपइ वासिणा वि तच्छेइ ।

संथुणइ जो अ निंदइ, महरिसिणो तत्थ समभाया ॥९२॥

शब्दार्थ - मुनि की बाहुओं पर कोई चंदन का लेप करे या कोई उसे कुल्हाड़ी से काटे; कोई स्तुति (प्रशंसा) करे और कोई निन्दा करे; परंतु महर्षि सब पर समभावी रहते हैं ॥९२॥

भावार्थ - मुनि के शरीर पर कोई भक्तिभाव से बावने चंदन का लेप करे अथवा कोई द्वेषवश उसकी भुजा आदि का कुल्हाड़ी से छेदन करे और कोई उसकी निन्दा करे, कोई प्रशंसा; लेकिन महर्षि दोनों पर समभाव रखते हैं; क्योंकि महामुनियों का शत्रु और मित्र पर समचित्त होता है ॥९२॥

सीहगिरिसुसीसाणं भद्रं, गुरुवयणसद्वहंताणं ।

वयरो किर दाही, वायणति न विकोचिअं वयणं ॥९३॥

शब्दार्थ - गुरुवचनों पर श्रद्धा रखने वाले सिंहगिरि आचार्य के सुशिष्यों का कल्याण हो। गुरुमहाराज ने जब अपने शिष्यों से कहा कि 'यह वज्रस्वामी तुम्हें वाचना देगा, तो उन्होंने तर्क-वितर्क करके गुरु के वचनों का लोप नहीं किया' ॥९३॥

भावार्थ - आचार्य सिंहगिरि ने जब अपने शिष्यों से कहा कि 'मेरी अनुपस्थिति में यह बालमुनि वज्रकुमार तुम्हें शास्त्रवाचना देगा' तो सभी शिष्यों ने गुरुवचन को शिरोधार्य किया। उन्होंने शंकाकुल होकर विपरीत चिन्तन नहीं किया कि यह बाल साधु हमें किस प्रकार वाचना देगा? गुरुदेव के वचन पर दृढ़ श्रद्धा रखने वाले ऐसे सुशिष्यों का कल्याण हो।

आगे वज्रस्वामी के जीवन की वह घटना दे रहे हैं—

वाचनाचार्य वज्रस्वामी का दृष्टांत

वज्रस्वामी ने बाल्यकाल में उपाश्रय में साध्वियों के मुख से ११ अंगों का पाठ सुनकर यदनुसारिणी लब्धि के बल से ग्यारह ही अंगों का अध्ययन कर लिया था। ८ वर्ष की उम्र में उन्हें गुरुदेव ने दीक्षा दी थी। अपने गुरु के साथ विहार करते हुए वे एक गाँव में पहुँचे और वहाँ के उपाश्रय में ठहरे। एक दिन वज्रस्वामी को उपाश्रय में अकेले छोड़कर सभी साधु भिक्षाचरी को गये हुए थे। आचार्य श्री स्थंडिलभूमि गये हुए थे। वज्रस्वामी ने उपयुक्त अवसर जानकर सभी मुनियों के उपकरणों को उल्थाधिक क्रम से अपने सामने जमा दिये और उनके आसनो पर मुनियों की स्थापना (मुनि बैठे हैं, ऐसी कल्पना) करके स्वयं बीच में बैठ गये और उच्च स्वर से आचारांगसूत्र आदि की वाचना देने का अभिनय करने लगे। ठीक इसी समय स्थंडिलभूमि को गये हुए आचार्यश्री पधार गये। परंतु उपाश्रय का द्वार बंद देखकर आचार्य आश्चर्य में पड़ गये। अंदर झाँककर देखा तो वज्रस्वामी वाचना देने का उपर्युक्त अभिनय कर रहे हैं। आचार्य दंग रह गये। उन्होंने सोचा—यदि मैं सहसा द्वार खोलूंगा तो वज्रमुनि शंकित होकर घबरा जायगा। इसीलिए आचार्यश्री ने उच्चस्वर से 'निसीहि निसीहि' उच्चारण किया। यह सुनते ही गुरुजी

का आगमन जानकर वज्रमुनि से झटपट अपनी बाजी समेट ली, लघुलाघवकला से शीघ्र ही सबके उपकरण यथास्थान रख दिये और दरवाजा खोला। आचार्यश्री ने सोचा—“इस पुरुषरत्न में अगाध ज्ञान भरा है। इसकी ज्ञानशक्ति अप्रकटित पड़ी न रह जाय। इसका लाभ साधुओं को मिल सके, ऐसा उपाय करना चाहिए।” दूसरे ही दिन आचार्य सिंहगिरि किसी आवश्यक कार्य के बहाने कुछ साधुओं को साथ लेकर वहाँ से अन्यत्र विहार करने लगे। उस समय अन्य साधुओं ने उनसे पूछा—“गुरुदेव! आपके पधार जाने के बाद हमें वाचना कौन देगा?” आचार्यश्री बोले—“यह बालमुनि वज्र तुम्हें शास्त्रवाचना देगा।” यह सुनकर किसी भी साधु ने यह शंका नहीं की कि ‘यह बालमुनि हमें क्या वाचना देगा?’ बल्कि ‘तहत्ति’ (ऐसा ही होगा) कहकर गुरु आज्ञा श्रद्धा पूर्वक स्वीकार की। आचार्य श्री वहाँ से विहार कर गये। अध्ययन-शील साधुओं ने वज्रस्वामी से शास्त्रवाचना ली। उनके अध्ययन कराने के ढंग से सबको संतोष हुआ। कुछ ही दिनों बाद आचार्यश्री वापिस पधार गये। उन्होंने शिष्यों से पूछा—“तुम्हारा अध्ययन ठीक ढंग से हुआ या नहीं?” शिष्यों ने प्रसन्न मुद्रा में कहा—“गुरुदेव! हमारा अध्ययन बहुत ही व्यवस्थित ढंग से और थोड़े-से दिनों में काफी हुआ है। हमें वज्रस्वामी की अध्यापन-प्रणाली से बहुत संतोष है। हम तो आपसे विनम्र प्रार्थना करते हैं कि हमारे वाचनाचार्य अब वज्रस्वामी ही रहें।” शिष्यों की ऐसी प्रार्थना सुनकर आचार्यश्री ने वज्रस्वामी को आचार्यपद दिया और वाचनाचार्य के रूप में उन्हें नियुक्त किया।

जैसे सिंहगिरि आचार्य के शिष्यों ने गुरुवचन मान्य कर लिये थे; वैसे ही अन्य मुनियों को भी गुरुवचन श्रद्धापूर्वक मान्य करने चाहिए। यही इस कथा का सारभूत उपदेश है ॥९३॥

मिण गोणसंगुलीहिं, गणेहिं वा दंतचक्कलाइं से ।

इच्छंति भाणिऊणं, कज्जं तु न एव जाणंति ॥९४॥

शब्दार्थ - ‘अरे शिष्य! इस सांप को अपनी उंगली से नाप अथवा इसके दांत दंतस्थान से गिन;’ इस प्रकार गुरु द्वारा कहे जाने पर शिष्य तहत्ति (अच्छा गुरुजी!) कहकर उस कार्य को करें। मगर उस पर तर्क-वितर्क न करे। यही सोचे—‘इस कार्य के पीछे क्या मकसद है? यह तो गुरुदेव ही जानें।’ ॥९४॥

भावार्थ - किसी भी कार्य के करने का गुरु जब आदेश दें तो विनीत शिष्य को शंकाशील बनकर यह नहीं सोचना चाहिए—गुरुजी ने यह कार्य मुझे करने का क्यों और किसलिए कहा? इनका इस कार्य के पीछे क्या प्रयोजन है? बल्कि ऐसा सोचे कि गुरुदेव शिष्य का एकान्तहित ही चाहते हैं। इसीलिए उन्होंने

जो कार्य बताया है, मुझे उसे अविलम्ब करना चाहिए ॥९४॥

कारणविज्ज कयाई, सेयं कायं वयंति आयरिया ।

तं तह सइहियव्वं, भवियव्वं कारणेण तहिं ॥९५॥

शब्दार्थ - कारण को जानने वाले आचार्य भगवान् किसी समय यह कौआ सफेद है, ऐसा कहते हैं तो उसे श्रद्धा पूर्वक मान लेना चाहिए, उस समय यह सोचे कि इसमें भी कोई कारण होगा ॥९५॥

भावार्थ - किसी कारणवश आचार्य भगवान् कोई न जचने वाली बात कहते हैं, तो उसे वैसी ही माननी चाहिए और विचार करना चाहिए कि 'ऐसा कहने में कोई न कोई कारण होगा, तभी गुरु महाराज ऐसा कहते हैं' ॥९५॥

जो गिण्हइ गुरुवयणं, भणंतं भावओ विसुद्धमणो ।

ओसहमिय पीज्जंतं, तं तस्स सुहायहं होइ ॥९६॥

शब्दार्थ - भाव से विशुद्ध मन वाला जो शिष्य गुरु महाराज के द्वारा वचन कहते ही अंगीकार कर लेता है तो उसके लिए वह वचन पालन औषध के समान परिणाम में सुखदायी होता है ॥९६॥

भावार्थ - जैसे औषधी पीने में कड़वी लगती है, परंतु परिणाम में बहुत सुख देने वाली होती है, वैसे ही गुरुमहाराज का कहा हुआ वचन भी अंगीकार करने में कदाचित् कष्टकारी लगे तो भी परिणाम में वह सुखदायी और इस और पर भव में हितकारी होता है ॥९६॥

अणुवत्तगा विणीया, बहुक्खमा निच्चभक्तिमंता य ।

गुरुकुलवासी अमुई, धन्ना सीसा इह सुसीला ॥९७॥

शब्दार्थ - गुरु के आज्ञानुवर्ती विनीत, परम क्षमावंत, नित्यभक्तिमात्र, गुरुकुलवासी, गुरु को (एकाकी व कष्ट में) नहीं छोड़ने वाले और सुशील शिष्य इस संसार में धन्यभागी हैं ॥९७॥

भावार्थ - गुरुमहाराज की आज्ञानुसार चलने वाले, बाह्य-अर्ध्वतर विनय करने वाले, गुरु की बहुत बातों को सहन करने वाले, हमेशा भक्ति में तत्पर, स्वेच्छाचारी नहीं; परंतु गुरुकुल में वास करने वाले, शास्त्रादि अध्ययन पूर्ण होने पर भी गुरु को नहीं छोड़ने वाले और सम्यग् आचरण करने वाले सुशील शिष्यों को धन्यवाद है, ऐसे सुशिष्य ही जैनशासन को प्रकाशमय करते हैं ॥९७॥

जीयंतस्स इह जसो, किंती य मयस्स परभवे धम्मो ।

सगुणस्सय निग्गुणस्स य, अजसो किंती अहम्मो य ॥९८॥

शब्दार्थ - गुणवान् सुविनीत शिष्य को जीते जी (प्रत्यक्ष) यश और कीर्ति प्राप्त होती है और मरने के बाद अगले जन्म में भी धर्म की प्राप्ति सुखपूर्वक होती है। किन्तु दुर्विनीत शिष्य की इस जन्म में भी अपयश और अपकीर्ति (बदनामी) होती है तथा आगामी जन्म में भी अधर्म यानी नरकादि गति प्राप्त होती है ॥९८॥

बुद्धावासे वि ठियं, अहव गिलाणं गुरुं परिभवन्ति ।

दत्तुव्य धम्मवीमंसएणं, दुस्सिक्खियं तं पि ॥९९॥

शब्दार्थ - बुढ़ापे में विहार करने की अशक्ति के कारण या किसी दुःसाध्य रोग के कारण एक जगह स्थित गुरु का जो तिरस्कार करते हैं, वे दत्त नामक शिष्य की तरह अपने धर्म से भ्रष्ट और दुःशिक्षित (दुष्ट शिष्य) हैं ॥९९॥

प्रसंगवश यहाँ दत्तमुनि का उदाहरण दे रहे हैं—

दत्तमुनि की कथा

कुल्लपुर नाम के नगर में श्रमण संघ में कोई स्थविर आचार्य रहते थे। एक बार उन्होंने भविष्य में पड़ने वाले महान् दुष्काल की बात ज्ञान से जानकर गच्छ के समस्त साधुओं को दूसरे देश में भेज दिया। परंतु स्वयं वृद्धावस्था होने से तथा रुग्ण और विहार में अशक्त होने से, उसी नगर में बस्ती के नौ विभागों की कल्पना कर एक ही नगर में स्थिर हो गये। गुरु-सेवा के लिए एक बार दत्त नाम का शिष्य वहाँ आया। वह शिष्य जिस निवासस्थान में गुरुमहाराज को छोड़ गया था, उसी स्थान पर गुरु का विहारक्रम आता था, किन्तु उस शिष्य ने जब उसी स्थान पर गुरुमहाराज को देखा तो उसे शंका हुई और विचार करने लगा कि 'गुरुजी पासत्था (पार्श्वस्थ) और उन्मार्गगामी हो गये दिखते हैं। इन्होंने स्थान भी नहीं बदला भालूम होता है।' इस आशंका से वह दूसरे उपाश्रय में अलग रहने लगा। भिक्षा के लिए वह गुरु के साथ जाता। छोटे-बड़े कुलों में घूमने पर भी भिक्षा नहीं मिली तो दत्त के मन में उद्वेग पैदा हुआ। गुरु ने उसकी चेष्टाओं पर से मन के विचार जान लिये और उसे वे एक बड़े सेठ के घर गोचरी के लिए ले गये। उस सेठ के घर व्यंतर के प्रकोप के कारण एक बालक हमेशा रोता था। यह देख गुरुमहाराज ने 'वत्स! रो मत;' यों कहकर चुटकी बजाई कि व्यंतर भाग गया और बालक चुप हो गया। इससे खुश होकर उसके माता-पिता ने गुरु को लड्डू भिक्षा में दियो। दत्त को वह आहार देकर गुरु ने उपाश्रय भेजा। जाते-जाते दत्त सोचने लगा—'ऐसा बढ़िया आहार नियत (मुकरर किये हुए) घर में मिल सकता था फिर भी गुरु ने मुझे बहुत घूमाया। बाद में गुरुमहाराज भी सामान्य घरों

में से नीरस आहार लाकर उपाश्रय में आये और आहार किया। शाम को प्रतिक्रमण वेला में दिन में लगे दोषों की अलोचना करते समय गुरु ने दत्त से कहा—“महात्मन्! तुमने आज धात्रीपिंड (बालक को प्रसन्न कर उसके मातापिता के पास से आहार लेना) का सेवन किया है; इसीलिए अच्छी तरह आलोचना करना” यह सुन दत्त ने विचार किया—‘गुरुजी सूक्ष्म दोष देखते हैं, और बड़े-बड़े दोष नहीं देखते’ दत्तमुनि अब बात-बात में गुरु से ईर्ष्या करने लगा। प्रतिक्रमण करके अपने स्थान पर जाते समय गुरु के गुणों से रंजित होकर शासनदेवी ने सोचा—‘इस दत्तमुनि को अपने गुरु के अपमान का फल बताना चाहिए। अतः उसने वहाँ इतना घना अंधकार फैलाया कि दत्त को रास्ता न सूझने से वह व्यामूढ़ और व्याकुल होकर गुरु को पुकारने लगा। गुरु ने कहा—‘वत्स! यहाँ आ जाओ।’ तब उसने कहा—“गुरुजी! मैं वहाँ कैसे आऊँ? इस घने अंधेरे में मैं दरवाजा भी नहीं देख सकता।” तब गुरु ने अपनी अंगुली पर धूक लगाकर उसे ऊंची की। वह दीपक के समान जलती हुई दिखाई देती थी। यह देख दत्त ने विचार किया ‘गुरु अति सावध (अतिदोष वाला) दीपक भी रखते दिखते हैं।’ इसी तरह वह गुरु के अवगुण ही देखता रहा। उसका यह रवैया देख शासनदेवता ने कहा—“अरे दुरात्मन् पापी! तू गौतम जैसे अपने गुरु का भी अपमान करता है? पता है, गुरु की घोर आशातना करके तू कौन-सी दुर्गति में जायगा?” इस तरह अत्यंत कठोर शब्दों से उसे डाँटा, तब दत्तमुनि पश्चात्ताप करता हुआ गुरु के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध के लिए उनसे बार-बार क्षमायाचना की। आखिर पापकर्म की सम्यग् आलोचना कर वह सद्गति का अधिकारी बना।

दत्तमुनि के इस दृष्टांत से यही उपदेश फलित होता है कि शिष्य को गुरु महाराज की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए ॥९९॥ अब गुरुभक्ति के संबंध में ज्वलंत उदाहरण देकर समझाते हैं—

आयरियभक्तिरागो, कस्स सुनक्खत्तमहरिसिसरिसो ।

अयि जीवियं ववसियं, न चेव गुरुपरिभवो सहिओ ॥१००॥

शब्दार्थ - आचार्य 'गुरु' पर किसका भक्तिराग महर्षि सुनक्षत्र जैसा है, जिसने अपने प्राणों का त्याग कर दिया; मगर गुरु का पराभव सहन नहीं किया अतः सभी को ऐसा भक्तिराग अपनाना चाहिए ॥१००॥

इस संबंध में सुनक्षत्र मुनि का दृष्टांत इस प्रकार है—

श्री मुनक्षत्रमुनि का दृष्टांत

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी श्रावस्ती नगरी में पधारें। गोशालक भी उसी नगरी में आया। नगरी में यह अफवाह फैली कि 'आज नगर में दो सर्वज्ञ पधारें हैं। एक श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे मंखलीपुत्र गोशालक।' गौचरी के लिए गये हुए श्री गौतम स्वामी ने यह बात सुनी तो आते ही उन्होंने भगवान् से पूछा—“गुरुदेव! यह गोशालक कौन है? जिसकी मनुष्यों में सर्वज्ञ के नाम से चर्चा हो रही है।” भगवान् ने कहा—गौतम! सुनो, सरवण नाम के गाँव में मंख जाति का एक पुरुष रहता था। उसके भद्रा नाम की पत्नी थी। उसकी कुक्षि से इसका जन्म हुआ है। बहुतसी गायों के रखने वाले एक ब्राह्मण की गोशाला में जन्म होने से इसका नाम गोशालक रखा गया था। जब यह जवान हुआ, उस समय छद्मस्थावस्था में मेरा राजगृही चातुर्मास था। वह भी घूमता हुआ वहाँ आ पहुँचा। वहाँ मेरा चार महीने के उपवासों का पारणा खीर से हुआ। उसकी महिमा देख उसने विचार किया कि 'यदि मैं भी इनका शिष्य हो जाऊँ तो मुझे भी सदा मिष्टान्न खाने को मिलेगा। अतः मुझ से कुछ भी पहले परामर्श किये बिना 'मैं आपका शिष्य हूँ' कहकर यह मेरे साथ चल पड़ा। ६ वर्ष तक यह मेरे साथ रहा। एक समय किसी तापस को देखकर इसने उसकी मजाक उड़ाई 'यह तो जुओं का घर है।' ऐसा कहकर यह ठहाका मारकर हँसने लगा। इससे तापस ने क्रोधित होकर गोशालक पर तेजोलेश्या छोड़ी। मैंने उस पर फौरन शीतलेश्या छोड़ी, जिससे इसकी रक्षा हुई। तब इसने तेजोलेश्या उत्पन्न करने का उपाय पूछा। मैंने भी भवितव्यता जानकर इसे तेजोलेश्या की विधि बताई। अतः मुझसे अलग होकर छह महीने तक कष्ट सहकर उसने तेजोलेश्या की साधना की और अष्टांग निमित्त का भी किसी से ज्ञान प्राप्त किया। इस तरह से अब यह लोगों के सामने अपने आपको सर्वज्ञ बताता फिरता है; परंतु यह झूठा है। यह जिन नहीं है और न ही सर्वज्ञ है।

भगवान् की बात सुनकर त्रिक (तिराहे—जहाँ तीन मार्ग इकट्ठे होते हैं उस जगह) और राजमार्ग में सभी लोग चर्चा करने लगे 'यह गोशालक सर्वज्ञ नहीं है?' यह सर्व वृत्तांत किसी मूर्ख से गोशालक ने सुना तो वह क्रोध से आगबबूला हो उठा। उस समय आनंद नाम का एक साधु गौचरी के लिए जाता हुआ उसने देखा। उसे बुलाकर गोशालक ने कहा—'आनंद! मैं तुम्हें एक दृष्टांत सुनाता हूँ, सुनो! कई व्यापारी मिलकर अनेक प्रकार का माल गाड़ियों में भरकर धन कमाने

चलें। जब उन्होंने अटवी में प्रवेश किया तब उन्हें वहाँ बड़े जोर की प्यास लगी। पानी की खोज करते-करते एक जगह उन्होंने चार बांबियाँ देखी। उसमें से एक बांबी के शिखर को फोड़ा तो उसमें से गंगाजल जैसा निर्मल पानी निकला। सभी ने प्यास बुझाई और रास्ते के लिए जलपात्र भर लिये। जब दूसरा शिखर तोड़ने लगे तो साथ में चल रहे एक वृद्ध वणिक् ने कहा—‘भाईयों! हमारा काम हो गया है, अब दूसरी बांबी के शिखर को फोड़ने की आवश्यकता नहीं है।’ इसके बावजूद भी उन्होंने दूसरी बांबी फोड़ डाली। उसमें से बहुत-सा सोना मिला। वृद्ध के मना करने पर भी उन्होंने तीसरा शिखर फोड़ा। उसमें से बहुत से रत्न निकले। बूढ़े बनिये के रोकने की परवाह न करके उन्होंने चौथी बांबी भी फोड़ डाली। उसमें से एक अतिभयंकर दृष्टिविष सर्प निकला। उसने सूर्य के सामने देखा और उनके ऊपर दृष्टि फेंककर हितोपदेशक बूढ़े बनिये को छोड़कर सभी को मौत के घाट उतार दिया। इसीलिए हे आनंद! तुम्हारे धर्माचार्य को ऋद्धि प्राप्त होने पर भी संतोष नहीं है, वह मुझे से ईर्ष्या करता है। मैं अपने तप-तेज से उसे भस्म कर डालूंगा। परंतु उस वृद्ध वणिक् के समान हितोपदेशक समझकर मैं तेरी रक्षा करूँगा।” यह बात सुनकर आनंद भयभीत हुआ और भगवान् के पास जाकर उसने सारा वृत्तांत कहा। भगवान् बोले—“आनंद! तू शीघ्र ही गौतमादि मुनियों से जाकर कह कि वह गोशालक यहाँ आ रहा है; अतः उसके साथ कोई भी संभाषण न करो। और तुम सब यहाँ से इधर-उधर चले जाओ।” आनंद ने भगवान् की आज्ञानुसार वैसा ही किया।

इतने में गोशालक वहाँ आ धमका और भगवान् से कहने लगा—“अरे काश्यप! तुम मुझे अपना शिष्य बताते हो; लेकिन यह असत्य है। जो तुम्हारा शिष्य था वह तो मर चुका है। मैं तो और ही हूँ। मैं तो उसके शरीर को बलवान जानकर उसमें प्रविष्ट होकर रह रहा हूँ।” किन्तु गोशालक द्वारा किया जा रहा प्रभु का तिरस्कार न सह सकने से तथा गुरु-भक्तिवश सुनक्षत्र नाम के साधु ने गोशालक से कहा—‘अरे! तुम हमारे धर्माचार्य की निंदा क्यों करते हो? तुम वही गोशालक हो, दूसरे नहीं।’ यह सुनते ही गोशालक ने क्रोधित होकर तेजोलेश्या का प्रयोग करके सुनक्षत्रमुनि को भस्म कर दिया। वह समाधियुक्त मरकर आठवें देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ। उस समय सर्वानुभूति नाम का एक दूसरा साधु भी सर्व जीवों से क्षमायाचना करके अनशन ग्रहण कर गोशालक के सामने आया और बोला—‘जानते हो, हमारे धर्माचार्य की निंदा करने का क्या फल मिलेगा?’ दुष्ट गोशालक ने उसको भी जला दिया। वह मरकर बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुआ।

इसके पश्चात् भगवान् ने उससे कहा—‘गोशालक! तू वही गोशालक है, फिर क्यों अपने आपको छिपाता है? जैसे कोई चोर कोटवाल की नजर में आ जाने पर अपने आपको एक तिनके या अंगुली से छिपाने का प्रयत्न करे तो क्या वह छिप सकता है? इस तरह तू भी मुझ से सीखकर बहुश्रुत हुआ है, और मेरे ही सामने बकवास करता है।’ मगर प्रभु के इन हितकारी वचनों से शांत होने के बजाय गोशालक ओर उत्तेजित हो गया। और अपने परम-उपकारी प्रभु पर उस दुरात्मा ने तेजोलेश्या फेंकी। मगर वह तेजोलेश्या भगवान् के चारों ओर तीन बार प्रदक्षिणा देकर वापिस गोशाले के ही शरीर में जा घुसी। गोशालक भभककर बोला—“हे काश्यप! तुम आज से सातवें दिन मर जाओगे।” तब भगवान् ने कहा—“मैं तो सोलह वर्ष तक केवली अवस्था में इस भूमण्डल पर विचरण करूँगा। मगर तू तो आज से सातवें दिन असह्य वेदना सहकर इस दुनिया से चला जायगा।” गोशालक सीधा अपने स्थान पर आया। सातवें दिन गोशालक के उग्रपरिणाम शांत हो गये। इसलिए उसे सम्यक्त्व का स्पर्श हुआ, जिससे वह विचार करने लगा—“अहो! मैंने अत्यंत विरुद्ध आचरण किया है। मैंने श्रीजिनेश्वर भगवान् की आज्ञा का लोप किया। मैंने साधुओं का घात किया। इसके फलस्वरूप अगले जन्म में मेरी क्या गति होगी?” उसने तुरंत शिष्यों को अपने पास बुलाया। उनको खासतौर से कहा—“आयुष्यमंतो! मेरे मरने के बाद मेरे शब को पैर से बांधकर श्रावस्ती नगरी में चारों तरफ घूमना, क्योंकि मैंने जिन नहीं होते हुए भी ‘मैं जिन हूँ’ ऐसा संसार में प्रकट किया है।” इस तरह आत्म निंदा करता हुआ मरकर गोशालक बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुआ। शिष्यों ने गुरु की आज्ञा का पालन करने के लिए उपाश्रय के अंदर ही श्रावस्ती नगरी की स्थापना की और दरवाजे बंद करके शब के पैर पर रस्सी बांधकर उसे चारों तरफ घूमाया।

इस कथा का सारभूत उपदेश यह है कि *सुनक्षत्र मुनि* की तरह अन्य साधुओं को भी गुरुभक्ति में रत रहना चाहिए ॥१००॥

पुण्णेहिं चोड्या पुरक्खडेहिं, सिरिभायणं भविअसत्ता ।

गुरुमागमेसिभद्दा, देवयमिव पज्जुयासंति ॥१०१॥

शब्दार्थ - जो पूर्वकृत पुण्य से प्रेरित होता है, भविष्य में जिस भव्यजीव का शीघ्र कल्याण होने वाला होता है। वह सद्गुणों का निधान गुरुमहाराज की इष्टदेव की तरह सेवा करता है ॥१०१॥

बहु सोक्खसयसहस्साण, दायगा मोयगा दुहसहस्साणं ।

आयरिया फुडमेअं, केसि-पएसि य ते हेऊ ॥१०२॥

शब्दार्थ - यह बात स्पष्ट है कि धर्माचार्य अनेक प्रकार से शत-सहस्र सुखों के देने वाले और हजारों दुःखों से छुड़ाने वाले होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं। जैसे प्रदेशीराजा के लिए श्री केशीगणधर सुख के हेतु हुए ॥१०२॥

प्रसंगवश यहाँ दोनों की कथा दे रहे हैं—

केशीगणधर और प्रदेशी राजा की कथा

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कैंकयी नामक अर्द्ध देश में श्वेताम्बी नाम की नगरी थी। अधर्म शिरोमणि प्रदेशी वहाँ राजा था; जिसके हाथ हमेशा खून-से लिपटे रहते थे; परलोक और पुण्य-पाप के प्रति वह लापरवाह था। उसके चित्र सारथी नाम का प्रधान मंत्री था। एक दिन प्रदेशी राजा ने किसी आवश्यक कार्यवश उसे जितशत्रु राजा के पास श्रावस्ती नगरी भेजा। वहाँ उसने केशीकुमार श्रमण का उपदेश सुना। सुनकर अतीव प्रसन्न हुआ और श्रावकधर्म अंगीकार किया। उसने धर्म-स्नेह-वश अवसर देखकर केशीश्रमण से निवेदन किया—“स्वामिन्! मेरी प्रार्थना है कि आप एक बार श्वेताम्बी नगरी में पधारने की कृपा करें। इससे आपको लाभ ही होगा। वहाँ के अनेक भव्यजीवों को भी लाभ होगा। तब केशीगणधर ने कहा—‘देवानुप्रिय! वहाँ का राजा अतिदुष्ट है, इसीलिए वहाँ हम कैसे आ सकेंगे?’ चित्रसारथी ने कहा—‘राजा दुष्ट है तो क्या हुआ? वहाँ और भी बहुत-से भव्यजीव रहते हैं।’ तब केशीगणधर ने कहा—‘जैसा अवसर होगा, वैसा देखेंगे।’ चित्र सारथी राजा का कार्य निपटाकर प्रसन्न होकर वापिस श्वेताम्बी आया।

कुछ समय के बाद केशीगणधर भी बहुत से मुनियों-सहित श्वेताम्बी नगरी पधारें और नगरी के बाहर मृगवन नाम के उपवन में बिराजे। चित्रसारथी ने उनका आगमन सुना तो अतिप्रसन्न हुआ। मन में विचार करने लगा—‘मैं राज्य का हितचिंतक हूँ; दुर्बुद्धि और पापी बना हुआ मेरा राजा नरक में न जाय, ऐसा उपाय करना चाहिए। इसीलिए उसे किसी भी युक्ति से मुनि के पास ले जाऊँ।’ अतः चित्र सारथी प्रधान अश्वक्रीड़ा दिखाने के बहाने राजा को नगर के बाहर ले गया। अतिश्रम से थक जाने के कारण राजा ने मृगवन में चलने का प्रधान से कहा। श्री केशीगणधर उसी मृगवन में बिराजमान थे, और वे उस समय बहुत से लोगों को उपदेश दे रहे थे। उन्हें देखकर राजा ने चित्रसारथी से पूछा—‘यह सिरमुंडा, मूढ़, जड़ और अज्ञानी इन लोगों के सामने क्या बोल रहा है?’ चित्रसारथी ने कहा—‘मैं नहीं जानता। यदि आपकी इच्छा हो तो चलें, वहाँ जाकर सुने।’ ऐसा कहने पर राजा चित्रसारथी के साथ वहाँ गया और वंदनादि रूप में विनय किये बिना ही

केशीश्रमण से पूछा—“आपकी अनुमति हो तो यहाँ बैठूँ?” गुरुमहाराज ने कहा—‘यह तुम्हारी भूमि है, अतः जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो।’ यह सुनकर राजा उनके सामने बैठा। उसे बैठा देखकर आचार्य श्री ने जीवादि के स्वरूप का विशेष रूप से वर्णन किया। उसे सुनकर राजा ने ताव में आकर कहा—‘यह सारी उटपटांग बातें हैं। जो वस्तु प्रत्यक्ष दीखाई दे, वही सत्य है, जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु प्रत्यक्ष दीखते हैं, वैसे यह आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखता; इसलिए आकाश पुष्प के समान अविद्यमान आत्मा का अस्तित्व कैसे माना जा सकता है?’ तब केशीगणधर ने कहा—“राजन्! जो वस्तु तुम्हारी नजर से नहीं दीखती, क्या वह दूसरे को भी दृष्टिगोचर नहीं होती? अतः तुम जो कहते हो कि मैं नहीं देखता, वह सब असत्य है, यह मिथ्याकथन है; क्योंकि सभी ने देखा हो और एक ने नहीं देखा हो, वह असत्य नहीं होता और यदि तुम कहो कि उसे सभी देख नहीं सकते तो क्या तुम सर्वज्ञ हो गये? सभी उसे देख नहीं सकते, यह बात तो सर्वज्ञ ही कह सकता है! जो सर्वज्ञ होता है, वह तो जीव को प्रत्यक्ष देखता है। लेकिन तुम तेरे शरीर के अग्रभाग को देख सकते हो, पिछले भाग को नहीं। फिर आत्मा का स्वरूप अरूपी है तो उसे तुम कैसे देख सकते हो? इसीलिए आत्मा के अस्तित्व और परलोक के अस्तित्व को मानो और धर्माचरण करो।” तब प्रदेशी राजा ने कहा—“स्वामिन्! मेरा पितामह अत्यंत पापी था, तो आपके मतानुसार वह नरक में जाना चाहिए। मैं उसे अतिप्रिय था, परंतु उसने वहाँ से आकर मुझे कभी नहीं कहा कि पाप मत करना, पाप करेगा तो नरक में जाना पड़ेगा। तब मैं आत्मा के अस्तित्व को कैसे मानूँ?” केशीगणधर ने इसके उत्तर में कहा—‘तुम्हारी रानी सूरिकांता के साथ यदि किसी परपुरुष को विषयसेवन करते हुए देख लो तो तुम क्या करोगे?’ राजा ने कहा “मैं एक ही प्रहार में उसके दो टुकड़े करके खत्म कर डालूँ। उसे क्षणभर के लिए अपने परिवार से मिलने के लिए घर भी नहीं जाने दूँ।” गुरु ने कहा—“बस, इसी तरह नरक में गया हुआ वह जीव भी कर्मों से बंधा हुआ है, इसीलिए यहाँ नहीं आ सकता।” फिर राजा ने पूछा—“अति-धर्मिष्ठ मेरी माता तुम्हारे मत के अनुसार स्वर्ग में गयी होगी। उसने भी आकर मुझे नहीं कहा कि ‘वत्स! पुण्य करना। पुण्य से स्वर्ग मिलता है।’ तो मैं आत्मा के अस्तित्व को कैसे सच मानूँ?” तब केशीगणधर ने कहा—“राजन्! तुम सुंदर वस्त्र पहनकर और चंदन आदि शरीर पर लेप करके स्त्री के साथ महल में क्रीड़ा कर रहे हो, उस समय यदि कोई चाण्डाल तुम्हें अपवित्र भूमि पर बुलाये तो क्या तुम वहाँ जाना पसंद करोगे?” राजा ने कहा—“ऐसे समय मैं कदापि नहीं जाऊँगा।” गुरुमहाराज

ने कहा—'उसी तरह देव भी अपना ऐश्वर्य, भोगविलास आदि छोड़कर दुर्गन्धमरे इस मृत्युलोक में नहीं आते।' कहा भी है—

चत्तारि-पंच-जोयणसयाइं, गंधो अ मणुअलोगस्स ।

उड्ढं वच्चइ जेणं, न हु देवा तेण आवंति ॥९४॥

अर्थात् - इस मनुष्य लोक की दुर्गन्ध चार-पाँच सौ योजन ऊपर तक पहुँचती है, इसीलिए देवता यहाँ नहीं आते ॥९४॥

राजा ने फिर प्रश्न उठाया—“स्वामिन्! एक बार मैंने एक चोर को जिंदा पकड़ा और उसे एक लोहे की कोठी में डालकर उस पर ढक्कन लगा दिया। कुछ समय बाद जब वह ढक्कन खोला तो मैंने चोर को मरा हुआ पाया। उसकी लाश में बहुत से जीव उत्पन्न हो गये थे। परंतु उस कोठी में न कोई छिद्र हुआ और न कोई जीव ही निकलता दिखाई दिया। अन्य जीवों को कोठी में घुसने के लिए छिद्र चाहिए, वह भी मैंने नहीं देखा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है।” केशीगणधर ने उत्तर दिया—‘किसी मनुष्य को तलघर में रख दिया जाय और उसके सभी दरवाजे अच्छी तरह बंद कर दिये जाय। उसके बाद तलघर में रहा हुआ मनुष्य जोर से शंख अथवा भेरी बजाएँ तो क्या उसकी आवाज बाहर सुनाई देती है? राजा—‘हाँ स्वामिन्! सुनाई देती है।’ केशीश्रमण—‘जब रूपी आवाज (शब्द) के बाहर जाने से दीवार में छिद्र नहीं होता तो फिर अरूपी आत्मा के बाहर निकलने से छिद्र कैसे हो जायगा?’ प्रदेशी राजा ने फिर शंका की—“स्वामिन्! मैंने एक चोर के शरीर के टुकड़े-टुकड़े किये, उसके प्रत्येक जर्रे-जर्रे को देखा परंतु उसमें कहीं आत्मा नजर नहीं आयी।” केशीगणधर ने कहा—“राजन्! तुम भी उस लकड़हारे के समान मूर्ख मालूम होते हो! कुछ लकड़हारे मिलकर एक जंगल में लकड़ियाँ काट कर लाने गये।” जैसे उनमें से एक लकड़हारे ने कहा—‘यह अग्नि है; जब रसोई का समय हो तब इसे जलाकर रसोई करना। यदि आग बुझ जाय तो इस अरणि की लकड़ी में से आग उत्पन्न कर लेना।’ यों कहकर वह और दूसरे सब लकड़हारे इधर उधर चले गये। दुर्भाग्य से आग बुझ गयी। उस मूर्ख लकड़हारे ने अरणि की लकड़ी लाकर उसे चूरा-चूरा कर दिया, मगर अग्नि उत्पन्न नहीं हुई। इतने में तो दूसरे लकड़हारे भी वहाँ आ पहुँचे। उसकी मूर्खता देखकर बुद्धिमान लकड़हारा दूसरी अरणि की लकड़ी लाया और उसे रगड़कर उसमें से आग पैदा की और रसोई बनाकर सबको भोजन खिलाया। जैसे लकड़ी के अंदर रही हुई अग्नि युक्ति से ही पैदा की जाती है, वैसे ही शरीर में रही हुई आत्मा को भी युक्ति से दृष्टिगोचर किया जा सकता है।

यह सुनकर राजा ने कहा—“स्वामिन्! मैंने एक चोर का वजन करके उसका श्वास रोककर उसे मार डाला। फिर उसे तोला तो उतना ही वजन निकला! तब मैंने जाना कि आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। यदि उसमें आत्मा होती तो उसके निकलने पर वजन कम हो जाना चाहिए था, लेकिन वैसा न हुआ।

केशीगणधर ने जबाब दिया—“राजन्! यदि कोई व्यक्ति चमड़े की एक मशक लेकर तोलकर उसमें ठसाठस हवा भर दे तो क्या उसका वजन बढ़ जायगा? नहीं, उसका वजन उतना ही रहेगा। इसी प्रकार आत्मा के संबंध में समझना चाहिए। जब रूपी द्रव्य का हवा भरने पर वजन बढ़ता नहीं तो अरूपी द्रव्य-आत्मा का वजन कैसे बढ़-घट जायगा? सूक्ष्मरूपी द्रव्यों की जब यह विचित्र हालत है, तो अरूपी द्रव्य की विचित्र हालत हो उसमें कहना ही क्या? इसीलिए इस बात में तुम्हारी शंका निर्मूल है। हम आत्मा को अनुभव प्रमाण से जान सकते हैं और केवलज्ञानी प्रत्यक्ष प्रमाण से। ‘मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ’ इस प्रकार का ज्ञान क्या शरीर को होता है? इस प्रकार ज्ञान करने वाला आत्मा ही होता है। इसीलिए आत्मा अनुभव से सिद्ध है। जैसे तिलों में तेल, दूध में घी और काष्ठ में अग्नि रहती है, लेकिन इन चमड़े की आँखों से ये वस्तुयें नहीं दिखाई देती, उसी प्रकार शरीर में आत्मा का निवास चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देता।”

ये और इस प्रकार की अनेक युक्तियों, प्रमाणों और अकाट्य तर्कों से श्रीकेशीश्रमण गणधर ने प्रदेशी राजा को उत्तर दिया; जिससे उसकी शंकाओं का यथार्थ समाधान हो गया। राजा ने प्रसन्न होकर विनय पूर्वक नमस्कार करके श्री केशीगणधर से कहा—“भगवन्! आपकी बात सत्य है, आपके ज्ञान को धन्य है। आपके उपदेशमन्त्र से मेरे हृदय में स्थित मिथ्यात्व पिशाच तो भाग गया है; मगर कुलपरम्परा से प्राप्त इस नास्तिक धर्म को सहसा कैसे छोड़ूँ? यही विचार बार-बार आ रहा है।” श्री केशीगणधर ने कहा—“राजन्! तुम भी उस लोहवणिक् की तरह अपनी मूर्खता प्रदर्शित कर रहे हो। कुछ वणिक् मिलकर व्यापार करने के लिए परदेश रवाना हुए। रास्ते में उन्होंने एक जगह लोहे की खान देखी। उन्होंने लोह से गाड़ियाँ भर दी। आगे जाने पर उनको एक ताँबे की खान मिली। तब एक वणिक् को छोड़कर सबने अपनी गाड़ियों से लोहा उतारकर उनमें ताँबा भर लिया। कुछ दूर जाने पर उन्हें चांदी की खान दिखाई दी। एक को छोड़कर सब ने अपनी-अपनी गाड़ी में चांदी भर ली, ताँबा वहीं छोड़ दिया। उस लोहवणिक् को उन्होंने लोहा वहीं छोड़कर चांदी भर लेने के लिए बहुतेरा समझाया। पर वह अपनी जिद्द पर अड़ा रहा। आगे चलने पर उन्हें सोने की खान मिली। और सबने चांदी

खाली करके अपनी गाड़ियों में सोना भर लिया, पर उस लोहवणिक् ने लोहा ही भर रखा। इसके पश्चात् कुछ दूर चले होंगे कि उन्हें जगमगाती हुई रत्नों की खान दिखाई दी। उसके सिवाय सबने सोना वहीं छोड़ दिया और अपनी-अपनी गाड़ियों में रत्न भर लिये। उन्होंने लोहवणिक् से कहा—“अरे भले आदमी! इन अमूल्य रत्नों को छोड़कर तू लोहा क्यों भरे हुए है। लोहा यहीं छोड़ दे, और बदले में रत्न भर लो” पर वह न माना सो न माना। उल्टे उसने उन साथियों को फटकारा—“तुम लोगों में स्थिरता नहीं है। एक को छोड़कर दूसरे को और दूसरे को छोड़कर तीसरे को लेते जाते हो। मैं तुम्हारी तरह अस्थिर दिमाग का नहीं हूँ। मैंने जो ले लिया सो ले लिया, अब उसे छोड़ नहीं सकता।” आखिर वे सब लोग अपने-अपने घर पहुँचे। जिनके पास रत्न थे, वे उन्हें बेचकर मालामाल हो गये और आनंद से जिंदगी बिताने लगे। परंतु वह लोहवणिक् लोहे के दाम ज्यादा न मिलने के कारण मन ही मन बड़ा दुःखी हुआ। वह पश्चात्ताप करने लगा—‘हाय! मैंने उस समय साथियों का कहना न माना, लोहे को न छोड़ने की जिद्द पर अड़ा रहा। अब क्या हो?’ राजन्! जैसे उस लोहवणिक् को चिरकाल तक पछतावा करना पड़ा, वैसे ही तुम्हें भी पश्चात्ताप करना पड़ेगा। क्या बुद्धिमान पुरुष कुलपरम्परागत रोग, दरिद्रता या दुःख को पकड़े रहता है, छोड़ता नहीं? इस प्रकार तुम्हें भी कुल-परम्परागत इस पाप को अहितकर समझकर छोड़ देना चाहिए। यदि कुलपरम्परागत सभी चीजें धर्म ही होती तो जगत् में अधर्म का नामोनिशान भी न मिलता। कहा भी है—

दारिद्र्य-दास्य-दुर्नय-दुर्भगता-दुःखितादि-पितृचरितम् ।

नैव त्याज्यं तनयैः स्वकुलाचारैककथितनयैः ॥९५॥

“यदि ऐसा नियम हो कि कुलपरम्परागत बातें कभी नहीं छोड़नी चाहिए; तब तो अपनी कुलाचार-परायणता की नीति के अनुसार पुत्रों को अपने पिता-पितामह आदि द्वारा अनुभूत दरिद्रता, दासता, दुर्नीति, दुर्भाग्य और दुःख आदि को कभी नहीं छोड़ना चाहिए।” ॥९५॥

परंतु ऐसा कहीं होता नहीं। इसीलिए राजन्! कुलपरम्परागत सभी बातें धर्म नहीं होती, न किसी कुल के पूर्वजों द्वारा आचरित चोरी, जारी, हत्या आदि पाप धर्म हो सकते हैं। अतः ऐसे पापमिश्रित कुलाचार का छोड़ना और जीवरक्षादि धर्ममिश्रित आचार को ग्रहण करना ही विवेकी पुरुषों का कर्तव्य है।

श्री केशीश्रमण के इस उपदेश से राजा प्रदेशी बड़ा प्रभावित हुआ,

उसकी अन्तरात्मा प्रतिबुद्ध हो उठी। उसने विनय पूर्वक उद्गार निकाले—“भगवन्! आपका कथन बिलकुल सत्य है, तथ्य, तत्त्वरूप और वास्तविक है। इसके विपरीत बातें चाहे वे परम्पराचरित हो, तो भी अनर्थकर हैं। अतः मेरी इच्छा है कि मैं आपसे सम्यक्त्वसहित श्रावक के १२ व्रत अंगीकार कर वास्तविक धर्म का आचरण करूँ” केशीगणधर ने राजा प्रदेशी को सम्यक्त्वपूर्वक बारहव्रतों का स्वरूप समझाकर अंगीकार कराएँ। जिस समय राजा प्रदेशी मुनिवर से मंगलपाठ सुनकर विदा होने लगा; उस समय उन्होंने कहा—‘राजन्! अब तुम रमणीक (रम्यजीवनवाले) होकर जा रहे हो, लेकिन देखना, बाद में कभी अरमणीक (अरम्य जीवनवाले) न बन जाना (‘मा णं तुमं पएसी पुत्वि रमणिज्जे भविता पच्छा अरमणिज्जो भविज्जासि’—राजप्रश्रीय सूत्र) इस समय तुम जैनधर्म की प्राप्ति होने से दाता के बदले अदाता (कृपण) न बनना; क्योंकि अदाता बनने पर अन्तरायकर्म का बंध तो होगा ही; साथ ही जिनधर्म की भी निन्दा होगी, चिरकाल से प्रचलित दान धर्म को सहसा बंद कर देने में तुम लोकविरुद्धता और निन्दा आदि दोषों के भागी भी बनोगें। उन लोगों को पात्र बुद्धि से दान न देना परंतु औचित्यादि दान का कहीं पर भी निषेध नहीं किया है। इसीलिए यथायोग्य समझकर परम्परा से प्रचलित दान अवश्य चालू रखना। तुम्हें सिर्फ मिथ्यात्व और अधर्म को छोड़ना है, उत्तम दया, दान आदि धर्म का आचरण निरंतर करते रहना है।’ प्रदेशी राजा के हृदय में मुनिवर की बातें जम गयीं। उसने अपने राजद्वार पहुँचते ही सर्वप्रथम अपनी सारी आय के चार हिस्से किये। एक हिस्सा अपने गृहकार्यों में खर्च के लिए, एक हिस्सा राज्यकार्य चलाने के लिए भंडार के लिए, एक सेना के निर्वाह के लिए और एक हिस्सा दान आदि धर्म-कार्यों में खर्च करने के लिए नियत कर दिया।

प्रदेशी राजा को श्रावकधर्म का पालन करते हुये काफी समय व्यतीत हो गया। एक दिन राजा प्रदेशी पौषधोपवास के पारणे भोजन करने आया। उस समय परपुरुष में आसक्त पटरानी सूरिकान्ता ने पहले से विष मिलाकर रखा हुआ भोजन उसे परोस दिया। राजा को एक-दो कौर लेते ही जहर का पता लग गया। लेकिन रानी पर किञ्चित् भी क्रोध किये बिना शांतभाव से भोजन कर लिया। भोजन करके वे सीधे पौषधशाला में आये और दर्भासन बिछाकर ईशानकोण की ओर मुंह करके बैठे और अपने धर्मगुरु श्री केशीगणधर को वंदनाकर पहले अपने स्वीकृत व्रतों में लगे अतिचारों की सम्यक् प्रकार से आलोचना-निन्दना की, और फिर प्रतिक्रमण करके ८४ लाख जीवयोनि से क्षमायाचना की और १८ पापस्थानक एवं चारों प्रकार के आहार का त्याग करके, हिंसा आदि का सर्वथा त्याग किया, इस प्रकार अनशन

करके समाधिपूर्वक इस शरीर को छोड़ा। यहाँ से आयुष्य पूर्ण करके प्रदेशी राजा सूर्याभ नामक विमान में चार पत्योपम आयुष्य वाला सूर्याभ नामक देव बना। वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष पहुँचेगा।

इस कथा का सारांश यह है कि नरक में पहुँचने का सामान इकट्ठे किये हुए अत्यन्त पापिष्ठ प्रदेशी राजा ने केशी गणधर के प्रताप से देवलोक प्राप्त किया। इसीलिए दुःख का निवारण और सुख की प्राप्ति कराने वाले उपकारी धर्मचार्य की यत्नपूर्वक सेवा करनी चाहिए ॥१०२॥

इसी बात को ग्रन्थकार आगे की गाथा में बता रहे हैं—

नरयगङ्गमण-पडिहत्थाए कए तह पएसिणा रण्ण ।

अमरविमाणं पत्तं, तं आयरियप्पमावेणं ॥१०३॥

शब्दार्थ - नरकगति में गमन करने के लिए उद्यत प्रदेशीराजा को आचार्य (केशीश्रमण) के प्रताप से देव विमान प्राप्त हुआ। सचमुच, आचार्य-(गुरु) सेवा महान् फलदात्री होती है ॥१०३॥

धम्ममङ्गएहिं अइसुंदरेहिं, कारणगुणोवणीएहिं ।

पल्हायंतो य मणं, सीसं चोएइ आयरिओ ॥१०४॥

शब्दार्थ - आचार्य भगवान् अतिसुंदर (निर्दोष) धर्ममय कारणों, (हेतुओं) युक्तियों और दृष्टान्तों से शिष्य के मन को आनंदित करते हुए उसे प्रेरणा देते हैं और संयम (धर्म) मार्ग में स्थिर करते हैं ॥१०४॥

जीअं काऊण पणं, तुरमिणिदत्तस्स कालिअज्जेण ।

अवि य सरीरं चत्तं, न य भणियमहम्मसंजुत्तं ॥१०५॥

शब्दार्थ - तुरमणि नगर में कालिकाचार्य से दत्त राजा ने पूछा तो उन्होंने अपने शरीर के त्याग की परवाह न करके भी असत्य अधर्मयुक्त वचन नहीं कहा ॥१०५॥

भावार्थ - दत्तराजा ने जब कालिकाचार्य से यज्ञ का फल पूछा तो अपने शरीर (प्राण) की ममता छोड़कर निर्भयता पूर्वक स्पष्ट कहा—‘ऐसे हिंसामय यज्ञ का फल तो नरकगति ही है,’ मगर राजा के लिहाज में आकर धर्मविरुद्ध असत्य उत्तर न दिया। इसी प्रकार मुनियों को भी धर्म संकट आ पड़ने पर भी धर्मविरुद्ध वचन नहीं कहना चाहिए।

इस विषय में प्रसंगवश कालिकाचार्य की कथा दी जा रही है—

श्री कालिकाचार्य की कथा

तुरमणि नाम के नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसी नगर में कालिक नाम का एक विप्र रहता था। उस ब्राह्मण के भद्रा नाम की एक बहन थी और दत्त नाम का पुत्र था। एक समय कालिक ब्राह्मण ने अपने आप प्रतिबुद्ध होकर चारित्र ग्रहण किया। और शास्त्रों का अध्ययन, तप आदि करके वे आचार्य बनें। उनका भानजा दत्त निरंकुश होने से स्वच्छंदी बन गया, वह द्यूत आदि दुर्व्यसनों में पड़कर दुःखी हो गया। अंततः वह राजा की सेवा में रहने लगा। कर्मयोग से राजा ने उसे मंत्री बना दिया। अधिकार पाकर चालाकी से उसने राजा को पदभ्रष्ट करके स्वयं राजग्रहण कर लिया। राजा भी उसके भय से कहीं भाग गया और गुप्तरूप से किसी स्थान में रहने लगा। महाकूरकर्मा दत्त राजा मिथ्यात्व से मोहित होकर अनेक प्रकार के यज्ञ करने लगा, और उनमें अनेक पशुओं की हत्या करने लगा। उसी दौरान वहाँ श्रीकालिकाचार्य महाराज पधारे। भद्रा माता के आग्रह से दत्तराजा भी उन्हें वंदन करने गया। गुरु महाराज ने उपदेश दिया।

धर्माद्धनं धनत एव समस्त कामाः, कामेभ्य एव सकलेन्द्रियजं सुखं च ।
कार्यार्थिनाहि खलु कारणमेषणीयं, धर्मो विधेय इति तत्त्वविदो वदन्ति ॥९६॥

‘धर्म से धन मिलता है, धन से समस्त कामनाएँ सिद्ध होती हैं और कामनाओं की सिद्धि से सारे इन्द्रियजन्य सुख मिलते हैं। इसीलिए कार्यार्थी को तो उसका कारण अवश्य खोजना चाहिए। इन सबका परंपरा से कारण धर्म है। इसीलिए तत्त्वज्ञ कहते हैं—‘धर्माचरण करो।’ ॥९६॥

उपदेश सुनने के बाद दत्तराजा ने यज्ञ का फल पूछा। गुरु ने कहा—‘जहाँ हिंसा हो, वहाँ धर्म नहीं हो सकता,’ कहा है—

दमो देव-गुरुपास्तिदानमध्ययनं तपः । सर्वमप्येतदफलं हिंसां चेन्न परित्यजेत् ॥९७॥

‘यदि हिंसा का त्याग न किया जाय तो इन्द्रियों का दमन, देवगुरु की सेवा, दान, अध्ययन और तप, ये सब व्यर्थ हैं।’ ॥९७॥

दत्त ने फिर यज्ञ का फल पूछा, तो गुरु ने कहा—‘हिंसा दुर्गति का कारण है।’ कहा भी है—

पंगु-कुष्टि-कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः ।

निराश्रयसजन्तूनां हिंसां सङ्कल्पतस्त्यजेत् ॥९८॥

लंगडा होना, कुष्ठ रोगी होना, या कुबड़ा आदि होना हिंसा का ही फल है, ऐसा जानकर बुद्धिमान पुरुष निरपराधी त्रस जीवों की संकल्प से भी हिंसा का त्याग करें ॥९८॥

तब दत्तराजा ने झुंझलाकर कहा—‘तुम ऐसा टेढ़ामेढ़ा, गोलमाल उत्तर क्यों देते हो? यज्ञ का फल जैसा हो वैसा साफसाफ (सत्य) कहो।’ तब कालिकाचार्य ने विचार किया कि ‘यद्यपि यह राजा है और यज्ञ में इसकी गाढ़ प्रीति है। जो होना होगा वही होगा, मैं कदापि मिथ्या नहीं बोलूंगा। प्राणांत कष्ट आने पर भी असत्य बोलना कल्याणकारी नहीं है। नीतिज्ञों का कथन है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥१९॥

“नीति निपुण मनुष्य चाहे निन्दा करे अथवा स्तुति; लक्ष्मी की प्राप्ति हो अथवा अपनी इच्छा से चली जाय; मृत्यु आज ही हो, अथवा युग के अंत में हो, परंतु धीर पुरुष न्याय युक्त मार्ग से एक कदम भी विचलित नहीं होता।” ॥१९॥

इस तरह मन में निश्चय करके कालिकाचार्य ने कहा—हे दत्त! मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि ‘यज्ञ का फल नरकगति है।’ कहा भी है—

यूपं छित्त्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्मम् ।

यद्येवं गम्यते स्वर्गं, नरके केन गम्यते ॥१००॥

अर्थात् - यज्ञ-स्तम्भ को छेदनकर, पशुओं को मारकर और उनके खून का कीचड़ बहाकर यदि स्वर्ग जाया जा सकता है तो फिर नरक में कौन जायेगा? ॥१९॥

दत्त ने पूछा—‘यह बात कैसे जानी जा सकती है?’ गुरुमहाराज ने उत्तर में कहा—“आज से सातवें दिन घोड़े के पैर के नीचे दबने से विष्टा उछलकर तुम्हारे मुख में पड़ेगी और बाद में तुम लोहे की कोठी में डाले जाओगे। इस अनुमान से तुम्हारी गति अवश्यमेव नरक है। ऐसा मुझे दिखता है।” दत्त ने पूछा—“तुम्हारी कौन-सी गति होगी?” गुरु ने कहा—“मैं धर्म के प्रभाव से स्वर्ग में जाऊंगा।” यह सुनकर दत्त ने क्रोधित होकर सोचा—“यदि सातवें दिन तक यह बात प्रमाणित नहीं हुई तो मैं अवश्य इसको मार डालूंगा।” अतः कालिकाचार्य के आसपास राजसेवकों को नियुक्त करके राजा स्वयं नगर में गया और संपूर्ण नगर के सभी रास्तों में पड़ी हुई गंदगी साफ करवाकर सभी स्थानों पर फूल बिछवा दिये और स्वयं अन्तःपुर में ही बैठा रहा। इस तरह छह दिन व्यतीत हो गये और सातवें दिन को भ्रान्ति से आठवां दिन मानकर क्रुद्ध होकर घोड़े पर सवार होकर दत्त राजा गुरु को मारने चला। इतने में किसी वृद्ध माली को टट्टी की जोर की हाजत हो जाने से रास्ते में ही शौच बैठकर उस पर उसने फूल ढांके और चला गया। सहसा राजा के घोड़े का पैर उस पर टिकने से विष्टा एकदम उछली और

राजा के मुंह में पड़ी। इससे गुरु के वचन पर विश्वास आने से राजा वापस आया। दत्तराजा को अकेला जानकर जितशत्रु राजा के सेवकों ने गिरफ्तार कर लिया और जितशत्रु को राजगद्दी पर बैठाया। नये राजा ने विचार किया—‘यदि यह जीता रहा तो दुःखदायी बनेगा।’ अतः उसे एक लोहे की कोठी में डलवा दिया; जहाँ दत्त बहुत दिनों तक विलाप करता-करता दुःख पाता हुआ मर गया। मरकर वह सातवीं नरकभूमि में गया। श्री कालिकाचार्य चारित्राश्रयना करके देवलोक में पहुँचे।

इसी तरह अन्य साधुओं को प्राणांत कष्ट आ पड़ने पर भी असत्य नहीं बोलना चाहिए, यही इस कथा का सार है ॥१०५॥

फुडपागडमकहंतो जहद्विअं बोहिलाभमुवहणइ ।

जह भगवओ विसालो, जर-मरण-महोदही आसि ॥१०६॥

शब्दार्थ - स्पष्टरूप से यथार्थ सत्य नहीं कहने पर साधक आगामी जन्म में बोधिलाभ (धर्मप्राप्ति) का नाश कर देता है। जैसे वैशालिक भगवान् महावीर ने मरीचि के भव में यथास्थित सत्य नहीं कहा, जिसके कारण उनके लिए जरा-जन्मों का महासमुद्र तैयार हो गया। यानी कोटाकोटी सागरोपमकाल तक संसार (जन्म मरण रूप) की वृद्धि हुई ॥१०६॥ श्रीमहावीर स्वामी के सम्बन्ध में पूर्वजन्मों की वह घटना दे रहे हैं—

श्री महावीर स्वामी के पूर्वजन्म की कथा

प्रथम (सम्यक्त्वप्राप्ति के भव में) पश्चिम महाविदेह में भगवान् महावीर का जीव नयसार के रूप में था। किसी ग्रामाधीश के अधीन नयसार वन का अधिकारी था। एक दिन वह जंगल में लकड़ियाँ कटवाने के लिए गया था। दोपहर होने तक सबका भोजन तैयार हो चुका। संयोगवश एक साधु रास्ता भूल जाने से भटकते-भटकते वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर नयसार को बड़ी खुशी हुई। उन्हें भक्तिपूर्वक अपने डेरे पर लाकर श्रद्धापूर्वक आहार-पानी दिया। और मुनि के आहार हो जाने के बाद उन्हें रास्ता बताने के लिए साथ-साथ चल पड़ा। मुनि ने नयसार को भावुक और योग्य जानकर उपदेश दिया, जिससे उसे सच्चा बोध (सम्यक्त्व) प्राप्त हो गया। मुनि को मार्ग बताकर नमस्कार करके वह घर आया। मुनि के द्वारा बताये हुए महामंत्र का जाप रोजाना करने लगा। अंतिम समय में इसी मंत्र के प्रभाव से वह आयुष्य पूर्ण कर दूसरे भव में सौधर्म देवलोक में पल्योपम की आयु वाला देव हुआ।

वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर तीसरे भव में भरत-चक्रवर्ती के पुत्र मरिचि के

रूप में उत्पन्न हुआ। यौवनवय में भगवान् ऋषभदेव का उपदेश सुनकर उसे वैराग्य हो गया। अतः सांसारिक सुखभोग का त्याग करके स्थविर मुनि से उसने मुनि-दीक्षा ग्रहण की। ११ अंगों का अध्ययन किया। एक दिन ग्रीष्मकाल के भयंकर ताप को न सह सकने के कारण मरिचि सोचने लगा—“आह! यह साधुधर्म तो अत्यंत कष्टदायक है। मुझसे इसका पालन होना दुष्कर है। किंतु मुनिवेष का त्याग करके घर जाना भी ठीक नहीं है।” उसे एक युक्ति सुझी। उसने अपनी कल्पना से त्रिदंडी का अनोखा वेष अपना लिया। यदि कोई उससे पूछता कि ‘तुम्हारा धर्म कौनसा है?’ तो वह साधु धर्म की व्याख्या करता और यदि कोई उसके उपदेश से प्रतिबोधित होता हो तो उसे भगवान् ऋषभदेव का शिष्य बनाता। इस तरह उसने अनेक राजपुत्रों को प्रतिबोधित किया। इस प्रकार मरिचि ऋषभदेव स्वामी के साथ-साथ विचरण करता था। एक बार, विहार करते-करते भगवान् अयोध्या पधारे। वहाँ उनका समवसरण लगा। भरत चक्रवर्ती को मालूम हुआ तो वह भी उन्हें वंदना करने के लिए आया। भगवान् के प्रवचन सुनने के बाद भरत ने उनसे पूछा—“स्वामिन्! क्या इस धर्म-सभा में कोई भावी तीर्थंकर की आत्मा है?” भगवान् ने कहा—“भरत! तुम्हारा गृहस्थ-पक्ष का पुत्र मरिचि, जो इस समय त्रिदंडी संन्यासी के वेष में है, वर्तमान अवसर्पिणीकाल में अंतिम (चौबीसवां) तीर्थंकर वर्धमान होगा। महाविदेहक्षेत्र में मूकानगरी में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती होगा और इस भरतक्षेत्र में पहला त्रिपृष्ठ नामक वासुदेव होगा। यह पहले दो पदों का उपभोगकर बाद में अंतिम तीर्थंकर होगा।” यह सुनते ही भरत अत्यंत हर्षविश में मरिचि के पास पहुँचे और उसे तीन बार प्रदक्षिणा पूर्वक नमस्कार करके कहा—“मरिचि! संसार के सर्वोत्कृष्ट लाभ आपने प्राप्त किये हैं। क्योंकि मैंने भगवान् के श्रीमुख से सुना है कि अंतिम तीर्थंकर, चक्रवर्ती और प्रथम वासुदेव होंगे, मैं आपको इस वेष के कारण या आप वासुदेव चक्रवर्ती बनोगे इसलिए वंदन नहीं करता। परंतु आप भविष्य में अंतिम तीर्थंकर बनोगे इस दृष्टि से मैं वंदना करता हूँ। धन्य है आपको।” इस प्रकार मरिचि की प्रशंसा करके भरत अपने स्थान पर लौटे। मरिचि ने अपने भावी उत्कर्ष की बातें सुन हर्षविश में आकर तीन बार जोर से पैर पछाड़े और नाचता हुआ कहने लगा—“मेरे से बढ़कर कौन भाग्यशाली होगा! मेरे दादा प्रथम तीर्थंकर, मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती और मैं मूकानगरी में चक्रवर्ती, प्रथम वासुदेव और अंतिम तीर्थंकर बनूंगा। इस प्रकार मुझे तीन पद मिलेंगे। मेरा कुल ही सर्वोत्तम है।” इस प्रकार बार-बार कुल का मद (गर्व) करने से मरिचि ने नीचगोत्र कर्म बांध लिया।

भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के बाद^१ मरिचि उनके साधुओं के साथ विचरण करता था। एक दिन मरिचि बीमार बड़ा। परंतु जैनसाध्वाचार में शिथिल होने के कारण उसकी सेवाशुश्रूषा किसी साधु ने नहीं की। तब उसने सोचा— 'इतने परिचित साधुओं के होते हुए भी किसी ने मेरी परवाह न की। इसीलिए यदि मैं स्वस्थ हो गया तो एक सेवाभावी आज्ञाकारी शिष्य अवश्य बनाऊंगा।' मरिचि परिव्राजक कुछ ही दिनों में स्वस्थ हो गया। एकबार कपिल नाम का एक राजपुत्र उसके पास आया। उसने उसे उपदेश देकर प्रतिबुद्ध किया। मरिचि ने जब कपिल से उन निर्ग्रंथों के पास दीक्षा लेने का कहा तो उसने कहा—“स्वामिन्! मैं तो आपका ही शिष्य बनूंगा।” मरिचि ने कहा—“तुम्हारी बात ठीक है। लेकिन ये साधु मन-वचन-काया से महाव्रतों का पूर्णतया पालन करते हैं। मैं इतना उच्चचारित्र पालन नहीं करता। तथा अपनी और भी कमियाँ उसे बतायी, मगर गुरुकर्मा कपिल नहीं माना। उसने कहा—“आपके पास ही मैं दीक्षा लूंगा। क्या आपके दर्शन में धर्म नहीं है?” ‘यह मेरे योग्य शिष्य मिला है, यह सोचकर मरिचि ने उससे कहा—‘कपिला! इत्थंपि इहं पि (हे कपिल! जैनदर्शन में भी धर्म है, और मेरे दर्शन में भी)।’ इस प्रकार की सूत्र-(सिद्धान्त) विरुद्ध प्ररूपणा करने से मरिचि ने कोटाकोटी सागरोपम संसार की वृद्धि कर ली। इस कर्म की आलोचना किये बिना ही वह ८४ लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर चौथे भव में पांचवें ब्रह्मलोक नामक देवलोक में १० सागरोपम की स्थिति वाला देव बना। वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर पांचवें भव में कोल्लाक सन्निवेश में ८० लाख पूर्व की आयुष्य वाला ब्राह्मण हुआ। वह अत्यंत विषयासक्त था। किन्तु जिंदगी के अंतिम दिनों में त्रिदंडी दीक्षा लेकर आयुष्य पूर्ण किया। बीच में चिरकाल तक अनेक भवों में (जिनकी गणना इन २७ भवों में नहीं की गयी) परिभ्रमण करता रहा। वहाँ से छठे भव में स्थूणानगरी में ७२ लाख वर्ष की आयु वाला पुष्य नाम का ब्राह्मण हुआ। अंतिम दिनों में त्रिदण्डी वेष में उसका देहांत हुआ। सातवें भव में सौधर्म देवलोक में मध्यम स्थिति वाला देव बना। वहाँ से आयुष्य समाप्तकर ८ वें भव में चैत्य सन्निवेश नामक गाँव में अग्निद्योत नाम का ६० लाख पूर्व की आयु वाला ब्राह्मण हुआ। अंतिम जिंदगी में उसने त्रिदंडीवेष धारण किया। दशवें भव में मंदिर सन्निवेश में अग्निभूति नाम का ६० लाख पूर्व का आयु वाला द्विज बना। अंत में त्रिदंडी बनकर आयु पूर्ण कर ग्यारहवें भव में तीसरे कल्प में मध्यम स्थिति वाला देव बना। बारहवें भव में श्वेताम्बरी में ४४ लाख पूर्व की आयु वाला भारद्वाज नामक ब्राह्मण

1. अन्य कथा में भगवान की उपस्थिति में यह घटना बनने का उल्लेख है।

हुआ। जिंदगी के अंतिम दिनों में त्रिदंडी बना। १३ वें भव में महेन्द्रकल्प में मध्यम स्थिति वाला देव हुआ। वहाँ से कितने ही काल तक संसार में परिभ्रमण करके १४ वें भव में राजगृह नगर में ३४ लाख पूर्व की आयुष्य वाला *स्थावर* नाम का ब्राह्मण हुआ। त्रिदण्डीवेष में ही आखिरी जिंदगी पूरी की। वहाँ से १५ वें भव में एक करोड़ वर्ष की आयु वाला *विश्वभूति* नामक युवराज हुआ। इस जन्म में संसार से विरक्ति होने के कारण उसने *संभूतिमुनि* से मुनि दीक्षा धारण करके एक हजार वर्ष तक कठोर तपश्चर्या की। एकदिन मासिक (मासक्षपण) उपवास के पारणे के लिए मथुरा नगरी में गौचरी के लिए जा रहे थे कि रास्ते में एक गाय ने सींग मारे। तपस्या से शरीर दुर्बल था ही; अतः नीचे गिर पड़े। यह देखकर उनका गृहस्थपक्ष का चाचा का पुत्र विशाखानन्दी, जो वहाँ एक शादी में आया हुआ था; उपहास के स्वर में बोला—‘वाह...रे डरपोक! तू तो एक मुट्ठी के प्रहार से कोठे के वृक्ष के तमाम फल गिरा देता था! आज कहाँ गयी तेरी वह ताकत? इस तानेकशी से उत्तेजित होकर विश्वभूति मुनि ने उस गाय के दोनों सींगों को पकड़कर अधर घुमाई वह बेचारी मरणासन्न हो गयी। फिर उसने निदान किया कि “इस तप के फल के रूप में मैं भवान्तर में सबसे अधिक बलवान् बनूँ।” एक हजार वर्ष का तप निदान सहित करने और अंतिम समय में आलोचना किये बिना ही आयुष्य पूर्णकर वह १७ वें भव में महाशुक्रदेवलोक में उत्कृष्ट स्थिति वाला देव हुआ। १८ वें भव में *पोतनैर* में *प्रजापति* नामक राजा, ने अपनी पुत्री मृगावती से शादि की थी उसी के गर्भ में आया। माता ने ७ स्वप्न देखे; नौ मास पूर्ण होने पर पुत्र को जन्म दिया। नाम रखा गया—*त्रिप्रुष्ट वासुदेव*। तीन खंडों की दिग्विजय करके वासुदेव बना और अनेक पापकर्मों का बंध कर ८४ लाख वर्ष का आयुष्य पूर्णकर १९ वें भव में सातवें नरक में नारक बना। वहाँ का आयुष्य पूर्णकर २० वें भव में सिंह बना। २१ वें भव में चौथी नरक का नारक बना। तत्पश्चात् अनेक वर्षों तक बहुत-से जन्मों में चकर काटकर २२ वें भव में एक करोड़ वर्ष की आयु वाला मनुष्य बना। मनुष्यजन्म में शुभकर्मों को उपार्जनकर २३ वें भव में महाविदेह क्षेत्र की राजधानी मूकानगरी में धनंजय राजा के यहाँ धारिणी रानी की कुक्षि से पुत्ररूप में जन्म लिया। माता ने गर्भकाल में १४ स्वप्न देखे थे। अतः वह ८४ लाख पूर्व की आयुष्य वाला *प्रियमित्र* नामक चक्रवर्ती हुआ। बाद में पोट्टिलाचार्य से मुनिदीक्षा लेकर एक करोड़ वर्ष तक दीक्षापर्याय का पालनकर २४ वें भव में भरतक्षेत्र की

1. अन्य कथा में इसे मारनेवाला बन्ूँ ऐसामी लिखा है।

छत्रिका नगरी में जितशत्रु राजा की भद्रा नाम की रानी की कुक्षि से २५ लाख वर्ष की आयु वाला नन्दन नामक पुत्र हुआ। उसने षोडशलाचार्य से मुनि दीक्षा अंगीकार कर यावज्जीव मासक्षपण तप करके बीस स्थानक की आराधना करके तीर्थंकर नामकर्म उपाजित किया। यहाँ एक लाख वर्ष तक दीक्षापर्याय का पालनकर अंत में एक मास के संल्लेखना-संस्तारक रूप अनशन करके आयुष्य पूर्ण किया। यहाँ से २६ वें भव में दशवें देवलोक में पुष्पोत्तरावतंस नामक विमान में वह २० सागरोपम की स्थितिवाला देव हुआ। वहाँ से आयुष्य पूर्णकर २७ वे भव में चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में श्रीवर्धमान (महावीर) स्वामी हुए।

इस तरह मरिचि के भव में उत्सूत्रप्ररूपणा करने से कोटाकोटी सागरोपम तक संसार की वृद्धि की। जो साधक सूत्र विरुद्ध प्ररूपणा करते हैं, वे इसी प्रकार संसार की वृद्धि करते हैं। इसीलिए कदापि उत्सूत्र-प्ररूपणा नहीं करनी चाहिए। इस कथा से यही उपदेश मिलता है ॥१०६॥

कारुण्य-रुण्य-सिंघारभाव-भय-जीवियंतकरणेहि ।

साहू अवि य मरंति न य नियनिष्पमं विराहिंति ॥१०७॥

शब्दार्थ - करुणाभाव, रुदन, शृंगारभाव, राजा आदि किसी की ओर से भय या जीवन का अंत तक करने वाले अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों (कष्टों) के आ पड़ने पर भी साधु अपने नियमों की कभी विराधना (भंग) नहीं करते ॥१०७॥

अप्पहियमायरंतो, अणुमोअंतो य सुग्गइ लहइ ।

रहकार-दाणअणुमोयगो, मिगो जह य बलदेवो ॥१०८॥

शब्दार्थ - तप, संयम आदि आत्मकल्याण का आचरण करने वाला तथा दानादि धर्म की अनुमोदना करने वाला जीव भी सद्गति प्राप्त करता है। जैसे मुनि को दान देने वाला रथकार, उसकी अनुमोदना करने वाला मृग और तप-संयम का आचरण करने वाला मुनि बलदेव तीनों ने सुगति प्राप्त की ॥१०८॥

भावार्थ - 'बलदेव मुनि, रथकार (बढ़ई) और हिरन ये तीनों यहाँ से आयुष्य पूर्ण कर पांचवें देवलोक में गये; क्योंकि एक ने तप, संयम आदि आत्महित का आचरण किया था, दूसरे ने भिक्षा के रूप में दान दिया था और तीसरे ने मुनि को दान दिलाने की दलाली की थी और दान की अतीव भाव से अनुमोदना की थी। मतलब यह है दान-शील आदि धर्म का आचरण, उसके पालन में सहायता या अनुमोदना करने से भी इतना उत्तम फल मिलता है।' .

प्रसंगवश यहाँ बलदेव मुनि, रथकार और मृग का उदाहरण दे रहे हैं-

बलदेव मुनि, रथकार और मृग की कथा

द्वैपायन ऋषि यादवकुमारों की हरकतों से क्षुब्ध होकर आगामी जन्म में द्वारिकानगरी को जलाकर भस्म करने का निदान (दुःसंकल्प) कर चुके थे। फलतः अपने निदानानुसार वे अग्निकुमार देव बनें और उन्होंने द्वारिकानगरी को भस्म कर दिया था; उस समय श्री कृष्ण और बलदेव दोनों ही जीवित रहे थे। वे दोनों भाई द्वारिका छोड़कर जंगल में चले गये। श्रीकृष्ण को अचानक प्यास लगी। बलदेव पानी की खोज में गये। परंतु वहाँ एक शत्रु के साथ युद्ध करते-करते शाम हो गयी। इधर कृष्ण उनका इन्तजार करते-करते थककर एक पेड़ की छाया में पैर पर पैर चढ़ाकर लेट गये। वसुदेव की रानी जरा के पुत्र जराकुमार ने जब भगवान् अरिष्टनेमि के मुँह से यह सुनाथा कि 'जराकुमार के हाथ से श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी,' तो अपने हाथ से होर्ने वाले इस अनिष्ट से बचने के लिए वह शिकार खेलने के अपने शस्त्र लेकर जंगल में चल पड़ा। संयोगवश जहाँ कृष्ण लेटे हुए थे उसी वन में वह आ पहुँचा। उसने दूर से ही श्रीकृष्णजी के पैर का तल देखा तो उस पर चिह्नित पद्मचिह्न को भ्रान्ति से मृग की चमकती आंख समझकर खींचकर जोर से बाण मारा। वह सीधा श्रीकृष्णजी के पैर में जाकर लगा और वे लहुलुहान होकर गिर पड़े। जराकुमार ने जब पास जाकर देखा तो वह रो पड़ा और पश्चात्तापपूर्वक विलाप करने लगा—“हाय! मेरे हाथ से ही मेरे भाई की हत्या!” उस समय श्रीकृष्ण ने उससे कहा—“पापी! तू यहाँ से झटपट भाग जा। नहीं तो अभी बलदेव आयेगा, वह तुझे जिंदा नहीं छोड़ेगा।” जराकुमार भयभीत होकर शीघ्र ही वहाँ से नौ दो ग्यारह हो गया। श्रीकृष्णजी के मन में अपने आप पर बड़ी ग्लानि हुई कि 'अपने जीवन में ३५० संग्रामों में विजयी और महाबली होते हुए भी जराकुमार के एक ही बाण से मेरी मृत्यु हो रही है! और मेरा वह हत्यारा भी सकुशल चला गया।' पर ऐसा ही होना था। श्रीकृष्णजी निरुपाय थे; अतः मृत्यु अवश्यम्भावी थी। मरकर वे अधोलोक के तृतीय धराधाम में पहुँचे।

कुछ ही समय बाद बलदेवजी पानी लेकर वहाँ आये और कृष्ण से कहा—‘बन्धु! उठो, मैं तुम्हारे लिये ठंडा पानी लाया हूँ, पी लो।’ पर कृष्ण की ओर से कोई उत्तर न मिला। बलदेव ने सोचा—‘मुझे पानी लाने में काफी देर हो गयी, इसीलिए भाई रुष्ट हो गया दिखता है। मैं उससे क्षमा मांगकर उसे प्रसन्न करूँ।’ यों सोचकर भाई के चरणों में पड़कर निवेदन किया—‘बन्धुवर! यह क्रोध करने का अवसर नहीं है। मुझे क्षमा करो और पानी पीकर जल्दी यहाँ से चलो।’

इस भयानक जंगल में हम दोनों अकेले हैं।' जब हिला-हिलाकर बार-बार पुकारने पर भी श्रीकृष्ण नहीं उठे तो मरे हुए होने पर भी मोहवश उन्हें जलपिपासा के कारण मूर्च्छित और जीवित समझकर बलदेवजी ने कंधे पर उठाया और चल पड़े। संसार में तीन बातें सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। वे इस प्रकार हैं—

तीर्थकराणां शाम्यत्वं सपत्नीवैरमेव च ।

वासुदेव-बल-स्नेहः सर्वेभ्योऽप्यधिकं मतम् ॥१०१॥

अर्थात् - तीर्थकरों की समता, सौतों का वैर और वासुदेव-बलदेव का परस्पर स्नेह ये तीनों बातें दुनिया में सब बातों से बढ़कर मानी जाती हैं ॥१०१॥

अपने मृत भाई श्रीकृष्ण के शव को कंधे पर उठाए बलदेव जगह-जगह घूम रहे थे। वे भाई के मोह में इतने डूबे हुए थे, उन्हें कोई छोड़ देने को कहता तो भी नहीं छोड़ते थे। एक दिन सिद्धार्थ देव बलदेवजी की यह मोहवेष्टा देखकर इसे दूर करने के लिए युक्ति और देवमाया से एक जगह घानी में रेत डाल कर तेल निकालने बैठ गया। बलदेवजी ने जब उसे कहा कि इस रेत में से तेल निकालने का परिश्रम व्यर्थ है, तब उसने बलदेवजी से कहा—'मरे हुए व्यक्ति को कंधे पर उठाए फिरने का तुम्हारा श्रम भी व्यर्थ है।' यह सुन बलदेवजी उस पर बिगड़े और तलवार निकालकर मारने दौड़े—'अरे दुष्ट! तू मेरे भाई को मरा कहता है। वह मरा नहीं है। होश में आते ही अभी बोल उठेगा।' उसके बाद उस देव ने पर्वत की शिला पर कमल बोने का दृश्य दिखाया तो उसे देख बलदेवजी बोले—'अरे मूर्ख! इस शिला पर कहीं कमल उग सकता है?' देव ने व्यंग करते हुए कहा—'यदि मरा हुआ तुम्हारा भाई खड़ा होकर बोल जाय तो इस शिला पर भी कमल उग सकता है।' मगर बलदेवजी पर मोह का पर्दा इतना गहरा पड़ा हुआ था कि उन्हें जरा भी प्रतिबोध न हुआ कि मेरा भाई मर गया है। वे अपनी ही धुन में श्रीकृष्णजी के शव को उठाये ६ महीने तक घूमते रहे। आखिरकार श्रीकृष्णजी के शरीर में विरूपता देखी तब उनको मृत समझकर छोड़ दिया। सिद्धार्थदेव ने उस शव को समुद्र में बहा दिया।

उसके पश्चात् बलदेव बहुत विलाप करने लगे। भगवान् अरिष्टनेमि ने उन्हें प्रतिबोध देने के लिए एक चारण मुनि को भेजा। उनके द्वारा प्रतिबोध पाकर विरक्त होकर बलदेवजी ने उनसे दीक्षा ले ली। पहाड़ पर रहकर उग्र तपश्चर्या करने लगे। एक बार वे अपने मासक्षपण तप के पारणे के लिए नगर में जा रहे थे; तभी अकस्मात् उनके रूप को देखकर मोहित हुई एक स्त्री को कुंए से पानी भरने के लिए घड़े में रस्सी डालने के बजाय भ्रांति से अपने पुत्र के गले में रस्सी डालते

देखा। देखते ही फौरन मुनि ने उससे कहा—‘मुग्धे! जरा देख तो सही, तू क्या कर रही है? रूप के मोह में पागल होकर इस बच्चे के गले में रस्सी डालकर क्यों मार रही है?’ सुनते ही वह एकदम चौंकी और बच्चे के गले से रस्सी निकाल ली। किन्तु बलदेव मुनि विचारों की गहराई में डूब गये—‘*धिकार है मेरे रूप को!* आज इसी रूप के कारण भयंकर अनर्थ होते-होते बचा! अतः इस रूप को छिपाया तो नहीं जा सकता; लेकिन शहर में आने व रहने के बजाय जंगल में रहकर इसके आकर्षण को टाला जा सकता है।’ इस प्रकार बलदेव मुनि ने जिंदगीभर वन में ही रहने का अभिग्रह (दृढसंकल्प) कर लिया। वे *तुंगिकानगरी* के बाहर *तुंगिकापर्वत* पर रहने लगे। जिस दिन मुनि के तपश्चर्या का पारणा होता उस दिन वे वहीं जंगल में कोई सार्थवाह या लकड़हारा आया हुआ होता तो उसके यहाँ से भिक्षा लेकर निर्वाह कर लेते। जिस दिन निर्दोष आहार न मिलता, उस दिन उपवास कर लेते। इस तरह अपनी तपस्या में वृद्धि करने के फल स्वरूप बलदेव मुनि को अनेक लब्धियाँ प्राप्त हो गयीं। लब्धि के प्रभाव से उन्होंने अनेक बाधों व सिंहीं को उपदेश देकर प्रतिबोधित किया। और वह सिद्धार्थदेव भी उनकी सेवा में रहने लगा। एक दिन उनके उपदेश से एक अतिभद्र मृग को प्रतिबोध हुआ। वह भी रात-दिन इनकी सेवा करता और जंगल में घूमा करता। मुनि किस प्रकार का प्रासुक, ऐषणीय, निर्दोष, आहार लेते हैं इस बात को वह जान गया था। इसीलिए जंगल में जहाँ भी मुनि के योग्य निर्दोष आहार देखता, वहाँ अपने मूक इशारे और चेष्टाओं से मुनि को समझाकर स्वयं आगे-आगे होकर ले जाता और आहार दिलाने की दलाली करता था।

एक दिन जंगल में एक बड़ई रथ बनाने के लिए लकड़ियाँ काटने व चीरने के लिए आया हुआ था। वह किसी बड़े वृक्ष की शाखा को आधी कटी हुई छोड़कर उसी वृक्ष के नीचे रसोई बना रहा था। मृग ने मुनि से अपनी चेष्टाओं द्वारा संकेत किया। फलतः मृग के साथ मुनि वहाँ पहुँचे। मुनि को देखते ही बड़ई अत्यंत हर्षित होकर भाव पूर्वक आहार देने लगा। मृग भी वहाँ खड़ा-खड़ा शुभभावों में बह रहा था। उसी समय वह आधी कटी हुई वृक्ष-शाखा यकायक टूटकर उन तीनों पर गिरी। शाखा गिरने से तीनों की वहीं मृत्यु हो गयी। तीनों की मृत्यु शुभभावना में हुई थी, इसीलिए तीनों पंचम देवलोक में उत्पन्न हुए। तपस्या करने वाले बलदेव मुनि, आहार देकर तप में सहायक बनने वाला बड़ई और शुभभावना पूर्वक आहार की दलाली और अनुमोदना करने वाला मृग; इन तीनों को समान फल मिला। इसीलिए जैनसिद्धान्त कहता है—‘स्वयं धर्माचरण करने

वाला, दूसरों से धर्माचरण कराने वाला और धर्माचरण करने वाले की अनुमोदना करने वाला तीनों को समान फल मिलता है।' अतः धर्माचरण में उद्यम करो; यही इस कथा का मूल उपदेश है ॥१०८॥

जं तं कयं पुरा पूरणेण, अइदुक्करं चिरं कालं ।

जइ तं दयावरो इह, करित्तु तो सफलयं हुँतं ॥१०९॥

शब्दार्थ - पूरण नाम के तापस ने जो पहले अतिदुष्कर तप चिरकाल तक किया था, वही तप यदि दयापरायण होकर किया होता तो सफल हो जाता ॥१०९॥

भावार्थ - पूरणतापस ने जो अज्ञान पूर्वक बारह वर्ष तक तप किया। उसके फल स्वरूप वह चमरेन्द्र तो बना, मगर भवभ्रमण का अंत करने वाले मोक्ष के निकट नहीं पहुँचा।

प्रसंगवश यहाँ पूरण तापस की कथा दे रहे हैं—

पूरण तापस की कथा

विन्ध्याचल पर्वत की तलहटी में पेढाल नाम का गाँव था। वहाँ पूरण नाम का एक सेठ रहता था। उसने एक दिन विरक्त होकर अपने पुत्र को गृहभार सौंपकर तामलि तापस की तरह तापस— दीक्षा ले ली। वह निरंतर दो-दो उपवास (छट्ट-छट्ट तप) करने लगा। पारणे के दिन वह चार खानों वाला एक भिक्षापात्र झोली में डालकर ले जाता और पहले खाने में जो आहारादि पड़ता उसे पक्षियों को दे देता, दूसरे खाने में जो आहारादि पड़ता उसे जलचर जीवों को दे देता, तीसरे खाने में जो आहारादि पड़ता, वह स्थलचर जीवों को दे देता, और चौथे खाने में जो आहारादि आता उसे स्वयं खाता था। इस प्रकार का अतिकठोर अज्ञानमय तप उसने १२ वर्ष तक किया। जिंदगी के अंतिम दिनों में उसने एक मास की संलेखना पूर्वक संथारा (अनशन) किया और काल प्राप्त कर चमरेचंचा नामक राजधानी में चमरेन्द्र हुआ।

पूरण तापस ने जितना घोर तप अज्ञान पूर्वक किया, उतने ही ज्ञान पूर्वक तप करता तो उसे बहुत सुफल प्राप्त होता। यही इस कथा का मुख्य उपदेश है ॥१०९॥

कारण नीयावासे, सुदुयरं उज्जमेण जइयच्चं ।

जह ते संगमथेरा, सप्पाडिहेरा तथा आसि ॥११०॥

शब्दार्थ - वृद्धावस्था, रुग्णता, अशक्ति, विकलांगता आदि किसी कारणवश

अगर एक ही स्थान पर नित्य रहना पड़े तो चारित्र (संयम) में भलीभाँति प्रयत्नशील रहना चाहिए। जैसे उस समय में वृद्धावस्थादि कारणों से आचार्य संगम स्थविर स्थिरवासी होते हुए भी चारित्र में प्रयत्नशील थे; देव भी उनसे प्रभावित होकर उनके सान्निध्य में रहता था ॥११०॥

भावार्थ - यदि किसी कारणवश एक ही स्थान पर चिरकाल तक स्थायी रहना पड़े तो संयममार्ग में खूब सावधानी रखनी चाहिए; ताकि गृहस्थों के अतिसंसर्ग से रागद्वेष-मोह आदि दोष पैदा न हों। जैसे आचार्य संगमस्थविर वृद्धावस्थादि कारणों से एक ही स्थान पर रहते थे, मगर संयममार्ग में बड़ी सावधानी रखते थे। उनके अप्रमत्त होकर संयमपालन से प्रभावित होकर देव भी उनकी सेवा करता था ॥११०॥

एतत् नीयावासी, घरसरणाईसु जह ममतं पि ।

कह न पडिहंति कलिकलुस-रोसदोसाण आवाए ॥१११॥

शब्दार्थ - बिना किसी विशेष कारण के एक ही स्थान पर हमेशा जमा रहने वाला साधु अगर मोह-ममता के कारण अगर उस मकान की मरम्मत कराने आदि दुनियादारी के काम कराता है या पैसे इकट्ठ करने-कराने आदि संसार-व्यवहार में पड़ता है तो वह कलह, क्लेश, रोष, राग, (मोह) द्वेष आदि दोषों से कैसे बचा रह सकता है? प्रमादी साधु उक्त दोषों से कदापि बच नहीं सकता ॥१११॥

अवि कतिउण जीवे, कत्तौ घरसरणगुत्तिंसठप्पं ? ।

अवि कतिआ य तं तह, पडिआ असंजयाण पहे ॥११२॥

शब्दार्थ - घर की लिपाई-पोताई या चिनाई तथा रक्षा के लिए दीवार बनाने आदि कार्य जीवों के वध बिना कैसे हो सकते हैं? इसीलिए जो साधु जीवघातक गृहकार्यादि आरंभों में सीधे पड़ते हैं, उन्हें असंयममार्ग के पथिक जानना चाहिए ॥११२॥

भावार्थ - उपाश्रय आदि धर्मस्थानों को घर समझकर उन पर ममत्व रखकर रहना, उनकी सारसंभाल करना, मरम्मत कराना, उनकी रक्षा के लिए चारों ओर दीवार या बाड़ खड़ी करवाना इत्यादि कार्यों से जीवहिंसा होती है, यह प्रत्यक्ष असंयम का मार्ग है। सुविहित साधु को ऐसे कामों में सीधे नहीं पड़ना चाहिए ॥११२॥^१

थोयोड वि गिहिपसंगो, जइणो सुद्धस्स पंकमावहइ ।

जह सो वारत्तरिसी, हसिओ पज्जोय-नरयइणा ॥११३॥

१. वर्तमान में तीर्थधाम बनानेवाले मुनि असंयम के मार्ग पर हैं यह स्पष्ट होता है।

शब्दार्थ - शुद्ध मुनि को गृहस्थ के थोड़े-से परिचय (संसर्ग) से पाप रूपी कीचड़ लग जाता है। जैसे वरदत्त मुनि की चण्डप्रद्योत राजा ने हंसी उड़ाई थी कि "अजी नैमित्तिकजी! आपको वंदन करता हूँ" ॥११३॥ इसीलिए मुनिवर गृहस्थ का जरा भी संसर्ग न करे।

प्रसंगवश यहाँ वरदत्त मुनि की कथा दी जा रही है—

वरदत्तमुनि की कथा

चम्पानगरी में मित्रप्रभ नामक राजा राज्य करता था। उसका मंत्री धर्मघोष था। उसी नगरी में धनमित्र नाम का एक अत्यंत राजमान्य सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम धनश्री था। उसके रूप लावण्ययुक्त, तेजस्वी, नारीजन वल्लभ सुजातकुमार नाम का एक पुत्र था। एक दिन युवक सुजातकुमार धर्मघोषमंत्री के अंतःपुर के पास होकर जा रहा था; तभी मंत्री पत्नी प्रियंगुमंजरी की दृष्टि उस पर पड़ी। सुजातकुमार का रूप-लावण्य, देखकर अत्यंत मोहित हो गयी। मंत्री की अन्य सब पत्नियाँ सुजातकुमार को देखकर परस्पर कहने लगी—“सखियो! हमें यह पुरुष अत्यंत प्रिय लगता है। यह जिस स्त्री का भोक्ता होगा, वह स्त्री बड़ी भाग्यशालिनी होगी। एक दिन प्रियंगुमंजरी सुजातकुमार का वेश धारण करके अपनी सौतों के साथ पुरुष की तरह विनोद और क्रीड़ा करने लगी। यह देखकर मंत्री को सभी स्त्रियों के प्रति घृणा हो गयी। उसने सोचा—“मेरी सभी स्त्रियाँ इस सुजातकुमार के साथ लगी हुई हैं। धिक्कार है इन्हें!” मंत्री ने अपनी सभी पत्नियों का परित्याग कर दिया और सुजातकुमार के प्रति मन में द्वेष रखने लगा।

मंत्री ने युक्ति सोचकर सुजातकुमार के नाम से एक कूटपत्र लिखकर राजा को दिया और बताया कि “सुजातकुमार इस प्रकार के कूटपत्र लिखकर राज्य में अनाचार फैला रहा है, इसीलिए ऐसे कूटपत्र लिखने वाले को मरवा डालना चाहिए।” यह सुनकर राजा ने सोचा—“यदि मैं एकदम उसे मरवा दूंगा तो संसार में मेरी अपकीर्ति होगी।” राजा ने मन में युक्ति सोचकर सुजातकुमार को एक कूटपत्र लिखकर उसे चन्द्रध्वज राजा को पहुँचा देने को कहा। पत्र में लिखा था—“इस पत्रवाहक सुजातकुमार को आते ही मार डालना!” यह वाक्य पढ़कर राजा का माथा ठनका। उसने सोचा—“इस पुरुषरत्न को मार देने का क्यों लिखा है?” राजा ने अपने गुप्तचर को भेजकर सारी असलियत जान ली। अतः कूटपत्र अपने पास गुप्त रूप से रख लिया और अपनी बहन चन्द्रयशा का सुजातकुमार के साथ विवाह कर दिया। शादी के बाद सुजातकुमार को राजा ने अपने महल में रखा। वहाँ

चन्द्रयशा के संयोग से सुजातकुमार को भयंकर रोग हो गया। चन्द्रयशा इससे बड़ी दुःखी हुई और पछताने लगी—“धिक्कार है मुझे! मेरे संयोग से मेरे पति को रोग लग गया।” सुजातकुमार ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—“सुलोचने! इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। दोष मेरे ही अशुभकर्मों का है। तुम धैर्य रखो। वास्तव में यह शरीर ही रोगों का घर है। इस निन्द्य शरीर के द्वारा विषयभोगों में फँसकर हमने अपना जीवन बिगाड़ डाला।” इन वचनों से चन्द्रयशा को प्रतिबोध हुआ। उसने वैराग्य पूर्वक अन्नशन ग्रहण करके समाधि पूर्वक मृत्यु स्वीकार की, जिससे वह मरकर देवता बनी। वहाँ जाकर अवधिज्ञान से उसने अपना पूर्वभव जाना और सुजातकुमार के पास आकर कहने लगी—“स्वामिन्! आपकी कृपा से मैं चन्द्रयशा का जीव देव हुआ हूँ। मेरे योग्य कोई सेवा हो तो कहिए।” सुजातकुमार ने सम्यग् धर्माराम का फल जानकर अपनी इच्छा प्रकट की—“यदि तुम सेवा करना चाहती हो तो मेरा कलंक निवारण करके मुझे अपने माता-पिता के पास पहुँचा दो, ताकि मैं भी मुनि दीक्षा अंगीकार करके धर्माराम कर सकूँ।”

देव ने सुजातकुमार की इच्छानुसार सारा कार्य कर दिया। पहले सुजातकुमार को उसने चम्पानगरी के उद्यान में पहुँचाया। फिर नगरी के जितनी चौड़ी एक शिला बनाकर आकाश में खड़े होकर चन्द्रप्रभ राजा को डराया और धमकाया—‘अरे नराधम! तूने सुजातकुमार पर कलंक लगाकर उसके विरुद्ध आचरण क्यों किया?’ राजा भय से कांपता हुआ देव के पास हाथ जोड़कर खड़ा हुआ और देव से तथा सुजातकुमार से उसने चरणों में पड़कर क्षमायाचना की। देव ने भी अपनी माया समेट ली। इसके बाद सुजातकुमार को राजा ने हाथी पर बिठाकर धूमधाम से गाजे-बाजे के साथ नगरी में प्रवेश कराया। सुजातकुमार भी घर पहुँचकर अपने माता-पिता के चरणों में गिरा और उनकी आज्ञा लेकर पिता के साथ मुनि दीक्षा ग्रहण की और भलीभाँति संयम पालन कर केवलज्ञान प्राप्त करके वे मोक्ष पहुँचे।

सुजातकुमार से प्रभावित राजा ने धर्मघोषमंत्री को देशनिकाला दे दिया। उसके पुत्रों और पत्नियों ने भी उसे बहुत धिक्कारा। मंत्री धर्मघोष घूमता घामता राजगृह पहुँचा। वहाँ एक स्थविर मुनि से उसने दीक्षा ली और शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन करके गीतार्थ हुआ। विहार करते-करते एक बार धर्मघोषमुनि वरदत्तनगर पहुँचे। एक दिन वहाँ के वरदत्त नामक मंत्री के यहाँ वे गौचरी के लिए पधारें। वरदत्त मंत्री ने खीर का बर्तन उठाकर कहा—“स्वामिन्! यह निर्दोष आहार है; इसे ग्रहण कीजिए। संयोगवश उस बर्तन में से खीर की एक बूंद नीचे गिर पड़ी। यह देख धर्मघोष मुनि उस आहार को लिए बिना ही

वापिस लौट गये। इस पर वरदत्तमंत्री सोचने लगा—“यह मुनि आहार के लिए पधारें थें; शुद्ध निर्दोष आहार था, फिर भी इन्होंने क्यों नहीं लिया?” मंत्री यों विचार कर ही रहा था कि नीचे गिरी हुई खीर की बूंद पर एक मक्खी आकर बैठी। मक्खी को देखते ही एक छिपकली आयी। छिपकली पर झपटने के लिए एक कौआ आया और कौए को देखकर बिल्ली आयी। बिल्ली को देखकर एक कुत्ता दौड़ा हुआ आया। कुत्ते को देखकर मोहल्ले के सब कुत्ते वहाँ इकट्ठे हो गये और एक दूसरे को भौंकने और नोचने लगे। घर का नौकर डंडा लेकर दौड़ा और कुत्तों को जोर से डंडा मारा। इस पर मोहल्ले के लोग बिगड़े। उन्होंने घर के कुत्ते को मार डाला। इस पर घर के नौकर और मोहल्ले के लोगों में परस्पर गालीगलोज और हाथापाई होने लगी। झगड़ा बढ़ते-बढ़ते गुस्से में आकर दोनों पक्ष के लोगों ने तलवारें खींच ली और जमकर युद्ध होने लगा। यह तमाशा देखकर वरदत्त मंत्री गहरे चिंतन में डूब गया—“धन्य है मुनिवर को, जिन्होंने भविष्य में ऐसे उपद्रव होने की आशंका से शुद्ध आहार भी ग्रहण नहीं किया। जिनेश्वरदेव के इस धर्म को भी धन्य है, जिसमें ऐसे पवित्र महापुरुष हैं। ऐसे निःस्पृह जंगमतीर्थरूप मुनिवर का अब मिलन कहाँ और कैसे होगा?” इस प्रकार ऊहापोह करते-करते उन्हें जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हो गया। और उन्हें अपने पूर्वजन्म का दीक्षाग्रहण, शास्त्राध्ययन आदि की सारी घटनाएँ चलचित्र की तरह दिखाई देने लगीं। उन्होंने मन ने यह निश्चय कर लिया—“अब मुझे मुनिदीक्षा ग्रहण करके अपने जीवन को सार्थक करना है। फलतः देव ने मुनिवेश दिया। उस वेश को धारण करके स्वयंबुद्ध वरदत्तमुनि विहार करते-करते सुसुमार नगर में पधारे और वहाँ के नागदेव मंदिर में कायोत्सर्गस्थ होकर खड़े रहे।

उस समय सुसुमारपुर के राजा धुंधुमार की रूपवती पुत्री अंगारवती ने किसी योगिनी के साथ विवाद किया, उसमें योगिनी हार गयी। इसके कारण योगिनी को क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने अंगारवती का हूबहू चित्र बनाकर चण्डप्रद्योत राजा को दिखाया। चित्र देखते ही चण्डप्रद्योत उसे पाने के लिए लालायित हो उठा। योगिनी ने भी राजा के सामने बढ़ा-चढ़ाकर उसके रूप का वर्णन किया। चण्डप्रद्योत ने धुंधुमार राजा के पास दूत भेजकर अंगारवती की मांग की। धुंधुमार राजा ने दूत को उत्तर दिया—‘पुत्री मन की प्रसन्नता से दी जाती है, बलात्कार से नहीं।’ दूत के मुख से धुंधुमार का उत्तर सुनकर चण्डप्रद्योत क्रोध से आगबबूला हो उठा। वह बड़ी भारी सेना लेकर सुसुमारपुर पहुँचा और उसे चारों ओर से घेर लिया। धुंधुमार राजा के पास बहुत ही थोड़ी सेना थी; इसीलिए युद्ध

करना लाभदायी न समझकर वह नगर के अंदर ही रहा। काफी दिन व्यतीत हो जाने पर धुंधुमार नृप ने एक नैमित्तिक से पूछा—“अगर मैं चण्डप्रद्योत के साथ युद्ध करूँ तो उसमें मेरी जय होगी या पराजय?” नैमित्तिक ने ‘मैं’ निमित्त देखकर आपको बताऊंगा। नैमित्तिक ने नगर के एक चौक में आकर बच्चों को डराया। इससे बच्चे भयभीत होकर नागमंदिर में बिराजमान वरदत्त मुनि के पास पहुँचे। बच्चों को भय से कांपते हुए देखकर मुनि ने सहसा कहा—“बालको डरो मत! तुम्हें किसी का भय नहीं है।” मुनि के मुख से ये उद्गार सुनकर नैमित्तिक ने मन ही मन निश्चय करके धुंधुमार राजा से कहा—“राजन्! आपको किसी प्रकार का भय नहीं होगा। विजय भी आपकी ही होगी।” यह सुनकर राजा को बड़ी खुशी हुई। उसने सेनासहित नगर के बाहर निकलकर चण्डप्रद्योत के साथ युद्ध छेड़ा। युद्ध में चण्डप्रद्योत की हार हुई। उसे जीता ही पकड़कर सैनिकों ने राजा धुंधुमार के सामने हाजिर किया। धुंधुमार राजा ने चण्डप्रद्योत से पूछा—‘बताओ, तुम्हें क्या दण्ड दिया जाय?’ उसने कहा “‘मैं आपके घर का मेहमान हूँ। मेहमान को जो दण्ड दिया जाता है, वही दण्ड मुझे दीजिए।” चण्डप्रद्योत के विनययुक्त नम्र वचन सुनकर धुंधुमार राजा ने सोचा—

गुरुरग्निद्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।

पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥१०२॥

अर्थात् - ब्राह्मणों का गुरु अग्नि है और ब्राह्मण वर्णों का गुरु है; स्त्रियों का गुरु पति है और अभ्यागत (मेहमान) सभी का गुरु है ॥१०२॥

अतः मेहमान होने से चण्डप्रद्योत मेरे लिये गुरु (बड़ा) और आदरणीय है। बड़े (गुरु) आदमी की किसी याचना का भंग करना भी उचित नहीं। कहा भी है—

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत जन्म न यस्य ।

तेन भूमिरितिभारवतीयं, न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥१०३॥

अर्थात् - यह पृथ्वी न तो वृक्षों से भार रूप होती है, न पहाड़ों से और न समुद्रों से ही, सचमुच यह पृथ्वी उसीसे ज्यादा बोझिल होती है, जो मनुष्य जन्म पाकर याचना करने वाले का मनोरथ पूर्ण नहीं करता ॥१०३॥

यों विचार करके राजा धुंधुमार ने अपनी पुत्री अंगारवती का विवाह चण्डप्रद्योत के साथ कर दिया और बिदाई के समय कहा—“मेरी पुत्री को विशेष सम्मानसहित रखना।” चण्डप्रद्योत ने यह बात स्वीकार की और उसे अपनी पटरानी बना दी।

एक दिन चंडप्रद्योत ने अंगारवती रानी से एकांत में पूछा—“तुम्हारे पिताजी के पास थोड़ी-सी सेना थी, फिर भी उन्होंने मुझे कैसे जीत लिया?” अंगारवती ने इसका रहस्योद्घाटन करते हुए कहा—“नाथ! नागमंदिर में एक मुनि बिराजमान थे। उनके बताये हुए निमित्त-(भविष्य) कथन के प्रभाव से मेरे पिताजी की विजय हुई।” चंडप्रद्योत के मन में निमित्त बताने वाले मुनि को देखने की भावना पैदा हुई और वह स्वयं प्रेरणा से मुनि वरदत्त के पास पहुँचा और उन्हें उपहास की भाषा में संबोधित करते हुए यों कहा—“हे नैमित्तिक मुनि! मैं आपको वंदन करता हूँ।” अपने लिए नैमित्तिक शब्द सुनकर वरदत्तमुनि ने विचार किया—“मैंने कौन-सा और कब निमित्त (भविष्य) बताया है?” सोचते-सोचते उन्हें खयाल आया कि जिस समय घबराए हुए कुछ बच्चे मेरे पास आये थे, उस समय मैंने उन्हें कहा था—‘डरो मत। तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं है।’ सचमुच, इस प्रकार निमित्त कथन करना मेरे लिये दोष जनक था। वरदत्त-मुनि ने यथार्थ रूप से इस दोष की आलोचना की और शुद्ध होकर निर्दोष रूप से चारित्राराधना की और सद्गति में पहुँचे।

इसीलिए निर्दोष चारित्राराधन करने वाले मुनि के लिए गृहस्थों का थोड़ा-सा भी संसर्ग हानिकारक होता है; यही इस कथा का मुख्य उपदेश है॥११३॥

सम्भावो वीसंभो, नेहो रइवइयरो य जुवइजणे ।

सयणघरसंपसारो, तवसीलवयाई फेडिज्जा ॥११४॥

शब्दार्थ - युवतियों के सामने सद्भावपूर्वक अपने हृदय की बात कहना, उन पर अत्यंत विश्वास रखना, उनके प्रति स्नेह (मोहजन्यसंसर्ग) रखना, कामकथा करना और उनके सामने अपने स्वजन सम्बंधियों की, अपने घर आदि की बार-बार बातें करना साधु के तप (उपवासादि), शील (ब्रह्मचर्यादि गुण) तथा महाव्रतों का भंग करती है ॥११४॥

जोइस-निमित्त-अक्खर-कोउआएस-भूइकम्मेहि ।

करणाणुमो-अणाहि अ, साहुस्स तचक्खओ होइ ॥११५॥

शब्दार्थ - ज्योतिषशास्त्र की बातें बताने, निमित्त-कथन करने, अक्षर (आंक, फीचर, सझा या फाटका) बताने से, कुतूहल पैदा करने वाले चमत्कार (जादू, तमाशा या खेल) बताने, आदेश (तेजी-मंदी या यह बात इसी तरह होगी) करने से या भूतिकर्म करने (राख, वासक्षेप आदि को मंत्रित करके देने) से या इस प्रकार के

अनेक पापोपदेशक करने से दूसरों से करवाने से या करने वाले का समर्थन-अनुमोदन करने से साधु के तप-संयम का क्षय हो जाता है ॥११५॥ इसीलिए मुनि साधुधर्म के विपरीत ऐसे आचरण कदापि न करें।

जह-जह कीरइ संगो, तह-तह पसरो खणे-खणे होइ ।

थोचो वि होई बहुओ, न य लहइ धिइं तिरुभंतो ॥११६॥

शब्दार्थ - साधु (इस दृष्टि से) ज्यों-ज्यों गृहस्थों का परिचय करता जाता है, त्यों-त्यों उसका फैलाव क्षण-क्षण (दिनोदिन) बढ़ता जाता है। और एक दिन वह थोड़ा-सा परिचय भी बहुत ज्यादा हो जाता है। फिर गुरु आदि के द्वारा उस साधु को रोक-टोक करने पर भी वह रुकता नहीं, धैर्य धारण नहीं करता ॥११६॥ आखिरकार वह साधु संयम से भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिए (अर्थ-काम-दृष्टि से) गृहस्थों का परिचय साधु न करें।

जो चपइ उत्तरगुणे, मूलगुणे वि अचिरेण सो चयइ ।

जह-जह कुणइ पमायं, पेलिज्जइ तह कसाएहिं ॥११७॥

शब्दार्थ - जो मुनि उत्तर-गुणों को छोड़ता जाता है, वह शीघ्र ही एक दिन मूल-गुणों को तिलांजलि दे देता है। साधु संयम पालन में जैसे-जैसे प्रमाद करता है, वैसे-वैसे क्रोधादिकषायों से पीड़ित होता जाता है ॥११७॥

भावार्थ - जो मुनि पिण्डविशुद्धि, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि उत्तरगुणों को छोड़ देता है, वह समय पाकर शीघ्र ही अपने प्राणातिपातविरमण (अहिंसा) आदि पंचमहाव्रत रूपी मूलगुणों से भी च्युत हो जाता है। क्योंकि उत्तरगुणों के नाश से मूलगुणों का एक दिन नाश हो जाता है। साधु जीवन के मौलिक नियमों के पालन में ज्यों-ज्यों प्रमाद, शिथिलता या असावधानी बरती जायगी, त्यों-त्यों उसमें अनेक दोष घुसते जायेंगे। फिर दोषों को छिपाने या उन्हें गुण सिद्ध करने के लिए साधु में क्रोध, अभिमान, कपट और लोभ आदि का उद्भव होगा। यानी संयमपालन में ढिलाई आने से सर्वप्रथम उत्तरगुण लुप्त होते जायेंगे, तत्पश्चात् कषायों के भड़कने से मूलगुणों का भी सफाया हो जायगा। इसीलिए साधु उत्तरगुणों को किसी हालत में न छोड़े। और प्रमाद, शैथिल्य, असावधानी व अविवेक को छोड़कर अपनी तप-जप-संयमसाधना में सदा तल्लीन रहे ॥११७॥

जो निच्छएण गिण्हइ, देहच्चाए वि न य धिइं मुयइ ।

सो साहेइ सकज्जं, जह चंदवडिसओ राया ॥११८॥

शब्दार्थ - जो महानुभाव व्रत-नियमों को स्वेच्छा से दृढ़ निश्चय पूर्वक ग्रहण करता है और देहत्याग तक का कष्ट आ पड़ने पर भी उनके पालन का धैर्य नहीं छोड़ता (अर्थात् स्वीकृत अभिग्रह-संकल्प-पर डटा रहता है), वह अपना कार्य (मुक्ति रूपी साध्य) सिद्ध कर लेता है। जैसे चन्द्रावतंसक राजा ने प्राणांत कष्ट आ पड़ने पर भी अपना अभिग्रह नहीं छोड़ा ॥११८॥ वैसे ही अन्य साधकों को करना चाहिए।

यहाँ प्रसंगवश चन्द्रावतंसक राजा का उदाहरण दे रहे हैं—

चन्द्रावतंसक राजा की कथा

साकेतपुर का राजा चन्द्रावतंसक बहुत ही धार्मिक वृत्ति का था। उसकी रानी का नाम सुदर्शन था। राजा होते हुए भी वह परम श्रावक था। श्रावकधर्म के सम्यक्त्वसहित बारह व्रतों की वह भलीभाँति आराधना करता हुआ राज्यसंचालन करता था। एक दिन राजा राजसभा के विसर्जित होते ही अपने अंतःपुर में आया और सामायिक ग्रहण करके इस प्रकार का अभिग्रह (संकल्प) कर लिया कि 'जब तक यह दीपक जलता रहेगा, तब तक मैं कायोत्सर्ग (ध्यान) में स्थिर होकर खड़ा रहूँगा।' एक प्रहर बीता होगा कि दीपक का प्रकाश जब मंद पड़ने लगा तो राजा के अभिग्रह से अनभिज्ञ दासी ने उसमें तेल भर दिया, जिससे दीपक जलता रहा। दूसरा प्रहर बीतने आया, तब भी दासी ने दीपक में तेल डालकर उसे जलता रखा। तीसरे प्रहर भी दासी ने इसी तरह किया। यों लगातार चार प्रहर तक दीपक अखण्ड जलता रहा। जब भी बुझने को होता कि दासी उसमें तेल डालकर चली जाती। परंतु राजा ने अभिग्रह ले रखा था, दीपक के जलते रहने तक कायोत्सर्ग में स्थिर रहने का; इसीलिए उन्होंने न तो अपना मौन खोला, न संकेत किया और न हिलेडुले। आखिरकार ४ प्रहर तक लगातार खड़े रहने से सुकोमल राजा का पैर अकड़ गया, नसे तनने लगीं, मस्तक में अपार वेदना होने लगी; परंतु राजा ने अपने शुभ ध्यान को न छोड़ा। इसके फलस्वरूप देहांत होने के बाद वे सीधे देवलोक में पहुँचे।

अन्य साधकों को भी साधना में ऐसी दृढ़ता रखनी चाहिए; यही इस कथा का सारभूत उपदेश है ॥११८॥

सीउण्ह-खुण्णिव्वासं-दुस्सिज्ज-परिसहं किलेसं च ।

जो सहइ तस्स धम्मो, जो थिइमं सो तयं चरइ ॥११९॥

शब्दार्थ - जो साधु शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, दुःशय्या आदि परिषहों तथा

लोच या धर्मपालन के लिए आने वाले कायकष्टों को समभावपूर्वक सहन करता है, वही वास्तव में साधुधर्म की सम्यग् आराधना कर सकता है। क्योंकि जो धैर्यवान होकर ऐसे कष्टों को तुच्छ समझकर उन्हें सह लेता है, वही तपश्चरण करता है। परंतु क्रूर होकर घबराकर जो ऐसे समय मैदान छोड़ देता है, प्रमाद करता है, वह अपने तप-संयम के वास्तविक फल से वंचित रहता है ॥११९॥

धम्ममिणं जाणंता, गिहिणो वि दड्ढव्वया किमुअ साहू? ।

कमलामेलाहरणे, सागरचंदेण इत्थुवमा ॥१२०॥

शब्दार्थ - जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित इस धर्म को जानने वाले गृहस्थ (श्रावक) भी दृढ़व्रती (नियम-व्रतों में पक्के) होते हैं, तो फिर निर्ग्रन्थ साधुओं के दृढ़व्रती होने में कहना ही क्या? इस विषय में कमलामेला का अपहरण कराने वाले सागरचन्द्र श्रावक का उदाहरण प्रसिद्ध है।

सागरचन्द्रकुमार की कथा

द्वारिका नगरी के राजा श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलभद्र (बलदेव) के निषध नामक पुत्र के पुत्र का नाम सागरचन्द्र था। उसी नगरी में धनसेन नामक एक धनाढ्य सेठ रहता था। उसने अपनी पुत्री कमलामेला की सगाई उग्रसेन के पुत्र नभसेन के साथ कर दी।

एक दिन नारदमुनि घूमते-घूमते नभसेन के यहाँ पहुँच गये। नभसेन उस समय अपने खेलकूद में व्यस्त था, इसीलिए उनका कोई आदर नहीं किया। नारदमुनि को यह बात बहुत खटकी। वे रुष्ट होकर वहाँ से उड़कर सागरचन्द्र के यहाँ पहुँचे। सागरचन्द्र ने आते ही उन्हें विनयपूर्वक आदर-सत्कार करके सिंहासन पर बिठाया और उनके चरण धोकर हाथ जोड़कर खड़े होकर निवेदन किया—
“स्वामिन्! कहिए, मेरे योग्य क्या सेवा है? आपने कोई आश्चर्यजनक अनुभव या कौतुक देखा, सुना या जाना हो तो फरमाइए।” सागरचन्द्र के विनयपूर्ण व्यवहार से प्रसन्न होकर नारदमुनि ने कहा—‘कुमार! यों तो इस विशाल पृथ्वी पर अनेक कौतुक देखता रहता हूँ और देखे भी हैं। परंतु वर्तमान में महा-आश्चर्यकारी कौतुक, जो मैंने देखा है, वह है कमलामेला का अद्वितीय रूप, सौन्दर्य में इसकी बराबरी वर्तमान संसार में कर सके ऐसी कोई स्त्री मुझे नजर नहीं आयी। जिसने इसका रूप नहीं देखा, उसका मनुष्यजन्म वृथा है। परंतु इस रूपराशि कमलामेला की नभसेन के साथ सगाई करके उसके माता-पिता ने काच और मणि के संयोग की तरह अयोग्य संबंध जोड़ा है।’ इस प्रकार नारदजी ने सागरचन्द्र के मन में

कमलामेला के प्रति स्नेहाकर्षण पैदा कर दिया। वहाँ से वे कमलामेला के यहाँ आये। कमलामेला ने नारदजी का अतिसत्कार करके उनसे पूछा—“कोई आश्चर्यजनक नई बात देखी सुनी तो हो तो कहिए।” नारदजी ने कहा—“दुनिया में आश्चर्यकारी चीजें तो बहुत-सी हैं; परंतु जैसा आश्चर्यजनक और अनुपम रूप सागरचन्द्र का है, वैसा इस पृथ्वी पर किसी का भी मेरे देखने में नहीं आया। नभसेन और उसके रूप तथा स्वभाव में रात-दिन का अंतर है।

कमलामेला ने जब से नारदजी से सागरचन्द्र के रूप-गुण की प्रशंसा सुनी, तब से नभसेन के प्रति उसे विरक्ति होने लगी और सागरचन्द्र के प्रति अनुराग और आकर्षण बढ़ने लगा। वह यहीं सोचती रहती—‘ऐसे मेरे भाग्य कहाँ कि सागरचन्द्र के साथ मेरा विवाह-संबंध हो। अब तो उसके बिना यह यौवन और यह शरीर व जीवन व्यर्थ है।’ इधर सागरचन्द्र का यह हाल था कि वह भी कमलामेला की प्रशंसा सुनने के बाद मन ही मन रात-दिन उसी का ध्यान करने लगा, उसीके सपने देखने लगा। जैसे धतूरा खा लेने पर मनुष्य उसके नशे में चारों ओर सोना ही सोना देखा करता है, वैसे ही सागरचन्द्र को भी मोहरूपी धतूरे के नशे से सारा संसार कमलामेलामय दिखाई देने लगा। कहा भी है—

प्रासादे सा दिशि-दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा,

पर्यंके सा पथि-पथि च सा तद्वियोगातुरस्य ।

हं हो! चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे काऽपि सा सा,

सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥१०४॥

अर्थात् - कमलामेला के विरह में आतुर बने हुए सागरचन्द्र को महल में भी सर्वत्र कमलामेला दिखाई देती थी। प्रत्येक दिशा में भी वही, आगे भी वही, पीछे भी वही, पलंग पर भी वही, प्रत्येक मार्ग में भी वही नजर आती थी। अफसोस है, हे मेरे मन! यद्यपि मेरी प्रकृति उससे भिन्न है, वह भी कोई मेरी नहीं है, फिर भी सारे संसार में सर्वत्र वही, वही, वही और वही दृष्टिगोचर होती है। यह कैसा विचित्र अद्वैतवाद (एकरूपता) है? ॥१०४॥

इस प्रकार कमलामेला के रूप में दीवाने सागरचन्द्र को सारा जगत् अंधकारपूर्ण लगने लगा। सच है—

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु नानामणिषु च ।

विनैकां मृगशावाक्षिं तमोभूतमिदं जगत् ॥१०५॥

अर्थात् - ‘दीपक के होते हुए भी, अग्नि के जलते हुए भी और अनेक मणियों के जगमगाते हुए भी अगर एक मृगशिशु के समान नेत्र वाली न हो तो

सारा जगत् अंधकारमय है।' ॥१०५॥

सागरचन्द्र उसके मोह में इतना पागल हो उठा कि जहाँ भी किसी स्त्री को देखता, तुरंत उससे कहता—'प्राणप्रिये! मेरे पास आओ। अपने सान्निध्य से मुझे कृतार्थ करो।' एक दिन वह इसी तरह धुन में कहीं जा रहा था कि पीछे से शाम्बकुमार ने आकर मजाक में अपनी हथेलियों से उसकी आँखें बंद कर दी। इस पर सागरचन्द्र बोल उठा—'बस, बस, मैं जान गया। तू मेरी कमलामेला है। मेरी आँखें क्यों बंद कर दी तूने! यदि तू मेरे पास आयी है तो मेरी गोद में तेरा बैठना ठीक है।' शाम्बकुमार खिलखिलाकर हंस पड़ा और बोला—'भाई सागरचन्द्र! मैं कमलामेला नहीं हूँ। मैं तो कमलामेला से मिलाप करा देने वाला तेरा चाचा हूँ। आँखें खोलकर भलीभाँति देख तो सही सामने। क्योंकि तुझे कामान्धतावश कुछ भी दिखाई नहीं देता।' यथार्थ ही कहा है अनुभवियों ने—

दिवा पश्यति न घूकः, काको नक्तं न पश्यति ।

अपूर्वः कोऽपि कामान्धो, दिवा-नक्तं न पश्यति ॥१०६॥

अर्थात् - 'उल्लू दिन में नहीं देख सकता और कौआ रात में नहीं देख सकता; मगर कामांध तो कोई अनोखा अंध होता है जो न दिन में देखता है, न रात को।' ॥१०६॥

शाम्बकुमार के द्वारा इतना झकझोरने पर किसी तरह सागरचन्द्र ने आँखें खोलीं तो सामने अपने चाचा को देखकर लज्जित होकर उसके चरणों में गिर पड़ा और अपने अविनय के लिए उससे क्षमा मांगने लगा। अभी काम का नशा पूरा उतरा नहीं था, इसीलिए सागरचन्द्र ढीठ होकर बोला—'चाचा! आपने कहा था कि मैं कमलामेला से तुम्हारा मिलाप कराने वाला हूँ। अतः अपनी बात को सच्ची साबित करीए। सतपुरुष मुंह से जो कह देते हैं, उसका पालन अवश्य करते हैं। कहा भी है—

जं भासते णवि सज्जणेण, जं भासियं मुहेवयणं ।

तव्वयणसाहणत्थं सप्पुरिसा हुँति उज्जमिया ॥१०७॥

अर्थात् - सज्जन पुरुष पहले तो किसी को सहसा वचन नहीं देते; मगर मुंह से वचन बोल देने पर वे उस वचन का (सत्य सिद्ध) पालन करने में उद्यमी रहते हैं।' ॥१०७॥

साथ ही सज्जन पुरुष परोपकार करने में भी कुशल होते हैं। कहा भी है—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूणास्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं, निज हृदि विकसन्तः सन्तः सन्ति कियन्तः ॥१०८॥

‘सत्पुरुष मन, वचन और काया इन तीनों में पुण्य रूपी अमृत से भरे रहते हैं। वे अपनी उपकार राशियों से तीनों लोक को प्रसन्न कर देते हैं। साथ ही दूसरों के परमाणु जितने गुण को वे पर्वत के समान मानकर नित्य अपने हृदय में उसे विकसित करते रहते हैं। सचमुच ऐसे संतपुरुष विरले ही होते हैं’ ॥१०८॥

इसीलिए चाचाजी! कमलामेला से मिलाप आप जैसे परोपकारी सत्पुरुष ही करा सकते हैं।

सागरचन्द्र की व्यथा सुनकर शाम्बकुमार ने उससे मिलाप कराना स्वीकार किया। तत्पश्चात् अपने विद्याबल से उसने द्वारिका के उद्यान से कमलामेला के घर तक सुरंग बनवाई और उस सुरंग के रास्ते से गुप्त रूप से उसे द्वारिका नगरी के उद्यान में ले आया। फिर नारदजी को वहाँ बुलाकर उनकी साक्षी से सागरचन्द्र के साथ शुभमुहूर्त में उसका पाणिग्रहण करा दिया। इधर कमलामेला के माता-पिता ने घर में अपनी कन्या को न देखकर सर्वत्र उसकी खोज करनी शुरू कर दी। वन में पहाड़ आदि पर जब कहीं भी उसका पता न लगा तो उन्होंने श्रीकृष्णजी से निवेदन किया—“स्वामिन्! आप सरीखे समर्थ नाथ होने पर भी मुझ अनाथ की कन्या को कोई अपहरण करके ले गया है। सुना है, किसी विद्याधर ने उसे उद्यान में ले जाकर छोड़ दी है।” यह सुनते ही श्रीकृष्णजी सेनासहित कन्या को छुड़ाने के लिए उस उद्यान की ओर रवाना हुए। श्रीकृष्णजी को आते देख नारद मुनि और शाम्बकुमार सामने आये। शाम्बकुमार ने उनके चरणों में नमस्कार किया और सारी घटना आद्योपान्त कह सुनाई। श्रीकृष्णजी ने अपने पुत्र की यह करतूत जानकर चुप्पी साध ली। इतने में ही नभसेन भी वहाँ आ पहुँचा। सागरचन्द्र ने नभसेन के चरणों में पड़कर क्षमा मांगी। परंतु नभसेन अन्यमनस्का होकर खड़ा रहा। उसने सागरचन्द्र को क्षमा नहीं दी। मन में वैर की गांठ बांध ली। अस्तु, सागरचन्द्र कमलामेला को लेकर अपने घर लौट आया और आनंद पूर्वक सुखोपभोग करते हुए जीवन बिताने लगा।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि का उपदेश सुनकर सागरचन्द्र ने उनसे श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये। एक बार १२ व्रतों के उपरांत उसने श्रावक-प्रतिमा के आराधन का निश्चय किया और उसकी आराधना के लिए स्मशानभूमि में जाकर कायोत्सर्ग करके खड़ा रहा। नभसेन इसी ताक में रहा करता था कि ‘कब मौका मिले और कब मैं अपने वैर का बदला लूं।’ नभसेन लोगों के मुख से सागरचन्द्र को स्मशान भूमि में गया जानकर वहीं पहुँच गया और अच्छा मौका देखकर उसने ध्यानस्थ खड़े सागरचन्द्र के मस्तक पर गीली मिट्टी की पाल

बांधकर उस पर धधकते अंगारे रखे और झटपट वहाँ से नौ दो ग्यारह हो गया। मगर सागरचन्द्र ने जलते अंगारों की असह्य वेदना होते हुए भी उफ तक न किया। उसे समभाव से सहन करके उसने मृत्यु का हंसते-हंसते स्वीकार किया। शुभध्यान में मरकर सागरचन्द्र देवलोक में गया।

जब श्रावकव्रती गृहस्थ ने भी धीरे उपसर्ग को समभाव से सहा तो महाव्रती साधु को तो विशेष रूप से सहन करना ही चाहिए; यही इस कथा का सार है ॥१२०॥

देवेहिं कामदेवो, गिही वि नवि चाइओ तवगुणेहिं ।

मतगयंद-भुर्यगम-रक्खसघोस्सहासेहिं ॥१२१॥

शब्दार्थ - तप के गुण से युक्त कामदेव श्रावक को अपने व्रत-नियम से चलायमान करने के लिए इन्द्र के मुख से प्रशंसा सुनकर अश्रद्धाशील बने हुए देवों ने मदोन्मत्त हाथी, क्रूर सर्प और राक्षसों के भयंकर अट्टहास आदि प्रयोग किये, लेकिन वह गृहस्थ होकर भी जरा भी विचलित न हुआ ॥१२१॥

गृहस्थ श्रावक होते हुए भी कामदेव ने जब अपनी परीक्षा होने पर इतनी निश्चलता रखी तो मुनिराजों को तो निश्चलता रखने में कहना ही क्या?

यहाँ प्रसंगवश कामदेव श्रावक की कथा दी जा रही है।

कामदेव श्रावक की कथा

उन दिनों चम्पानगरी का राजा जितशत्रु था। उसी नगरी में कामदेव नाम का बहुत बड़ा व्यापारी रहता था। उसके पास १८ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ तथा साठ हजार गायों के ६ गोकुल थे तथा धन धान्य आदि से वह सम्पन्न था। उसकी गृहिणी का नाम भद्रा था। एक बार चम्पानगरी में भगवान् महावीर स्वामी पधारें। कामदेव ने उनका उपदेश सुना। भगवान् ने अपने उपदेश में जीवादि नौ तत्त्वों का स्वरूप बताते हुए कहा—‘जो व्यक्ति वीतराग द्वारा प्ररूपित जीव-अजीव आदि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा कर लेता है, उसे दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम या उपशम होने के कारण सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूपी रत्नत्रय-मोक्षमार्ग की ओर गति प्रगति करने की शुभ परिणति पैदा होती है। कहा भी है—

अरिहंतो देवो गुरुणो सुसाहुणो जिणमयं महप्पमाणं ।

इच्चाइ सुहो भावो समत्तं विंति जगगुरुणा’ ॥१०९॥

1. तुलना : अरिहंतो महदेशो जावज्जीव सुसाहुणो गुरुणो। जिणपत्तं तत्तं इह समत्तं मए गहिअं॥

‘अरिहंत देव, सुसाधु गुरु और जिनधर्म ये तीनों तत्त्व मुझे प्रमाण हैं; इत्यादि शुद्धभाव को जगद्गुरु तीर्थंकर सम्यक्त्व कहते हैं।’ ॥१०९॥

श्रावक के बारह व्रतों के १३८४ करोड़, १२२७२०२ भेद-प्रभेद (भंग) होते हैं। इन सब भंगों में सम्यक्त्व प्रथम भंग है। सम्यक्त्व न हो तो इनमें से एक भी भंग का होना संभव नहीं। इस पर सम्यक्त्व का कितना महत्त्व है, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। इसीलिए कहा है—

मूलं दारं पड्डाणं, आहारो भायणं निही ।

दुक्खस्सावि धम्मस्स सम्मतं परिकित्तिं ॥११०॥

अर्थात् - १२ प्रकार के श्रावकधर्म का मूल, द्वार, प्रतिष्ठान (नींव), आधार, भाजन और निधि सम्यक्त्व को बताया गया है ॥११०॥

अंतोमुहुत्तमित्तं पि फासिअं हुज्ज जेहिं सम्मतं ।

तेसिं अवड्ढपुग्गलपरिअट्ठो चेव संसारो ॥१११॥

जं सकइ तं कीरई, जं न सकइ तयंमि सदहणा ।

सदहमाणो जीवो वच्चइ अयरामरं ठाणं ॥११२॥

अर्थात् - केवल अंतर्मुहूर्त भर के लिए भी यदि सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया जाय तो उसका संसार अर्द्धपूद्गल-परार्वतनकाल तक का सीमित हो जाता है। इसीलिए व्रत आदि धर्माङ्गों का जितना आचरण हो सके करना चाहिए, यदि किसी व्रत का आचरण न हो सके तो उस पर श्रद्धा रखनी चाहिए। क्योंकि श्रद्धा करने वाला जीव भी उस अजरामर स्थान (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ॥१११-११२॥

इसीलिए सम्यक्त्वमूलक द्वादश श्रावकव्रतों की जो सम्यग् आराधना करता है, वह इस लोक और परलोक में उत्तम फल प्राप्त करता है।

इस प्रकार भगवद् वाणी सुनकर कामदेव के हृदय में अत्यंत आनंद हुआ। उसे श्रावकधर्म पर पूर्ण श्रद्धा पैदा हुई और भगवान् से उसने सम्यक्त्वमूलक श्रावक के १२ व्रत अंगीकार किये और जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता बनकर भलीभांति श्रावकधर्म का पालन करने लगा।

एक बार सौधर्म देवलोक के अधिपति इन्द्र ने कामदेव श्रावक की हृदयमिता की प्रशंसा की—“मर्त्यलोक में कामदेव श्रावक धर्म पर अत्यंत हृदय है। देव भी उसे चलायमान नहीं कर सकते। उसके धैर्य का क्या कहना? ऐसे श्रावकों के कारण मनुष्यलोक की शोभा है।” इन्द्र के मुख से कामदेव श्रावक की प्रशंसा एक मिथ्यादृष्टि देव को नहीं सुहाई। वह कामदेव श्रावक को अपने धर्म से

विचलित करके इन्द्र की वाणी को मिथ्या सिद्ध करने के लिए देवलोक से चलकर मर्त्यलोक में कामदेव श्रावक के पास आया। कामदेव उस समय पौषधशाला में पौषधव्रत लेकर कायोत्सर्ग में बैठा था। ठीक आधी रात के समय उस देवता ने विकराल राक्षस का रूप बनाया और हाथ में यमजिह्वा के समान चमचमाती तलवार लेकर पैर पछाड़ता और धरती को कंपाता हुआ, धमधमाता हुआ मुंह खोलकर भयंकर अट्टहास करता हुआ कामदेव के पास आया। और उससे कहने लगा— 'अरे कामदेव! इस धर्म के ढोंग को छोड़ दे। और इस कायोत्सर्ग का भी त्याग कर दे; नहीं तो, अभी इस तलवार से तेरे टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा। जिससे तू अकाल में ही मौत का मेहमान बन जायगा। जिंदा रहेगा तो सब कुछ कर सकेगा, सुखों का उपभोग कर जीवन का आनंद लूट सकेगा।' देव के द्वारा बार-बार इस प्रकार भयोत्पादक बातें कही जाने पर भी जब कामदेव जरा भी विचलित न हुआ तो देव को रोष पैदा हुआ। उसने कामदेव के शरीर पर तलवार चलाई, जिससे बड़ी भारी वेदना होने लगी। मगर कामदेव शरीर और आत्मा की पृथक्ता के विज्ञान का चिन्तन करता हुआ समभाव से सहता और निश्चल बैठा रहा। तत्पश्चात् देव ने एक पर्वत के समान विकराल मदोन्मत्त महाहाथी का रूप बनाया और अपनी सूंड उछालता हुआ कामदेव के पास आकर कहने लगा— "अरे धर्म के पूंछड़े! अब भी मान जा। इस झूठे धर्म के ढोंग को छोड़ दे। कायोत्सर्ग-मुद्रा का त्याग कर दे और मेरी बात मान। नहीं तो इस सूंड से तुझे आकाश में उछालकर जमीन पर पटकूंगा और तीखे दांतों से तेरे शरीर के टुकड़े कर दूंगा।" जब इतना कहने पर भी कामदेव ध्यान से विचलित न हुआ तो हाथी रूप देव ने अपनी सूंड से कामदेव को उठाकर ऊपर उछाला और जमीन पर पटका, फिर तीखे दांतों से उसके शरीर को बींध दिया। मगर कामदेव चलायमान न हुआ। न मन में दुःखित हुआ। प्रत्युत हड़तापूर्वक मन में चिन्तन करने लगा—

सर्वेभ्योऽपि प्रियाः प्राणास्तेऽपि यान्त्वधुनाऽपि हि ।

न पुनः स्वीकृतं धर्मं, खण्डयाम्यल्पमप्यहम् ॥११३॥

अर्थात् - प्राण मनुष्य को सब चीजों से अधिक प्यारे होते हैं, वे चाहे अभी चले जाय, मगर मैं स्वीकृत धर्म (व्रत-नियम) को लेशमात्र भी खण्डित नहीं करूँगा ॥११३॥

देव इतनी ही कसौटी करके नहीं रह गया। तीसरी बार उसने एक महाभयंकर तीव्र विषधर सांप का रूप बनाया; जिसका शरीर मूसल-सा मोटा और काजल-सा काला था, और उसके फण फटाटोप से भयंकर बने हुए थे और

उसकी फुफकारती हुई लपलपाती दो जिह्वाएँ कायर व्यक्ति के हृदय में कंपकंपी पैदा करने वाली थी। फुफकारता हुआ वह कामदेव के पास आकर बोला—“अरे कामदेव! ग्रहण किये हुए तेरे व्रत को झटपट छोड़ दे, अन्यथा देख ले, इसी समय तेरे शरीर को मैं अपनी जहरीली दाढ़ से डसकर इतना विषैला बना दूंगा कि फौरन तू अकाल में ही कालकवलित हो जायगा।” इतना कहने पर भी कामदेव बिलकुल भयभीत नहीं हुआ। उसने सोचा—‘चाहे शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाय, या अकाल में ही यह छूट जाय, परंतु मैं अपने धर्म (व्रत-नियम रूप) को बिलकुल नहीं छोड़ूंगा। शरीर तो फिर भी मिल जायगा, परंतु धर्म एक बार नष्ट हो जाने के बाद मिलना बहुत ही दुर्लभ है। इसीलिए मैं अपने श्रावकधर्म के स्वीकृत व्रतों में जरा भी अतिचार (दोष) नहीं लगने दूंगा। क्योंकि जरा-से अतिचार से व्रत मलिन हो जाता है, महान् दोषयुक्त बन जाता है। कहा भी है—

अत्यल्पादप्यतिचाराद् धर्मस्यासारतैव हि ।

अङ्घ्रिकङ्कटकमात्रेषु पुमान् पङ्गूयते न किम्? ॥११४॥

अर्थात् - ‘थोड़ा से अतिचार (दोष लगने) से धर्म में निःसारता आ ही जाती है; पैर में एक कांटे के चुभने मात्र से क्या वह मनुष्य को लंगड़ा नहीं कर देता? सचमुच, व्रतों में भी इसी तरह लंगड़ापन आ जाता है।’ ॥११४॥

मगर देव ने इतने पर भी सर्प के रूप में उसे डसा। इससे कामदेव के शरीर में अत्यंत पीड़ा होने लगी; कालज्वर हो जाने से भयंकर वेदना होने लगी। फिर भी वह टस से मस नहीं हुआ। अपने व्रत-नियम पर डटा रहा। ध्यान में अड़िग रहा। उलटे, मन ही मन चिन्तन करता रहा—

खण्डनायां तु धर्मस्यानन्तरपि भवैर्भवेः ।

दुःखान्तो भविता नैव गुणस्तत्र न कश्चन ॥११५॥

अर्थात् - धर्म के खंडित कर देने से अनंत-अनंत भवों में परिभ्रमण करने पर भी दुःख का अंत नहीं होगा। इसीलिए धर्म को खंडित करने में कोई लाभ या विशेषता नहीं है ॥११५॥

दुःखं तु दुष्कृताज्जातं तस्यैव क्षयतः क्षयेत् ।

सुकृतात्तत्क्षयश्च स्यात्, तत्तस्मिन् सुहृदो न कः ॥११६॥

अर्थात् - और यह दुःख तो मेरे ही पूर्वकृत दुष्कृतों (अशुभकर्मों) के कारण हुआ है, इस दुःख का नाश इन दुष्कर्मों का नाश करने पर ही होगा। दुष्कृतों का नाश सुकृत (धर्माचरण) से ही होगा। यह बात स्पष्ट जानकर कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो सुकृत (धर्म) पर दृढ़ न हो? ॥११६॥

इतनी भयंकर कसौटी कर लेने पर भी जब कामदेव श्रावक चलित न हुआ तो देव ने अपनी हार मानी और उसे शुभध्यान परायेण जानकर वह अपने असली रूप में कामदेव के पास आया और क्षमायाचना करने लगा। देव ने कामदेव की प्रशंसा करते हुए कहा—“धर्मधुरंधर कामदेव! धन्य है तुम्हें! तुम बड़े पुण्यशाली हो, धर्म में सुदृढ़ हो, सचमुच तुमने मानव जीवन का सुफल प्राप्त कर लिया है। सौधर्मेन्द्र ने जिस रूप में अपने मुख से आपकी प्रशंसा की थी, वैसे ही रूप में आपको मैंने पाया। मेरी श्रद्धा उस समय इन्द्र के वचनों पर न हुई और मैं आपकी परीक्षा लेने के लिए आया था। तुम परीक्षा में पूर्णतया उत्तीर्ण हुए हों।” इस प्रकार उस धर्मात्मा की प्रशंसा और स्तुति करके देव अपने स्थान पर वापिस लौट गया।

प्रातःकाल होने पर कामदेव ने कायोत्सर्ग और पौषध पारित किये। और समवसरण के योग्य वस्त्रादि पहनकर भगवान् महावीरस्वामी के दर्शनार्थ गया। भगवान् ने कामदेव से पूछा—“देवानुप्रिय कामदेव! तुम्हें आज आधी रात को किसी देव ने तीन उपसर्ग दिये थे, क्या यह बात सच है?” कामदेव बोला—“आपकी बात सोलह आने सत्य है, भगवन्!” उसके पश्चात् भगवान् ने समस्त साधु साध्वियों को बुलाकर कहा—“आयुष्मन्तो! जब कामदेव जैसे श्रमणोपासक ने श्रावकधर्म पर अत्यंत दृढ़ रहकर देवकृत उपसर्गों को समभाव से सहन किया है तो श्रुतशीलधर आगमवेत्ता महाव्रती साधुओं को तो अपने धर्म पर दृढ़ रहकर समभाव से उपसर्गों को सहना ही चाहिए।” भगवान् के ये अमृतवचन सब साधु साध्वियों ने श्रद्धा पूर्वक सुनकर शिरोधार्य किये। और ये उद्गार निकाले—‘धन्य है कामदेव की आत्मा को जिसकी प्रशंसा स्वयं भगवान् ने अपने श्रीमुख से की है।’ कहा भी है—

धन्ना ते जीअलोए गुरवो निवसंति जस्स हिययंमि ।

धन्नाणवि सो धन्नो, गुरूणा हियए वसइ जोउ ॥११७॥

अर्थात् - इस जीवलोक में वे पुरुष धन्य हैं, जिनके हृदय में गुरुदेव बसे हुए हैं और वह तो सभी धन्यभागियों से भी बढ़कर धन्य हैं, जो गुरुदेव के हृदय में बसा हुआ हैं ॥११७॥

इस तरह साधु साध्वियों तथा अन्य लोगों के मुंह से अपनी प्रशंसा सुनकर भी तटस्थ कामदेव श्रावक भगवत् कृपा परवश होकर भाव-भक्ति पूर्वक भगवान् को वंदना-नमस्कार करके अपने घर आया। उसके पश्चात् उसने श्रावक की दर्शन आदि ११ प्रतिमाओं की भलीभांति आराधना की और २० वर्ष

तक श्रावक पर्याय का पालन किया। जिंदगी के अंतिम दिनों में एक मास का संलेखना संथारा (अन्शन) करके सर्व पाप-दोषों की अच्छी तरह आलोचना प्रतिक्रमण करके शुद्ध होकर प्रसन्नता पूर्वक शरीर छोड़कर वह परलोक विदा हुआ। वहाँ सौधर्म देवलोक में अरुण नामक विमान में ४ पत्योपम की आयु वाला देव हुआ। वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर कामदेव का जीव महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।

जिस प्रकार कामदेव ने श्रावक होते हुए भी भयंकर उपसर्ग सहन किये, उसी तरह मोक्षार्थी साधकों-मुनियों को भी सहन करने चाहिए, यही इस कथा की मूल प्रेरणा है ॥१२१॥

भोगे अभुञ्जमाणा यि, केइ मोहा पडंति अहोगइं (अहरगइं) ।

कुविओ आहारत्थी, जत्ताइ-जणस्स दमगुच्च ॥१२२॥

शब्दार्थ - कई जीव सांसारिक इन्द्रियजन्य विषयों का उपभोग नहीं कर पाते; लेकिन मूढ़तावश दुश्चिन्तन करके अधोगति में जाकर गिरते हैं। जैसे यात्रा के लिए वन में आये हुए पौरजनों ने जब आहारार्थी द्रमक (भिक्षुक) को भोजन नहीं दिया तो उन पर कोपायमान होकर अपना पतन कर लिया था ॥१२२॥

भावार्थ - इच्छित भोगों की प्राप्ति न होने पर भी कई द्रमक जैसे मूढ़ात्मा अज्ञान और मोह से प्रेरित होकर अपनी आत्मा को न कोसकर निमित्तों (दूसरों) पर क्रोध करके मन से दुर्ध्यान वश दुर्गति को प्राप्त कर लेते हैं। यानी अपने हाथों अपने जीवन को दुर्गतिगामी बना लेते हैं।

प्रसंगवश यहाँ द्रमक का उदाहरण दिया जा रहा है—

द्रमक का दृष्टान्त

राजगृह नगर में एक बार कोई उत्सव था। उसे मनाने के लिए सभी लोग वैभारगिरि पर जमा हुए। उन दिनों उसी नगर में द्रमक नामक एक भिक्षुक आया हुआ था। उसे कड़ाके की भूख लगी थी, इसीलिए झोली उठाकर नगर में भिक्षा के लिए चल पड़ा। काफी देर तक घूमने पर भी घर बंद होने के कारण उसे कहीं आहार नहीं मिला तो वह वन में पहुँचा। वहाँ भी वह कई जगह घूमा; पर अंतरायकर्म के उदय के कारण कहीं भी उसे आहार न मिला, किसी ने उसे भिक्षा लेने के लिए नहीं कहा। फलतः वह भिक्षुक तिलमिला उठा और क्रोध से आगबबूला होकर सोचने लगा—“कितने दुष्ट हैं यहाँ के लोग! वे स्वयं इच्छानुसार भोजन बनाते हैं, खाते-पीते भी हैं, मगर मुझे किसी ने भोजन नहीं दिया। अतः

इन्हें मैं वैभारगिरि पर चढ़कर वहाँ से एक बड़ी शिला इन स्वार्थमग्न दुष्टों पर गिराकर इन्हें चकनाचूर कर दूँ और इन्हें अपने किये का मजा चखा दूँ।" इस प्रकार रौद्रध्यानवश झल्लाता हुआ वह वैभारगिरि पर चढ़ा और एक बड़ी शिला उठाकर वहाँ से नीचे गिरा दी। शिला गिरती देखकर लोग इधर-उधर दूर भाग गये। दुर्भाग्य से वही भिक्षुक अचानक गिरती हुई शिला के नीचे आकर उसके वजन से दब गया; जिससे उसका शरीर एकदम चकनाचूर हो गया। रौद्रध्यानवश मरने के कारण वह सातवीं नरकभूमि में पहुँचा। सचमुच मन की गति-प्रवृत्ति बड़ी बलवती होती है। कहा भी है—

मनोयोगो बलीयांश्च भाषितो भगवन्मते ।

यः सप्तमीं क्षणाद्धैन नयेद्वा मोक्षमेव च ॥११८॥

अर्थात् - भगवान् के मत में सभी योगों (मन-वचन-काया के व्यापारों) में मन का योग बड़ा बलवान् बताया गया है। जो मनोयोग अपने बल से आधे क्षण में या तो सातवीं नरक की यात्रा करा देता है अथवा मोक्ष में पहुँचा देता है ॥११७॥ अनुभवियों ने बताया है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

यथैवालिङ्ग्यते भार्या तथैवालिङ्ग्यते स्वसा ॥११९॥

अर्थात् - मनुष्यों के कर्मबंध और कर्मों से मुक्ति का कारण मन ही है। मनुष्य जिस प्रकार अपनी पत्नी का आलिंगन करता है, उसी प्रकार बहन से मिलते समय उसका आलिंगन करता है। दोनों जगह क्रिया एक-सी होने पर भी मन की भावना का अंतर है ॥११९॥

जिस तरह उस द्रमक ने मन के द्वारा रौद्रध्यान करके नरक का दुःख पाया, वैसे ही अन्य जीव भी व्यर्थ ही भोगेच्छाएँ या स्वार्थपूर्ति की लालसाएं करके नरक के दुःखों को प्राप्त करता है। इसीलिए साधक को मन से भी भोग की इच्छा नहीं करनी चाहिए; यही इस कथा का सारभूत उपदेश है ॥१२२॥

भवसयसहस्स दुलहे, जाइ-जरा-मरणसागरुत्तारे ।

जिणवयणमि गुणायर! खणमयि मा कहिसि पमायं ॥१२३॥

अर्थात् - गुणनिधे! लाखों जन्मों में भी अतिदुर्लभ और जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःख-समुद्र से पार उतारने वाले जिनवचन को पाकर क्षणभर भी प्रमाद न कर ॥१२३॥ विषय, कषाय और विकथादि प्रपंचों को छोड़कर एकमात्र वीतराग के सिद्धान्त की आराधना में लग जा।

जं न लहइ, सम्मतं लखूण वि जं न एइ संवेगं ।

विसयसुहेसु य रज्जइ, सो दोसो रागदोसाणं ॥१२४॥

शब्दार्थ - जो जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करता अथवा सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर जिसमें संवेग (मोक्ष प्राप्ति की तीव्रता) नहीं आया; जो अभी तक विषयसुखों में ही रक्त रहता है, तो समजो कि उसके राग-द्वेषों का ही वह दोष है ॥१२४॥ वास्तव में समस्त दोषों के कारण राग और द्वेष है। इनका त्याग करने पर ही साधक में सम्यग्दृष्टि सुदृढ़ होती है, संविग्नता (मोक्ष प्राप्ति के लिए तड़फन) पैदा होती है ॥१२४॥

तो बहुगुणनासाणं, सम्मतचरितगुणविणासाणं ।

न हु वसमागंतव्वं, रागदोसाण पाचाणं ॥१२५॥

शब्दार्थ - इसीलिए बहुत-से सद्गुणों को नाश करने वाले और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र आदि गुणों के विघातक राग-द्वेष रूपी पापों के वशीभूत नहीं होना चाहिए ॥१२५॥

भावार्थ - राग-द्वेष दोनों महादुःखदायी हैं। राग-द्वेष आदि ऐसे महादोष हैं, जिनसे अनेक सद्गुणों का विनाश हो जाता है। इसीलिए राग-द्वेष का दूर से ही त्यागकर देना चाहिए ॥१२५॥

न वि कुणइ अमित्तो, सुद्वि सुविराहिओ समत्थो वि ।

जं दो वि अणिग्गहिया, करंति रागो य दोसो य ॥१२६॥

शब्दार्थ - जितना अनर्थ वश में (निग्रह) नहीं किये हुए राग और द्वेष करते हैं, उतना अच्छी तरह विरोध करने में समर्थ शत्रु भी नहीं करता ॥१२६॥

भावार्थ - शत्रु तो कट्टर विरोधी होने पर भी एक जन्म में मारता है, मगर ये राग-द्वेष रूपी शत्रु अनंत-अनंत-अनंत जन्मों तक जीव का पिंड नहीं छोड़ते। ये बार-बार आत्मा को नुकसान पहुँचाते और उसे दुःख देते रहते हैं। इसीलिए राग-द्वेष का त्याग करने में उद्यम करना चाहिए ॥१२६॥

आगे की गाथा में राग-द्वेष का फल बताते हैं—

इह लोए आयासं, अजसं च करंति गुणविणासं च ।

पसवन्ति अ परलोए, सारीरमणोगए दुक्खे ॥१२७॥

शब्दार्थ - राग और द्वेष से इस लोक में शारीरिक और मानसिक खेद होता है; वे जगत् में अपयश (बदनामी) कराते हैं और ज्ञानदर्शन-चारित्र आदि सद्गुणों का विनाश करते हैं; तथा परलोक में भी नरकगति और तिर्य्यचगति के कारण होने

से दोनों शारीरिक और मानसिक दुःखों को पैदा करते हैं ॥१२७॥

धिद्धि अहो अकज्जं, जं जाणतो वि रागदोसेहिं ।

फलमउलं कडुअरसं, तं चेव तिसेवए जीवो ॥१२८॥

शब्दार्थ - आश्चर्य है कि राग-द्वेष के कारण जो अकार्य (अनिष्ट) होते हैं उन्हें; तथा उनके अत्यंत कड़वे रस (परिणाम) वाले फल को जानता हुआ भी जीव उसी का अमृतरस की बुद्धि से बार-बार सेवन करता है। धिक्कार है ऐसे संसारसक्त जीवों को! ॥१२८॥

को दुक्खं पाविज्जा?, कस्स व सुक्खेहिं विम्विओ हुज्जा? ।

को न वि लभिज्ज मुक्खं, रागदोसा जइ न हुज्जा ॥१२९॥

शब्दार्थ - यदि जगत् में राग-द्वेष न होते तो कौन दुःख प्राप्त करता; कौन सुख को देखकर विस्मित (चकित) होता और अक्षय अव्याबाध मोक्ष-सुख से कौन वंचित रहता? ॥१२९॥ अर्थात्-कोई भी दुःख भोगने के लिए यहाँ न रहता, सभी जीव मोक्ष में चले जाते।

माणी गुरु-पडिणीओ, अणत्थभरिओ अमग्गचारी य ।

मोहं किलेसजालं, सो खाइ जहेव गोसालो ॥१३०॥

शब्दार्थ - जो शिष्य अभिमानी है, गुरु के विरुद्ध चलता है, अपने अशुद्ध स्वभाव के कारण अनर्थों से भरा हुआ है और संयममार्ग के विपरीत चलता है, उसका तप-संयमादि कष्टसहन व्यर्थ हो जाता है, जैसे गोशालक का हुआ था ॥१३०॥

भावार्थ - श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के तथाकथित शिष्याभास गोशालक ने तप-संयम आदि अनेक कष्ट सहन किये, मगर उसमें उपर्युक्त दोष होने से अपने तप संयमादि का उसे कोई सुफल प्राप्त नहीं हुआ ॥१३०॥

कलहण-कोहणसीलो, भंडणसीलो विवायसीलो य ।

जीवो निच्चुज्जलिओ, निरत्थयं संजमं चरइ ॥१३१॥

शब्दार्थ - जो साधक सदा कलह और क्रोध करता रहता है, हमेशा अपशब्द बोलता रहता है तथा विवाद (व्यर्थ का झगड़ा) करता रहता है; वह हमेशा (कषायाग्नि में) जलता रहता है। ऐसे व्यक्ति का संयमाचरण निरर्थक है ॥१३१॥

भावार्थ - कषाय से कलुषित रहने वाले साधु का चास्त्रिपालन निष्फल जाता है। परस्पर जोर-जोर से आवेश में आकर बोलना कलह कहलाता है, दूसरे

के गुणों को सहन नहीं कर सकता, वह क्रोधनशील होता है। दूसरे को तुच्छ शब्दों से डांटना अथवा भला बुरा कहकर उसके गुणों की धज्जियां उड़ाना भंडनशीलता है, गालीगलौज अथवा तीखे वाक्यबाणों का प्रहार करना विवाद कहलाता है। ये सब क्रोध के ही प्रकार हैं। इसीलिए क्रोध का त्याग करके चारित्र की आराधना करना ही श्रेयस्कर है ॥१३१॥

जह वणदवो वणं, दवदवस्स जलिओ खण्णेण निदहइ ।

एवं कसायपरिणओ, जीवो तवसंजमं दहइ ॥१३२॥

शब्दार्थ - जैसे शीघ्र जलने वाला वनदव (दावानल-जंगल में लगी हुई आग) क्षणभर में सारे वन को जलाकर खाक कर देता है, वैसे ही क्रोधादि कषाय से युक्त साधु भी तप संयम की अपनी करणी को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है ॥१३२॥

इसीलिए जो साधु संयम में सफलता चाहता है, वह समता आदि चारित्रधर्म के मूल का आदर करें।

परिणामवसेण पुणो, अहिओ ऊणयरओ व हुज्ज खओ ।

तह वि वचहारमित्तेण, भण्णइ इमं जहा थूलं ॥१३३॥

शब्दार्थ - परिणामों की तरतमता (न्यूनाधिकता) के अनुसार चारित्र का न्यूनाधिक (कमोवेश) क्षय होता है। तथापि यह क्षय व्यवहारमात्र से कहा जाता है कि स्थूलरूप (मोटेतौर) से इतना क्षय हुआ है ॥१३३॥

भावार्थ - जैनदर्शन में मुख्यतः दो नयों की दृष्टि से वस्तु का कथन होता है—निश्चयनय और व्यवहारनय। यहाँ व्यवहारनय की दृष्टि से कथन किया है। निश्चयनय की दृष्टि से तो कषाय का जैसा तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम अशुभ परिणाम होगा, तदनुसार ही व्यक्ति चारित्र का तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम क्षय करेगा। इसी प्रकार तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम जैसा भी शुभ परिणाम होगा, तदनुसार व्यक्ति चारित्र की वृद्धि करेगा। अर्थात् जैसा-जैसा जीव का परिणाम होगा, उसके अनुसार वह चारित्र (तप-संयम) का क्षय और वृद्धि करेगा ॥१३३॥

फरुसवयणेण दिणतवं, अहिकिख्वंतो हणइ मासतवं ।

वरिसतवं सवमाणो, हणइ हणंतो य सामणं ॥१३४॥

शब्दार्थ - 'किसी को कठोर वचन कहने पर व्यक्ति एक दिन के तप का नाश (संयम पुण्य का क्षय) कर देता है, अत्यंत क्रोधपूर्वक किसी के जाति, कुल आदि की भर्त्सना करने या किसी के मर्म को प्रकट करके उसे झिड़कने या निन्दा

करने से एक महीने के तप का क्षय कर देता है, किसी को शाप देने या किसी को विनाशकारी शब्द कहने से एक वर्ष का तप नष्ट कर देता है और किसी को डंडा, तलवार, लड्डी या किसी भी शस्त्र से मारने-पीटने या वध कर देने से जीवनपर्यंत के आचरित श्रमणत्व का ही खात्मा कर देता है। यह कथन भी व्यवहारनय की अपेक्षा से किया गया है' ॥१३४॥

अब प्रमाद का फल बताते हैं—

अह जीवियं निर्कितड, हंतूण य संजमं मलं चिण्ड ।

जीवो पमायबहुलो, परिभमइ जेण संसारे ॥१३५॥

शब्दार्थ - संसार की मोहमाया में फंसा हुआ साधक अत्यंत प्रमादवश अपने संयमी जीवन को अपने ही हाथों नष्ट कर डालता है। और संयम का नाश करके फिर पापरूपी मल की वृद्धि करता रहता है। ऐसा प्रमाद बहुल जीव फिर संसार में जन्म मरण के चक्कर काटता रहता है ॥१३५॥

भावार्थ - इसीलिए प्रमाद को छोड़कर साधक को सावधानी पूर्वक संयम की आराधना करनी चाहिए। संयम के १७ भेद इस प्रकार हैं—पांच आश्रवों का त्याग, पांच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय और मन-वचन काया रूप तीन दण्डों से विरति। अप्रमादी रहने पर ही संयम की आराधना और रक्षा भलीभांति हो सकती है ॥१३५॥

अक्कोसण-तज्जण-ताडणाओ, अवमाण-हीलणाओ अ ।

मुणिणो मुणियपरभवा, दह्मप्पहारि व्य विसहंति ॥१३६॥

शब्दार्थ - जिन मनुष्यों ने परभवों (अन्य जन्मों) का स्वरूप भलीभांति जान लिया है वे दृढ़प्रहारी मुनि की तरह अज्ञानों द्वारा दिये गये शाप, दुर्वचन या किये गये डांट-फटकार, मारपीट, अपमान, अवहेलना, निन्दा आदि प्रहारों को समभाव से सह लेते हैं ॥१३६॥

भावार्थ - आक्रोश का अर्थ है—शाप देना, कोसना या अपशब्द कहना। तर्जना का अर्थ है—आंखें लाल करना, भौंहें टेढ़ी करके जोर-जोर से डांटना, फटकारना या भर्त्सना करना। ताड़ना है—लाठी आदि शस्त्रों से प्रहार करना। इसी प्रकार निरादर करना, नीच कुल, जाति प्रकट करके लोगों की दृष्टि में उसे नीचा दिखाना, बदनाम करना या उसकी निन्दा करना, ये सर्व प्रहार के प्रकार हैं। परभवों के स्वरूप के ज्ञाता-द्रष्टा मुनि इनके बदले रोषपूर्वक प्रत्याक्रमण करके नये कर्म नहीं बांधता; बल्कि मुनि दृढ़प्रहारी की तरह समभाव पूर्वक इन्हें सहनकर पुराने कर्मों का क्षय करता है।

प्रसंगवश दृढ़प्रहारी मुनि की कथा यहाँ दी जा रही है—

दृढ़प्रहारी मुनि की कथा

माकन्दी महानगरी में समुद्रदत्त ब्राह्मण रहता था। समुद्रदत्ता उसकी पत्नी थी, एक दिन उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उसके ग्रह ही ऐसे थे कि ज्यों-ज्यों उसकी उम्र बढ़ती गयी, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक शैतानियां करने लगा। जवान होने तक तो उसने सैंकड़ों जुल्म कर दिये। जवानी आने के साथ ही हत्या, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन, भक्ष्याभक्ष्य का अविवेक, माता-पिता की अवज्ञा आदि हर पाप को खुलकर करने लगा। किसीकी हितकर बात भी नहीं सुनता था। नगरी में वह मतवाले सांड की तरह बेरोक-टोक जुल्म और ज्यादस्तियाँ करता हुआ स्वच्छन्द घूमा करता था। एक दिन राजा के पास उसकी शिकायत पहुँची। राजा ने उसे नगरी में रखने के लिए अयोग्य जानकर दुर्गपाल को बुलाकर आज्ञा दी—“फूटा ढोल पीटते हुए अपराधों की घोषणा कर इस अधम ब्राह्मण को मेरी नगरी से निकाल दो।” नागरिकों ने भी इस सजा का समर्थन किया। फलतः दुर्गपाल ने राजाज्ञानुसार उसे नगरी से निकाल दिया। वह उदण्ड ब्राह्मण रोष से भ्रान्ता हुआ मन में द्वेषभाव की गांठ बांधकर नगरी से बाहर निकला और सीधा एक भिल्ल-पल्ली में पहुँच गया। वहाँ भिल्लपति ने उसके लक्षणों से उसे अपने कार्य के लिए कुशल व योग्य जानकर उसका स्वागत किया और कुछ ही दिनों में उसके पराक्रमों को देखकर उसे अपना उत्तराधिकारी (डाकुओं का सरदार) बना दिया। उसको भिल्लपति ने अपनी सारी सम्पत्ति भी सौंप दी। बहुत-से जीवों को एक ही झटके में निर्दयतापूर्वक मार डालने व उसके अत्यंत साहसिक कामों के कारण लोगों में वह ‘दृढ़प्रहारी’ के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

एक दिन दृढ़प्रहारी बहुत से डाकुओं को साथ लेकर कुशस्थल नगर लूटने के लिए चला। उस नगर में देवशर्मा नाम का एक अत्यंत दरिद्र ब्राह्मण रहता था। उसने बड़ी कठिनाई से सामग्री लाकर आज खीर बनाई थी। खीर की हंडिया नीचे रखकर वह नदी पर नहाने के लिए चला गया। इनमें से एक लूटेरा इसी ब्राह्मण के घर में घुसा। उसने और कुछ न देखकर खीर का बर्तन उठाया। यह देखकर उस ब्राह्मण का लड़का रोते-रोते अपने पिता को खबर देने नदी पर पहुँचा। भूख से छटपटाता हुआ वह ब्राह्मण भी यह सुनते ही झटपट दौड़ा हुआ घर आया। तब तक लूटेरा खीर की हंडिया लेकर भाग चुका था। पर देवशर्मा ने क्रुद्ध होकर लोहे की बड़ी अर्गला उठाई और उस लूटेरे को मारने दौड़ा। कुछ ही दूर जाने

पर उसे लुँटेरा मिल गया। दोनों में परस्पर गुत्थम-गुत्थी होने लगी। इसी बीच दृढ़प्रहारी भी वहाँ आ पहुँचा। उसने तलवार के एक ही झटके से इस ब्राह्मण को मार गिराया। ब्राह्मण को अंतिम सांस गिनते देख उसके घर की गाय पूंछ उठाकर रोषवश दृढ़प्रहारी को मारने दौड़ी। मगर दृढ़प्रहारी ने उसे भी नीचे पटककर क्रूरतापूर्वक मार डाली। उसी समय पति को मरते देखकर उस ब्राह्मण की गर्भवती पत्नी रोती-बिल्लाती, विलाप करती जोर-जोर से दृढ़प्रहारी को कोसती और आँसू बहाती वहाँ आई। दृढ़प्रहारी ने आव देखा न ताव, उसके पेट में छुरा भौंककर उसे भी यमलोक पहुँचा दी। उसके पेट में से गर्भवस्थ शिशु बाहर निकला और जमीन पर छटपटाने लगा। यह देखकर निर्दय दृढ़प्रहारी के मन में सहसा दया का अंकुर फूटा। वह पश्चात्ताप करने लगा—“हाय! मैंने कितना अनर्थ कर डाला! धिक्कार है मुझे इस प्रकार के अधर्मकर्मकारी को! इस निर्दोष, अनाथ और गर्भवती अबला को अकारण मारते हुए मुझे शर्म नहीं आयी! सचमुच, मैंने एक साथ चार जीवों की हत्याएँ कर दीं। एक हत्या भी नरकगति की कारण होती है। तो मुझे इन चार हत्याओं के फलस्वरूप कौन-सी दुर्गति मिलेगी? अरर! दुर्गतिरूपी कुंए में गिरते हुए मुझे कौन बचायेगा, कौन शरण देगा? इस प्रकार पश्चात्ताप, आत्मनिन्दा और विरक्ति की त्रिवेणी में गोते लगाता हुआ दृढ़प्रहारी अपने साथियों और सामान को वहीं छोड़कर झटपट नगर से बाहर निकल कर एक वन में पहुँचा। वहाँ एक शांत और तेजस्वी साधु को देखते ही उनके चरणों में गिर पड़ा। नमस्कार करके पश्चात्तापपूर्वक अपने सारे पापकर्मों का कच्चा चिट्ठा मुनिवर के सामने खोलकर रख दिया और पूछा—“भगवन्! क्या कोई ऐसा मार्ग है; जिससे मैं इन हत्याओं के पापों से मुक्त हो सकूँ?” मुनि ने आश्वासन देते हुए उसे कहा—“भाई! घबराओ मत! ऐसा भी रास्ता है। पर वह है—महाव्रतों की आराधना। क्योंकि शुद्ध चारित्र (मुनि धर्म) की आराधना किये बिना ऐसे भयंकर पापों से मुक्ति नहीं हो सकती। निःस्पृह मुनि की बात दृढ़प्रहारी के गले उतर गयी। उसे महामोहमय संसार से विरक्ति हो गयी। इसीलिए उसने वहीं मुनिराज से परमकल्याणकारिणी पापनाशिनी मुनि दीक्षा ले ली।

दीक्षा लेते ही दृढ़प्रहारी मुनि ने अपना नाम सार्थक करने के लिए अपने पापकर्मों पर दृढ़ प्रहार करने हेतु इस प्रकार का दृढ़ अभिग्रह (वज्रसंकल्प) कर लिया कि—“जब तक मुझे ये चार हत्याएँ याद आती रहेंगी, तब तक मैं आहार-पानी ग्रहण नहीं करूँगा।” इस अभिग्रह को स्वीकार करके दृढ़प्रहारी मुनि उसी नगर के एक दरवाजे पर कायोत्सर्ग (ध्यान) करके खड़ा रहा। उस दरवाजे से

आने-जाने वाले लोगों ने दृढ़प्रहारी को देखा तो एकदम उनकी त्योंरियां चढ़ गयी और वे एक दूसरे से कहने लगे—“यही है वह महादुष्ट हत्यारा; अब इसने साधु बनने का ढोंग किया है। ठहर जा दुष्ट, अभी तुझे मजा चखाते हैं। यों कहकर कोई उन्हें मुक्कों से, कोई लातों से, कोई लाठियों से तो कोई ईंट-पत्थरों से मारने-पीटने लगे; कोई अंतसंत गालियां देने लगे, ‘इस दुष्ट का सत्यानाश हो जाय!’ इस प्रकार कोई उसे कोसने लगे; कोई दुर्वचन कहकर उसका अपमान करने लगे। परंतु दृढ़प्रहारी ने उन प्रहारकर्ताओं पर जरा भी रोष या द्वेष नहीं किया। वे समभाव पूर्वक उस यातना को सहते रहे। जब लोगों के द्वारा फेंके हुए पत्थरों और ईंटों का ढेर गले तक आ गया और उनका श्वास रुकने लगा तो उन्होंने कायोत्सर्ग पारित करके वहाँ से चलकर दूसरे दरवाजे पर आकर कायोत्सर्ग (ध्यान) लगा दिया। परंतु वहाँ भी यही हालत हुई। मगर उन्होंने पहले की तरह यहाँ भी परिषह सहन किये वहाँ से क्रमशः तीसरे और चौथे दरवाजे पहुँचे; लेकिन वहाँ भी उन पर गाली, मारपीट और प्रहार आदि कष्ट आते उन्हें वे समतापूर्वक सहते और चारों ही प्रकार के आहारों का प्रत्याख्यान (त्याग) कर लिया करते। यों करते-करते निराहारी मुनि दृढ़प्रहारी को ६ महीने हो गये, मगर वे अपने नियम से जरा भी विचलित न हुए। विशुद्ध ध्यान और भावना (अनुप्रेक्षा) के कारण उनका अन्तःकरण क्षमा से निर्मल हो गया। अतः चार घाती कर्मों का क्षय होने से उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उसके पश्चात् अनेक जीवों को प्रतिबोध देकर केवली दृढ़प्रहारी मुनि मोक्ष पधारे।

इसी प्रकार जो आत्मार्षी साधक आक्रोश, वध आदि अनेक परिषहों को समभाव पूर्वक सहते हैं, वे अनंतसुखों से युक्त मोक्ष को प्राप्त करते हैं, यही इस कथा का मुख्य उपदेश है ॥१३६॥

अहमाहओ त्ति न य पडिहणंति, सत्ताडवि न य पडिसवंति ।

मारिज्जंताडवि जई, सहंति सहस्समल्लु च्च ॥१३७॥

शब्दार्थ - इस व्यक्ति ने मुझे मारा-पीटा है, ऐसा जानते हुए भी सुविहित साधु उसे मारते-पीटते नहीं, किसी ने उन्हें शाप दिया है, तो भी वे बदले में उसे शाप नहीं देते। बल्कि किसी के द्वारा मारने पीटने पर भी वे समभाव से उसे सहते हैं। जैसे सहस्समल्ल मुनि ने प्रहार आदि सहन किये थे, वैसे ही अन्य साधकों को सहने चाहिए ॥१३७॥

प्रसंगवश यहाँ सहस्समल्ल मुनि की कथा दी जा रही है—

सहस्रमल्ल मुनि की कथा

शंखपुर में कनकध्वज राजा राज्य करता था। उसकी राजसभा में वीरसेन नाम का एक सुभट राजसेवा करता था। एक बार राजा उसकी राजभक्ति और सेवा से प्रसन्न होकर उसे ५०० गाँव इनाम देने लगा; फिर भी उसने लेने से साफ इन्कार कर दिया और कहा—‘राजन्! मुझे तो आपकी सेवा बिना वेतन लिये ही करनी है। आपकी कृपादृष्टि और प्रसन्नता ही मेरे लिये बहुत है।’

इस प्रकार वीरसेन निःस्वार्थ भाव से राजा की सेवा करता रहता था। उन्हीं दिनों राजा के एक कट्टर शत्रु दुर्जन कालसेन ने बड़ा उपद्रव मचा रखा था। आसपास का कोई गाँव और शहर न छोड़ा, जहाँ आतंक न मचाया हो। वह किसी के काबू में नहीं आता था। इसके मारे राजा चिन्तित और परेशान था। एक दिन राजा ने अपनी सभा में बैठे हुए सभासदों से कहा—“कौन ऐसा बलवान है, जो कालसेन को जीता पकड़कर मेरे पास ला सके!” राजा की बात सुनते ही सबके सब चुप हो गये। जब कोई भी न बोला तब वीरसेन ने खड़े होकर कहा—“स्वामिन्! आप दूसरे को क्यों कह रहे हैं? मुझे आज्ञा दीजिए, मैं फौरन अकेला ही उसे बांधकर आपके सामने हाजिर कर देता हूँ।” राजा ने कहा—“अच्छा, ऐसा है तो मैं तुम्हें यह काम सौंपता हूँ।” राजसभा में सबके सामने कालसेन को पकड़ लाने की प्रतिज्ञा करके वीरसेन सिर्फ एक तलवार लेकर अकेला ही वहाँ से चल पड़ा। वह सीधा कालसेन के पास पहुँचा। उधर कालसेन भी अपनी सेना लेकर सामने आ डटा। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। वीरसेन ने युद्ध में सबके छक्के छुड़ा दिये। बात की बात में कालसेन की सेना भाग खड़ी हुई। फलतः वीरसेन ने कालसेन को ज़िंदा पकड़ लिया और रस्सियों से बांधकर राजा के सामने ले आया। वीरसेन का ऐसा अद्भुत पराक्रम देखकर राजा अत्यंत विस्मित हुआ। राजसभा में सबके सब वीरसेन की प्रशंसा करने लगे—“धन्य है वीरसेन को, जिसने लाखों आदमियों से पराजित न हो सकने वाले कालसेन को बात की बात में हरा दिया।” राजा ने प्रसन्न होकर सबके सामने वीरसेन को एक लाख स्वर्णमुद्राएं इनाम दीं और उसका नाम वीरसेन से बदल कर ‘सहस्रमल्ल’ रखा। साथ ही उसे एक देश जागीरी में दिया। पराजित कालसेन से राजा ने अपनी आज्ञा के अधीन चलना स्वीकृत करवा कर जीता हुआ राज्य उसे वापिस दे दिया।

सहस्रमल्ल को अपने देश के राज्य का संचालन करते काफी अर्सा हो गया। एक बार वहाँ महामहिम सुदर्शनाचार्य पधारे। उनका उपदेशामृत सुनकर सहस्र

मल्ल नृप को संसार से वैराग्य हो गया। उसने राजपाट छोड़कर आचार्य से मुनि दीक्षा ग्रहण की। ११ अंगशास्त्रों का अध्ययन किया; और क्रमशः चारित्राधान करते-करते जिनकल्पी चर्या स्वीकार की। एक बार विहार करते-करते सहस्रमल्ल मुनि कालसेन राजा के नगर के समीप कायोत्सर्गस्थ खड़े रहे। उन्हें देखकर कालसेन ने पहचान लिया। उसने मन ही मन सोचा-‘यह पापी ही मुझे युद्ध में हराकर जीते जी पकड़कर कनकध्वज राजा के पास ले गया था। अब अच्छा मौका है; इसको अपने किये का फल चखाऊँ।’ अतः दुष्ट कालसेन ने लकड़ी, ईंटों और पत्थरों से मार-मारकर मुनि का कचूमर निकाल दिया। परंतु मुनि जरा भी क्षुब्ध न हुए। क्षमा धारण करके वे शुभध्यान में लीन रहे; जिसके कारण उपसर्ग जनित वेदना से देहान्त हो जाने पर वे सर्वार्थसिद्ध-विमान नामक देवलोक में देव हुए।

इसी प्रकार अन्य मुनियों को भी क्षमा धारण करनी चाहिए; यही इस कथा का मुख्य उपदेश है ॥१३७॥

दुज्जणमुहकोदंडा, वयणसरा पुव्वकम्मनिम्माया ।

साहण ते न लगा, खंतिफलयं वहंतणं ॥१३८॥

शब्दार्थ - दुर्जनों के मुख रूपी धनुष से दुर्वचन रूपी बाण छूटते हैं, लेकिन अपने आगे क्षमा रूपी ढाल रखने वाले साधुओं को पूर्व कर्मों के द्वारा निर्मित हुए वे दुर्वचन भी नहीं लगते ॥१३८॥

पत्थरेणाहओ कीयो, पत्थरं डक्कुमिच्छइ ।

मिगारि सरं पप्प, सरुप्पतिं यिमग्गइ ॥१३९॥

शब्दार्थ - कुत्ते को पत्थर मारने पर वह पत्थर मारने वाले को नहीं, किन्तु पत्थर को काटने दौड़ेगा और सिंह को बाण मारने जाने पर वह बाण को पकड़ने नहीं दौड़ता, अपितु बाण कहाँ से आया? किसने मारा? इसकी खोज करके बाण मारने वाले को पकड़ेगा ॥१३९॥

भावार्थ - इसी तरह ज्ञानी विवेकी मुनि भी दुर्वचन रूपी तार छोड़ने वाले के प्रति द्वेष नहीं करते, अपितु इस दुर्वचन रूपी बाण का प्रहार मेरे ही पूर्वोपाजित कर्मों का फल है, यों सोचकर कर्मों का ही क्षय करने का प्रयत्न करते हैं ॥१३९॥

तह पुच्चिं न कयं, न बाहए जेण मे समत्थोडयि ।

इण्हिं किं कस्स व, कुप्पिमुति धीरा अणुप्पिच्छा ॥१४०॥

शब्दार्थ - धीरपुरुष दुःख के समय इस प्रकार चिन्तन करे कि ‘हे आत्मन्! तूने पूर्वजन्म में ऐसा सुकृत नहीं किया, जिससे तुझे समर्थ से समर्थ पुरुष भी बाधित-

पराभूत न कर सके। यदि तूने शुभ कर्म किया होता तो कौन तुझे पराभूत कर सकता! अब किसी पर व्यर्थ ही क्यों कोप करता है? क्योंकि तेरे पूर्वोपाजित अशुभकर्म ही ऐसे हैं, जिनके उदय होने से दूसरे पर क्रोध करना व्यर्थ है! ऐसा विचार करके धैर्यशाली ज्ञानी पुरुष क्रोध न करके समभाव ही रखते हैं ॥१४०॥

अणुराण जडस्सडवि, सियायपत्तं पिया धरावेड ।

तहवि य खंदकुमारो, न बंधुपासेहिं पडिबद्धो ॥१४१॥

शब्दार्थ - 'स्कन्दककुमार मुनि पर अनुराग के कारण उसके पिता अपने पुत्र पर सेवकों द्वारा श्वेतछत्र कराते थे। परंतु वे मुनि बंधुवर्ग के स्नेहपाश में नहीं फंसे।' ॥१४१॥

प्रसंगवश यहाँ स्कन्दककुमार मुनि की कथा दे रहे हैं—

स्कन्दककुमार मुनि की कथा

श्रावस्ती नाम की महानगरी में समस्त रिपुमण्डल में धूमकेतु के समान कनककेतु नाम का राजा राज्य करता था। उसकी देवांगनासम अतिसुंदरी मलयसुंदरी रानी थी। उसके स्कन्दककुमार नाम का अतिप्रिय एक पुत्र था और आनंददायिनी सुनंदा नाम की एक पुत्री थी। यौवन-रूप-सम्पन्न होने पर राजा ने कांतिपुर नगर के राजा पुरुषसिंह के साथ धूमधाम से उसकी शादी कर दी। एक बार श्रावस्ती नगरी में विजय-सेनसूरि पधारें। स्कन्दककुमार भी सपरिवार उनके दर्शनार्थ पहुँचा। आचार्यश्री ने समस्त श्रोताजनों को धर्मोपदेश दिया—“भव्यजनो! यह संसार अनित्य है, शरीर नाशवान है, सम्पत्ति जल की तरंगों के समान चंचल है; जवानी पर्वत से निकली हुई नदी के प्रवाह समान है; इसीलिए कालकूट विष के तुल्य विषयसुखों के उपभोग से क्या लाभ है? कहा है—

सम्पदो जलतरङ्गविलोला, यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि ।

शारदाभ्रमिव चञ्चलमायुः, किं धनैः कुरुत धर्ममनिन्द्यम् ॥१२०॥

अर्थात् - 'सम्पदाएँ पानी की तरंगों की तरह चंचल हैं; जवानी भी सिर्फ तीन-चार दिनों की है, आयुष्य भी शरत्काल के बादलों की तरह क्षणिक है, फिर इतना धन बटोरकर क्या करोगे? निर्दोष धर्म की आराधना करो।' ॥१२०॥ आगम में स्पष्ट कहा है—

सर्वं विलवियं गीयं, सर्वं नृदं विडम्बणा ।

सर्वे आभरणा भारा, सर्वे कामा दुहावहा ॥१२१॥

अर्थात् - ये सारे संगीत विलाप रूप हैं, सारे नाटक विडम्बना रूप हैं; सारे

आभूषण भारभूत हैं और सभी शब्दादि काम परिणाम में दुःख देने वाले हैं ॥१२१॥

इस प्रकार आचार्यश्री का उपदेश सुनकर स्कन्दककुमार को वैराग्य हो गया और उसने अपने मातापिता से अनुरोध करके दीक्षा लेने की अनुमति प्राप्त कर श्री विजयसेनसूरजी के पास संयम ग्रहण किया। राजा भी अतिस्नेहवश उसी दिन से मुनि बने हुए अपने पुत्र पर श्वेतछत्र धारण किये रखने के लिए सेवक को नियुक्त किया तथा उनकी सेवा में परिचर्या के लिए कुछ नौकर रख दिये। वे रास्ते में पड़े हुए कांटे-कंकरो को साफ कर देते और परम भक्ति से उनकी सेवा करते थे। समय पाकर मुनि स्कन्दककुमार समस्त सिद्धांत समुद्र के पारगामी बनें; और गुरु-आज्ञा से जिनकल्पी मार्ग स्वीकार करके एकाकी विहार करने लगे। उनका अत्यंत उग्रविहार देखकर सभी नौकर वापिस लौट गये। विहार करते-करते एक दिन वे कांतिपुर में पधारें। महल के झरोखे में बैठी सुनंदा ने, जो अपने पति के साथ चौसर (शतरंज) खेल रही थी, राजमार्ग पर जाते हुए मुनि को देखा। देखते ही उसके मन में अत्यंत आनंद हुआ, उसकी आँखों में हर्षाश्रु उमड़ पड़े, वर्षा से प्रफुल्लित कदम्बपुष्प के समान उसकी रोमराजि खिल उठी। वह सोचने लगी—‘यह मेरा भाई तो नहीं है?’ गौर से देखने पर उसने स्कन्दक मुनि को पहिचान लिया। अब तो और अधिक स्नेह उमड़ा। मगर मुनि को (भ्राता) अपनी बहन पर जरा भी आसक्ति न हुई। राजा को भाई-बहन के स्नेहसम्बन्ध की जानकारी न होने से रानी को अचानक अन्यमनस्क देखकर सोचा—“सुनंदा का इस साधु के प्रति अत्यंत राग (मोह) मालूम होता है।” अतः राजा ने आगा-पीछा कुछ भी न सोचकर कायोत्सर्ग में खड़े हुए स्कन्दकऋषि को रातोंरात दुर्बुद्धि पूर्वक मरवा डाला।

प्रातःकाल खून से लाल बनी हुई मुंहपत्ती को किसी पक्षी ने चोंच में उठाई और रानी के महल के आंगन में डाल दी। उस मुंहपत्ती को देखते ही रानी को शंका हुई कि कहीं “यह मुंहपत्ती किसी साधु की तो नहीं है!” रानी ने इस विषय में दासी से पूछा तो उसने कहा—“कल आपने जिस साधु को देखा था, रात को उसे किसी पापी ने मार दिया है। उसीकी यह मुखवस्त्रिका दिखती है।” यह सुनते ही रानी वज्राहत की तरह जमीन पर गिर पड़ी और मूर्च्छित हो गयी। शीतल-उपचार के बाद जब वह होश में आयी तो अगर यह साधु मेरा भाई निकला तो मैं क्या करूंगी? क्योंकि मेरे भाई ने मुनि दीक्षा ली है, ऐसा मैंने सुना था। कल उस साधु को देखकर भी मुझे बंधुदर्शन जैसा आनंद हुआ था। उसने अपने मुनि बने हुए भ्राता का पता लगाने के लिए एक सेवक को अपने पिता के पास भेजा। उसने वहाँ जाकर सारी घटना यथार्थ रूप से सुनी तो उसका हृदय भी

दुःख से भर आया। उसने जब रानी को दुःखितहृदय से जब वह समाचार सुनाये तो वह मुक्त कण्ठ से रुदन करने लगी—“हे मेरे सहोदर! मेरे बंधु! मेरे भाई! वीर! यह तेरा क्या हाल हो गया? तू तो मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय था। यह क्या किया तूने? तूने तो मुनि बनने के बाद अपना हालचाल तक भी न बताया और न ही दर्शन दिया! वास्तव में तूने इस भूमि पर विचरण करके इसे तीर्थ रूप बना दिया। मैं ही अभागिनी और महापापिनी हूँ कि मैंने तुम्हारी ओर एकटक दृष्टि से देखा और वही तुम्हारी हत्या का कारण बना। भाई! अब मैं कहाँ जाऊंगी? क्या करूंगी? मेरा जन्म कैसे सार्थक होगा?” इस प्रकार सुनंदा जोर-जोर से विलाप करने लगी। राजा को असलियत का पता लगने पर उसे भी पश्चात्ताप हुआ। उसने तथा मंत्रियों ने शोकमग्न रानी का मनोरंजन करके शोक भूलाने के लिए अनेक प्रकार के नाटकों का आयोजन कराया, जिससे काफी लम्बे अर्से के बाद रानी का शोक दूर हुआ।

अन्य मुनियों को भी स्कन्दक मुनि की तरह निर्मोहिता और समता धारण करनी चाहिए, यही इस कथा का मूल उपदेश है ॥१४१॥

गुरु-गुरुतरोय अङ्गुरु, पिय-माइ-अयच्च-हियजणसिणेहो ।

चित्तिज्जमाण गुविलो, चत्तो अङ्गम्मत्तिसिएहिं ॥१४२॥

शब्दार्थ - माता, पिता, पुत्र आदि प्रियजनों पर क्रमशः अधिक, अधिकतर और अधिकतम स्नेह बढ़ता जाता है। अत्यंत धर्मपिपासु साधकों ने इस स्नेह को अनंत जन्मों का कारण जानकर धर्म के शत्रु रूप इस स्नेह का त्याग किया है। इसीलिए धर्माभिलाषी साधक प्रियजन आदि के स्नेह (आसक्ति) में न पड़कर धर्म की आराधना करें ॥१४२॥

अमुणियपरमत्थाणं, बंधुजणसिणेहवइयरो होइ ।

अवगयसंसारसहावनिच्छयाणं समं हिययं ॥१४३॥

शब्दार्थ - जिन्होंने परमार्थ का स्वरूप नहीं जाना, उन्हें ही अपने गृहस्थपक्ष के भाई-बन्धु और कुटुम्ब-कबीले पर अत्यधिक स्नेहराग (आसक्ति) होता है। जिन्होंने निश्चयपूर्वक संसार के स्वभाव को जान लिया है, उनका हृदय सब पर सम रहता है ॥१४३॥

भावार्थ - संसार का स्वरूप यथार्थ रूप से नहीं जानने वाला मूढ़मति साधक ही स्वजनों के स्नेहपाश (आसक्ति के जाल) में फँसता है। परंतु बुद्धिमान और संसार का स्वरूप सम्यक् प्रकार से जानने वाला साधक

सांसारिक (गृहस्थ) संबंध छोड़कर पुनः उसमें नहीं फंसता। उसके हृदय में अपने (कुटुम्ब कबीले वाले) या पराये सबके प्रति समानता रहती है। शत्रु हो या चाहे मित्र सर्वत्र वह सम रहता है। उसके हृदय में राग द्वेष (आसक्ति घृणा) या पक्षपात किसी के प्रति नहीं होता। इसीलिए बंधुजनों का स्नेह उसके प्रतिबंधकारक नहीं होता ॥१४३॥

श्रावक उपदेश

माया प्रिया य भ्राया, भज्जा पुत्ता सुही य नियगा य ।

इह चेव बहुविहाइं, करंति भय-वेमणस्साइं ॥१४४॥

शब्दार्थ - माता, पिता, भ्राता, भार्या, पुत्र, मित्र और स्वजन ये सब इस संसार में प्रसंगवश अनेक प्रकार के भय (मरणांत डर) और वैमनस्य (मन मुटाव) पैदा कर देते हैं ॥१४४॥

सांसारिक जनों का स्नेह कितना अनर्थकर और कृत्रिम होता है, इसे आगे की गाथाओं में क्रमशः बताते हैं—

माया नियगमइविगप्पियंमि, अत्थे अपूरमाणंमि ।

पुत्तस्स कुणइ वसणं, चुलणी जह बंभदत्तस्स ॥१४५॥

शब्दार्थ - माता भी अपने दिमाग में सोची हुई बात पूरी न होने पर अपने पुत्र को तकलीफ देती है; जैसे चूलनी रानी ने ब्रह्मदत्त को अनेक कष्ट दिये थे ॥१४५॥

भावार्थ - 'दूसरे राजा के साथ कामवासना में फंसी हुई चूलनी रानी ने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को, जो भविष्य में चक्रवर्ती होने वाला था, उसका अनिष्ट करने की बुद्धि से प्राणांत कष्ट तक दिया था, तो फिर दूसरे का तो कहना ही क्या?'

प्रसंगवश यहाँ चूलणी रानी की कथा दे रहे हैं—

चूलणी नानी की कथा

काम्पिल्यपुर में ब्रह्म नामक राजा था। उसकी रानी का नाम चूलणी था। उसने एक बार १४ स्वप्न देखे। क्रमशः ९ मास बाद उसके एक सुंदर पुत्र हुआ; जिसका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। ब्रह्म राजा के ४ मित्र नृप थे—पहला कुरुदेश का राजा कण्वेदत्त, दूसरा काशीनरेश कटकदत्त, तीसरा कौशलेश दीर्घ राजा और चौथा अंगदेशाधिपति पुष्यचूल। इन पाँचों में परस्पर गाढ़ मैत्री थी। उन्हें क्षणभर के लिए भी एक दूसरे का वियोग असह्य हो जाता था। ये पाँचों प्रतिवर्ष क्रमशः एक-एक

नगर में किसी जगह सम्मिलित होते और वहाँ इकट्ठे रहते थे। एक बार ब्रह्मराजा जब मस्तक की व्याधि से मर गया तो शेष चारों मित्र नरेशों ने परस्पर विचार किया कि “हमारा प्रियमित्र प्रीतिपात्र ब्रह्मराजा इस साल मर गया है; उसका लड़का ब्रह्मदत्त अभी छोटा है, १२ साल का है, इसीलिए हममें से किसी को बारी-बारी से प्रतिवर्ष इस राज्य की सुरक्षा के लिए ब्रह्मराजा के यहाँ रहना चाहिए।” इस निर्णय के अनुसार उन चारों में से दीर्घ राजा वहीं रह गया और बाकी के तीनों मित्रराजा अपने-अपने नगर को लौट गये। दीर्घराजा वहाँ रहकर राज्यसंचालन करने लगा। धीरे-धीरे ब्रह्मराजा का खजाना भी उसने संभाल लिया और उसके अन्तःपुर में जाने-आने लगा। एक दिन रूप लावण्य की राशि नव-यौवना चूलणी रानी को देखकर वह कामविह्वल हो गया। चूलणी रानी ने भी जब दीर्घराजा को देखा तो वह भी उस पर मोहित हो गयी। दोनों की चार आँखें हुईं। परस्पर हास्य-विनोद होता रहता। एक दिन दोनों ने कामान्ध होकर रतिक्रीड़ा की। यह क्रम बढ़ता चला गया। अब तो दीर्घराजा निःशंक होकर अपनी स्त्री की तरह चूलणी के साथ सहवास करने लगा। लोकनिन्दा और भय छोड़कर दोनों परस्पर कामासक्त होकर रहने लगे। किसी तरह से धनु नामक वृद्ध मंत्री को इनके इस गुप्त अनाचार का पता लग गया। वह सोचने लगा—“अर र! इस दुष्ट दीर्घराजा ने बड़ा ही अविचार पूर्ण कार्य किया है! पता नहीं, अन्य तीन मित्र नरेशों ने इसे क्या समझकर राज्याधिकार दिया है! इसने अनाचार-सेवन करके बहुत बुरा किया है। इस मूढ़ को अपने मित्र की पत्नी के साथ व्यभिचार करते हुए जरा भी लज्जा नहीं आती? धिक्कार है इसे!” यों विचार करते-करते मंत्री अपने घर आया और अपने पुत्र वरधनु को उसने सारी बात कही। उसने मौका देखकर एकान्त में ले जाकर ब्रह्मदत्त को सारी बात कह सुनाई। इसे सुनकर ब्रह्मदत्त अत्यंत कुपित हुआ। वह उसी समय दीर्घराजा की सभा में पहुँचा और एक कोयल के साथ कौए का संगम करवाकर कहने लगा—“दुष्ट कौए! तू कोकिला के साथ संगम करता है? तेरा यह आचरण बिलकुल अयोग्य है। मैं इसे कदापि सहन नहीं करूँगा!” यों कहकर कौए को हाथ से पकड़कर मार डाला। फिर उसने लोगों को लक्ष्य में रखकर कहा—“मेरे नगर में जो कोई इस प्रकार का दुष्ट कार्य करता है या करेगा, उसे मैं सहन नहीं करूँगा।” यह सुनकर दीर्घराजा मन ही मन सहम गया। उसने जाकर चूलणी को सारी घटना बताई। चूलणी ने बात को हंसी में टालते हुए कहा—“यह तो बालक्रीड़ा है। आप इससे जरा भी न डरें। आप तो आनंद से सुखभोग करते हुए जिंदगी काटें।” कुछ दिन व्यतीत हो जाने के बाद फिर एक दिन राजसभा में उसी

तरह ब्रह्मदत्त ने एक हंसनी के साथ बगुले का संगम करवा कर जनसमूह के सामने पहले की तरह जोशीले शब्दों में कहा। इससे दीर्घराजा ने अत्यंत भयाकुल होकर चूलणी से फिर कहा—“तुम्हारे पुत्र की चेष्टा हंसी में उड़ाने लायक नहीं है। हम दोनों के गुप्त सम्बन्ध का उसे पता लग गया है। अतः अब हम दोनों का बेखटके संगम होना कठिन है। इसीलिए तू अपने पुत्र को मार दे, ताकि फिर हम निःशंक होकर विषयरस का आनंद लूँ सकें।” चूलणी अपने हाथ से ऐसे अकार्य करने का नाम लेते ही कांप उठी। उसके मन में झिझक थी, अपने हाथ से पाले हुए पुत्र को मारने में! नीतिकारों ने इसे सर्वथा अनुचित भी बताया है—
‘विषवृक्षोऽपि संवर्द्धय स्वयं छेतुमसाम्प्रतम्’ (विषवृक्ष को भी बढ़ा करके अपने ही हाथ से काट डालना अनुचित है)। चूलणी के झिझकभरे विचार सुनकर दीर्घराजा ने साफ कह दिया—‘यदि तुम अपने पुत्र को खत्म नहीं करती तो तुम्हारा-मेरा आज से सम्बन्ध समाप्त!’ चूलणी ने अपने हृदय को पत्थर-सा कड़ा बनाकर सोचा—‘हमारे विषयसुख में रुकावट डालने वाला यह पुत्र भी किस काम का? इसे तो मार ही डालना ठीक है। पर मारना ऐसे सिफ्त से है कि “साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे; पुत्र भी मर जाय और मेरा यश भी सुरक्षित रहे।’ सचमुच, *“धिगस्तु विषयविलासितम्”* विषयविलास अनर्थकारी है। वह मनुष्य को अंधा बना देता है। कहा भी है—

दिवा पश्यति नो धूकः काको नक्तं न पश्यति ।

अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति ॥१२२॥

अर्थात् - उल्लू दिन में नहीं देख सकता और कौआ रात में नहीं देख सकता। परंतु कामान्ध तो एक अनोखा ही अंधा है, जो न दिन में देखता है और न रात में देखता है ॥१२१॥

चूलणी रानी ने मन ही मन युक्ति सोच ली कि ‘अपने पुत्र की बड़े धूमधाम से शादी करके उसे लाक्षागृह बनाकर रहने के लिए दे दूँ। जब सभी सोये हों तभी मौका पाकर उसमें आग लगा दूँ; जिससे सभी जलकर भस्म हो जायेंगे। इससे मेरी निंदा भी नहीं होगी और काम भी बन जायगा। उसने शीघ्र ही अपने सेवकों को आदेश देकर लाख का एक खूबसूरत आलीशान महल बनवाया। उस पर ऐसी खूबी से चूने की सफेदी करवा दी कि किसी को लाख के होने का संदेह न हो। तत्पश्चात् उसने ब्रह्मदत्त की शादी पुष्पचूलराजा की कन्या के साथ बड़े धूमधाम से कर दी। धनुमंत्री ने जब यह हाल देखा तो वह भांप गया कि ‘इसमें कहीं न कहीं दाल में काला है। यह पापिनी अपने पुत्र को मारने का षडयंत्र रच

रही है। परंतु मुझे ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे ब्रह्मदत्त की रक्षा हो सके।' मंत्री ने मन ही मन उपाय सोचकर दीर्घराजा से कहा—'राजन्! अब मैं काफी बूढ़ा हो गया हूँ, अतः आपकी आज्ञा हो तो कुछ दिनों के लिए तीर्थयात्रा कर आऊँ। मेरा पुत्र वरधनु आपकी सेवा में रहेगा।' यह सुनकर दीर्घराजा विचार में पड़ गया—'अगर यह मंत्री कहीं दूर चला गया तो कुछ न कुछ अनिष्ट करेगा या हमें बदनाम करेगा। इसीलिए इसे पास रखना ही अच्छा है।' अतः दीर्घराजा ने मंत्री से कहा—'मंत्रीवर! तीर्थयात्रा करने का आपका क्या प्रयोजन है? और यदि तीर्थगमन करना ही है तो पास में ही तीर्थस्वरूप गंगा नदी है। उसके किनारे जो दानशाला है, वहीं आनंद से रहिए और दानधर्म का आचरण करिए। दूर जाने से क्या लाभ है?'

धनुमंत्री ने दीर्घराजा की बात मान ली और गंगा के किनारे आकर दानशाला संभाल ली। वहाँ रहते-रहते धनुमंत्री ने गंगातट से लाक्षागृह तक दो कोस लम्बी एक सुरंग गुप्तरूप से खुदवाई; और अपने पुत्र वरधनु के द्वारा पुष्पचूल राजा को यह संदेश कहलवाया कि 'आज ब्रह्मदत्त के शयनगृह में अपनी पुत्री के बदले किसी रूपवती दासी को समस्त आभूषणों से सुसज्जित करके भेजना।' राजा पुष्पचूल ने वैसा ही किया। जब अलंकारों से जगमगाती रूपराशि दासी वहाँ पहुँची तो ब्रह्मदत्त ने उसे ही अपनी प्राणप्रिया समझी और उसे व अपने मित्र वरधनु को साथ लेकर वह अपने शयनगृह में पहुँचा। वरधनु ने उसी समय शृंगारकथा कहनी शुरू की, जिसमें रसमग्न होकर सुनने में ब्रह्मदत्त को इतना आनंद आ रहा था कि उसे नींद आयी। आधीरात को जब सारे ही आदमी सोये हुए थे, तब सहसा चूलणी रानी ने वहाँ आकर लाक्षागृह में आग लगादी; उसे धांधंधाया जलते देख ब्रह्मदत्त हड़बड़ाकर उठा और वरधनु से कहने लगा—'मित्र! बड़ी मुसीबत आ पड़ी है; बोलो, अब क्या किया जाय?' वरधनु बोला—'मित्र! घबराना मत। चिन्ता न करो। देखो, तुम जहाँ बैठे हो, वहीं लात मारो।' ब्रह्मदत्त ने ज्यों ही उस जगह पर पादप्रहार किया कि तुरंत सुरंग का द्वार खुल पड़ा। दोनों मित्र उस दासी को वहीं सोती हुई छोड़कर सुरंग के मार्ग से भागे। जहाँ सुरंग का आखिरी सिरा आया, वहाँ मंत्री ने दो हवा से बातें करने वाले घोड़े जीन कसे हुए तैयार रखे थे। दोनों मित्र घोड़ों पर बैठकर वहाँ से नौ दो ग्यारह हुए। कोई ५० योजन वे पहुँचे होंगे कि दोनों घोड़े थक कर चूर-चूर हो गये थे। अतः दोनों ने वहीं दम तोड़ दिया। अतः दोनों मित्र वहाँ से पैदल चलकर कोष्ठक नगर में पहुँच गये। वहाँ एक ब्राह्मण ने उन्हें परदेशी व कुलीन अतिथि जानकर भोजन कराया और ब्रह्मदत्त के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। उसके पश्चात् वे दोनों मित्र अनेक गाँवों और शहरों में कहीं गुप्त रूप

में और कहीं प्रकट रूप में घूमते और नये-नये दृश्यों को देखते हुए सौ वर्षों तक परिभ्रमण करते रहे। इस दौरान ब्रह्मदत्त ने अनेक स्त्रियों के साथ विवाह कर लिया था। अंत में कामिल्यपुर पहुँच कर उन्होंने दीर्घराजा को सदा के लिए दीर्घनिद्रा में सुलाकर अपना राज्य ग्रहण किया। इसके बाद ब्रह्मदत्त ६ खंडों का दिग्विजय कर बारहवाँ चक्रवर्ती बना।

एक दिन ब्रह्मदत्त राजसिंहासन पर बैठा था; तभी उसने एक फूलों का गुच्छा देखा। उसको टकटकी लगाकर देखते-देखते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पूर्वजन्म के भाई चित्र का जीव साधुरूप में उसे प्रतिबोध देने के लिए वहाँ आया; लेकिन कठोर-हृदय ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को उसका एक भी प्रतिबोध न लगा। जब जिंदगी के १६ वर्ष बाकी थे, तभी एक दिन एक ग्वाले ने चक्रवर्ती की आँखें फोड़ दी। भ्रम से ब्रह्मदत्त इसे किसी ब्राह्मण की ही करतूत जानकर उस दिन से अपने राज्य में जितने भी ब्राह्मण थे, उनकी क्रमशः आँखें निकलवाने लगा। इस महारौद्रध्यान के क्रूर परिणामों के कारण अनेक अशुभकर्मों का संघय करके सात सौ वर्षों का आयुष्य बिताकर ब्रह्मदत्त सातवीं नरक के अप्रतिष्ठान नामक नरकावास में उत्कृष्ट स्थिति वाला नरक बना। इसकी विस्तृत घटना जानना चाहें वे 'उवएससहस्सेहि' इस ३१वीं गाथा के अंतर्गत दी गयी कथा से जान लें।

माता का स्नेह भी अत्यंत स्वार्थपूर्ण और कृत्रिम होता है। इसलिए सांसारिकजनों के स्वार्थी स्नेह का विश्वास नहीं करना चाहिए। यही इस कथा का सारभूत उपदेश है ॥१४५॥

सब्बंगोवंगविगतणाओ, जगडणविहेडणाओ य ।

कासी य रज्जतिसिओ, पुत्ताण पिया कणपकेऊ ॥१४६॥

शब्दार्थ - राज्य के लोभ में अंधा बना हुआ पिता कनककेतु अपने पुत्रों के सभी अंगोपांगों का विविध प्रकार से छेदन करवा डालता था। ताकि वह राज्याभिषेक के योग्य न रहे। अतः पिता का पुत्रों के साथ संबंध भी कृत्रिम और स्वार्थपूर्ण है ॥१४६॥

कनककेतु का चरित्र विस्तृत रूप से यहाँ दिया जा रहा है—

कनककेतु राजा की कथा

तेतलीपुर नगर में उन दिनों कनककेतु राजा का राज्य था। उसकी पटरानी का नाम पद्मावती था। राजा के मंत्री का नाम तेतलीपुत्र था। पोट्टिला नाम की अत्यंत

1. अन्य कथा में चूलणी का भागना और साध्वी से प्रतिबोध पाकर दीक्षा लेने का वर्णन आता है।

पतिभक्ता उसकी प्राणप्रिया थी। राज्यसुख में निमग्न कनककेतु के एक पुत्र हुआ। पुत्र होने के बाद उसने सोचा—‘यह बड़ा होते ही मेरा राज्य ले लेगा। इसीलिए अभी से ही इसका इंतजाम करना चाहिए, ताकि यह राज्य ग्रहण न कर सके। फलतः उसने अपने पुत्र के दोनों हाथ काट डाले। जब दूसरा पुत्र जन्मा तो उसके पैर काट दिये। इस तरह ज्यों-ज्यों पुत्र होते गये वह क्रमशः उनके किसी का कान तो किसी का नाक अथवा किसी की आँखें निकाल देता। इस तरह राजा कनककेतु ने राज्यलिप्सु बनकर सभी पुत्रों के अंगभंग कर डाले। यों करते-करते काफी अर्सा (समय) बीत गया। एक बार पद्मावती को एक शुभस्वप्न दिखाई दिया। उसने गर्भधारण किया, उसी दिन मंत्रीपत्नी पोष्टिला ने भी गर्भधारण किया। रानी ने मंत्री को गुप्तरूप से बुलाकर सूचित किया कि “मैं शुभस्वप्न के साथ इस बार गर्भवती हुई हूँ। अतः पुत्रजन्म होते ही आप उस बालक को चुपके से अपने यहाँ ले जाना और उसकी सुरक्षा करना, ताकि वह भविष्य में इस राज्य का उत्तराधिकारी हो सके और आप सबका भी आधार बनें।” मंत्री ने बात मंजूर की। योग्य समय पर रानी के पुत्र का जन्म हुआ। मंत्री ने गुप्त रूप से उस राजपुत्र को ले जाकर अपनी धर्मपत्नी पोष्टिला को पालनपोषण के लिए सौंप दिया। और उसी समय पोष्टिला के जो पुत्री उत्पन्न हुई थी, उसे उसने रानी को सौंप दी। दासी ने राजा को सूचित किया—‘रानी के पुत्री का जन्म हुआ है।’

राजपुत्र धीरे-धीरे मंत्री के यहाँ बड़ा होने लगा। मंत्री ने उसका नाम कनकध्वज रखा। जब वह जवान हुआ और उसी समय राजा कनककेतु की मृत्यु भी हो गयी। राजा की आकस्मिक मृत्यु से सभी सामंतों को यह चिन्ता हुई कि ‘अब राज्य किसको सौंपा जाय; क्योंकि राजा ने जितने पुत्र हुए सभी के अंगभंग कर दिये हैं। राज्य के योग्य किसी को न रखा।’ मंत्री ने उस समय राजसभा में सबके सामने यह रहस्योद्घाटन किया कि कनकध्वज राजा का ही पुत्र है। गुप्त रूप से यह मेरे यहाँ पाला गया है। इसे ही राजगद्दी पर बिठा दिया जाय। यह सुनकर सभी खुश हुए और उसे राजगद्दी देने में सहमत हुए। अतः शुभमुहूर्त में राज्याभिषेक करके उसे राजगद्दी पर बिठा दिया गया। कनकध्वज राजा भी मंत्री को अपना परम-उपकारी जानकर उनका बहुत आदर किया करता था और आनंदपूर्वक राज्यपालन करता था। एक दिन मंत्रीपत्नी पोष्टिल, जो पहले मंत्री को प्राणों से अधिक प्रिय थी, अपने अशुभकर्मों के कारण मंत्री को अप्रिय हो गयी। मंत्री ने उसकी शय्या एक अलग कमरे में पृथक् करवा दी, जिससे पोष्टिला के मन में रह-रहकर बड़ा संताप होता था। कहा भी है—

आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां गुरूणां मानमर्दनम् ।

पृथक् शय्या च नारीणामशस्त्रवध उच्यते ॥१२३॥

अर्थात् - राजाओं की आज्ञा भंग करना, गुरुओं का मान-मर्दन करना और स्त्रियों की शय्या पृथक् करनी, बिना किसी हथियार के ही उनका वध करने के समान कहलाता है ॥१२३॥

पति के द्वारा अपमानित और पीड़ित पोट्टिला दान-धर्मादि कार्यों में विशेष रूप से अपना समय बिताने लगी। उन्हीं दिनों उसके यहाँ एक दिन सुव्रता नाम की साध्वी भिक्षा के लिए पधारी। पोट्टिला ने बड़े आदरभाव से साध्वी को आहार दिया। उसके पश्चात् हाथ जोड़कर वह साध्वी से कहने लगी—“भगवती! कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मेरा पति मेरे वश में हो जाय। मैं बड़ी दुःखिया हूँ पति ने मुझे तिरस्कृत करके छोड़ रखी है। आप परोपकारी हैं। परोपकार करना महापुण्यवर्द्धक है।” कहा भी है—

दो पुरिसे धरइ धरा, अहवा दोहिं वि धारिया धरणी ।

उवयारे जस्स मई, उवयारो जो न विसरइ ॥१२४॥

अर्थात् - इस पृथ्वी ने दो पुरुषों को धारणकर रखा है; अथवा दो पुरुषों द्वारा पृथ्वी धारण की हुई है—१. एक तो वह, जिसकी बुद्धि उपकार में संलग्न है, २. दूसरा वह, जो किसी के किये हुए उपकार को भूलता नहीं है ॥१२४॥

पोट्टिला की बात सुनकर साध्वी सुव्रताजी ने कहा—“भद्रे! यह तुम कैसी बात कर रही हो? कुलिन स्त्रियों को वशीकरण जैसी हीनप्रवृत्ति करना उचित नहीं है। क्योंकि मंत्र आदि निकृष्ट उपायों से कामवासना की लालसा से पति को वश में करना महान् दोष का कारण है। और फिर हम तो महाव्रतधारिणी सर्वविरति चारित्र ग्रहण की हुई साध्वियाँ हैं; हमारे लिये मारण-मोहन-उच्चाटनादि मंत्रों का प्रयोग करना सर्वथा वर्जनीय है। तुम चाहती तो सुख ही हो न! तो फिर वास्तविक सुख के कारणों को छोड़कर पति को वश में करके किम्पाकफल के समान परिणाम में दारुण दुःख देने वाले सुखाभासरूप कामभोग के सुखों को क्यों अपनाना चाहती हो? सुख के भरोसे इन विषय-भोगों का चिरकाल तक सेवन करने पर भी मनुष्य तृप्त नहीं होता। अंत में, दुःख ही पल्ले पड़ता है। इसीलिए सच्चे सुख के मूल वीतरागदेव द्वारा कथित शुद्धधर्म का आचरण करो। जिससे तुम इस लोक और परलोक दोनों लोक में सुख प्राप्ति कर सकोगी।” साध्वीजी की बात पोट्टिला के गले उतर गयी। उसने साध्वीजी की बात स्वीकार की और पति से आज्ञा प्राप्त कर उनके पास भगवती दीक्षा अंगीकार की। दीक्षाग्रहण करते समय पति ने क्रोध रहित होकर

प्रशंसा करते हुए कहा—“पोट्टिले! धन्य है तुम्हें! तुमने उत्तम साध्वीधर्म अपनाया है। इसकी सम्यक् प्रकार से आराधना करने पर तुम्हें देवगति प्राप्त होगी। अतः अगर तू देवी हो जाय तो मुझे प्रतिबोध देने अवश्य आना।” पोट्टिला साध्वी इस भूमण्डल पर स्वपर कल्याण करती हुई विचरण करने लगी। चिरकाल तक निर्दोष चारित्र्याराधन कर पोट्टिला आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में उत्पन्न हुई।

वहाँ अवधिज्ञान से उसने अपने पूर्वजन्म का स्थान आदि जाना और पूर्वजन्म के अपने पति-मंत्री-को प्रतिबोध देने के लिए देव रूप में वह वहाँ आयी। तेतलीपुत्र मंत्री को उसने बहुत उपदेश दिया; मगर उसे जरा भी प्रतिबोध न हुआ। देव ने सोचा—‘राज्य के प्रति अत्यंत मोह के कारण इसे प्रतिबोध नहीं होता, इसीलिए इसे किसी उपाय से राज्य से विरक्त करना चाहिए।’ फलतः देव ने राजा के मन में मंत्री के प्रति घृणा पैदा कर दी। उसके कारण जब मंत्री राजसभा में आया तो राजा कनकध्वज उसे आदर देने के बदले मुंह फेरकर उसके प्रति उपेक्षा करके बैठा। राजा का यह रवैया देखकर मंत्री ने सोचा—“राजा मुझ से रुष्ट हो गया है। किसी दुष्ट ने मेरे खिलाफ राजा के कान भर दिये दिखते हैं। पता नहीं, यह मेरे साथ कैसा दुर्व्यवहार करेगा अथवा मुझे किस कुमौत से मरवायेगा! ऐसे अपमानित जीवन बिताने की अपेक्षा तो आत्महत्या करके मर जाना ही अच्छा है।” इस प्रकार के विचारों में डूबता-उतरता मंत्री घर आया और अपने गले में फंदा डाला। देव के प्रभाव से वह फंदा टूट गया। अतः उसने जहर का टुकड़ा मुंह में डाला, मगर वह भी प्रभाहीन हो गया। फिर तलवार लेकर अपनी गर्दन पर चलाने लगा। लेकिन देव ने उसकी धार बोथरी कर दी। निरुपाय होकर उसने आग में कूदना चाहा, लेकिन देवप्रभाव से आग भी ठंडी हो गयी। जब सभी उपाय निष्फल हो गये तो मंत्री उदास होकर बैठ गया। उसी समय पोट्टिलादेव ने प्रकट होकर कहा—“यह सारा जाल मैंने ही रचा है। तुम्हारे सारे मरणोपायों को मैंने ही निष्फल किया है। मेरा कहना मानो, अब आत्महत्या का विचार छोड़ो और स्व परकल्याणकारी मुनि जीवन अंगीकार करो।” मंत्री को संसार की खटपटों से विरक्ति हो चुकी थी, मोह उड़ गया था; इसीलिए उसने घरबार, संपत्ति आदि सर्वस्व छोड़कर सर्वविरतिचारित्र्य अंगीकार किया। राजा का भी मन अब मंत्री के प्रति बदल चुका था; वह क्षमायाचना और वंदना करने आया। इसके बाद तेतलीपुत्र मुनि ने चिरकाल तक भूतल पर विचरण किया; चौदह पूर्वों का अध्ययन किया। चार घातीकर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त किया। अतः वे अंत में समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष पहुँचे।

इस प्रकार पिता भी राज्यलोलुपतावश पुत्र को दुःखित करता है, इसीलिए पिता का स्नेह भी झूठा और स्वार्थपूर्ण है, यही इस कथा का तात्पर्य है ॥१४६॥

विसयसुहरागवसओ, घोरो भायाडवि भायरं हणइ ।

ओहाविओ वहत्थं, जह बाहुबलिस्स भरहवई ॥१४७॥

शब्दार्थ - 'विषयसुख के राग (आसक्ति) वश भयंकर शस्त्रादि से भाई भी अपने भाई को मार डालता है। जैसे भरतचक्रवर्ती अपने भाई बाहुबलि को मारने के लिए दौड़ा था; वैसे ही तुच्छ स्वार्थवश भाई भी अपने भाई को मारने दौड़ता है। अतः धिक्कार है ऐसे स्वार्थ को!' ॥१४७॥

भरत-बाहुबलि का दृष्टांत पहले आ चुका है। कहने का तात्पर्य यह है कि भाई-भाई का स्नेह संबंध भी झूठा है ॥१४७॥

भज्जाडवि इंदियिगारदोसनडिया, करेइ पइपावं ।

जह सो पएसिराया, सूरियकंताइ तह वहिओ ॥१४८॥

शब्दार्थ - 'इन्द्रियों के विकार दोष से बाधित पत्नी भी अपने पति के प्राणहरण कर लेती है। जैसे प्रदेशी राजा को उसकी पत्नी सूरिकान्ता रानी ने विष देकर मार डाला था।' ॥१४८॥

प्रदेशी राजा का दृष्टांत भी पहले आ चुका है। इसीलिए पत्नी का प्रेम भी विषयसुखजन्य होने से कृत्रिम और स्वार्थी है ॥१४८॥

सासयसुखतरस्सी, निअंगस्समुब्भयेण पियपुत्तो ।

जह सो सेणियराया, कोणियरणा खयं नीओ ॥१४९॥

शब्दार्थ - शाश्वत सुख प्राप्त करने का अभिलाषी, भगवन् के वचनों में अनुरक्त और क्षायिकसम्यक्त्वी श्रेणिकराजा अपने ही अंगज और प्रियपुत्र कोणिक राजा द्वारा मार डाला गया था। अतः पुत्र स्नेह भी व्यर्थ है।

यहाँ प्रसंगोपात कोणिक राजा का उदाहरण दिया जा रहा है—

कोणिक राजा की कथा

उन दिनों धनधान्य से समृद्ध, धनाढ्य श्रेष्ठी लोगों और सुशोभित घरों से परिपूर्ण और नगरों में अग्रणी राजगृह नगर में भगवान् महावीर का परमभक्त श्रेणिक राजा राज्य करता था। उसके रूप-लावण्य-सम्पन्न, शील-सौजन्यगुणों से सुशोभित पतिभक्ता चिल्लणा नाम की पटरानी थी। चिल्लणा के गर्भ सीप में मोती की तरह एक ऐसा जीव आया, जिसने बहुत तप किया था और जिसका श्रेणिकराजा के साथ पूर्वजन्म का वैर था और उस गर्भ के प्रभाव से चिल्लणा रानी को तीसरे

महीने में अपने पति (श्रेणिक राजा) के कलेजे का मांस खाने का अशुभ दोहद पैदा हुआ। दोहद पूर्ण न होने से रानी दिनोंदिन दुर्बल होती जाती थी। रानी की ऐसी हालत देखकर एक दिन राजा श्रेणिक ने उससे अत्यंत आग्रहपूर्वक इसका कारण पूछा। रानी ने अशुभ दोहद उत्पन्न होने की बात कही। इस पर राजा ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—“कमलाक्षी प्रिये! तुम जरा स्वस्थ हो जाओ, फिर तुम्हारा यह दोहद पूर्ण किया जायेगा।”

राजा ने मौका देखकर एक दिन यह बात अपने बुद्धिमान पुत्र अभयकुमार से कही। अभयकुमार ने युक्ति सोचकर राजा के हृदय पर किसी अन्य जीव के मांस का टुकड़ा बांधकर रानी के सामने उसे काटकर उसका यह अशुभ दोहद पूर्ण किया। गर्भकाल पूर्ण होने पर चिल्लणा रानी ने पुत्र को जन्म दिया। रानी ने इस अनिष्टकारक पुत्र को जिंदा ही अशोकवाटिका के एक वृक्ष के नीचे लिटा दिया। दासी से जब राजा ने यह बात सुनी तो पुत्र-स्नेहवश वे वहाँ जाकर उसे उठा लाये और लाकर रानी को सौंप दिया। राजा ने हर्ष से उसका नाम अशोकचन्द्र रखा था, लेकिन उस पेड़ के नीचे एक मुर्गे ने आकर उसकी अंगुली का एक कोना काट खाया था, इस कारण सब उसे कोणिक नाम से पुकारने लगे। अंगुली की पीड़ा के कारण जब बालक कोणिक जोर-जोर से रोने और चिल्लाने लगा तो राजा बार-बार उसकी अंगुली को अपने मुँह में डालकर चूसता और खराब खून बाहर थूक देता। इससे कोणिक स्वस्थ हो गया। बचपन पार करके जब जवानी में कदम रखा तो सुंदर राजकन्या के साथ राजा श्रेणिक ने उसकी शादी कर दी। कोणिक विषयसुखों में मग्न रहकर जीवन व्यतीत करने लगा।

कोणिक के देवसमान दो छोटे भाई और थे। उनका नाम था—हल्लकुमार और विहल्लकुमार। राजा श्रेणिक ने जब अपनी जायदाद का बंटवारा सब पुत्रों में किया तो इन दोनों कुमारों को क्रमशः बहुमूल्य हार और सेचनक हाथी दिये। कोणिक के मन में इससे बहुत ईर्ष्या पैदा हुई। पिता के प्रति रोष भी था। स्वयं राजा बनने की धुन भी थी। अतः राजा श्रेणिक को उसने छल करके लकड़ी के पीजरे में बंद कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा। राजा होने के अभिमान में आकर वह अपने पिता को सदा कोड़े लगाता था।

कोणिक राजा की रानी पद्मावती ने एक सुंदर पुत्ररत्न को जन्म दिया। जब वह दो साल का था, तब कोणिक राजा एक दिन उसे अपनी गोद में बिठाकर भोजन कर रहा था। तभी अचानक उस बच्चे ने पेशाब कर दिया। परंतु कोणिक जरा भी मुंह मचकोड़े बिना उस मूत्रमिश्रित भोजन को खाता रहा।

इसके बाद उसने अपनी माता से पूछा—“माँ, इस पुत्र के प्रति मुझे बहुत प्यार उमड़ता है, इसका क्या कारण है?” तब माता ने कोणिक से कहा—‘अरे क्रूरमते! इस बच्चे पर तेरा क्या प्यार है, तेरे पिता का तुझ पर इससे कई गुना अधिक स्नेह था।’ यह कहकर माता ने कोणिक को उसके बचपन की सारी घटना आद्योपांत सुनाई। उसे सुनकर पिता के साथ अपने निर्दय व्यवहार के प्रति कोणिक को मन में बड़ा खेद हुआ। वह अपने इस निन्दित कर्म के लिए अपने आप को कोसने व पश्चात्ताप करने लगा। सहसा कोणिक के दिमाग में पिताजी को बंधनमुक्त करके उनसे क्षमा मांगने की सूझी। वह कुल्हाड़ी लेकर जेलखाने की ओर भागा। श्रेणिक राजा ने जब कोणिक को इस प्रकार अपनी ओर आते देखा तो उनके मन में विचार आया कि न मालूम, यह दुष्ट किस कुपौते से मुझे मारेगा!” अतः उन्होंने उसके अपने पास आने से पहले ही स्वयं तालपुटविष खाकर अपना काम तमाम कर लिया। नरक का आयुष्य सम्यक्त्वप्राप्ति से पहले बंधा होने के कारण वे पहली नरक में गये। कोणिक पिता को मरा देखकर हक्काबक्का रह गया। वह फूट-फूटकर जोर जोर से रोने लगा। परंतु अब क्या हो सकता था? सबने उसे समझा-बुझाकर शांत किया। कोणिक ने पिता की अन्त्येष्टिक्रिया की। मुख्यमंत्रियों ने विविध उपायों से कोणिक को सांत्वना व शांति देकर शोक दूर किया।

कोणिक राजा ने एक बार अपनी पद्मावती के द्वारा उत्तेजित होकर हल्ल-विहल्लकुमारों से उक्त तीन दिव्य वस्तुओं-कुण्डल, हार और हाथी की मांग की। जब उन्होंने देने से इन्कार किया तो कोणिक ने धमकाया। फलस्वरूप हल्ल-विहल्लकुमार उन तीनों चीजों तथा अन्य बहुमूल्य चीजों को लेकर अपने मातामह (नाना) चेड़ा राजा के पास पहुँचे। चेड़ा राजा ने सारी वस्तुस्थिति समझकर अभिमानी और उद्धत कोणिक को समझाने का प्रयत्न किया; किन्तु वह किसी तरह न माना; उल्टे अपने नाना के साथ युद्ध करने को तैयार हो गया। युद्ध में करोड़ों आदमी मारे गये। इस महापाप के कारण कोणिक आयुष्य पूर्ण करके नरक में पहुँचा।

इस तरह पुत्रस्नेह भी मिथ्या है; यही इस कथा का मुख्य उपदेश है॥१४९॥

लुब्धा सकज्जतुरिआ, सुहिणो वि विसंवर्धन्ति कथकज्जा ।

जह चंदगुत्तगुरुणा, पव्वयओ घाड़ओ राया ॥१५०॥

शब्दार्थ - जो व्यक्ति राज्य आदि में लुब्ध होते हैं, वे अपना कार्य सिद्ध

करने में उतावले होते हैं; परंतु अपना काम बन जाने के बाद अपने मित्रों के खिलाफ बोलने लगते हैं; मित्रों के साथ वे द्रोह करने लगते हैं। जैसे चन्द्रगुप्त राजा के गुरु चाणक्यमंत्री ने पर्वत राजा से विश्वासघात किया॥१५०॥

प्रसंगवश यहाँ चाणक्य की कथा दे रहे हैं—

चाणक्य की कथा

चणक गाँव में चणी नामक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम चणेश्वरी था। दोनों जैनधर्म के अनुयायी और जिनेश्वरदेव के भक्त थे। एक दिन उनके एक पुत्र हुआ, जिसके जन्म लेते ही मुंह में सभी दांत थे। अतः उसका नाम चाणक्य रखा। एक दिन एक मुनि उसके यहाँ भिक्षा के लिए आये। अपने पुत्र को गुरुदेव के चरणों में रखकर चणी ने पूछा—“भगवन्! मेरे यहाँ जन्म से ही मुख में समस्त दंतपंक्ति वाला यह बालक हुआ है, इसका क्या कारण है? और इसका क्या प्रभाव होगा?” मुनिवर ने कहा—“यह इसके भविष्य में राजा बनने के लक्षण हैं।” इस पर माता पिता ने विचार किया कि “चिरकाल तक राज्यासक्ति रखने वाला व्यक्ति अवश्य ही नरक में जाता है। हमारा यह बालक राज्यासक्त होकर नरकभागी बनें, यह ठीक नहीं है।” अतः माता पिता ने पुत्र के दांतों को किसी चीज से घिस डालो। एक दिन फिर जब मुनि उनके यहाँ आये तो उनसे चाणक्य के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा—“अब दांत घिस जाने के कारण राजा तो नहीं, किन्तु राजमंत्री होगा; यह किसी व्यक्ति को प्रेरित करके स्वयं राज्य-संचालन करायेगा।” धीरे-धीरे चाणक्य बड़ा हुआ, सभी विद्याओं में प्रवीण हुआ। यौवन-अवस्था में पहुँचते ही मातापिता ने एक उत्तम ब्राह्मण की कन्या के साथ उसका विवाह किया। सांसारिक सुखोपभोग करते हुए चाणक्य अपना जीवन बिताने लगा। एक दिन चाणक्य की पत्नी सादे पोशाक पहनकर अपने भाई की शादी के मौके पर पीहर गयी। किन्तु सादे कपड़े और निर्धनता के कारण पिता के यहाँ किसी ने भी उसे योग्य आदर नहीं दिया। उस मौके पर उसकी दूसरी बहनें भी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर वहाँ आयी हुई थी, भाई ने उनका बहुत आदर किया। सचमच, संसार में स्वार्थ का मूल कारण धन है। नीतिज्ञ कहते हैं—

जातिर्यातु रसातलं गुणगणास्तत्राऽप्यधो गच्छताम्.

शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना ।

शौर्ये वैरिणी वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलम्,

येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥१२५॥

अर्थात् - जाति चाहे रसातल में चली जाय; गुणसमूह भी चाहे नीचे गिर जाय; शील चाहे पहाड़ के किनारे से गिरकर चूर-चूर हो जाय; स्वजन-पारिवारिक जन चाहे आग में जलकर भस्म हो जाय; दुश्मन शौर्य पर चाहे शीघ्र वज्र गिर पड़े, हमें तो केवल धन से काम है, वही मिल जाय; जिस एक धन के बिना ये सारे गुण तिनके के टुकड़ों के समान हैं ॥१२४॥

चाणक्यपत्नी ने जब यह देखा कि मेरी बहनों से तो भाई सभी कामों में सलाह लेता है, मुझ से पूछता तक नहीं। मैं भी इसकी बहन हूँ। परंतु मेरे पास धन नहीं है, इसीलिए ही भाई मुझसे सीधे मुंह बात तक नहीं करता। इस प्रकार वह चिन्तातुर होकर मन ही मन खेद करने लगी। किसी तरह विवाहकार्य समाप्त होते ही दुःखित मन से घर चली आयी। चाणक्य ने अपनी पत्नी का चेहरा उतरा हुआ देखकर उद्विग्नता का कारण पूछा तो उसने सारी आपबीती सुना दी। चाणक्य को सुनकर बड़ी ग्लानि हुई। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह भी परदेश जाकर किसी न किसी तरह धन कमा कर लायेगा और अपनी पत्नी का मनोरथ पूर्ण करेगा। अतः पत्नी से कहकर वह परदेश रवाना हो गया। घूमता-घूमता वह कुछ ही दिनों में पाटलिपुत्र पहुँचा और नंदराजा को आशीर्वाद देकर उससे धन की याचना करने हेतु जब चाणक्य राजसभा में पहुँचा तो नंदराजा के मुख्य भद्रासन पर बैठ गया। दासी ने यह देखकर चाणक्य से कहा—“विप्रवर! नंदराजा के इस भद्रासन को छोड़कर दूसरे आसन पर बैठिए।” चाणक्य बोला—“दूसरे आसन पर तो मेरा कमण्डलु रहेगा।” दासी ने जब तीसरा आसन बताया तो चाणक्य ने अपना दण्ड रखकर कहा—“इस पर तो मेरी माला रहेगी।” चौथे आसन की ओर संकेत किया तो उस पर माला रखते हुए कहा—“इस पर तो मेरा दंड रहेगा।” दासी ने जब पांचवां आसन बताया तो उसने अपना यज्ञोपवीत उस पर रख दिया। इस तरह जब पांचों ही आसन रोक लिये तो दासी झल्लाकर बोली—“तुम तो कोई धूर्त मालूम होते हो। मैं तो समझती थी कि सरलता से मेरी बात मान जाओगे। इसके बदले तुमने पहले का आसन तो छोड़ा ही नहीं, बल्कि नये-नये और आसन भी रोक लिये।” यह कहकर दासी ने चाणक्य को लात मार दी। लात लगते ही क्रुद्ध सर्प की तरह चाणक्य गुस्से में आकर खड़ा होकर फुफकारने लगा—“दुष्ट दासी! तेरी इतनी जुर्रत! (हीममत) तीन कौड़ी की नौकरानी होकर तू मेरा अपमान करती है। याद रख, तेरे इस परंपरागत नंदराजा को राजगद्दी से हटाकर इसके स्थान पर नये राजा को राजगद्दी पर न बिठा दू तो मेरा नाम चाणक्य नहीं।” यों कहकर भन्नाता हुआ चाणक्य नगर से बाहर चला

आया। वहाँ एक पेड़ के नीचे बैठकर सोचने लगा—‘बचपन में मेरे संबंध में एक मुनि ने कहा था कि ‘यह राजा को मार्गदर्शन देने वाला राज्य संचालन कुशल मंत्री होगा।’ अतः अब मुझे राजा के योग्य किसी पुरुष की खोज करनी चाहिए।’ चाणक्य इसी धुन में अनेक गाँवों और नगरों में घूमता हुआ नंदराजा के मयूरपाल के गाँव में पहुँचा। वहाँ वह संन्यासी वेष में भिक्षार्थ घूमने लगा। वह मयूरपालक के यहाँ पहुँचा वहाँ उसकी गर्भवती पत्नी को चन्द्रपान करने का दोहद पैदा हुआ था। और वह किसी भी उपाय से पूर्ण नहीं होगा ऐसा सोचकर उस महिला ने अपने पति से नहीं कहा; इस कारण दिनोंदिन दुर्बल होती जा रही थी। मयूरपालक के बहुत अनुरोध पर उसकी पत्नी ने सारी बात खोलकर कही। मयूरपालक ने चाणक्य को देखकर दोहद पूर्ण करने का उपाय पूछा। चाणक्य ने कहा—“मैं इस दोहद को आसानी से पूर्ण करने का उपाय बता सकता हूँ; बशर्ते कि इस गर्भस्थ शिशु को मुझे दे दोगे। अन्यथा, यह दोहद पूर्ण नहीं होगा और इस महिला एवं गर्भस्थ शिशु दोनों के जान को खतरा है।” पंचों के सामने जब मयूरपालक ने अपना पुत्र चाणक्य को दे देना स्वीकार किया तो चाणक्य ने घास की एक झोंपड़ी बनाई। उसके बीचोबीच एक छिद्र रखा, ताकि चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब उसमें से होकर नीचे पड़ सके। एक आदमी को चाणक्य ने सारी बात समझाकर एक ढक्कन देकर उसे झोंपड़ी पर चढ़ा दिया। गर्भवती महिला को झोंपड़ी में बिठा दिया। आधी रात को जब चन्द्रमा आकाश के बीचोबीच आया तो दूध से भरी एक गोल थाली उस महिला के सामने रखी। थाली में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ा तो चाणक्य ने कहा—“भाग्यशालिनी! तेरे भाग्य से ही यह चन्द्रमा यहाँ आया है, इसीलिए सहर्ष इसका पान करा।” यों कहते ही महिला उसे चन्द्र समझकर पान करने लगी। ज्यों-ज्यों क्रमशः वह दूध पीती जाती थी, त्यों-त्यों छप्पर पर बैठा हुआ मनुष्य उस ढक्कन से छिद्र को ढकता जाता था। जब वह थाली का दूध सारा का सारा पी गयी तो छिद्र भी बंद हो गया। वह भी समझ गयी कि ‘मैंने चन्द्रपान कर लिया और मेरा दोहद पूर्ण हो गया।’ चाणक्य दोहद पूर्ण करवाकर ‘यही गर्भस्थ शिशु भविष्य में राज्याधिपति होगा’ ऐसा मन में निर्णय कर धातुविद्या सीखने के लिए वहाँ से अन्यत्र चल पड़ा।

देशाटन करते हुए काफी समय के बाद चाणक्य ने स्वर्णसिद्धि प्राप्त कर ली। इधर उस महिला ने पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम रख दिया—चन्द्रगुप्त। जब वह आठ साल का हुआ तो अपने हमजोली (समान आयु) लड़कों के साथ राजा का खेल खेला करता था। स्वयं राजा बनता, किसी को

कुछ गाँव जागीरी में दे देता, किसी को कुछ देश, किसी को किले का अधिपति बना देता। संयोगवश घूमते-घामते चाणक्य भी एक दिन वहाँ आ पहुँचा। चाणक्य ने कुतूहलवश यह तमाशा देखा तो पास आकर उसने चन्द्रगुप्त से याचना की— 'राजन्! तुम सबको मनोवांछित वस्तु देते हो, मुझे भी कुछ इच्छित वस्तु दो।' इस पर चन्द्रगुप्त ने कहा— 'ये सारी गायें मैं तुम्हें देता हूँ। इन्हें ले जाओ।' यह सुनकर चाणक्य बोला— 'ये सारी गायें तो दूसरे की हैं, इन्हें मैं कैसे ले सकता हूँ।' इस पर चन्द्रगुप्त साहसपूर्वक बोला— 'यः समर्थस्तस्येयं पृथ्वी' 'जो समर्थ होता है, उसी की यह पृथ्वी होती है।' चाणक्य ने दूसरे बालकों से पूछा— 'यह लड़का किसका है?' उन्होंने कहा— 'यह बालक एक परिव्राजक को दिया हुआ है, इसकी मां को उत्पन्न हुए चन्द्रपान के दोहद से यह बालक हुआ है, इसीलिए इसका नाम चन्द्रगुप्त रखा है।' यह सुनकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा— 'वत्स! यदि तुझे राज्यप्राप्ति की इच्छा हो तो चल मेरे साथ, मैं तुझे राज्य दिलाऊंगा।' यह कहकर चन्द्रगुप्त को साथ लेकर चल पड़ा। धातुविद्या के प्रयोग से कुछ धन एकत्रकर चाणक्य ने थोड़ी-सी सेना इकट्ठी की और पाटलिपुत्रनगर के चारों ओर घेरा डाल दिया। नंदराजा को यह मालूम पड़ा तो उसने विशाल सेना लेकर युद्ध किया। युद्ध में चाणक्य की सेना हार गयी। फलतः चाणक्य चन्द्रगुप्त को लेकर भाग गया। नंदराजा ने उसे पकड़ने के लिए पीछे-पीछे सेना दौड़ाई। एक सैनिक जब चाणक्य के नजदीक आ रहा था, तब तक उसने झटपट चन्द्रगुप्त को सरोवर में छिपा दिया और स्वयं किनारे पर आकर योगी के वेष में ध्यान लगाकर बैठ गया। सैनिक ने जब पूछा कि 'योगीश्वर! आपने नंदराजा के शत्रु चन्द्रगुप्त को इधर से जाते हुए देखा है?' चाणक्य ने सरोवर में छिपे चन्द्रगुप्त को अंगुली के इशारे से बताया तो वह उसे पकड़ने के लिए घोड़े से उतरकर सैनिक की वर्दी और हथियारों को उतारकर ज्यों ही जल में प्रवेश करता है, त्यों ही चाणक्य ने उसी की तलवार से उसकी गर्दन उड़ा दी। फिर उसने इशारे से चन्द्रगुप्त को बुलाकर घोड़े पर बिठाया। स्वयं भी बैठा और दोनों आगे चल दिये। रास्ते में चन्द्रगुप्त से चाणक्य ने पूछा— 'वत्स! जब मैंने अंगुली के इशारे से उस सैनिक को तुझे बताया था, तब तेरे मन में क्या विचार उठे थे?' चन्द्रगुप्त बोला— 'तात! मैंने यही सोचा कि आप जो कुछ कर रहे हैं, वह ठीक ही कर रहे हैं।' चाणक्य ने यह उत्तर सुनकर सोचने लगा— 'यह चन्द्रगुप्त सुशिक्ष्य के समान मेरा आज्ञाकारी बनेगा।'

चाणक्य और चन्द्रगुप्त इस प्रकार बातें कर रहे थे कि अचानक पीछे से एक सैनिक धोड़ा दौड़ाता हुआ वहाँ आ पहुँचा। चाणक्य ने फुर्ती से चन्द्रगुप्त को

सरोवर में छिपाकर कपड़े धो रहे एक धोबी को डराकर भगा दिया और स्वयं धोबी का स्वांग रचकर कपड़े धोने लगा। उस सैनिक ने जब चन्द्रगुप्त का पता पूछा तो चाणक्य ने पहले की तरह उसे अंगुली के इशारे से तालाब में बताया और जब वह उसे पकड़ने के लिए तालाब में घुस रहा था, तभी उसकी गर्दन काट ली। उसके बाद दोनों दोनों घोड़ों पर सवार होकर आगे बढ़े। दोपहर में चन्द्रगुप्त को भूख लगी तो चाणक्य उसे गाँव के बाहर बिठाकर स्वयं गाँव में आया। दही और भात खाकर सामने से आता हुआ एक ब्राह्मण उसे मिला। चाणक्य ने उससे पूछा—“भट्टजी! आप क्या भोजन करके आये हैं?” ब्राह्मण बोला—“मैं दही-चावल खा कर आया हूँ।” चाणक्य ने सोचा—“अगर इस समय मैं शहर में भिक्षा लेने जाऊंगा तो काफी समय लगेगा; इतनी देर में शायद नंदराजा के सैनिक आकर चन्द्रगुप्त को पकड़कर मार डालें। अतः इस ब्राह्मण का ही पेट चीरकर दही-चावल देने में भरकर क्यों न ले जाऊँ!” चाणक्य ने वैसा ही करके उस दही-चावल के भोजन से चन्द्रगुप्त को तृप्त किया। शाम को वे दोनों किसी गाँव में पहुँचे वहाँ चाणक्य भिक्षुकवेष में किसी बुढ़िया के यहाँ भिक्षा के लिए जा पहुँचा। बुढ़िया ने अभी-अभी अपने बालकों के लिए एक थाली में गर्म-गर्म राब परोसी थी। उनमें से एक बच्चे ने थाली के बीच में हाथ डाला, जिससे उसका हाथ जल गया। वह रोने लगा। यह देख बुढ़िया ने कहा—“कालमुंहे! तू भी उस चाणक्य के समान मूर्ख ही रहा मालूम होता है!” यह सुनते ही चाणक्य ने पूछा—“माजी! चाणक्य कैसे मूर्ख हुआ?” बुढ़िया बोली—“सुनो! चाणक्य आगे, पीछे और आसपास के गाँवों और नगरों को फतेह किये (जीते) बिना ही एकदम पाटलिपुर जीतने गया। इसीलिए उसे हारकर भागना पड़ा। इसी तरह मेरा यह पुत्र भी आसपास की ठंडी हुई राब को छोड़कर बीच की गर्म राब में हाथ डालने गया, इससे उसका हाथ जल गया और वह रोने लगा। यह मूर्खता नहीं तो क्या है?” वृद्धा की प्रेरणा हृदयंगम करके चाणक्य चन्द्रगुप्त को लेकर हिमालय की ओर गया। वहाँ उसने पर्वतराजा के साथ मैत्री की। कुछ दिनों बाद पर्वतराजा को आधा राज्य देने का वचन देकर चाणक्य उसकी विशाल सेना लेकर आसपास के अनेक देशों को जीतता हुआ पाटलीपुत्र पहुँचा। वहाँ नंदराजा के साथ युद्ध किया। इस युद्ध में नंदराजा हार गया। उसने नगर से निकलने के लिए चाणक्य से धर्मद्वार मांगा। चाणक्य ने यह स्वीकार किया। अतः नंदराजा अपनी पत्नी, पुत्री और कुछ सारभूत धन साथ लेकर रथ में बैठकर रवाना हुआ। नगर के मुख्यद्वार में प्रवेश करते समय नंदराजा की रथ में बैठी हुई पुत्री चन्द्रगुप्त का रूप-लावण्य देखकर उस पर मोहित

हो गयी। चन्द्रगुप्त के प्रति अपनी पुत्री का स्नेहाकर्षण देखकर उसे रथ से वहीं उतार दी। वह उसी समय चन्द्रगुप्त के रथ में बैठ गयी। सहसा रथ के नौ आरे टूट गये। यह देखकर चन्द्रगुप्त ने चाणक्य से कहा—“पिताजी नगरप्रवेश के समय यह अपशकुन हुआ मालूम होता है।” चाणक्य ने समझाया—“वत्स! यह अपशकुन नहीं, शुभ शकुन है। रथ के नौ आरे टूटे हैं, इससे तेरा राज्य नौ पीढ़ी तक स्थिर रहेगा।” नंदराजा की कन्या के साथ नगर में आने पर चन्द्रगुप्त का विवाह हो गया।

नंदराजा जाते समय अपने महल में अत्यंत रूपवती एक विषकन्या को छोड़ गया था। चाणक्य ने अनुमान से उसे दोषदूषित जानकर पर्वतराजा के साथ उसका विवाह करा दिया। उसके अंगस्पर्श से पर्वतराजा के शरीर में जहर फैल गया। उस समय चन्द्रगुप्त ने चाणक्य से कहा—“हमने पर्वतराजा की सहायता से राज्य पाया है, अतः ऐसे उपकारी मित्र की योग्य चिकित्सा करानी चाहिए।” चाणक्य ने उत्तर दिया—“बिना औषध से व्याधि जाती है अर्थात् यह अर्ध राज्य का मालिक बनेगा यह व्याधि है और युद्ध किये बिना मर रहा है तो मरने दो। ऐसा करके चाणक्य ने मरते हुए मित्र की उपेक्षा की।” आखिर जहर फैल जाने से पर्वत चल बसा। इस प्रकार चाणक्य ने अपना मतलब गांठकर अपने मित्र को बिलकुल छटका दिया ॥१५०॥

इसीलिए मित्रस्नेह भी कृत्रिम है, यही इस कथा का उपदेश है।

निययाडयि निययकज्जे, विसंवयंतंमि हुंति खरफरुसा ।

जह राम-सुभूमकओ, बंभक्खत्तस्स आसि खओ ॥१५१॥

शब्दार्थ - स्वजनसंबंधी भी अपना काम बन जाने के बाद क्रूर और कठोर वचन बोलने वाले बन जाते हैं। जैसे परशुराम और सुभूम ने क्रमशः अपने ही स्वगोत्रीय ब्राह्मणों और क्षत्रियों का नाश किया था ॥१५१॥

भावार्थ - परशुराम ने सात बार इस पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनायी थी और सुभूमचक्री ने २१ बार पृथ्वी अब्राह्मणी कर दी थी; इन दोनों अकृत्यों में अपने स्वजन संबंधी लोगों का भी विनाश हुआ था। इसीलिए स्वजनस्नेह भी व्यर्थ है। इस संबंध में परशुराम और सुभूमचक्रवर्ती का उदाहरण दे रहे हैं-

परशुराम और सुभूमचक्री की कथा

सुधर्मा देवलोक में विश्वानर और धन्वन्तरी नामक दो मित्रदेव थे। एक जैन था दूसरा तापस था। दोनों परस्पर धर्मचर्चा किया करते और अपने-अपने धर्म की

प्रशंसा करते रहते थे। एक दिन वे दोनों किसका धर्म श्रेष्ठ है? इसका निर्णय करने हेतु धर्म-परीक्षार्थ मर्त्यलोक में आये। मिथिला नगरी का राजा पद्मरथ उस समय अपना राज्य छोड़कर वैराग्यभाव से श्रीवासुपूज्यभगवंत के पास दीक्षा अंगीकार करने जा रहा था। उसे भावचारित्री देखकर जैनदेव ने अपने मित्र तापस भक्तदेव से कहा—‘पहले हम इसकी परीक्षा कर लें, बाद में तुम्हारे तापस की परीक्षा करेंगे।’ उन्होंने भाव साधु पद्मरथ जब भिक्षा के लिए धूम रहे थे। तो वे उनके सामने स्वादिष्ट उत्तम भोजन लाकर देने लगे, परंतु वे अपनी साधुवृत्ति से जरा भी विचलित न हुए, वह भोजन अकल्प्य होने से ग्रहण नहीं किया। उसके पश्चात् उन्होंने जिस महोल्ले में वे भावसाधु जा रहे थे, उसके मार्ग में जगह-जगह मेंढक ही मेंढक घूमते बताये। उस रास्ते को छोड़ वे जब दूसरे रास्ते में जाने लगे तो वहाँ कांटे बिखेर दिये। परंतु वे जीवों की विराधना वाले रास्ते को छोड़कर वे कांटे वाले रास्ते से चले। सावधानी पूर्वक चलने पर भी उनके पैर में कांटे चुभ जाने से खून की धारा बह निकली, दर्द भी बहुत होने लगा। परंतु भाव-मुनि जरा भी खिन्न न हुए, ईर्या समिति पूर्वक चलते हुए जरा भी उद्विग्न न हुए। तब देव ने एक नैमित्तिक का रूप बनाया और उनके सामने हाथ जोड़कर कहने लगे—
“भगवन्! आप दीक्षा लेने जा रहे हैं, परंतु मैं निमित्तबल से जानता हूँ कि आपका आयुष्य बहुत लंबा है, इसीलिए आप अभी राज्य चलाते हुए विषयसुखों का उपभोग करते हुए आनंद से जिंदगी बिताएँ, जब बुढ़ापा आ जाय तब आपका संयम ग्रहण करना ठीक रहेगा। कहाँ तो सुंदर मनोज्ञ विषयसुखों का स्वाद और कहाँ रेत के कौर के समान नीरस यह योगमार्ग? भाव-मुनि ने कहा—“भव्य! यदि मेरा आयुष्य लम्बा है तो बहुत ही अच्छा है, मेरे लिये। मैं दीर्घकाल तक चारित्र की आराधना करूँगा जिससे मुझे महान् लाभ ही होगा। और फिर धर्म में पुरुषार्थ तो युवावस्था में ही करना चाहिए। जैनशास्त्र दशवैकालिक में भी कहा है—

जरा जावं न पीडेइ वाही जावं न वड्डई ।

जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥१२६॥

अर्थात् - ‘जब तक बुढ़ापा आकर पीड़ित नहीं कर लेता, जब तक कोई बीमारी आकर घेर नहीं लेती, जब तक इन्द्रियाँ क्षीण नहीं हुई, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए’ ॥१२६॥

बुढ़ापे से घिर जाने पर और उस समय इन्द्रियाँ शिथिल हो जाने पर मनुष्य धर्माचरण कर ही कैसे सकता है? कहा भी है—

दन्तैरुच्चलितं धिया तरलितं पाण्यडिघ्राणा कम्पितम्,
हृग्भ्यां कुड्मलितं बलेन लुलितं रूपश्रिया प्रोषितम् ।
प्राप्तायां यमभूपतेरिह महाधाद्यां जरायामियं,
तृष्णा केवलमेकैव सुभटी हृत्पत्तने नृत्यति ॥१२७॥

अर्थात् - यमराज की महान् धाड़ रूपी इस वृद्धावस्था के आ धमकने पर दांत हिलने लगते हैं; बुद्धि चंचल हो जाती है; हाथ-पैर कांपने लगते हैं; आँखें कमजोर हो जाती हैं; बल नष्ट हो जाता है; रूपश्री भी विदा हो जाती है; हृदय रूपी नगर में केवल एक तृष्णा रूपी वाराहना सुभटी नाचती रहती है ॥१२७॥

इस प्रकार के उत्तर से भाव-मुनि की दृढ़ता जानकर दोनों देव बड़े प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा करने लगे। इसके पश्चात् जैनदेव ने तापस भक्तदेव से कहा—“जैनों का दिव्यस्वरूप तो हमने देख-परख लिया, अब चले तापस स्वरूप को भी परख लें।” इस प्रकार दोनों एकमत होकर तापस-परीक्षा के लिए जंगल की ओर चल दिये। वहाँ उन्होंने एक जटाधारी वृद्ध एवं तीव्र तपश्चरण कर्ता यमदग्नि नामक तापस को देखा। उसकी परीक्षा करने के लिए वे दोनों देव चकवा-चकवी का रूप बनाकर उसकी दाढ़ी में घोंसला बनाकर बैठ गये। फिर चकवा मनुष्यवाणी में बोला—‘हे बाले! तू यहाँ सुख से रहा। मैं हिमालय पर्वत पर जाकर आता हूँ।’ चकवी ने कहा—“प्राणनाथ! मैं आपको वहाँ हर्गिज नहीं जाने दूंगी। क्योंकि जो पुरुष वहाँ जाता है, वह वहीं लुब्ध हो जाता है। अतः यदि आप वहाँ से न लौटें तो मेरी क्या दशा होगी? मैं अबला अकेली यहाँ कैसे रह सकूंगी? आपका वियोग मुझ से कैसे सहा जायगा?” यह सुनकर चकवा बोला—“प्रिये! तू ऐसी हठ क्यों पकड़ रही है? मैं जल्दी ही वहाँ से वापिस लौट आऊंगा। यदि न आऊँ तो मुझे ब्राह्मण, स्त्री, बालक और गाय की हत्या का पाप लगे।” चकवी कहने लगी—“मैं ऐसी शपथ को नहीं मानती। मैं तो आपको तभी जाने दे सकती हूँ, यदि आप वापिस लौटकर न आये तो यमदग्नि तापस का पाप आपके सिर पर धारण करेंगे।” चकवा बोला—‘ऐसी बात मत कह। कौन ऐसे पाप को सिर पर ले!’ इस संवाद को सुनकर यमदग्नि तापस ध्यान से विचलित हुए और चकवा-चकवी को पकड़कर क्रोध से आगबबूला होकर बोले—“मेरा ऐसा कौन-सा अधिक पाप है?” चकवे ने उत्तर दिया—मुने! क्रोध मत करो! धर्मशास्त्र में जो बात कही है; उसे शांति से सुनो—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च ।

‘तस्मात् पुत्रमुखं दृष्ट्वा स्वर्गे गच्छन्ति मानवाः ॥१२८॥

1. “गृहधर्ममनुष्ठाय ततः स्वर्गं गमिष्यति” अर्ध गाथा हेयोपादेवा टीका में इस प्रकार है पेज नं. ४७३

अर्थात् - निष्पुत्र पुरुष की सद्गति नहीं होती; स्वर्ग तो उसके लिये है ही नहीं, बिलकुल नहीं। इसीलिए पुत्र का मुख देखकर मनुष्य स्वर्ग में जाता है॥१२८॥

‘आप पुत्रहीन हैं, इसीलिए आपकी शुभगति कैसे होगी? इस दृष्टि से आपका पाप महान् है।’ यमदग्नि तापस पक्षियों की बात सुनकर मन ही मन सोचने लगा—“इन पक्षियों ने जो बात कही है, वह सत्य है। इसीलिए अब इस तापस दीक्षा को छोड़कर किसी स्त्री के साथ शादी करके पुत्रोत्पत्ति करूँ, ताकि मेरी सद्गति हो।” देव तापस के मन की बात ताड़ गये। उन्होंने तापस की परीक्षा ले ली। और उनमें जो तापसभक्त देव था, उसने तापस-धर्म रूप मिथ्यात्व छोड़कर जैनधर्म स्वीकार किया एवं वह भी जैन देव बना।

यमदग्नि का चित्त डाँवाडोल हो चुका था। वे वहाँ से सीधे कोष्ठक नगर के राजा जितशत्रु के पास पहुँचे और उससे एक कन्या की याचना की। जितशत्रुनृप ने कहा—“मेरी अनेक कन्याएँ हैं, उनमें से जो भी कन्या आपको पसंद हो, उसे ग्रहण करें।” यह सुनकर यमदग्नि अन्तःपुर में पहुँचे। वहाँ सभी कन्याएँ इस जटाधारी, दुबले-पतले, मल-मलीन, विकृतवेषी यमदग्नि को देखकर नाक-भों सिकोड़ती हुई धू-धू करने लगीं। इस पर यमदग्नि अत्यंत खीज गये, उन्होंने सभी कन्याओं को शाप देकर कुबड़ी बना दी। अन्तःपुर में लौटते समय रास्ते में तापस ने धूल से खेलती हुई एक राजकन्या देखी। तापस ने उसे बिजोरे का फल बताया। उसे देखते ही राजकन्या ने उस फल को लेने के लिए हाथ लम्बा किया। इससे तापस समझा कि ‘यह कन्या मुझे चाहती है।’ उसने राजा से यह बात कही। राजा ने तापस के भय से उसे अपनी कन्या दे दी; साथ में हजार गायें और अनेक दासदासियाँ भी दी। इससे प्रसन्न होकर यमदग्नि ने अपनी तपःशक्ति से सभी कुबड़ी कन्याओं को पुनः पहले की-सी बना दी। इस तरह यमदग्नि अपनी सारी तपस्या नष्ट करके रेणुका बालिका को लेकर वन में चल दिये और वहीं एक झोंपड़ी बना कर रहने लगे।

रेणुका समय पाकर युवती हुई, तब यमदग्नि ने उसके साथ शादी की। प्रथम ऋतुकाल में यमदग्नि ने रेणुका से कहा—“सुलोचने! लो, मैं तुम्हें एक चरु मंत्रित करके दे रहा हूँ, इसके सेवन से तुम्हारे एक सुंदर पुत्र होगा।” रेणुका ने प्रसन्न होकर कहा—“स्वामिन्! एक नहीं, दो चरु मंत्रित करके दीजिए; ताकि एक चरु से ब्राह्मणपुत्र हो और दूसरे से क्षत्रियपुत्र। क्षत्रिय चरु में हस्तिनापुर नृप अनंतवीर्य की पत्नी मेरी बहन अर्नगसेना को दूँगी और ब्राह्मणचरु का सेवन मैं

करूँगी?’ रेणुका की बात मानकर यमदग्नि ने उसे दो चरु मंत्रित करके दिये। रेणुका ने शूरवीर पुत्र की अभिलाषा से क्षत्रियचरु का सेवन किया और ब्राह्मणचरु अपनी बहन अनंगसेना को भेजा। उसके सेवन से उसे एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कीर्तिवीर्य रखा गया। रेणुका के भी पुत्र हुआ, उसका नाम रखा गया—‘राम’। एक दिन अतिसार रोग से पीड़ित एक विद्याधर उसके आश्रम में आया। राम ने उसका भलीभांति आदर-सत्कार किया और उसके द्वारा किये गये औषध का सेवन करने से वह स्वस्थ हुआ। विद्याधर ने प्रसन्न होकर राम को परशुविद्या सिखाई। परशुविद्या की साधना करने से जगत् में वह परशुराम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके बाद परशुराम उस देवाधिष्ठित परशु (कुल्हाड़ी) को साथ में लिये अजेय बनकर देश-देशांतर में घूमने लगा।

एक बार परशुराम की माता रेणुका अपनी बहन से मिलने हस्तिनापुर आयी हुई थी। वहाँ अपने बहनोई अनंतवीर्य के साथ उसका अनुचित संबंध हो गया, जिससे रेणुका को गर्भ रह गया। गर्भकाल पूरा होने पर पुत्र हुआ। पुत्र को लेकर रेणुका यमदग्नि के आश्रम में आयी। परशुराम को जब अपनी माता के इस दुश्चरित्र का पता लगा तो उसने परशु से पुत्रसहित अपनी माता को मार डाला। जब अनंतवीर्य के पास यह खबर पहुँची तो उसने क्रुद्ध होकर वहाँ आकर यमदग्नि के आश्रम को छिन्नभिन्न कर डाला। इस पर परशुराम को बहुत क्रोध आया, उसने परशु से अनंतवीर्य का सिर काट दिया। अनंतवीर्य की मृत्यु के पश्चात् उसके राज्य का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कीर्तिवीर्य हुआ। उसने पिता के वैर का बदला लेने के लिए परशुराम के पिता यमदग्नि को मार डाला। इससे क्रुद्ध होकर परशुराम हस्तिनापुर पहुँचा और कीर्तिवीर्य को मारकर उसका राज्य अपने कब्जे में ले लिया। उस समय कीर्तिवीर्य की पत्नी तारारानी गर्भवती थी। उस शिशु के गर्भ में आते ही उसने १४ स्वप्न देखे थे। इसीलिए गर्भस्थ भाग्यशाली शिशु की रक्षा के लिए वह भागकर जंगल में पहुँची। वहाँ उसने तापसों को अपनी सारी आपबीती सुनाकर उनके आश्रम में आश्रय मांगा। तापसों ने दयार्द्र होकर गुप्त रूप से उसे भोंवरे में रखी। गर्भकाल पूर्ण होने पर तारारानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम ‘सुभूम’ रखा। ‘सुभूम’ का वहाँ सुख पूर्वक पालनपोषण होने लगा। इन घटनाओं के बाद परशुराम को सभी क्षत्रियों पर क्रोध उमड़ा और सात बार पृथ्वी निःक्षत्रिय बना दी और मृत क्षत्रियों की दाढ़ों को एकत्रित कर उसने एक बड़ा थाल भर दिया था।

एक दिन घूमता-घूमता परशुराम उन तापसों के आश्रम में पहुँचा ही था

कि उसी समय उसके परशु में से ज्वालाएँ निकलने लगी। इससे शंकित होकर परशुराम ने उन तापसों से पूछा—“सच सच बताओ, इस आश्रम में कोई क्षत्रिय है? मेरे परशु में से ज्वालाएँ निकल रही हैं, इसीलिए यहाँ कोई न कोई क्षत्रिय होना चाहिए।” तब तापसों ने कहा—“हम ही क्षत्रिय हैं।” परशुराम ने उन्हें तपस्वी समझकर छोड़ दिया। इस तरह सारे क्षत्रियों को मारकर परशुराम हस्तिनापुर पर निष्कण्टक राज्य करने लगा।

एक दिन परशुराम ने किसी नैमित्तिक से पूछा—“मेरी मृत्यु किसके हाथ से होगी?” उसने बताया—“जिसकी दृष्टि पड़ते ही मृतक्षत्रियों की ये दाढ़ें क्षीररूप हो जाय और जो उसका भोजन कर ले; समझ लेना, वही तुम्हें मारने वाला होगा। यह सुनकर परशुराम ने अपने मारने वाले को पहचानने के लिए एक दानशाला खोली, उसमें एक सिंहासन पर वह दाढ़ों का थाल रख दिया। इधर वैताद्ववासी मेघनाद विद्याधर ने नैमित्तिक के कहने से अपनी पुत्री सुभूम को अर्पण कर दी और स्वयं उसका सेवक बनकर रहने लगा। एक दिन सुभूम ने अपनी माता से पूछा—“माताजी! क्या पृथ्वी इतनी ही है?” पुत्र के ये शब्द सुनते ही तारारानी की आँखों में आँसू उमड़ आये, वह गद्गद् स्वर से सारी पूर्व घटना सुनाकर कहने लगी—“बेटा! तेरे पिता और पितामह को मारकर तथा समस्त क्षत्रियों का नाशकर परशुराम हमारे राज्य पर कब्जा जमाये बैठा है। उसी के डर से भागकर हम इस तापस-आश्रम के भोंयरे में रह रहे हैं।” माता के मुँह से यह बात सुनते ही क्रुद्ध होकर सुभूम सहसा भोंयरे से बाहर निकला और मेघनाद के साथ हस्तिनापुर की दानशाला में आया। दानशाला में घुसते ही सुभूम की दृष्टि सिंहासन पर रखे दाढ़ों के थाल पर पड़ी और वे तमाम दाढ़ें क्षीर रूप में परिणत हो गयी। सुभूम उस क्षीर को खाने लगा। परशुराम पहचान गया कि यही मेरा वधकर्ता है। वह तुरंत सुसज्ज होकर जाज्वल्यमान परशु लेकर सुभूम पर टूट पड़ा। परंतु सुभूम की दृष्टि पड़ते ही उसके पूर्व पुण्य की प्रबलता के कारण परशुराम का परशु निस्तेज हो गया। सुभूम ने भी भोजन करने के बाद वह थाल उठाकर परशुराम पर फेंका। तुरंत ही वह थाल हजारदेवों से अधिष्ठित चक्ररत्न बन गया। उस चक्र ने परशुराम का मस्तक छेद दिया। उसी समय सुभूम का चक्रवर्तित्व प्रकट हो गया। देवों ने जयजयकार के नारों के साथ पुष्पवृष्टि की। इसके पश्चात् सुभूमचक्री ने परशुराम द्वारा मारे हुए क्षत्रियों के वैर को याद करके चुन-चुनकर ब्राह्मणों का वध किया। इस तरह २१ बार पृथ्वी ब्राह्मण रहित बनायी।

चक्ररत्न के बल से सुभूम ने भरतक्षेत्र के ६ खण्डों पर विजय प्राप्त की;

किन्तु विशेष लोभवश धातकीखण्ड को भरतक्षेत्र का खण्ड मानकर दिग्विजय करने चला। ४८ कोस विस्तृत चर्मरत्न पर अपनी सारी सेना और सामान रखकर सभी लवणसमुद्र पर से होकर जा रहे थे, तभी अकस्मात् चर्मरत्न के अधिष्ठात्यक देवों ने उसे छोड़ दिया; इस कारण सारी सेना, सुभूम तथा सामान सहित वह चर्मरत्न पानी में डूब गया। सभी लोग वहीं मर गये। अतिशय पापकर्म वश सुभूमचक्री मरकर सातवीं नरक में गया। इसीलिए संबंधियों का स्नेह भी कृत्रिम है; यही इस कथा का मुख्य उपदेश है ॥१५१॥

कुल-घर-निषय-सुहेसुअ सयणे य जणे य निच्च मुणिवसहा ।

विहरन्ति अणिस्साए, जह अज्जमहागिरी भयवं ॥१५२॥

शब्दार्थ - मुनियों में श्रेष्ठ धर्मधुरंधर मुनि अपने कुल, घर, स्वजन, संबंधी और सामान्यजनों का आश्रय लिये बिना सदा विचरण करते हैं। जैसे (जिनकल्प का विच्छेद हो जाने पर भी) आर्य महागिरि भगवान् आर्य सुहस्ति को अपना साधुकुल सौंपकर स्वयं जिनकल्पी साधु के समान विचरण करने लगे। इसी प्रकार अन्य साधुओं को भी विचरण करना चाहिए ॥१५२॥

इस संबंध में आर्य महागिरि का उदाहरण यहाँ दे रहे हैं—

आर्य महागिरि की कथा

आर्य श्री स्थूलिभद्र के दो शिष्य थे—आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति। उनमें से बड़े शिष्य आर्यमहागिरि विशेष वैराग्य के कारण अपने गच्छसमुदाय का भार आर्य सुहस्तिसूरि को सौंपकर स्वयं जिनकल्पी साधु की तरह संयम में पुरुषार्थ करते हुए अकेले ही विचरण करने लगे। ये महामुनि खासतौर से साधुजीवन की धर्मक्रियाओं में प्रत्यनशील रहा करते थे। जब आर्य सुहस्तिसूरि गाँव के अंदर पधारते तो आर्य महागिरि उसी गाँव के बाहर रहते। इसी गच्छ के निश्रा में वे विचरण करते थे।

एक बार आर्य सुहस्तिसूरि विहार करते हुए पाटलिपुत्र पधारे। वहाँ आर्य महागिरि उस नगर के सारे क्षेत्र (एरिया) के ६ विभाग करके ५-५ दिन तक प्रत्येक विभाग में भिक्षा के लिए जाते थे; और नीरस आहार करते थे। एक दिन आर्य सुहस्तिसूरि वसुभूति नामक श्रावक के यहाँ उसके कुटुम्ब को प्रतिबोध देने के लिए पधारे थे और उपदेश दे रहे थे; तभी अकस्मात् आर्य महागिरि भी वहाँ पहुँचे। उन्हें देखते ही आर्य सुहस्तिसूरि ने खड़े होकर सविनय वंदन किया। इससे आर्य महागिरि भिक्षा लिये बिना ही वापिस लौट गये। वसुभूति श्रावक ने आर्य

सुहस्तिसूरि से पूछा—“जिनका आपने इतना विनय किया, ये महामुनि कौन हैं?”
 आर्य सुहस्तिसूरि ने कहा—“यह मेरे बड़े गुरुभाई हैं। ये महाप्रभावशाली जिनकल्पीचर्या
 की तरह आचरण करते हैं।” यह सुनकर दूसरे दिन वसुभूति श्रावक ने अपने यहाँ
 उत्तम आहार बनवाकर सारे नगर को भोजन करवाया। आर्य महागिरि ने उस आहार
 को अकल्पनीय जानकर ग्रहण नहीं किया। फिर उपाश्रय में आकर उन्होंने आर्य
 सुहस्तिसूरि को उपालंभ दिया—“मुनिवर! आपने वसुभूति के यहाँ खड़े होकर
 विनय किया, यह बहुत अनुचित किया; क्योंकि उसने फिर भक्ति के वश सर्वत्र
 अशुद्ध आहार बनवा लिया। अतः अब से मेरा आपके साथ एक क्षेत्र में इकट्ठे
 रहना ठीक नहीं।” यों कहकर आर्य महागिरि ने पृथक् विहार कर दिया।^१ और
 गच्छ का आश्रय छोड़कर वे एकाकी तपसंयम की आराधना करके देवलोक में
 पहुँचे। इसी प्रकार अन्य मुनियों को भी अप्रतिबद्ध-विहारी होना चाहिए ॥१५२॥

रूपेण जुव्येण य, कच्चाहि सुहेहिं वरसिरीए य ।

न य लुब्धंति सुविहिया, निदरिस्सणं जम्बुनामुति ॥१५३॥

शब्दार्थ - जो सुविहित साधु होते हैं, वे रूप और यौवन से संपन्न कन्याओं
 में, सांसारिक सुखों में तथा पर्याप्त संपत्ति प्राप्त होने पर भी उसमें लुब्ध नहीं होते।
 इस विषय में जम्बूकुमार उत्तम नमूने हैं ॥१५३॥

भावार्थ - जम्बूकुमार ८ रूपवती यौवन संपन्न कन्याओं के, एवं ९९
 करोड़ स्वर्णमुद्राओं के स्वामी होते हुए भी, उनका एकदम त्याग कर दिया और
 मुनि दीक्षा स्वीकार कर ली। परंतु सांसारिक सुखसंपदा में वे आसक्त नहीं हुए।
 जम्बूकुमार मुनि की कथा पहले आ चुकी है ॥१५३॥

उत्तमकुलप्पसूया, रायकुलवडिंसगा वि मुणिवसहा ।

बहुजणजइसंघट्टं, मेहकुमारु व्व विसहंति ॥१५४॥

शब्दार्थ - उत्तमकुल में उत्पन्न, राजकुल के भूषण और मुनियों में श्रेष्ठ श्री
 मेघकुमार मुनि बहुत-से अन्य मुनियों के पैरों की ठोकर आदि से होने वाला कठोर
 स्पर्श सहन करते हैं। इसी तरह अन्य मुनियों को भी सहन करना चाहिए ॥१५४॥

श्री मेघकुमार की कथा

मगधदेश की राजधानी राजगृही नगरी में राजा श्रेणिक का राज्य था।
 उसके धारिणी नाम की रानी थी। एक बार उसके गर्भ में स्थित शिशु के प्रभाव
 से उसे अकाल में ही मेघवृष्टि होने का दोहद हुआ। मंत्री अभयकुमार ने अट्टम

१. संवेगरंगशाला में साथ-साथ विहार का वर्णन है।

(तेला) तप करके देवाराधन किया और उस देव की सहायता से उसने रानी का दोहद पूर्ण किया। ठीक समय पर पुत्र का जन्म हुआ। स्वप्न के अनुसार उसका नाम मेघकुमार रखा। बचपन पार करके उसने जब यौवन में प्रवेश किया तो श्रेणिक राजा ने उसका विवाह कुलीन और रूपसम्पन्न ८ कन्याओं के साथ किया। मेघकुमार पंचेन्द्रियसुखों का उपभोग करते हुए जीवन बिताने लगा।

एक बार राजगृही में श्रमण भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। मेघकुमार को प्रभु का उपदेश सुनकर वैराग्य उत्पन्न हुआ; और माता-पिता की अनुमति लेकर भगवान् के पास उसने मुनि दीक्षा अंगीकार की। भगवान् ने उसे शास्त्रों के अध्ययन के लिए स्थविरमुनि को सौंपा। रात को संधारापौरुषी (शयन के समय) का पाठ पढ़ाकर रत्नाधिक क्रम से (दीक्षा में बड़े-छोटे के क्रमानुसार) मेघमुनि का संधारा (सोने का आसन) दीक्षा में सबसे छोटे होने के कारण सब साधुओं के संधारे के अंत में उपाश्रय के द्वार के पास किया गया। रात्रि को लघुनीति के लिए आते-जाते साधुओं के पैरों की बार-बार ठोकर लगने से कठोर स्पर्श होने व आहत होने के कारण मेघमुनि को रातभर नींद नहीं आयी। इससे क्षुब्ध होकर वे मन ही मन सोचने लगे—‘ये साधु पहले तो मेरा इतना आदर करते थे, और आज दीक्षा लेते ही ये मुझे पैरों से ठोकर मारकर मुझे हैरान कर रहे हैं। कहाँ तो मेरा वह सुखकारी आवास और कहाँ यह साधुओं का स्थान? कहाँ तो मेरी वह कोमल पुष्पशय्या और कहाँ आज यह खर्दरा और कड़ा आसन? कहाँ तो बढ़िया पलंग पर मेरी शय्या होती थी और सुकोमल अंगनाएं मेरे चरण दबाती थी, कहाँ यह भूमि पर शयन और पैरों की ठोकर? उफ! कहाँ तक सहन करूंगा इसे! इसीलिए इच्छा होती है कि रात बीतते ही प्रातःकाल होते ही मैं भगवान् के चरणों में पहुँचकर उन्हें रजोहरण आदि उपकरण सौंपकर वापिस अपने घर चला जाऊँ।’ इन विचारों में डूबा हुआ मेघमुनि प्रातःकाल भगवान् के पास पहुँचा। मधुर शब्दों से सम्बोधित करते हुए प्रभु ने मेघमुनि से कहा—‘वत्स मेघ! क्या तुमने आज रातभर कष्ट अनुभव किया और पिछली रात को ऐसा विचार किया है कि प्रातःकाल होते ही मैं सारे उपकरण भगवान् को सौंपकर घर चला जाऊँ?’ मेघमुनि बोले—‘भगवन्! आपका कहना सत्य है।’ तब भगवान् ने उसे कहा—‘वत्स मेघ! जरा सोचो तो सही, नरक आदि गतियों के भयंकर दुःखों के सामने यह दुःख किस बिसात में है? ओर तो ओर; इससे तीसरे जन्म पूर्व तुमने हाथी के रूप में जो कष्ट उठाये थे, वे भी इसके पास नहीं के बराबर हैं। लो सुनो—

“तुम वैताढ्यपर्वत की भूमि पर श्वेतवर्ण, उच्चविशालस्कंध और हजार

हस्तिनियों का स्वामी सुमेरुप्रभ नाम के हाथी थे। एक दिन वहाँ के जंगल में भयंकर आग लगी। तुम इस दावानल से भयभीत होकर भागो। रास्ते में तुम्हें प्यास लगी। एक कीचड़ वाला सरोवर तुम्हें नजर आया। उसमें घुसने के रास्ते का पता न होने से पानी पीने के लिए ज्यों ही तुम घुसने लगे, त्यों ही दलदल में फंस गये। बाहर निकलने की तुमने बहुत कोशिश की; लेकिन निकल न सके। तुम वहाँ फंसे हुए थे कि तुम्हारे पूर्व शत्रु हाथियों ने तुम्हें देखकर तीखे दांतों से तुम पर प्रहार किया। सात दिन तक उस की असह्य वेदना सहकर १२० वर्ष की आयु पूर्णकर तुम वहाँ से मरकर विन्ध्याचल पर्वत पर चार दांतों वाले, रक्तवर्ण और ७०० हथिनियों के स्वामी बनो। संयोगवश वहाँ भी एक बार भयंकर आग लगी। पशु पक्षियों में भगदड़ मच गयी। उस दावानल को देखकर तुम्हें जातिस्मरण ज्ञान पैदा हुआ। पूर्वजन्म का स्मरण होने से तुमने एक योजन लंबा-चौड़ा एक मंडल (घेरा) बनाया; जिसमें वर्षाकाल से पहले, मध्य में और अंत में जमे हुए नये घास, तिनके, लता और अंकुरों आदि को अपनी सूंड तथा अपने परिवार की सहायता से मूल से उखाड़ फेंके। और उस मंडल को तुमने साफ और सुरक्षास्थान बना दिया। एक दिन फिर उस वन में भयंकर आग लगी तो तुम सपरिवार उस मंडल में आ गये; साथ ही उस जंगल के तमाम पशुपक्षी भी अपनी जान बचाने के लिए उस मंडल में आकर जमा हो गये। वह मंडल प्राणियों से खचाखच भर गया था। अत्यंत भीड़ के कारण तंग हुआ एक खरगोश भी वहाँ आ पहुँचा। उसने और कहीं जगह न देख तुमने शरीर खुजलाने के लिए ज्यों ही अपना पैर उठाया, त्यों ही वह उतनी-सी जगह में आराम से बैठ गया। परंतु शरीर खुजला लेने के बाद पैर नीचे रखते समय तुम्हारे पैर के साथ कोमल-सा स्पर्श हुआ। तुमने सोचा कि यहाँ कोई खरगोश बैठा है, यदि मैंने इस पर पैर रख दिया तो इसका कचूभर निकल जायगा। अतः उस पर दयार्द्र होकर तुमने अपना पैर ढाई दिनों तक ऊपर का ऊपर उठाये रखा। दावानल शांत हो जाने पर जब सभी प्राणी इधर-उधर चले गये; तब तुमने ज्यों ही अपना पैर नीचे रखना चाहा; त्यों ही पैर में खून जम जाने और उसके अकड़ जाने के कारण तुम धड़ाम से जमीन पर ऐसे गिर पड़े, जैसे की पहाड़ का शिखर टूटकर गिरा हो। इसके बावजूद भी तुम्हारी भावना शुभ रही और तीन दिन तक उस असह्य वेदना को सह कर अपनी १०० वर्ष की आयु पूर्ण करके तुम मनुष्यलोक में श्रेणिक राजा के पुत्र बनो। वत्स मेघ! तुम जस विचार करो, जब तुम्हें सम्यक्त्व की भी प्राप्ति नहीं हुई थी, उस समय त्रिवैचर्यानि में तुमने थोड़ा-सा कष्ट सहन किया, जिसका नतीजा तुम्हें मनुष्यजन्म के रूप में मिला। नरकगति,

तिर्यग्गति आदि में तो तुमने और भी भयंकर कष्ट सहे हैं, फिर साधुओं के चरणस्पर्श से हुए जरा से दुःख से क्यों तिलमिला उठे? साधु की चरण रज तो शिरोधार्य होती है। वंदनीय साधुओं के पदाघात से व्यथित होकर तुम यह परम दुर्लभ चारित्र छोड़ने जा रहे हो, यह कितना उचित है, तुम ही सोचो। *आग में कूदकर जल मरना या जहर खा लेना अच्छा, लेकिन अंगीकार किये हुए मुनिधर्म को छोड़ना अच्छा नहीं।*'' इस प्रकार से भगवान् के अमृतोपम वचनों को सुनकर मेघमुनि को वहीं जातिस्मरणज्ञान हो गया; जिसके प्रकाश में उसके सामने भगवान् के कहे अनुसार हूबहू अपने पूर्वजन्म का चित्र अंकित हो गया। मेघकुमार ने भगवान् को विधिवत् वंदन करके कहा—''भगवन्! मैं तो आज संसार रूपी कुँए में गिरने ही वाला था, लेकिन आपने मेरी रक्षा की। अब मैं इस संयमी जीवन को कदापि नहीं छोड़ूंगा। साथ ही मैं आपके सामने यह अभिग्रह (सुसंकल्प) करता हूँ कि आज से जिंदगीभर तक मैं अपनी दोनों आँखों के सिवाय और किसी अंग की स्वयं सेवा-शुश्रूषा नहीं करूँगा।'' इस अभिग्रह का भलीभांति पालन व निर्दोष चारित्राराधन करके एवं गुण रत्न संवत्सर आदि तप करके निर्मल ध्यान पूर्वक समाधिपूर्वक अपना आयुष्य पूर्ण कर मेघकुमार मुनि विजय नामक अनुत्तरविमान में देव हुए। वहाँ से च्यव कर वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

इसी प्रकार अन्य मुनियों को भी अपने चारित्र में स्थिर रहना चाहिए; यही इस कथा का उपदेश है ॥१५४॥

अवरुप्परसंबाह सुक्खं, तुच्छं सरीरपीडा य ।

सारण-वारण-चोयण-गुरुजणआयत्तया य गणे ॥१५५॥

शब्दार्थ - गण (गच्छ) में रहने से मुनियों के परस्पर संघर्ष, विषयसुखों की तुच्छता, बड़ों के लिए शरीर को पीड़ा (सेवादि का कष्ट), गुरुजनों की अधीनता, उनके द्वारा की गयी सारणा, वारणा, चोयणा, पड़िचोयणा वगैरह सहने पड़ते हैं ॥१५५॥

भावार्थ - गुरुकुलवास (गण) में रहने पर कहीं-कहीं स्थान की तंगी होने के कारण परस्पर एक दूसरे का संबाध (संघर्ष) होता है, विषय-जन्य सुख भी तुच्छ (नगण्य) हो जाता है, क्योंकि बड़ों के समीप रहने पर कई बार मन को मारना होता है, इन्द्रियों की विषय में प्रवृत्त होने की इच्छा को दबाना पड़ता है; परिषह-सहन करने या परस्पर रुग्णादि साधुओं की सेवा करने में शरीर को भी घिसाना पड़ता है, जिससे थोड़ी बहुत पीड़ा भी होती है। बड़ों की बात

को सहन करने में जरा मानसिक पीड़ा भी होती है। गुरु की आज्ञा के अधीन हरदम रहना पड़ता है, जिससे अपनी स्वतंत्रता दबानी पड़ती है। गुरु के द्वारा (सारणा) किसी अकार्य को न करने का बार-बार स्मरण दिलाने, (वारणा) किसी कार्य में प्रमाद करते हुए को रोकने, रोकटोक करने, (चोयणा) अच्छे कार्य में प्रेरित करने और (पडिचोयणा) न करने पर कभी कोमल और कभी कठोर शब्दों में बार-बार प्रेरणा करने पर होने वाले मानसिक क्षोभ को भी सहना पड़ता है। परंतु इससे जीवन का सुंदरनिर्माण हो जाता है। इसीलिए गच्छ में रहना ही लाभदायी है ॥१५५॥

इक्कस्स कओ धम्मो, सच्छंदगईमईपयारस्स? ।

किं वा करेइ इक्को? परिहरउ कंहं अकज्जं वा? ॥१५६॥

शब्दार्थ - गुरुकुलवास (गण) को छोड़कर स्वच्छन्दगति, मति और प्रचार वाले अकेले साधु का संयमधर्म कैसे निभ सकता है? वह अकेला मुनिधर्म की आराधना कैसे करेगा? अकार्य करते हुए उसे कौन रोकेगा? ॥१५६॥ मतलब यह है कि निरंकुशता से (बिना बड़ों की आज्ञा के) अकेले साधु में संयमधर्म की यथार्थ आराधना होनी कठिन है। इसीलिए गुरुकुलवास में रहना चाहिए।

कतो सुतत्थागम-पडिपुच्छणचोयणा, य इक्कस्स? ।

विणओ वेयावच्चं, आराहणा य मरणंते? ॥१५७॥

शब्दार्थ - अकेले मुनि सूत्रों (शास्त्रों) का अर्थ (वाचना), प्रतिपृच्छा, चोयणा (प्रेरणा) आदि कौन देगा? विनय या वैयावृत्य का लाभ उसे कैसे मिलेगा? अंतिम समय में मारणांतिक संल्लेखना-संधारा की आराधना कौन करावेगा? ॥१५७॥

भावार्थ - निरंकुश एकलविहारी साधु के सूत्र और अर्थों का अध्ययन कैसे हो सकेगा? तथा किसी विषय में शंका होने पर समाधान किससे करेगा? प्रमादादि के कारण कदाचित् संयम से स्खलित हो रहा हो, उस समय उसे हितकर प्रेरणा कौन करेगा? अकेला साधु विनय और वैयावृत्य किसका करेगा? तथा अंतिम समय में अनशन की आराधना उसे कौन करावेगा? स्वच्छन्द-बुद्धि से अनियंत्रित एकाकी साधु इन उत्तम लाभों से वंचित ही रहता है। अतः जो विनययुक्त होकर गुरु-सान्निध्य में रहते हैं, उन्हें ये लाभ अनायास ही मिल जाते हैं ॥१५७॥

पिल्लिजेसणमिक्को, पइन्नपमयाजणाउ निच्चभयं ।

काउमणो वि अकज्जं, न तरइ काऊण बहुमज्झे ॥१५८॥

शब्दार्थ - निरंकुश एकाकी साधु आहार-पानी आदि की गवेषणा करने में (लज्जावश) पीड़ा पाता है; हमेशा अंगनाओं से घिरे जाने का भय बना रहता है। गुरुकुल-वास में रहने से साधु मन से भी अकार्य नहीं कर सकता, शरीर से उसमें प्रवृत्त होना तो बहुत ही दूर है। गुरुकुलवास में रहने से बहुत लाभ है। इसीलिए स्थविरकल्पी मुनियों को निरंकुश होकर एकाकी विहार करना उचित नहीं है ॥१५८॥

उच्चार-पासवण-वंत-पित-मुच्छाड़, मोहिओ इक्को ।

सद्वभाणविहत्थो, निक्खिण्वइ व कुण्ड उद्धाहं ॥१५९॥

शब्दार्थ - टट्टी, पेशाब, उलटी, पित्त और मूर्च्छा (बेहोशी), वायुविकार, विसूचिका (पेचिश) आदि बिमारियों के प्रकोप के समय अकेला साधु मार्ग में चलता-चलता कांपते हुए हाथ आदि से जल से भरे पात्र को नीचे रख देता है तो इससे संयम की विराधना आत्म विराधना-होती है और यदि वह हाथ से पात्र रखकर बड़ी नीति आदि करता है तो जिन शासन की बदनामी होती है। इसीलिए बिना कारण के स्वच्छन्दता पूर्वक अकेला रहना किसी तरह भी ठीक नहीं है ॥१५९॥

एकदिवसेण बहुया, सुहा य असुहा य जीव परिणामा ।

इक्को असुहपरिणओ, चइज्ज आलंबणं लद्धं ॥१६०॥

शब्दार्थ - एक ही दिन में जीव के कई बार शुभ या अशुभ परिणाम होते हैं। साधु एकाकी होने पर कदाचित् अशुभ परिणाम आ जाय तो किसी भी झूठे आलंबन-निमित्त को लेकर चारित्र्य को छोड़ देगा या अनेक दोष लगायेगा। उस समय उसे कौन शुद्ध (सही) रास्ता बतायेगा? ॥१६०॥

सब्बजिणप्पडिक्कुट्ठं, अणयत्था थेरकप्पभेओ य ।

एक्को य सुआउत्तो वि, हणइ तवसंजमं अइरा ॥१६१॥

शब्दार्थ - ऐसे अनेक कारणों से सभी जिनवरों ने एकाकी रहने का निषेध किया है। साथ ही एक के एकाकी रहने लगने पर दूसरे अनेक मुनि भी उसकी देखादेखी एकाकी रहने लगते हैं। स्थविरकल्प का जो आचार है, उसमें इस प्रकार की विभिन्नता देखकर लोगों को इसमें शंका व अश्रद्धा पैदा होती है। एकाकी साधु अगर अप्रमत्त रूप से साध्वाचार का पालन करता हो, फिर भी किसी अशुभ निमित्त के मिलने पर वह जल्दी ही तप-संयम का घात कर देता है; यानी उसमें दोष लगाता है। इसीलिए एकाकी रहना अयुक्त है ॥१६१॥

वेसं जुण्णकुमारीं, पउत्थवइयं च बालविहवं च ।

पासंडरोहमसई, नवतरुणीं थेरभज्जं च ॥१६२॥

सविडंकुम्भडरूया, दिद्रा मोहेइ जा मणं इत्थी ।

आपहियं चितंता, दूरपरेणं तं परिहरंति ॥१६३॥

शब्दार्थ - वेश्या, बड़ी उम्र की (प्रौढ़) कन्या, जिसका पति परदेश गया हुआ है, ऐसी महिला, बालविधवा, परित्राजिका, कुलटा, नवयुवती, जिसका पति बूढ़ा हो ऐसी अंगना, उद्भट रूपवती (छैलछबीली), अनिन्द्य-सुंदरी और विकार रहित मनोहर रूप वाली तथा देखने मात्र से ही जो मन को मोहित कर देती हो; आत्महित का विचार करने वाले साधु ऐसी सभी प्रकार की स्त्रियों के संसर्ग से अत्यंत दूर रहते हैं ॥१६२-१६३॥

सम्मदिट्ठी पि कयागमो पि, अइविसयरगसुहवसओ ।

भयसंकडमि पविसइ, एत्थं तुह सच्चई नायं ॥१६४॥

शब्दार्थ - 'सम्यग्दृष्टि और सिद्धांत को जानने वाला भी अत्यंत विषयसुख के राग के वश होकर भ्रवभ्रमण करता है। उस संबंध में हे शिष्य! तुम्हें सत्यकि का उदाहरण जानना चाहिए ॥१६४॥' यहाँ सत्यकि विद्याधर की कथा कहते हैं—

सत्यकि विद्याधर की कथा

विशाला नाम के समृद्ध नगर में चेटक नाम का राजा राज्य करता था। उसके सुज्येष्ठा और चिल्लणा नाम की दो पुत्रियाँ थीं। उन दोनों में परस्पर बहुत स्नेह था। अभयकुमार के कहने से उन दोनों ने श्रेणिक राजा के साथ विवाह करने का निश्चय किया। अतः अभयकुमार ने इस कार्य के लिए सुरंग खुदवाई और उस सुरंग द्वारा श्रेणिक राजा को विशालानगरी में ले आया। इधर दोनों कन्याएँ सुरंग के पास आयी, तब चिल्लणा ने विचार किया कि 'सुज्येष्ठा रूप में मुझसे अतिश्रेष्ठ है, इसीलिए श्रेणिक राजा उसका बहुत सम्मान करके पटरानी बना देगा' यह सोचकर चिल्लणा ने सुज्येष्ठा से कहा कि 'बहन! तू वापस जाकर मेरा आभूषणों का डब्बा ले आ, जो वहीं रह गया है।' ऐसा कहकर सुज्येष्ठा को वापस भेजा। फिर चिल्लणा ने श्रेणिक राजा से कहा कि 'स्वामीनाथ! यहाँ से जल्दी चलिए यदि किसी ने जान लिया तो बड़ा अनर्थ होगा। इस प्रकार भय बताकर वे सुरंग से बाहर निकल गये। उसके बाद सुज्येष्ठा ने वहाँ आकर विचार किया कि प्राण से भी अधिक प्रिय मेरी बहन चिल्लणा ने मेरे साथ ऐसा धोखा किया है। केवल अपने स्वार्थ में दत्तचित्त रहने वाले कुटुम्बीवर्ग से क्या मतलब? सर्पफणा के समान इस विषयसुख को भी धिक्कार है।' ऐसे विचार करते-करते उसे वैराग्य हो गया। फलतः सुज्येष्ठा ने विवाह नहीं किया। उसने श्री चन्दनबाला

साध्वी के पास जाकर चारित्र ग्रहण किया और छट्ठ अष्टम आदि अनेक प्रकार की तपस्या करने लगी।

एक दिन वह साध्वी सूर्य की आतापना ले रही थी। उस समय पेढाल नाम के विद्याधर ने उसे वहाँ से जाते हुए देखा। उसे देखकर उसे विचार आया—‘यह सती ध्यान में स्थित है और अत्यंत रूपवती है। इसीलिए यदि मैं इस साध्वी की कुक्षि से पुत्र उत्पन्न करूँ तो वह पुत्र मेरी विद्या का पात्र हो सकता है।’ यों विचारकर विद्या के बल से उसने सर्वत्र अंधकार कर दिया और वह न जान सके इस तरह से भौर का रूप बनाकर उसके साथ संभोग करके उसकी योनि में वीर्य रखा। गर्भ रह जाने से उसके गर्भ में स्थित जीव समय पाकर क्रमशः बढ़ने लगा। इससे सुज्येष्ठा साध्वी के मन में संदेह उत्पन्न हुआ। उसने उस संबंध में ज्ञानी मुनि से पूछा। ज्ञानी ने उसका संदेह-निवारण करते हुए कहा—“इसमें तेरा दोष नहीं है। तू तो सती है।” गर्भकाल पूरा होने पर उस साध्वी के पुत्र हुआ। उसका नाम सत्यकि रखा गया। वह साध्वी के उपाश्रय में बड़ा होने लगा। साध्वीजी के मुख से आगमों के पाठ सुनने से उसे सभी आगम कण्ठस्थ हो गये।

एक दिन सुज्येष्ठा साध्वी श्रीवीर भगवान् को वंदनार्थ समवसरण में आयी। सत्यकि भी अपनी माता के साथ आया। उस समय कालसंदीपक नाम के एक विद्याधर ने भगवान् से पूछा—“भगवन्! मुझे किस से भय है?” भगवान् ने कहा—“तुझे इस सत्यकि नाम के बालक से भय है।” उसे सुनकर कालसंदीपक ने सत्यकि को तिरस्कारपूर्वक लात मारकर गिरा दिया। इससे सत्यकि उस पर क्रोधित हुआ। पेढाल विद्याधर को जब यह पता लगा कि सत्यकि मेरे ही वीर्य से उत्पन्न पुत्र है तो उसने उसे रोहिणी-विद्या दी। सत्यकि उस विद्या की साधना कर रहा था कि कालसंदीपक उसमें विघ्न डालने लगा। उस समय रोहिणी-विद्या की अधिष्ठायिका देवी ने स्वयं प्रत्यक्ष होकर कालसंदीपक को ऐसा करने से रोका। क्योंकि सत्यकि का जीव पहले पाँच जन्मों में रोहिणी-विद्या की साधना करते-करते मरा था और छठे जन्म में रोहिणी-विद्या की साधना करते समय उसकी आयु जब छह महीने शेष रह गयी थी, तब विद्या की देवी ने प्रत्यक्ष होकर कहा था—“सत्यकि! तेरी आयु केवल छह महीने ही बाकी है, इसीलिए यदि तू कहे तो मैं इसी जन्म में सिद्ध हो जाऊँ, नहीं तो अगले जन्म में सिद्ध होऊँगी।” तब सत्यकि के जीव ने कहा था कि “यदि मेरी आयु थोड़ी ही बाकी है तो आगामी जन्म में तुम सिद्ध होना।” इस तरह पूर्वजन्म में वचन दिया था, इसीलिए रोहिणी विद्यादेवी इस जन्म में थोड़े ही समय में सिद्ध हुई। फिर उसने प्रत्यक्ष होकर

सत्यकि से कहा—“तेरे शरीर का एक भाग मुझे बता, जिसमें मैं प्रवेश करूँ।” तब सत्यकि ने अपना कपाल बताया। रोहिणी विद्यादेवी ने ललाटमार्ग से अंग में प्रवेश किया, जिससे ललाट में तीसरा नेत्र उत्पन्न हुआ। उसके बल से उसने सर्वप्रथम अपने पिता पेढाल को ही साध्वीजी (माता) का ब्रह्मचर्यभंग करने वाला जानकर विद्या के प्रभाव से उसे मार दिया। और कालसंदीपक विद्याधर सत्यकि को विद्याबल से अजेय जानकर माया से त्रिपुरासुर का रूप बनाकर भाग गया। वह लवणसमुद्र में जाकर पाताल कलश में छिप गया। लोगों में यह अफवाह फैली कि ‘सत्यकि विद्याधर ने त्रिपुरासुर को पाताल में धुसा दिया। इसीलिए सत्यकि नाम का यह ग्यारहवाँ रुद्र उत्पन्न हुआ है।

इसके पश्चात् सत्यकि विद्याधर ने श्रीमहावीर भगवान् से सम्यक्त्व अंगीकार किया और देवगुरु धर्म पर अत्यंत भक्तिमान हुआ। तीनों संध्याओं के समय भगवान् के आगे नृत्य करता था, परंतु वह विषय-सुखों में अतिलोलुप था। अतः राजा की, प्रधान की, व्यापारी आदि की रूपवती स्त्रियों को देखते ही उनका गाढ़ आलिंगन कर उसके साथ संभोग करता था। उसे रोकने में कोई भी समर्थ नहीं था।

एक दिन उसने महापुरी उज्जयिनी में चंडप्रद्योत राजा के अन्तःपुर में प्रवेश किया। वहाँ पर भी पद्मावती को छोड़कर अन्य सभी स्त्रियों से संभोग किया। इससे चंडप्रद्योत राजा ने उस पर क्रोधित होकर घोषणा करवाई—“जो कोई इस दुष्टकर्मी सत्यकि को मार डालेगा, मैं उसका मनचाहा पूर्ण करूँगा।” इस तरह की घोषणा से लोगों को पता लग गया। एक दिन नगर की उमा नाम की वेश्या ने उसे पकड़ने का बीड़ा उठाया। उमा एक दिन अपने घर के झरोखे में बैठी थी, उस समय उसने सत्यकि को विमान में बैठकर आकाशमार्ग से जाते हुए देखा। उसे देखकर वेश्या ने जोर से पुकारा—‘ओ चतुरशिरोमणि! सुरुपजनों में मुकुटरूप! तेज में सूर्य को भी मात करने वाले! तुम हमेशा भोलीभाली और विषयरस से अनभिज्ञ स्त्रियों को चाहते हो, परंतु मुझ-सी कामकला में कुशल स्त्री की ओर नजर उठाकर भी नहीं देखते इसीलिए आज तो मेरे आंगन में पधारो और एक दिन मेरा भी कामचातुर्य देख लो’ इस प्रकार के वचनों से सत्यकि बड़ा खुश हुआ, वेश्या के कटाक्ष, हावभाव आदि देखकर उसका चित्त भी आकर्षित हुआ। अतः सत्यकि ने विमान नीचे उतारा और विमान से उतरकर सीधे उस नायिका के घर में प्रवेश किया। वेश्या ने भी हास्य, विनोद, संगीत, राग-रंग, नृत्य आदि अनेक प्रकार की कामक्रीड़ा से उसका चित्त कामविह्वल कर दिया। फलतः वह वेश्या के

यहीं रहने लगा। अन्यत्र कहीं उसका मन नहीं लगता था। वेश्या और सत्यकि में परस्पर गाढ़ प्रीति हो गयी। इस प्रकार सत्यकि को उमा ने अत्यंत विश्वास में ले लिया। एक दिन मौका देखकर वेश्या ने सत्यकि से पूछा—“प्राणवल्लभ! आप सदा अपनी इच्छा के अनुकूल किसी भी पराई कामिनी का सेवन करते हैं। आपकी इस चेष्टा को देखकर कोई भी आपको मारने में समर्थ नहीं है। आप के पास ऐसा कौन-सा बल है, जिससे आपको कोई मार नहीं सकता?” तब सत्यकि ने कहा—“सुनयने! मेरे पास एक ऐसी विद्या है, जिसके प्रभाव से मुझे कोई भी मार नहीं सकता।” तब वेश्या ने उत्सुकतावश फिर पूछा—“स्वामीनाथ! आप उस विद्या को हर समय साथ ही रखते हैं, या किसी समय अपने से दूर भी रखते हैं?” वेश्या के विश्वास में आया हुआ सत्यकि बोला—“जब मैं स्त्री सहवास करता हूँ, तब उस विद्या को दूर रख देता हूँ।” उमा वेश्या को जब इस रहस्य का पता लग गया तो उसने राजा से सारी बात कह दी। अंत में उसने राजा से कहा—“राजन्! सत्यकि को मारने का एक ही उपाय है। यदि आप मेरी रक्षा का प्रबंध कर दें तो उसे खुशी से मारा जा सकता है।” इस तरह उसने राजा को सारी बात समझा दी। उसने वेश्या के पेट पर कमलपत्र रखे और फिर उन्हें छुरी से काट दिये, परंतु वेश्या के शरीर को जरा भी चोट नहीं पहुँची। इस तरह वेश्या के दिल में एक सुरक्षा का विश्वास उत्पन्न कराकर उसे घर भेज दी। राजा ने दोनों को मार देने को अपने सेवकों को समझाकर रात को वेश्या को यहाँ उन्हें भेजे। वेश्या ने सेवकों को छिपाकर रखा। काम के आवेश में उन्मत्त सत्यकि आते ही उमा के साथ संभोग करने में जुट पड़ा। छिपे हुए सेवकों ने तुरंत वहाँ आकर दोनों के मस्तक काट डाले।

सत्यकि विद्याधर के शिष्य नंदीश्वर गण को जब इस बात का पता चला तो वह अतिक्रोधित हुआ और नगर में आकर एक विशाल शिला हाथों में धामे आकाश में खड़े होकर कहने लगा—नागरिको! सुनो मेरी बात! तुमने मेरे विद्यागुरु को मार दिया है, इसीलिए जैसी स्थिति में उसे मारा है, यदि वैसी स्थिति की उसकी मूर्ति बनाकर तुम सारे नगरवासी पूजा करोगे तो मैं सभी को छोड़ दूंगा, नहीं तो, इस शिला से सबको चूर-चूर कर दूंगा। यह सुनकर सारे नागरिक भयभीत हो गये और राजा आदि सभी लोगों ने सलाह करके एक कलाकार से वेश्या के साथ सत्यकि के सहवास की स्थिति की मूर्ति बनवाई और एक मकान में उसकी स्थापना की। सभी नागरिक उसकी पूजा करने लगे। सत्यकि मरकर नरकगति में पहुँचा। कुछ समय के पश्चात् उस मूर्ति को अश्लील व लज्जाउत्पादक समझकर

वहाँ से हटा दी और उसके स्थान पर लिंग की स्थापना की।

इसीलिए विषयों में अनुराग नहीं करना चाहिए, यही इस कथा का सारभूत उपदेश है ॥१६४॥

सुतवस्त्रिया ण पूया, पणाम-सक्कार-विणय-कज्जपरो ।

बद्धं पि कम्ममसुहं, सिद्धिलेइ दसारनेया व ॥१६५॥

शब्दार्थ - 'निर्मल तप-संयम की आराधना करने वाले महामुनियों का वस्त्रादि देकर उनका आदर करना, मस्तक से उन्हें नमस्कार-वन्दन करना, उसके गुणों की प्रशंसा करके उनका सत्कार करना, मुनि आवें तो खड़े होकर विनय करना इत्यादि कार्यों में तत्पर रहने वाला पुरुष कृष्ण वासुदेव के समान आत्मप्रदेश के साथ लगे हुए पूर्वकृत अशुभ कर्मों को शिथिल कर देता है ॥१६५॥' यहाँ दश दशाहों के नेता श्रीकृष्णजी का चरित्र संक्षेप में दे रहे हैं—

श्रीकृष्णजी का संक्षिप्त जीवनवृत्त

एक बार विहार करते हुए श्री नेमिनाथ भगवान् द्वारिका नगरी में पधारे। उन्हें वन्दन करने के लिए श्रीकृष्णजी अपने परिवार सहित पहुँचे और मन में उत्कण्ठा जागी कि 'आज मैं भगवान् के अठारह ही हजार मुनियों में से प्रत्येक को द्वादशशतपूर्वक वन्दन करूँ तत्पश्चात् अपने भक्त वीर, सामंत आदि के साथ सभी साधुओं को विधिसहित वन्दना करके वे अत्यंत थक गये। अतः वे भगवान् के पास आकर बोले—“भगवन्! आज मैं आपके अठारह ही हजार साधुओं को वन्दन करने से थककर चूर-चूर हो गया हूँ। मैंने अपनी जिंदगी में तीन सौ साठ युद्ध किये, लेकिन उनमें किसी समय इतनी थकावट नहीं आयी। पर पता नहीं आज मैं इतना क्यों थक गया हूँ?” भगवान् ने कहा—“महानुभाव! वन्दना करने से तुम्हें जितनी अधिक थकावट हुई है, उतना अधिक लाभ भी तो तुमको हुआ है! क्योंकि इतनी उमंग से वन्दना करने से तुम्हें क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है तथा तुमने तीर्थंकर-नामकर्म भी उपार्जित किया है। साथ ही संग्राम में लड़कर तुमने जो सातवीं नरक के योग्य कर्म बांधे थे, उन्हें क्षय कर दिये इसीलिए अब तुम्हारे सिर्फ तीसरी नरक के योग्य कर्म रह गये हैं। इतना महान् लाभ तुम्हें मिला है।” यह सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—“भगवन्! यदि ऐसी बात है तो मैं फिर से अठारह हजार मुनियों को वन्दनाकर तीन नरक के योग्य कर्मों का क्षय कर डालूँ।” इस पर भगवान् ने कहा—“कृष्ण! अब वैसे भाव नहीं आ सकते; क्योंकि अब तुममें लोभ ने प्रवेश किया है।” कृष्ण ने फिर पूछा—“मुझे जब इतना लाभ मिला है, तब मेरे

अनुयायी वीर, सामंत आदि को कितना लाभ मिला है?' भगवान् ने कहा—'उनको तो केवल कायक्लेश हुआ है; क्योंकि इन्होंने तो केवल तुम्हारा अनुकरण करके ही वंदन किया है। अतः बिना भाव के किसी क्रिया का फल नहीं मिलता है।

इसी तरह अन्य जीवों को भी भावपूर्वक मुनिमहाराज की पूजाभक्ति करनी चाहिए; ऐसा इस कथा का उपदेश है ॥१६५॥

अभिगमण-वंदण-नमं-सणेण, पडिपुच्छणेण साहूणं ।

चिरसंचियं पि कम्मं, खणेण चिरलत्तणमुवेइ ॥१६६॥

शब्दार्थ - साधु-मुनिराजों के सम्मुख स्वागत के लिए जाने से, उनको वंदन-नमस्कार करने से और उन्हें सुखसाता पूछने से चिर संचित कर्मदल भी क्षणमात्र में क्षय हो जाते हैं। इसीलिए सुसाधु को सद्भाव से नमस्कारादि करना चाहिए ॥१६६॥

केइ सुसीलासुहमाइ, सज्जणा गुरुजणस्स वि सुसीसा ।

विउलं जणंति सद्धं, जह सीसो चंडरुदस्स ॥१६७॥

शब्दार्थ - सुशील अत्यंत धर्मात्मा और सज्जन सुशिष्य अपने गुरु महाराज के प्रति अपनी श्रद्धा रखते हैं; जैसे चंडरुद्र-आचार्य के नये शिष्य ने श्रद्धा दृढ़ की थी ॥१६७॥

भावार्थ - कई सुशिष्य गुरु देव के चित्त में समाधि उत्पन्न कराते हैं। गुरुदेव शिष्य को कभी कारणवश डांटडपट या वाक्-प्रहार आदि करते हैं, फिर भी सुशिष्य खिन्न न होकर प्रसन्नचित्त से गुरु की सेवा करता है। ऐसा विनम्र वृत्तिवाला शिष्य गुरुदेव के विनय के फलस्वरूप चंडरुद्र-आचार्य के नये दीक्षित शिष्य के समान केवलज्ञानादिक संपदा प्राप्त कर मुक्ति-कमला का वरण कर लेते हैं। सुशिष्य की ऐसी विनयवृत्ति से गुरुमहाराज को भी महान् लाभ मिलता है।

चंडरुद्राचार्य की कथा

महापुरी उज्जयिनी में एक समय श्री चंडरुद्राचार्य पधारें। वे बड़े ईर्ष्यालु और क्रोधी थें। इसीलिए वे अपना आसन शिष्यों से दूर रखते थें। एक दिन वहाँ नयी शादी किया हुआ कोई वणिक् पुत्र अपने मित्रों के साथ आया। उसने सभी साधुओं को वंदना की, उसके बालमित्र हास्य से कहने लगे—'स्वामिन्! इसे आप अपना शिष्य बना लें।' तब मुनियों ने कहा—'महानुभाव! यदि यह दीक्षा लेना चाहता है तो वहाँ दूर बैठे हुए हमारें गुरुमहाराज के पास जाये।' वे बालमित्र

वणिकपुत्र के साथ दूर बैठे हुए आचार्य के पास पहुँचे। गुरुमहाराज को वंदन करके वे मजाक में उनसे कहने लगे—‘महाराज! इसे दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लें।’ यह सुनकर आचार्य मौन रहे। उन बालकों ने फिर से कहा—“स्वामिन्! इस नयी शादी किये हुए हमारे इस मित्र को शिष्य बना लें।” तीन-चार बार इसी प्रकार कहने पर आचार्य चंडरुद्र को क्रोध आ गया। उन्होंने उसे जबर्दस्ती पकड़कर दोनों पैरों के बीच में उसका सिर रखकर उसका लोच कर डाला। यह देखकर सभी बच्चे भाग गये और विचार करने लगे—“अरे! यह क्या हो गया? इन्होंने तो हमारी मजाक को सच मानकर इसे मूंड ही डाला।”

नवदीक्षित शिष्य ने गुरुमहाराज से कहा—“गुरुदेव! अब हमें यहाँ से दूसरी जगह चल देना चाहिए। क्योंकि मेरे माता-पिता तथा मेरे क्षुरपक्ष आदि के लोग यह बात सुनेंगे तो यहाँ आकर महान् उपद्रव मचायेंगे।” तब गुरुमहाराज ने कहा—‘वत्स! मैं रात में चलने में अशक्त हूँ। अतः नवीन शिष्य अपने गुरुमहाराज को अपने कंधे पर बिठाकर वहाँ से चल पड़ा। अंधेरी रात में चलने से उसके पैर जमीन पर ऊँचे-नीचे पड़ने लगे। इससे चंडरुद्राचार्य क्रोधित होकर उसके सिर पर डंडे मारने लगे। जिससे उसके सिर से खून बहने लगा और अत्यंत वेदना होने लगी। परंतु उसके मन में जरा भी क्रोध नहीं आया। प्रत्युत उसने अपनी ही गलती समझी। सोचा—“धिक्कार है मुझ पापी को! गुरुमहाराज को मेरे कारण इतना कष्ट उठाना पड़ा। गुरुदेव अपने स्वाध्याय और ध्यान में स्थित थे, मगर मुझ दुष्ट ने इन्हें रात को ही चलने को विवश कर दिया। इस अपराध से मैं कैसे मुक्त होऊँगा?” इस तरह शुभ भावना करने से शुभध्यान के कारण घातीकर्मों का क्षय होने से उस नवीन मुनि को केवलज्ञान प्रकट हो गया। इससे सर्वत्र प्रकाश होने से वे मुनि अच्छी तरह सरलता से चलने लगे। अतः गुरुमहाराज ने उसे कहा—‘डंडे पड़े तभी सीधा चल रहा है न? अब तेरे पैर ठीक पड़ रहे हैं। दण्डप्रहार का ही चमत्कार है यह!’ तब शिष्य ने कहा—“गुरुदेव! अब मैं सरलगति से चल रहा हूँ, यह आप की ही कृपा का फल है।” इस पर गुरु ने पूछा—‘क्या तुझे कोई विशिष्ट ज्ञान हुआ है?’ उसने कहा—‘हाँ, स्वामिन्! आपकी कृपा से मुझे केवलज्ञान हुआ है।’ शिष्य के ये वचन सुनकर गुरु को अत्यंत पश्चात्ताप हुआ—“अरे मैंने अत्यंत विरुद्ध कार्य किया। धिक्कार है मुझे! मैंने केवली की आशातना की इसके सिर पर मैंने डंडे मारे। यह मेरा पाप किस तरह नष्ट होगा?” इस तरह पश्चात्ताप करते-करते गुरु शिष्य के कंधे से उतर पड़े और उसके चरणों में पड़कर अपने अपराध की बार-बार क्षमायाचना करने लगे।

विशुद्धध्यान के कारण गुरुमहाराज चंडरुद्राचार्य को भी केवलज्ञान प्राप्त हो गया। दोनों केवली अवस्था में दीर्घकाल तक विचरण करके मोक्ष पहुँचे।

इसीलिए सुशिष्य गुरुमहाराज को भी विशेष-धर्म प्राप्त करवाता है; यही इस कथा का उपदेश है॥१६७॥

अंगारजीवचहगो, कोइ कुगुरु सुसीसपरिवारे ।

सुभिणे जईहिं दिट्ठो, कोलो गयकलहपरिकिञ्चो ॥१६८॥

शब्दार्थ - कोयले की कंकरी में जीव मानकर हिंसा करने वाले किसी कुगुरु के सुशिष्यों ने दूसरे आचार्य के मुनियों को स्वप्न में एक डुक्कर को गजकलभों से सेवित देखा। उस आचार्य के कहने से वह पहचाना गया। और उसे छोड़ दिया॥१६८॥

सो उग्गभवसमुद्दे, सयंवरमुवागएहिं राएहिं ।

करहो वक्खरभरिओ, दिट्ठो पोराण सीसेहिं ॥१६९॥

शब्दार्थ - 'उस कुगुरु ने उग्र संसारसमुद्र में परिभ्रमण करते हुए ऊंट के रूप में जन्म लिया। उसे पूर्वजन्म के शिष्यों ने, जो अगले जन्म में राजपुत्र बने थे, स्वयंवर में आये थे, ऊंट के रूप में अपने पूर्वजन्म के गुरु को देखकर करुणा लाकर उसे दुःख से मुक्त किया।'

इन दोनों गाथाओं की विशेष जानकारी निम्नोक्त कथा से जान लेना।

अंगारमर्दकाचार्य की कथा

किसी नगर में विजयसेन नाम के एक आचार्य बिराजमान थे। उनके शिष्यों ने रात को स्वप्न में पाँच सौ हाथियों से घिरा हुआ एक सूअर देखा। प्रातःकाल उन्होंने अपने गुरुमहाराज के समक्ष स्वप्न वृत्तांत निवेदन किया। तब गुरुदेव ने विचारकर कहा—'शिष्यों आज कोई अभव्य गुरु पाँच सौ शिष्यों सहित यहाँ आयेगा। इस तरह तुम्हारा स्वप्न फलित होगा।' इतने में तो रुद्रदेव नाम के आचार्य पाँच सौ शिष्यों के साथ वहाँ आये। पूर्वस्थित साधुओं ने उनका आदर-सत्कार किया। दूसरे दिन अभव्यगुरु की परीक्षा करने के लिए मात्रा करने के स्थान में और रास्ते में विजयसेनसूरि ने रुद्रदेवसूरि न जान सके, इस तरह से अपने शिष्यों को समझाकर चुपके से एक सुश्रावक के द्वारा जमीन पर कोयले बिछवा दिये। रात को उस अभव्य गुरु के शिष्य लघुशंका करने के लिए उठे तो उनके पैरों के नीचे कोयले दबने से चर्रर से शब्द होने लगा। इससे कोयलों से अनभिज्ञ होने से शंकित होकर वे पश्चात्ताप करने लगे—'हाय! हमने अंधेरे में दबादब चलकर अंजाने में किसी जीव का घात किया है।' इस तरह कहकर बार-बार मिथ्या दुष्कृत देने

लगे। फिर अपने शयनासन पर जाकर सो गये। इतने में रुद्रदेवाचार्य स्वयं लघुशंका करने के लिए उठे। उनके चरणों से भी कोयले दबे। उसकी आवाज सुनकर वे और अधिक दबाने लगे और कहने लगे—‘ये अर्हत् के जीव दबने के कारण पुकार कर रहे हैं।’ उनके ये उद्गार विजयसेनसूरि ने सुने। उन्होंने प्रातःकाल रुद्रदेव के शिष्यों से कहा—‘तुम्हारे गुरु अभव्य मालूम होते हैं। मैंने इस बात की परीक्षा ली है। इसीलिए तुम्हें इनको छोड़ देना चाहिए।’ यह सुनकर उन्होंने रुद्रदेव को गच्छ से बहिष्कृत कर दिया। और वे पाँच सौ शिष्य संयम की निरतिचार आराधना करके अंत में समाधि से मर कर देवता बनें।

वहाँ से आयु पूर्णकर वसंतपुर नगर में राजा दिलीप के यहाँ उन पाँच सौ ने पुत्ररूप में जन्म लिया। बचपन पार करके उन्होंने युवावस्था प्राप्त की। एक समय में वे पाँच सौ राजपुत्र गजपुरनगर में कनकध्वज राजा की पुत्री के स्वयंवर में गये थे। उस समय अंगारमर्दकाचार्य (रुद्रदेव) का जीव भयंकर भवसमुद्र में परिभ्रमण करते-करते ऊंट के रूप में उत्पन्न हुआ, उसे वहाँ आया हुआ देखा। वह अधिक बोझ के कारण पीड़ित होकर जोर-जोर से चिल्ला रहा है। इसने पूर्वजन्म में कौन-सा अशुभ कर्म किया है? इस तरह बार-बार चिन्तन करते-करते उन पाँच सौ राजपुत्रों को जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ। उसके बल से उन्होंने अपने पूर्वजन्म का स्वरूप देखा; जिससे वे बोले कि ‘अरे! यह हमारा पूर्वजन्म का अभव्य गुरु ऊंट के रूप में उत्पन्न होकर यहाँ आया है। कर्म की गति विचित्र है! इसने पूर्वजन्म में ज्ञान प्राप्त किया था परंतु श्रद्धा के बिना यह निष्फल हुआ। इसीलिए इसकी ऐसी दशा हुई है। और अब भी यह अनंत जन्म-मरण करेगा।’ इस प्रकार विचारविमर्श करके करुणावश उस ऊंट को उसके स्वामी से छुड़ा लिया।

तत्पश्चात् वे पाँच सौ राजपुत्र विचार करने लगे—“यह संसार अनित्य है। चिरपरिचित विषयसुख किंपाकफल के समान हैं और हाथी के कान के समान चंचल हैं। ऐसी राज्यलक्ष्मी को भी धिक्कार है। इस तरह वैराग्ययुक्त चित्त से उन्होंने चारित्र्य अंगीकार किया और अंत में वे सद्गति के अधिकारी बनें।

इस तरह सुशिष्य भी भवांतर में गुरु पर उपकार करने वाले होते हैं; ऐसा इस कथा का उपदेश है ॥१६९॥

संसारबन्धना न वि, गणति संसार-सूपरा जीवा ।

सुमिणगएण वि केई, बुज्झति पुप्फचूलाव्य ॥१७०॥

शब्दार्थ - पुद्गलानन्दी, भवाभिनन्दी और संसार में अत्यंत आसक्त जीव

सूअर के समान संसार में होने वाली विविध विडंबनाओं को नहीं समझते। क्योंकि विषयासक्त जीव विषय को ही सारभूत गिनते हैं। परंतु लघुकर्मी जीव सिर्फ स्वप्न को देखने मात्र से अनायास ही प्रतिबुद्ध हो जाते हैं; जैसे पुष्पचूला को अनायास प्रति बोध हुआ था। पुष्पचूला नाम की रानी ने स्वर्ग और नरक का स्वरूप स्वप्न में देखकर ही विषयसुख से विरक्त होकर संयम अंगीकार किया था ॥१७०॥ ऐसे भी बहुत से जीव होते हैं। यहाँ पुष्पचूला की कथा दे रहे हैं—

पुष्पचूला की कथा

पुष्पभद्र नाम के नगर में पुष्पकेतु नाम का राजा राज्य करता था। उसके पुष्पवती नामकी पटरानी थी। एक दिन उसने पुत्र-पुत्री के रूप में एक जोड़े को जन्म दिया। पुत्र का नाम पुष्पचूल रखा, और पुत्री का नाम पुष्पचूला रखा। कालक्रम से उन दोनों ने युवावस्था प्राप्त की। दोनों सर्व कलाओं में कुशल हुए। उन दोनों में परस्पर अतिस्नेह होने से वे एक दूसरे से एक क्षण भी अलग नहीं रह सकते थे, यह देखकर एक दिन उनके पिता (राजा) ने विचार किया—‘एक साथ जन्मे हुए मेरे ये पुत्र-पुत्री परस्पर गाढ़ स्नेह वाले हैं। इसीलिए यदि मैं पुत्री की शादी अन्य स्थान पर करूँगा तो इनके स्नेह का भंग होगा। अतः इन दोनों का परस्पर विवाह संबंध हो जाय तो इन का कभी वियोग नहीं होगा।’ ऐसा विचारकर नगरवासियों को राजसभा में बुलाकर राजा ने पूछा—‘मेरा एक प्रश्न है, उसका ठीक जवाब दो। अन्तःपुर में उत्पन्न हुए रत्न को स्वेच्छा से जोड़ने में कौन समर्थ है?’ उसे सुनकर राजा के आशय को कोई जान नहीं सका। प्रधानमंत्री आदि ने कहा—‘राजन्! संसार में जो-जो रत्न उत्पन्न होते हैं, उन्हें दूसरे के साथ जोड़ने में राजा ही समर्थ हो सकता है। अतः अन्तपुर में उत्पन्न हुए रत्न को जोड़ने में राजा ही समर्थ हो इसमें कहना ही क्या?’ इस तरह छल से राजा ने अपनी प्रजा की सहमति प्राप्त की। पर अन्तःपुर की स्त्रियाँ मना करती रही, मगर राजा ने उन दोनों भाई-बहनों का विवाह-संबंध कर दिया। ऐसा अयोग्य कार्य देखकर उन दोनों की माता रानी पुष्पवती को वैराग्य हुआ और दीक्षा लेकर कठोर तप करके मरकर वह देवरूप में उत्पन्न हुई। पुष्पकेतु राजा भी आयुष्य पूर्णकर परलोक गया। अतः पुष्पचूलकुमार राजा हुआ। उसने अपनी बहन पुष्पचूला को पटरानी बनाई और उसके साथ विषयसुखों का आनंद प्राप्त करते हुए समय व्यतीत करने लगा।

एक समय देव बने हुए पुष्पचूल की माता के जीव ने अवधिज्ञान से पूर्वजन्म देखा। पूर्वजन्म के पुत्र पुत्री को देखकर उसे प्रीति उत्पन्न हुई और मन में

विचार करने लगी कि "यह मेरे पूर्व जन्म के पुत्र-पुत्री इस प्रकार के पापकर्म करके नरक में जायेंगे, इसीलिए मैं इनको प्रतिबोध दूँ। ऐसा सोचकर उसने अपनी पुत्री पुष्पचूला को रात को स्वप्न में नरक के दुःख बताये। उसे देखकर वह भयभीत हुई और सुबह उसने अपने पति राजा को स्वप्न की बात कही। राजा ने भी नरक का स्वरूप पूछने के लिए अन्यधर्मी योगियों आदि को बुलाया और नरक का स्वरूप पूछा। उन्होंने कहा—'राजन्! शोक, वियोग, रोग और भोग में पराधीनता आदि में ही नरक के दुःख जानना।' तब पुष्पचूला रानी ने कहा—'मैंने जो दुःख रात को स्वप्न में देखा था, उससे तो भिन्न है।' उसके बाद राजा ने अर्णिकापुत्र आचार्य को बुलाकर पूछा—'स्वामिन्! नरक के दुःख कैसे होते हैं?'" रानी ने नरक के जैसे दुःख स्वप्न में देखे थे वैसे ही आचार्य महाराज ने बताये। उसे सुनकर आश्चर्यचकित होकर रानी ने पूछा—'स्वामिन्! क्या आपने भी ऐसा कोई स्वप्न देखा है, जिससे मैंने स्वप्न में नरक का जैसा स्वरूप था, वैसा ही आपने बताया।' आचार्यश्रीजी ने कहा—'मैंने स्वप्न तो नहीं देखा, परंतु आगम-वचन से जानता हूँ।' पुष्पचूला—'किस कर्म से ऐसे दुःख प्राप्त होते हैं?'" गुरुमहाराज ने कहा—'पाँच आश्रव के सेवन करने से तथा काम-क्रोध आदि पापाचरण से जीव को नरक के दुःख मिलते हैं।' इस प्रकार समाधान करके गुरुमहाराज अपने स्थान पर लौट गये। दूसरे दिन पुष्पचूला रानी को देव बने हुए माता के जीव ने स्वप्न में देवताओं के सुख बताये। प्रातःकाल रानी ने उस स्वप्न की बात राजा से कही। राजा ने अन्य दर्शनियों को बुलाकर पूछा—'स्वर्ग का सुख कैसा होता है?'" तब उन्होंने कहा—'हे राजन्! उत्तम प्रकार के भोजन, श्रेष्ठ वस्त्र-परिधान, प्रियजनों का संयोग, उत्तम अंगनाओं के साथ विलास इत्यादि स्वर्ग के सुख हैं।' तब रानी ने कहा 'जो स्वर्ग के सुख मैंने स्वप्न में देखे थे उनका तो इनके साथ कोई मेल नहीं है। आप लोगों के बताये हुए सुखों की उन सुखों के साथ असंख्यातवें भाग की तुलना भी नहीं हो सकती।' फिर राजा ने आचार्यश्री अर्णिकापुत्र को बुलाकर स्वर्ग के सुख का स्वरूप पूछा। रानी ने स्वप्न में जैसा देखा था वैसा ही स्वर्ग के सुख का उन्होंने हूबहू वर्णन किया। रानी ने पूछा—'गुरुवर! ऐसे सुख कैसे प्राप्त हो सकते हैं?'" गुरु महाराज ने कहा—'साधुधर्म की आराधना करने से प्राप्त हो सकते हैं।' इसके बाद धर्म का यथार्थ स्वरूप जानने से पुष्पचूला को संसार से वैराग्य हो गया और उसने चारित्र ग्रहण करने के लिए जब पति से आज्ञा माँगी, तब राजा ने कहा। "तू मुझे अत्यंत प्रिय है, तेरा वियोग मुझसे सहन नहीं हो सकेगा। ऐसी दशा में मैं तुझे दीक्षा लेने की आज्ञा कैसे दे सकता हूँ?" रानी ने

बहुत कह-सुनकर राजा को मना लिया। राजा ने कहा—“एक शर्त पर मैं तुम्हें आज्ञा दे सकता हूँ कि दीक्षा लेकर तू यहीं रहे और मेरे घर से भिक्षा ग्रहण करों।” रानी ने इसे स्वीकार किया और अर्णिकापुत्र आचार्य से दीक्षा अंगीकार की। पुष्पचूला साध्वी बनने के बाद वहीं रहकर राजा के यहाँ से हमेशा शुद्ध भिक्षा लेती, और शुद्ध चारित्र-धर्म की आराधना करने लगी।

भविष्य में १२ वर्ष का दुष्काल पड़ने वाला है, यह बात आचार्य अर्णिकापुत्र ने एक दिन ज्ञान से जानकर अपने सभी साधुओं को अलग-अलग दिशा में भेज दिये और स्वयं नहीं चल सकने से वहीं रहे। साध्वी पुष्पचूला हमेशा गुरुमहाराज को आहार-पानी लाकर देने लगी और अपने पिता के समान उनकी सेवा करने लगी। इस तरह प्रतिदिन गुरुभक्ति में परायण रहती हुई साध्वी पुष्पचूला को शुभध्यान के योग से केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। फिर भी वह गुरु महाराज को आहार-पानी लाकर देती रही। एक बार वर्षा हुई; फिर भी पुष्पचूला गुरुदेव के लिए भिक्षा लेकर आयी। तब गुरुमहाराज ने कहा—‘वत्से! तू यह क्या करती है? एक तो मैं स्थिरवासी हूँ, दूसरे, मैं साध्वी के द्वारा लाया हुआ आहार ग्रहण करता हूँ, फिर तू बरस रही बरसात में भी मुझे आहार लाकर देती है; क्या यह उचित और कल्पनीय है?’ तब पुष्पचूला साध्वी ने कहा—‘गुरुदेव! यह मेघवृष्टि अचित्त है।’ गुरुमहाराज ने कहा—“यह तो केवलज्ञानी ही जान सकते हैं।” पुष्पचूला ने सहजभाव से कहा—“स्वामिन्! आपकी कृपा से मुझे वही ज्ञान हुआ है।” यह सुनकर आचार्य पश्चात्ताप करने लगे—“भिक्षा है मुझे, मैंने केवली की आशातना की।” इस प्रकार खेद करते हुए उससे क्षमायाचना की। साध्वीजी ने कहा—“स्वामिन्! आप क्यों दुःखी हो रहे हैं? आप भी गंगानदी पार करते हुए केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जायेंगे।” यह सुनकर गुरुमहाराज गंगा किनारे आकर नाव में बैठे। इतने में पूर्वजन्म का वैरी कोई देव आकर जिस तरफ गुरुमहाराज बैठे थे, उस तरफ के हिस्से को जल में डूबाने लगा। अतः गुरुमहाराज वहाँ से उठकर नाव के मध्य में बैठे। तब वह पूरी नाव को ही डूबाने लगा। उसे देखकर अनार्य लोगों ने विचार किया—‘अरे! इस साधु के कारण हम सब डूब मरेंगे।’ ऐसा सोचकर सभी ने मिलकर आचार्य को उठाकर पानी में फेंक दिया। उस समय उस देव ने आकर उनके शरीर के नीचे त्रिशूल धारण करके रखा। उस त्रिशूल के कारण आचार्य अर्णिकापुत्र का सारा शरीर विंध गया। उस समय अपने शरीर में से निकलते खून को देखकर वे मन में विचार करने लगे—‘अरर! मेरे इस खून से जल के जीवों की विराधना हो रही है।’ इस प्रकार

अनित्यभावना का चिन्तन करते-करते घातिकर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्तकर आचार्यदेव मोक्ष पधार गये। वहाँ देवों ने उनके शरीर की अन्त्येष्टि कर के महिमा की। इसके बाद लोगों ने यह अफवाह फैला दी कि 'जो गंगा में भरता है, वह जीव मोक्ष प्राप्त करता है।' लोग उस स्थान को प्रयागतीर्थ के नाम से पुकारने लगे। इस प्रकार प्रयागतीर्थ प्रसिद्ध हो गया ॥१७०॥

जो अधिकलं तयं संजमं च, साहु करिज्ज पच्छा पि ।

अग्निघसुओ व्व सो निघगमट्ठमचिरेण साहेइ ॥१७१॥

शब्दार्थ - 'जो वृद्धावस्था में भी प्रतिबोध प्राप्त करके अखंड तप-संयम की साधना करता है, वह आचार्य अर्णिकापुत्र की तरह अपनी अक्षयसुख की साधना का अर्थ शीघ्र ही अल्पकाल में सिद्ध कर लेता है' ॥१७१॥ अर्थात् - जो यौवनावस्था में विषयासक्त हो, किन्तु जिंदगी के अंतिम समय में धर्माचरण कर लेता है, वह अपने आत्महित को सिद्ध कर सकता है। यहाँ ऊपर की कथा में वर्णित अर्णिकापुत्र का बाकी रहा हुआ पूर्वजीवन का चरित्र-चित्रण कर रहे हैं—

अर्णिकापुत्र की कथा

उत्तरमथुरा नगरी में कामदेव और देवदत्त नाम के दो व्यापारीपुत्र रहते थे। इन दोनों में परस्पर गाढ़ मित्रता थी। वे एक दिन अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर व्यापार के लिए दक्षिणमथुरा में गये। वहाँ उनकी जयसिंह नामक एक वणिक्पुत्र के साथ मैत्री हो गयी। जयसिंह के अर्णिका नाम की बहन थी। वह अतिरूपवती थी। एक दिन जयसिंह ने अपनी बहन अर्णिका से कहा—“बहन! आज तू बढिया रसोई बना। क्योंकि आज मेरे दो मित्र कामदेव और देवदत्त हमारे यहाँ भोजन करने के लिए आयेंगे।” अतः अर्णिका ने उत्तम रसोई बनायी। भोजन के समय तीनों मित्र एक ही थाली में साथ-साथ भोजन करने बैठे। अर्णिका ने उन्हें भोजन परोसा और उनके पास खड़ी होकर वह कपड़े के पल्ले से हवा करने लगी। उस समय उसके कंकणों की झंकार, उसके स्तन, उदर, कटि प्रदेश, नेत्र और मुख का हावभाव और विलास देखकर देवदत्त अत्यंत कामातुर हो गया। घी के बर्तन में जब अर्णिका का प्रतिबिंब देखा तो वह और भी अधिक काम विह्वल हो गया। भोजन अब उसके लिये विषरूप हो गया, अतः वह कुछ भी खाये बिना जल्दी से उठ गया।

दूसरे दिन उसने अपना अभिप्राय मित्र कामदेव के द्वारा जयसिंह को कहलवाया। तब जयसिंह ने कहा—“मित्र! मेरी यह बहन मुझे अतिप्रिय है और

तुम तो परदेशी हो, इसीलिए इसका वियोग मुझसे कैसे सहन होगा? अतः मैं अपनी बहन अर्णिका की शादी उसी के साथ कर सकता हूँ, जो शादी करने के बाद मेरे घर पर ही रहे। देवदत्त के लिए इतनी रियायत कर सकता हूँ कि बहन के एक पुत्र होने तक वह यहीं निवास करे तो मैं अर्णिका का उसके साथ विवाह कर सकता हूँ।” देवदत्त सारी बात मान गया और अर्णिका के साथ उसकी शादी हो गयी। शादी के बाद उसके साथ मनोवांछित विषयसुखोपभोग करते हुए काफी समय व्यतीत किया। समय पाकर अर्णिका गर्भवती हुई।

एक समय उत्तर मथुरा से देवदत्त के पिता का पत्र आया जिसमें लिखा था—‘पुत्र! तुम्हें परदेश गये बहुत समय हो गया है। इसीलिए अब तुम जरा भी विलम्ब किये बिना जल्दी आ जाओ।’ पिता का पत्र बार-बार पढ़ने से पिता के प्रति उसे अनिर्वचनीय प्रेमभाव जागृत हुआ। देवदत्त मन में विचार करने लगा—“धिकार है मुझे! मैं विषयाभिलाष के कारण यहाँ रहने के लिए वचनबद्ध हो गया और बूढ़े माता-पिता को छोड़कर यहाँ पड़ा हूँ।” अपने पति को खिन्न देखकर अर्णिका ने उसके हाथ से वह पत्र झपट कर ले लिया और उसे पढ़कर उसने वास्तविकता का पता लगा लिया। और स्वयं श्वसुर से मिलने को उत्कण्ठित हुई। अर्णिका के अत्यंत अनुरोध से भाई ने भी जाने की आज्ञा दे दी और अपने पति के साथ ससुराल चल पड़ी। मार्ग में पुत्र का जन्म हुआ। देवदत्त ने कहा—“अभी इसका नाम अर्णिकापुत्र रखेंगे; बाद में मेरे मातापिता जो नाम रखेंगे, वही मान्य करेंगे।” कुछ ही दिनों में वे दोनों घर पहुँचे और माता-पिता के चरणों में नमस्कार किया। पुत्र को देखकर पिता को बड़ी खुशी हुई। उन्होंने पूछा—“वत्स! इतने असें तक वहाँ रहकर तू ने क्या प्राप्त किया?” तब देवदत्त ने अर्णिका से जन्मे अपने पुत्र को पिता की गोद में बिठाया, और अपनी पत्नी को बताकर कहा—‘इतना प्राप्त कर मैं आया हूँ। पौत्र और पुत्रवधू को देखकर माता-पिता बहुत खुश हुए। पिता ने अपने पौत्र का यथायोग्य नाम रखा, लेकिन वह अर्णिकापुत्र के नाम से ही विशेष प्रसिद्ध हुआ।

बचपन पार करके अर्णिकापुत्र जवान हुआ। परंतु विषयों से विरक्त होने से वैराग्य परायण होकर उसने चारित्र्य ग्रहण कर लिया। उसने आगमों का रहस्य जानकर अनेक जीवों को प्रतिबोध देकर आचार्यपद प्राप्त किया। बाद में साधुसमुदाय के सहित विहार करते हुए पुष्पभद्रनगर पधारे। उसके बाद जो घटना हुई वह उपर्युक्त पुष्पचूला की कथा में पहले आ चुकी है ॥१७१॥

सुहिओ न चयइ भोगे, चयइ जहा दुक्खिओति अलियमिणं ।

चिक्कणक्कम्मोवलितो, न इमो न इमो परिच्चयई ॥१७२॥

शब्दार्थ - लोग कहते हैं कि जैसे दुःखी मनुष्य विषयभोग आदि का त्यागकर देता है, वैसे सुखी मनुष्य उसका सहसा त्याग नहीं कर सकता; यह बात असत्य है। यह एकांत नियम नहीं है। चिकने कर्मों से उपलिस व्यक्ति चाहे सुखी हो अथवा दुःखी; वह भोग को नहीं छोड़ सकता ॥१७२॥ 'भोगों को छोड़ना सुखी या दुःखी मनुष्य के बस की बात नहीं है।' परंतु जो लघुकर्मी हो, वही विषय भोग आदि का त्याग कर सकता है ॥१७२॥

जह चयइ चक्कवट्टी, पयित्थरं तत्तिथं मुहुत्तेण ।

न चयइ तहा अहन्नो, दुबुद्धी खप्परं दमओ ॥१७३॥

शब्दार्थ - जैसे लघुकर्मी चक्रवर्ती क्षणमात्र में षट्खंड की राज्यलक्ष्मी को छोड़ देता है, वैसे अपुण्यशाली दुर्बुद्धि निर्धन भिखारी गाढ़ कर्मों से लिस होने के कारण भीख मांगने का अपना एक खप्पर भी नहीं छोड़ सकता ॥१७३॥

देहो पिवीलियाहिं, चिलाइपुत्तस्स चालणी व्व कओ ।

तणुओ वि मणपओसो, न चालिओ तेण ताणुवरिं ॥१७४॥

शब्दार्थ - चींटियों ने चिलातीपुत्र का शरीर चालनी की तरह छिद्रों वाला बना दिया। फिर भी उन्होंने मन से जरा भी उन पर द्वेष नहीं किया और न अपने शुभध्यान से चलित हुए। ढाई दिन तक अखंड ध्यान रखकर वह मुनि स्वर्ग में पहुँचे ॥१७४॥ इसकी कथा ३८ वीं गाथा में आ चुकी है।

पाणच्चए वि पावं, पिवीलियाए वि जे न इच्छंति ।

ते कह जई अपावा, पावाइं करंति अन्नस्स ॥१७५॥

शब्दार्थ - जो मुनि प्राणांत कष्ट देने वाली चींटियों पर क्रोधवधादि पाप करने की इच्छा नहीं करते, वे निष्पाप मुनि अन्य मनुष्यों के प्रति पापकर्म का आचरण करेंगे ही कैसे? अर्थात् - वे दूसरों पर प्रतिकूल आचरण सर्वथा नहीं करते ॥१७५॥

भावार्थ - दोषरहित मार्ग में चलने वाले महामुनि किसी को कभी भी परिताप 'पीड़ा' नहीं पहुँचाते। वे जब शरीर को चालनी जैसा छिद्रयुक्त बना देने वाली चींटियों का जरा भी विनाश नहीं चाहते, तब फिर अन्य जीवों का अहित तो कर ही कैसे सकते हैं? यही इस गाथा का तात्पर्य है ॥१७५॥

जिणपह-अपंडियाणं, पाणहराणं पि पहरमाणं ।

न करंति य पाचाइं, पाचस्स फलं यियाणंता ॥१७६॥

शब्दार्थ - मुनि पाप का फल नरकादिक है, ऐसा भलीभांति जानते हैं, इसीलिए जिनमार्ग से अनभिज्ञ, अधर्म, अज्ञानी, अविवेकी, पापी और परितापकारी लोग जो तलवार आदि से प्रहार करके प्राणों का हरण करते हैं, उनके प्रति भी द्वेष, रोष, वधादि पापकर्म वे नहीं करते। अर्थात् उनके मारने का चिन्तनरूप पापकर्म भी वे नहीं करते, और न उनका द्रोह या अहित ही करते हैं ॥१७६॥

वह-मारण-अब्भक्खाण-दाणपरधणविलोवणाईणं ।

सव्वजहन्नो उदओ, दसगुणिओ इक्कसि कयाणं ॥१७७॥

शब्दार्थ - एक बार किये हुए वध, लकड़ी आदि से किये गये प्रहार, प्राण के नाश करने, मिथ्या कलंक देने, दूसरे के धन का हरण करने या चोरी करने, किसी को मर्मस्पर्शी शब्द बोलने, गुप्त बात प्रकट करने वगैरह इन पापकर्मों का जघन्य (कम से कम) उदय हो तो दसगुना फल मिलता है। अर्थात् एक बार जीव को मारने आदि से वह जीव उसे दस बार मारने आदि वाला होता है। मतलब है कि इन गुनाहों में से किसी भी गुनाह का सामान्य प्रतिफल दसगुना मिलता है ॥१७७॥

तिच्चये उ पआसे, सयगुणिओ सयसहस्सकोडिगुणो ।

कोडाकोडिगुणो वा, हुज्ज यियागो बहुनरो वा ॥१७८॥

शब्दार्थ - परंतु ऊपर बताये गये पाप तीव्रतर द्वेष से (अतिक्रोध आदिवश) किये जाये तो सौगुना विपाक (प्रतिफल) उदय में आता है। उससे भी अधिक तीव्रतर द्वेष से क्रमशः हजार गुना, लाख गुना, करोड़ गुना विपाक में उदय आता है और उससे तीव्रतम अतिशय द्वेष-क्रोध आदि से या वधादिक पाप करने से कोटाकोटीगुणा अथवा इससे भी अधिक विपाक उदय में आते हैं। अर्थात् जैसे कषाय से कर्म बांधा होगा वैसा ही विपाक उदय में आता है और उसे उतनी मात्रा में वह प्रतिफल भोगना ही पड़ता है ॥१७८॥

केइत्थ करंताऽऽलंबणं, इमं तिहुयणस्स अच्छेरं ।

जह नियमा खविणंगी, मरुदेवी भगवई सिद्धा ॥१७९॥

शब्दार्थ - कई भोले और स्थूलबुद्धि वाले लोग वधादि के प्रतिफल के बारे में तीनों लोक में आश्चर्यजनक इस खोटे आलम्बन को लेकर कहते हैं कि मरुदेवी माता ने कौन-सा तप-संयम का कष्ट उठाकर अपने अंगों को क्षीण किया था? फिर भी जैसे वे सिद्धगति पा गयी; पहले किसी भी प्रकार के धर्म का आचरण किये बिना ही श्रीऋषभदेव की माता श्रीभगवती मरुदेवी ने मोक्ष प्राप्त कर लिया था; वैसे ही

हम भी वधादि के विपाक (प्रतिफल) का अनुभव किये बिना और तप-संयम आदि धर्मानुष्ठान किये बिना ही मोक्षपद प्राप्त कर लेंगे ॥१७९॥

भावार्थ - ऐसा कहकर या ऐसा मिथ्या आलंबन लेकर धर्मसाधना में उपेक्षा करना, आत्मवंचना करना है, यह दृष्टान्त तो एक आश्चर्यभूत है। ऐसी निर्मल भावना आनी भी कठिन है। [मरुदेवी माता ने भी पूर्व जन्म में केले के भव में बोरड़ी के कांटे की पीडा अत्यधिक मात्रा में सहन की थी। ऐसा वृद्धवाद है अतः ऐसा उदाहरण, आलंबन ग्रहण करने योग्य नहीं है।] यहाँ मरुदेवी माता की कथा दी जा रही है।

श्री मरुदेवी माता की कथा

जब प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभस्वामी ने जैनैन्द्री मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली, तब भरत राजा राज्य का अधिकारी बना। भरत को हमेशा मरुदेवी माता उपालंभ दिया करती थी—“बेटा! तू राज्यसुख में इतना मोहित हो गया है, इसीलिए मेरे पुत्र ऋषभ की तू कोई सारसंभाल नहीं लेता। मैंने लोगों के मुख से सुना है कि वह मेरा लाडला पुत्र एक वर्ष हुआ, अन्न-जल के बिना भूखा-प्यासा और वस्त्र रहित होकर अकेला जंगल में घूम रहा है, सर्दी, गर्मी, बरसात आदि सहन करता है, और भी बहुत दुःखों का अनुभव करता है। इसीलिए एक बार तू मेरे पुत्र को यहाँ ले आ, ताकि मैं उसे अपने हाथों से भोजन दे दूँ और कम से कम एक बार अपने पुत्र का मुख तो देख लूँ।” यह सुनकर भरत ने कहा—“माताजी! आप बिलकुल चिन्ता न करें। हम सब आप ही के तो पुत्र हैं।” माता ने कहा—“वत्स! तू जो कुछ कह रहा है, वह सत्य है; लेकिन आम खाने की चाह वाले मनुष्य को इमली से कैसे संतोष हो सकता है? इसीलिए उस पुत्र ऋषभ के बिना यह सारा ही संसार मेरे लिये सूना है।” इस प्रकार दादीमा हमेशा उपालंभ देती रहती और पुत्रवियोग के कारण विलाप करती थी अत्यधिक शोक के कारण मरुदेवी माता के नेत्रों पर जाला (पर्दा) आ गया। इसी में एक हजार वर्ष जितना लंबा समय बीत गया।

एक समय श्री ऋषभदेव-स्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ; उस समय चौसठ इन्द्रों ने आकर समवसरण की रचना की। वनपालक ने आकर भरतराजा को यह खुशखबरी सुनाकर बधाई दी। सुनते ही भरत राजा सहर्ष मरुदेवी माता के पास आये और उन्हें खुशखबरी सुनाते हुए बोले—“दादीमा! आप मुझे हमेशा उपालंभ दिया करती थी कि मेरा पुत्र सर्दी-गर्मी आदि दुःख उठा रहा है और अकेला ही वन में भ्रमण कर रहा है; तो आज आप मेरे साथ चलकर अपने पुत्र का वैभव

और ठाठबाट अपनी आँखों से देख ले। सुनते ही मरुदेवी माता पुत्रदर्शन के लिए अत्यंत उत्सुक हुई। भरत महाराज ने उन्हें हाथी पर बिठाया। वे दोनों समवसरण की ओर चले। समवसरण के निकट पहुँचते ही देवदुंदुभि का शब्द सुनकर मरुदेवी माता को प्रसन्नता हुई और देवदेवियों के मुँह से जय-जयकार के नारे सुनकर उसके हर्ष से रोंगटे खड़े हो गये आँखों में हर्ष के आँसू उमड़ आये। इसके कारण उनके नेत्रों पर आया हुआ जाला (पर्दा) खुल गया। अतः तीन गढ़ वाला समवसरण, अशोकवृक्ष तथा छत्र-चामर आदि सर्व वैभव उसने प्रत्यक्ष देखा। अनुपम प्रातिहार्य आदि की समृद्धि देखकर माता मन ही मन विचार करने लगी 'धिक्कार है इस संसार को! और धिक्कार है ऐसे मोह को भी! क्योंकि मैं यों समझती थी कि मेरा पुत्र अकेला जंगल में भूखा-प्यासा भटक रहा होगा परंतु इसने तो इतनी विशाल समृद्धि प्राप्त कर ली है। एक तो यह है कि इतना वैभव पाने पर भी इसने मुझे कभी संदेश तक नहीं भेजा; और एक मैं थी कि इस पर मोह के कारण हमेशा दुःखी रहा करती थी। इसीलिए ऐसे एक तरफा कृत्रिम स्नेह को धिक्कार है! कौन किसका पुत्र है? और कौन किसकी माता है? दुनियादारी के ये सारे स्वार्थी रिश्ते-नाते हैं। वास्तव में संसार में कोई किसी का नहीं है।' इस तरह अनित्य-भावना का चिंतन करते यातिकर्म का क्षय होने से मरुदेवी माता ने वही केवलज्ञान प्राप्त करके अंतर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त कर लिया। मरुदेवी माता ने सर्व प्रथम सिद्धगति (मुक्ति) प्राप्त की। देवों ने आकर मरुदेवी माता के अनुपम गुणगान करके उनके मृत शरीर को क्षीर-सागर में बहा दिया।

मरुदेवी माता के इस दृष्टांत की ओट लेकर कई लोग ऐसा कहने लगते हैं कि 'तप-संयम का अनुष्ठान किये बिना ही जैसे मरुदेवी माता ने सिद्धिपद प्राप्त किया था वैसे हम भी सिद्धिपद प्राप्त कर लेंगे। लेकिन ऐसे आलंबन की ओट लेना दीर्घद्रष्टा व विवेकी पुरुषों के लिए योग्य नहीं है। १७९॥

किं पि कहिं पि क्याई, एगे लद्धीहिं केहि वि निभेहिं ।

पत्तेअबुद्ध-लाभा, हवति अच्छेरयम्भूया ॥१८०॥

शब्दार्थ - कई प्रत्येकबुद्ध पुरुष किसी समय भी कहीं भी बूढ़े बैल आदि वस्तु को देखकर, तदावरणकारक कर्मों के क्षयोपशम से या लब्धि से या किसी भी निमित्त से विषयभोग से विरक्त होकर तत्काल स्वतः प्रतिबुद्ध होकर स्वयंमेव दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। ये प्रत्येक बुद्ध जो अनायास ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं यह तो आश्चर्यभूत है ॥१८०॥

यानी ऐसे नमूने तो विरले ही मिलते हैं। इसीलिए ऐसे आलंबन की ओट में आत्मसाधना के प्रति उपेक्षा करना उचित नहीं है। बल्कि विशेष सावधान होकर धर्माचरण में प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि इस जन्म में बोये हुए उत्तम धर्मबीज का ही भविष्य में (अगले जन्म में) उत्तम फल प्राप्त हो सकता है। अतः कोई भी बहाना बनाकर धर्मानुष्ठान में प्रमाद करना किसी भी हालत में उचित नहीं है ॥१८०॥

निहिसंपत्तमहब्रो, पत्थितो जह जणो निरुत्तप्पो ।

इह नासइ तह पत्तेअ बुद्धलद्धिं पडिच्छंतो ॥१८१॥

शब्दार्थ - जैसे किसी निर्धन मनुष्य को अचानक रत्नादि का निधान मिल जाये पर वह प्रमाद के वश होकर पुरुषार्थ नहीं करता तो उस निधि का भी नाश कर देता है। वैसे प्रत्येकबुद्ध की लब्धि की इच्छा करने वाला पुरुष भी तप-संयम आदि त्याग-बलिदान की क्रिया नहीं करता; ॥१८१॥ अर्थात् प्रमाद में पड़कर धर्माचरण को छोड़ देता है तो वह मोक्ष रूप निधान को नष्ट कर देता है। वह लब्धियों (सिद्धियों) के चक्कर में पड़कर कदापि आत्महित नहीं कर सकता ॥१८१॥

सोऊण गइ सुकुमालिपाए, तह ससग-भसग-भयणीए ।

ताव न विससियब्बं, सेयट्ठी धम्मीओ जीव ॥१८२॥

शब्दार्थ - 'ससक और भसक नाम के दोनों भाईयों की बहन सुकुमालिका की क्या हालत हुई?' इसे सुनकर चाहे शरीर में खून और मांस सूख जाय और हड्डियाँ सफेद हो जाय; फिर भी मोक्षार्थी श्रेयस्कामी धार्मिक साधुओं को विषयादि का विश्वास नहीं करना चाहिए ॥१८२॥

प्रसंगवश यहाँ सुकुमालिका की कथा दे रहे हैं-

सुकुमालिका का दृष्टांत

वसंतपुर नगर में सिंहसेन राजा राज्य करता था। उसकी सिंहला नाम की रानी थी। उस रानी की कुक्षि से ससक और भसक नामक दो पुत्र हुए। वे दोनों हजार-हजार योद्धाओं को पराजित कर सकने वाले बलवान थे। उन दोनों की सुकुमालिका नाम की अत्यंत रूपवती एक बहन थी। एक समय किसी आचार्य का अनुपम अमृतरसपूर्ण धर्मोपदेश सुनकर विरक्त ससक और भसक ने चारित्र्य अंगीकार कर लिया। आगे चलकर वे दोनों गीतार्थ मुनि हुए। उन्होंने अपने संसार पक्ष के नगर में जाकर अपनी बहन सुकुमालिका को प्रतिबोध दिया। इस कारण उसने भी विरक्त होकर चारित्र्य ले लिया। तत्पश्चात् वह साध्वीजी के पास रहकर

आतापना के सहित छट्ट-अट्टम (दो-तीन उपवास) आदि तप करती रहती थी। ऐसा करके वह अपने अनुपम सौंदर्य के आकर्षण और गर्व को नष्ट करना चाहती थी। इसके बावजूद भी उसके अनुपम रूप से आकर्षित होकर कई रूप लोलुप कामी (पुरुष रूप में) भौरे वहाँ हर समय मंडरते रहते थे, कई तो सामने ही बैठे रहते थे और अपनी विषयलालसा उसके सामने प्रकट करते थे। यह देखकर अन्य साध्वियाँ सुकुमालिका साध्वी को उपाश्रय के अंदर ही बिठाये रखती; बाहर जाने नहीं देती थीं। फिर भी उसके रूप से मोहित होकर कुछ कामी पुरुष उपाश्रय के द्वार पर आकर ही जम जाते और उसका मुख देखने की लालसा से उन्मत्त के समान घूरते और घूमते रहते। इससे तंग आकर साध्वियों ने आचार्य महाराज से निवेदन किया—“गुरुदेव! इस सुकुमालिका के सच्चरित्र की रक्षा करने में हम लाचार हैं। हमने बहुतेरे उपाय कर लिये, फिर भी रूप लोलुप कामी जवान उपाश्रय में आकर उपद्रव मचाते हैं, आवाजें करते हैं। हमने उन्हें बहुत रोका, लेकिन वे मानते ही नहीं। अब बताइए, हम क्या करें?” यह सुनकर आचार्यश्रीजी ने सुकुमालिका के भाई मुनि ससक और भसक को बुलाकर कहा—“वत्स! तुम साध्वियों के उपाश्रय में जाओ और अपनी साध्वीबहन की रक्षा करो। शीलपालन में उसकी सहायता करने से तुम्हें महान् लाभ होगा।” इस तरह गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके वे दोनों मुनिभ्राता वहाँ जाकर साध्वीबहन की रक्षा करने लगे। उनमें से एक तो निरंतर उपाश्रय के दरवाजे पर बैठा रहता और दूसरा गोचरी आदि के लिए जाता था।

एक दिन रूप लोलुप जवानों के साथ उनकी लड़ाई हो गयी। यह देखकर साध्वी सुकुमालिका ने विचार किया—“धिक्कार है मेरे रूप को; जिसके कारण मेरे भाईयों को अपना स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन आदि छोड़कर मेरे लिये इतना क्लेश सहन करना पड़ता है।” अतः इस रूप को ही सर्वथा खत्म करने के लिए अब मैं अनशन कर लूँ। इसी शरीर के लिए ये कामी पुरुष बेचैन होते हैं; जब इस शरीर का ही त्याग कर दूँगी तो यह झंझट ही खत्म हो जायगा। यों सोचकर सुकुमालिका ने अनशन अंगीकार कर लिया। जैसे मालती का पुष्प थोड़े ही दिनों में मुझा जाता है, वैसे ही उसका शरीर भी कुछ ही दिनों में मुझा गया और एक दिन श्वास के रुक जाने से उसे मूर्च्छा आ गयी। मूर्च्छा के कारण उसके भाईयों ने उसे मृत समझकर गाँव के बाहर वन की भूमि में जाकर परिष्ठापन कर (डाल) दिया। संयोगवश वन की ठंडी-ठंडी हवा लगने से सुकुमालिका में चेतना आई। बेहोशी दूर हो गयी। उसने खड़े होकर चारों तरफ

देखा कि “मैं यहाँ इस अज्ञातस्थल में कैसे आ गयी?” इतने में वहाँ एक सार्थवाह आ पहुँचा। उसके नौकर जल और लकड़ियों के लिए जंगल में घूम रहे थे। वे उसे वनदेवी समझकर प्रार्थना करके सार्थवाह के पास ले आये। सार्थवाह ने भी उसके शरीर में स्त्रियों से तैल की मालिश आदि करवाई और योग्य भोजनादि कराया; जिससे वह पुनः स्वस्थ और सशक्त हुई। एक तरह से उसने फिर नयी जवानी पायी। किन्तु उसका यौवन और रूप फिर उसके लिये खतरनाक बना। वह सार्थवाह उसके रूप और यौवन से मोहित हो गया। उसने कहा—“सुंदरी! तुम्हारा यह सुंदर शरीर विषयसुखों के उपभोग के लिए है। नहीं तो, यह यों ही नष्ट हो जायगा, इससे क्या फायदा? यदि तुम्हारी विषयसुख के स्वाद में अरुचि हो तो फिर विधि ने ऐसा अनुपम रूप क्यों बनाया? कमलनयने! तुम्हें देखने के बाद मुझे दूसरी स्त्री अच्छी नहीं लगती! जैसे कल्पलता को चाहने वाला भौरा दूसरी लता को बिलकुल नहीं चाहता। वैसे ही तुम्हारे रूप से मेरे सरीखे व्यक्ति का मन मोहित हो गया है, इसीलिए दूसरी कोई स्त्री मुझे बढ़िया नहीं लगती। इसीलिए मुझ पर कृपा करो और कामदेव रूपी समुद्र में डूबे हुए इस प्रेमी को उबारो।” सार्थवाह के ये वचन सुनकर सुकुमालिका ने विचार किया—“इस संसार में कर्म की लीला बड़ी विचित्र है। विधाता के अकल्प्य विधान को कौन समझ सकता है?” कहा भी है—

अघटितघटितानि घटयति, सुघटितघटितानि जर्जरीकुरुते ।

विधिरेव तानि घटयति, यानि पुमानैव चिन्तयति ॥१२८॥

‘विधाता ही अघटित (अयोग्य) घटनाओं को घटित करके बता देता है और जो सुघटित (अच्छी तरह बनी हुई) घटनाएँ हैं, उन्हें तितरबितर कर देता है। मनुष्य जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता ऐसी घटनाएँ विधि घटित कर देता है।’ ॥१२८॥

“यदि विधाता की ये चेष्टाएं संभव न होती तो मेरे भाई मुझे मरी हुई समझकर जंगल में क्यों छोड़ जाते? और इस सार्थवाह के साथ संपर्क भी कैसे होता? इसीलिए भालूम होता है, अभी तक कुछ भोगावली कर्म मुझे भोगने बाकी हैं। साथ ही यह सार्थवाह भी मेरा महान् उपकारी है। इसीलिए मेरे संगम के अभिलाषी इस सार्थवाह की भावना पूर्ण करूँ।” ऐसा विचारकर सुकुमालिका सार्थवाह के चरणों में पड़ी और हाथ जोड़कर बोली—“स्वामिन्! मेरा यह शरीर आपके चरणों में समर्पित है। आप इसे स्वीकार करो और अपना यथेष्ट मनोरथ पूर्ण करो।” यह सुनकर सार्थवाह बड़ा खुश हुआ और उसे अपने नगर में ले

आया। उसे एक महल दे दिया और आनंद से विषयसुखों का उपभोग करते हुए जिंदगी बिताने लगा।

काफी अर्से के बाद एक बार विहार करते हुए ससक और भसक मुनि उसी नगर में आये। उन्होंने आहार के लिए नगर में प्रवेश किया। भिक्षा के लिए घूमते हुए वे दोनों कर्मयोग से सुकुमालिका के ही घर धर्मलाभ देने पहुँच गये। सुकुमालिका ने तो अपने भाईयों को मुनि रूप में देखते ही पहचान लिया, परंतु मुनि भ्राताओं ने उसे अच्छी तरह से नहीं पहचाना। अतः वे उसके सामने ताक-ताककर देखने लगे। तब सुकुमालिका ने पूछा—“मुनिवर! आप मेरी और टकटकी लगाये क्यों देख रहे हैं?” वे बोले—“तुम जैसी आकृति और रूप वाली पहले हमारी एक बहन थी।” सुनते ही सुकुमालिका की आँखों से आँसू उमड़ पड़े। उसने रोते-रोते अपनी सारी आपबीती भाईयों को सुनाई। भाईयों ने सार्धवाह को कुछदिन तक समझाकर प्रतिबोधित करके सुकुमालिका को गृहवास से मुक्त कराया और फिर से साध्वी-दीक्षा दी। साध्वी सुकुमालिका भी शुद्ध निरतिचार चारित्र की आराधना करके अंत में शुद्ध आलोचनापूर्वक मरकर स्वर्ग में पहुँची।

सुकुमालिका की इस कथा से यही प्रेरणा मिलती है कि अत्यंत धर्मिष्ठ व्यक्ति को भी विषय-विकार पर भरोसा नहीं करना चाहिए। और यह भी कदापि नहीं सोचना चाहिए कि “मैं वृद्धावस्था से जीर्ण हो गया हूँ, अब विषय-विकार मुझे क्या सतायेंगे?” साधु पुरुषों को विषय-विकारों से सदैव सावधान रहना चाहिए, ताकि बाद में पश्चात्ताप करना न पड़े ॥१८२॥

खरकरहतुरयसहा, मतगइंदा वि नाम दम्मंति ।

इक्को नवरि न दम्मइ, निरंकुसो अप्पणो अप्पा ॥१८३॥

शब्दार्थ - 'गधा, ऊंट, घोड़ा, बैल और मदोन्मत्त हाथी को भी युक्ति-पूर्वक वश किया जा सकता है, मगर वश में नहीं किया जा सकता है तो एक निरंकुश स्वेच्छाचारी अपनी आत्मा को ही।' आत्मा को ही नियंत्रित (दमन) करना वही सर्वश्रेष्ठ है ॥१८३॥

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।

माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि अ ॥१८४॥

—उत्तराध्ययन १/१६

शब्दार्थ - मैं स्वच्छन्दाचारी और असंयमी बनकर कुमार्ग में पड़कर दूसरों के द्वारा रस्सी आदि बंधनों और लकड़ी, चाबुक आदि के प्रहारों से काबू (दमित या नियंत्रित) किया जाऊँ; इससे तो बेहतर यही है कि मैं अपने आप (आत्मा) को संयम

और तप के द्वारा स्वयं वश (दमन) करके रखूं ॥१८४॥

भावार्थ - जो अपनी आत्मा को तप-संयम से नियंत्रित नहीं करता, बे लगाम रहता है, वह दूसरों (दण्डशक्ति आदि) के द्वारा अवश्य दमन किया जाकर दुःखी होता है ॥१८४॥

अप्पा चेव दमेयव्यो, अप्पा हु खलु दुइमो ।

अप्पा दंतो सुही होइ, अस्मिं लोए परत्थ य ॥१८५॥ -उत्तराध्ययन १/१५

शब्दार्थ - 'आत्मा का अवश्य ही दमन करना चाहिए। अपनी आत्मा (इन्द्रियों, मन, बुद्धि का) दमन (वश में) करना बहुत ही कठिन है। जिसने अपनी आत्मा का दमन (वश) कर लिया, वह इस लोक और परलोक दोनों में सुखी होता है।' ॥१८५॥

निच्चं दोससहणओ, जीवो अचिरहियमसुहपरिणामो ।

नवरं दिन्ने पसरे, तो देइ पमायमयरेसु ॥१८६॥

शब्दार्थ - नित्य रागादि दोषों से लिपटा हुआ जीव-आत्मा निरंतर अशुभ परिणामों से भरा रहता है। इस आत्मा को निरंकुश छोड़ दिया जाय तो वह इस संसार-सागर में लोकविरुद्ध और आगमविरुद्ध कार्यों में पड़कर विषय-कषायादि प्रमादों से अपनी बहुत हानि करता है ।

मतलब है कि राग-द्वेष और प्रमाद से इस आत्मा का शीघ्र पतन होते देर नहीं लगती ॥१८६॥

अच्चिय-वंदिय-पूइय-सक्कारिय-पणमिओ-महग्घयिओ ।

तं तह करेइ जीवो, पाडेइ जह अय्यणो ठाण ॥१८७॥

शब्दार्थ - साधक ही चाहे किसी ने (गुणग्राहक दृष्टि से) पूजा की हो अथवा सुगंधित द्रव्य से व अलंकारों से उसका सत्कार किया हो। अनेक लोगों ने उसकी गुण-गाथा (स्तुति) गायी हो, या वंदन किया हो। उसके स्वागत में खड़े होकर विनयपूर्वक सम्मान किया हो या मस्तक झुकाकर नमस्कार किया हो अथवा आचार्य आदि पदवी देकर उसका गौरव (महत्त्व) बढ़ाया हो; फिर भी वह साधक अपनी मूढ़ता, अहंकार या प्रमाद के चक्कर में पड़कर किसी अकार्य को कर बैठता है तो अपने महत्त्वपूर्ण स्थान को ही खो देता है। यानी थोड़े-से सुख के लिए बाह्य आडंबर, प्रदर्शन या खानपान, मान-सम्मान के चक्कर में पड़कर महान् वास्तविक सुख को ही खत्म कर देता है ॥१८७॥

सीलव्ययाइं जो बहुफलाइं, हंतूण सोक्खमहिलसइ ।

धिइदुब्बलो तवस्सी, कोडीए कागिणिं किणइ ॥१८८॥

शब्दार्थ - शील, व्रत आदि का आचरण, स्वर्ग, मोक्ष आदि महान् फलों को देने वाला है। परंतु धैर्य रखने में कमजोर व असंतोषी तपस्वी शील-व्रतों को भंग करके विषय-सेवन रूप सुख की अभिलाषा करता है; वह मूर्ख अपनी दुर्बद्धि-वश करोड़ों का द्रव्य देकर बदले में रुपये के ८० वे हिस्से के रूप में काकिणी पत्थर को खरीदता है ॥१८८॥

जीवो जहामणसियं, हियइच्छियपत्थिएहिं सोक्खेहिं ।

तोसेऊण न तीरइ जावज्जीवेण सव्वेण ॥१८९॥

शब्दार्थ - संसारी जीव को उसके मन की अभिलाषा के अनुरूप अथवा दिल में चिन्तित या प्रार्थित स्त्री आदि के सुखों से सारी जिंदगी तक संतुष्ट किया जाय; फिर भी उसकी संतुष्टि या तृप्ति नहीं होती। उलटी तृष्णा की वृद्धि होती जाती है ॥१८९॥

सुमिणंतराणुभूयं, सोक्खं समइत्थियं जहा नत्थि ।

एवमिमं पि अईयं, सोक्खं सुमिणोवमं होइ ॥१९०॥

शब्दार्थ - जैसे स्वप्न-अवस्था में अनुभव किया हुआ सुख जागृत अवस्था में बिल्कुल नहीं रहता। वैसे ही भूतकाल में प्रत्यक्ष-अनुभव किया हुआ विषयसुख भी वर्तमानकाल में उसी स्वप्न के सुख के समान हो जाता है। अतः समस्त विषयसुखों को तुच्छ, कल्पित और क्षणिक मानकर वैराग्यपूर्वक आत्मदमन करना ही सर्वथा उचित है ॥१९०॥

पुरनिद्धमणे जक्खो, महुरामंगू तहेय सुयनिहसो ।

बोहेइ सुविहियजणं, विसूरइ बहू च हियएणं ॥१९१॥

शब्दार्थ - 'आगम-सिद्धान्त की परीक्षा में कसौटी के पत्थर के समान यानी बहुश्रुत मंगू नाम के आचार्य मथुरा नगरी में गंदे नाले के पास वाले यक्षमंदिर में यक्ष रूप में उत्पन्न हुए। किन्तु अपने सुविहित साधुजन (शिष्यगण) को प्रतिबोध करते समय हृदय में अत्यंत शोक करते थे' ॥१९१॥

इसका संबंध अगली गाथा से है। यहाँ प्रसंगवश मंगू आचार्य की कथा दे रहे हैं—

मंगू-आचार्य की कथा

एक बार आगमशास्त्र रूपी समुद्र के पारगामी, युगप्रधान श्रीमंगू नाम के

आचार्य मथुरा नगरी में पधारें। नगरी में बहुत से धनाढ्य श्रावक रहते थे। वे साधुओं की अत्यंत सेवा-भक्ति किया करते थे। इस कारण आचार्य महाराज की भी वे बहुत सेवा करने लगे। आचार्यश्रीजी भी वही रहकर पठन-पाठन और व्याख्यान आदि करते थे। इस कारण उन्होंने अपने व्याख्यान आदि से श्रावकों के चित्त पर ऐसा जादू कर दिया कि वे इन आचार्य की गाढ़ सेवाभक्ति करने लगे। वे जानते थे कि इन आचार्य भगवान् को आहार आदि का दान करने से हम भव से पार होंगे। अतः रागवश वहाँ के श्रावक मिष्टान्न और स्वादिष्ट सुंदर आहार देने लगे। आचार्य के मन में भी ऐसा आहार मिलने से रसलोलुपता जागी, और वे मन ही मन विचार करने लगे—“विहार करके अन्य स्थान पर जहाँ कहीं भी जायेंगे तो वहाँ, कहाँ ऐसा सरस आहार मिलेगा? यहाँ के श्रावक भी मेरे प्रति विशेष भक्ति रखते ही हैं। इसीलिए अब हमें यहीं जमे रहना ठीक है।” ऐसा सोचकर वे आचार्य वहीं एक ही स्थान पर रहने लगे। न श्रावकों ने राग मोह वश उनसे कुछ कहा और न साधुओं ने ही विहार की बात छोड़ी।

धीरे-धीरे गृहस्थों के साथ उनका परिचय गाढ़ होता गया। मिष्टान्न और गरिष्ठ भोजन करने से, कोमल गुदगुदाती शय्या पर शयन करने से और सुंदर उपाश्रय में रहने से वे आचार्य रस-लुब्ध हो गये। अब उन्होंने आवश्यक आदि नित्य क्रियाएँ भी छोड़ दी। उलटे मन में वे अहंकार करने लगे कि मेरे तप, त्याग, व्याख्यानादि से आकर्षित होकर ‘मुझे श्रावक कितना स्वादिष्ट भोजन देते हैं?’ यों अहंकारवश रसगारव (स्वादिष्ट वस्तुप्राप्ति का गर्व) करने लगे। फिर क्रमशः तीनों गारवों (गर्वों) में निमग्न होकर वे सारे जगत् को तृणसमान मानने लगे, मूल गुणों में भी समय-समय पर दोष लगाने से शिथिल हो गये। और इस तरह चिरकाल तक अतिचारादि से दूषित चारित्र पालन कर और अंतिम समय में उसका प्रायश्चित्त किये बिना ही मरकर वे उसी नगरी के गंदे नाले के पास यक्षमंदिर में यक्ष रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ जब उन्होंने विभंगज्ञान से अपना पूर्वजन्म देखा तो बड़ा पश्चात्ताप करने लगे—“हाय! मैंने मूर्खतावश जिह्वा के स्वाद में लुब्ध होकर ऐसे कुदेव के रूप में जन्म पाया है।” एक दिन स्थंडिलभूमि जाकर लौटते हुए अपने शिष्यों को देखकर यक्ष उनको लक्ष्य करके अपनी जीभ मुख से बाहर निकालकर दिखाने लगे। यह देखकर उन सब शिष्यों ने दिल मजबूत करके उससे पूछा कि “यक्षराज! आप कौन हैं? और किसलिए और क्यों अपनी जीभ बार-बार बाहर निकाल रहे हैं?” यक्ष ने कहा—“मैं तुम्हारा गुरु मंगू नाम का आचार्य हूँ। जिह्वा के स्वाद के वशीभूत होकर मैं ऐसी अपवित्र देवयोनियों में जन्मा हूँ।” मैंने गृहस्थ

का त्याग करके चारित्र लेकर भी श्री जिनेश्वरदेव कथित धर्म की शुद्ध रूप से आराधना नहीं की, और तीनों गारवों से आत्मा को मलिन बनायी। चारित्र की शिथिलता में सारी आयु बिता दी। अब कुछ नहीं सूझता कि मैं अधन्य, पुण्य रहित और विरति रहित क्या करूँ? इस जन्म में तो मैं चारित्र-पालन करने में असमर्थ हूँ। इसीलिए मैं अपनी आत्मा के बारे में सोच-सोचकर चिन्तित हो उठता हूँ कि वीतराग का उत्तम मुनि-धर्म प्राप्त होने पर भी उसका सम्यक् प्रकार से पालन नहीं किया; इस कारण चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। इसीलिए मेरी तरह रस लोलुप न होना। यदि रस लुब्ध बनकर चारित्र के प्रति उपेक्षा कर दी तो आपको भी मेरी तरह पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस तरह अपने पूर्वजन्म के शिष्यों को उपदेश देकर वह यक्ष अदृश्य हो गया। उन साधुओं ने इस बात से नसीहत लेकर शुद्ध चारित्र की आराधना की और सद्गति में पहुँचे ॥१९१॥

इस कथा को सुनकर सभी को जिह्वा के स्वाद का त्याग करना चाहिए। वह यक्ष किस तरह शोकातुर हुआ था? यह बात अब इस नीचे की गाथा में बता रहे हैं—

निगंतूण घराओ, न कओ धम्मो मए जिणक्खोओ ।

इद्धिससायगुरुयत्तणेण, न य चेइओ अप्पा ॥१९२॥

शब्दार्थ - हा! मैंने गृहस्थ का त्याग करके चारित्र अंगीकार किया परंतु सुंदर आवास, वस्त्र आदि ऋद्धि की प्राप्ति से ऋद्धि गारव (गर्व) स्वादिष्ट भोजन आदि के रस प्राप्त होने से रसगारव और कोमल शय्यादिक के सुख से शांता गारव, इस तरह तीनों गारवों के चक्र में पड़कर मैंने श्री जिनेश्वर भगवान् द्वारा उक्त धर्म की आराधना नहीं की और न मैंने अपनी आत्मा को सावधान ही किया। इसीलिए आज मेरी ऐसी दशा हुई है ॥१९२॥

अतः आप सभी साधु सावधान होकर संयम का पालन करना।

ओसन्नविहारेणं, हा जइ झीणंमि आउए सव्वे ।

किं काहामि अहन्नो? संपइ सोयामि अप्पाणं ॥१९३॥

शब्दार्थ - अफसोस है, मेरी सारी आयु चारित्र-पालन की शिथिलता (प्रमाद, असावधानी आदि) में बीत, क्षीण हो गयी; अब मैं अभागा धर्म रूप संबंध के बिना क्या करूँ? अब (इस जन्म में) मैं आत्मा के बारे में चिन्ता कर रहा हूँ। परंतु अब शोक करने मात्र से क्या होगा? ॥१९३॥

हा! जीव! पाप भूमिहिसि, जाई जोणीसयाईं बहुयाईं ।

भवसयसहस्सदुल्लहं पि, जिणमयं एरिसं लद्धं ॥१९४॥

शब्दार्थ - अरे पापी जीव! लाखों जन्मों में भी अतिदुर्लभ और अचिंत्य चिंतामणि के समान श्रीजिनकथित धर्म को प्राप्त करके भी स्वच्छंदता के कारण उसकी आराधना नहीं की; इसीलिए तुझे एकेन्द्रियादि अनेक जातियों और शीतोष्णादि अनेक योनियों में सैकड़ों बार परिभ्रमण करना पड़ेगा ॥१९४॥

पापो पमायवसओ, जीवो संसारकज्जमुज्जुतो ।

दुक्खेह न निव्विण्णो, सोक्खेहिं न चेव परितुट्ठो ॥१९५॥

शब्दार्थ - यह पापी जीव विषय-कषायादि प्रमाद के वश होकर सांसारिक कार्यों में सदा उद्यमि रहा; और उनमें उसे विविध प्रकार के संयोग-वियोग अथवा जन्म-मरण के दुःख भी उठाने पड़े; लेकिन उन दुःखों के बावजूद भी उसे उनसे निर्वेद (वैराग्य) नहीं हुआ। और न इन्द्रिय-सुखों को पाकर भी वह संतुष्ट हुआ ॥१९५॥

भावार्थ - इनके कारण वह जितना-जितना दुःख प्राप्त करता है, उतना-उतना पाप-कर्म अधिक करता जाता है और इन्द्रियसंबंधी सुखों से भी संतुष्ट नहीं होता; क्योंकि ज्यों-ज्यों उसे विषय सुख मिलता है, त्यों-त्यों वह नये-नये सुख की चाह करता जाता है। परंतु परमानंदकारी अतीन्द्रिय सुखदायी मोक्ष की साधना से विमुख ही रहता है ॥१९५॥

परितप्पिएण तणुओ, साहारो जइ घणं न उज्जमइ ।

सेणियराया तं तह, परितप्पंतो गओ नरयं ॥१९६॥

शब्दार्थ - यदि स्वतंत्र रूप से तप-संयम आदि की आराधना में विशेष रूप से उद्यम न किया जाता है तो बाद में उसे पापकर्म की निंदा गद्दी और पश्चात्ताप आदि से विशेष लाभ नहीं होता। वह लघुकर्मों का क्षय जरूर कर सकता है, परंतु महाकर्मों का नहीं। जैसे श्रेणिक राजा भी अंतिम समय में पश्चात्ताप करता रहा कि 'हाय! मैंने चारित्र अंगीकार नहीं किया।' फिर भी वह नरकगति में पहुँचा। इसीलिए पश्चात्ताप से स्वल्प कर्मों का ही क्षय होता है ॥१९६॥

जीवेण जाणिउ विसज्जियाणि, जाईसएसु देहाणि ।

थोवेहिं तओ सयलं पि, तिहुयणं हुज्ज पडिहत्थं ॥१९७॥

शब्दार्थ - विभिन्न अगणित जीव-योनियों में परिभ्रमण करते हुए जीव ने एकेन्द्रियादि सैकड़ों जातियों में शरीर को ग्रहण करके पहले के जितने शरीरों को

छोड़ा है, उन सारे त्यक्त शरीरों के अनंतवें भाग से भी तीनों जगत् (चौदह राजलोक) संपूर्ण भर जाते हैं तो सारे शरीरों की गिनती का तो कहना ही क्या? फिर भी जीव को (जन्म-मरण के चक्र से) संतोष नहीं होता ॥१९७॥

नह-दंतमंसकेसट्टिएसु, जीवेण विप्पमुक्केसु ।

तेसु वि हविज्ज कइलास-मेरुगिरिसन्निभा कूडा ॥१९८॥

शब्दार्थ - पूर्वजन्मों में ग्रहण करके जीव के द्वारा छोड़े हुए नखों, दांतों, मांस, बालों और हड्डियों का हिसाब लगाये तो कैलाश (हिमवान) मेरु आदि अनेक पर्वतों के समान अनंत ढेर हो जाय; क्योंकि उनका भी कोई अंत नहीं है ॥१९८॥

हिमवंतमलयमंदरदीयोदहिधरणिसरिसरासीओ ।

अहिअपरो आहारो, छुहिण्णाहारिओ होज्जा ॥१९९॥

शब्दार्थ - संसार-समुद्र में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने अब तक इतना आहार किया है कि उसका हिसाब लगाये तो हिमवान पर्वत, मलयाचल पर्वत, मेरुपर्वत, जम्बूद्वीप आदि असंख्यात द्वीप, लवण-समुद्र आदि असंख्य समुद्र और रत्नप्रभादि सात पृथ्वियों आदि कुल मिलाकर इनके समान बड़े-बड़े ढेर कर दें तो इनसे भी अधिक आहार भक्षण किया है। अर्थात् एक जीव ने अनंत पुद्गल-द्रव्यों का भक्षण किया है फिर भी उसकी क्षुधा शांत नहीं हुई ॥१९९॥

जं णेण जलं पीयं, घम्मायवज्जगडिण तं पि इहं ।

सच्चेसु वि अगड-तलाय-नई-समुदेसु न वि होज्जा ॥२००॥

शब्दार्थ - ग्रीष्म-ऋतु की धूप से पीड़ित इस जीव ने इतना जल पीया है कि उसका हिसाब लगायें तो इतना जल सभी कुओं, तालाबों, गंगा आदि सभी नदियों और लवणादि सारे समुद्रों में भी न हो। अर्थात् एक जीव ने आज तक जितना जल पिया है कि वह सर्व-जलाशयों के जल से भी अनंत गुना है ॥२००॥

पीयं थणयच्छीरं, सागरसलिलाओ होज्ज बहुअपरं ।

संसारम्मि अणंते, माऊणं अन्नमन्नाणं ॥२०१॥

शब्दार्थ - इस जीव ने इस अनंत संसार में बचपन में भिन्न-भिन्न माताओं के स्तनों का दूध इतना पीया है कि जिसका हिसाब लगाया जाय तो समस्त समुद्रों के जल से भी अनंतगुना दूध हो जाय। मतलब यह है कि एक जीव ने अलग-अलग नये-नये शरीर धारण करके अलग-अलग माताओं का दूध सारे समुद्रों से अनंतगुना पीया है ॥२०१॥

पत्ता य कामभोगा, कालमणंतं इहं सउवभोगा ।

अपुष्पं पि च मज्जइ, तहपि य जीवो मणे सोक्खं ॥२०२॥

शब्दार्थ - इस संसार में अनंतकाल तक जीव ने घर-स्त्री-वस्त्र-अलंकार आदि उपभोग्य पदार्थों सहित कामभोग अनंतबार प्राप्त किये हैं; फिर भी यह जीव अज्ञानतावश अपने मन में उस विषयादि सुखों को अपूर्व व एकदम नये मानता है ॥२०२॥

जाणइ य जहा, भोगिहिसंपया सव्वमेव धम्मफलं ।

तहपि दढमूढहियओ, पावे कम्मे जणो रमई ॥२०३॥

शब्दार्थ - यह जीव जानता है और प्रत्यक्ष देखता भी है कि इन्द्रियों से उत्पन्न सुख, राजलक्ष्मी और धन-धान्य आदि संपदाएँ यह सब धर्म के ही फल हैं। धर्माचरण के बीज बोने से यह सारे साधन रूपी फल मिले हैं। फिर भी अत्यंत वज्र-हृदय मूढ़ होकर जान बूझकर जीव पापकर्म में रमण करता है ॥२०३॥

जाणिज्जइ चित्तिज्जइ, जम्मजरामरणसंभवं दुक्खं ।

न य विसएसु विरज्जइ, अहो सुबद्धो कवडगंटी ॥२०४॥

शब्दार्थ - जन्म, जरा और मृत्यु से होने वाले दुःखों को यह जीव गुरुमहाराज के उपदेश सुनकर जानता है और मन में चिन्तन भी करता है। फिर भी यह जीव विषयों से विरक्त नहीं होता। खेद है, निपट महामोहान्धता के कारण कैसी मजबूत गांठ से जकड़ा हुआ है। किसी प्रकार भी यह मोह की गांठ ढीली नहीं होती कोई विरला मोक्षगामी जीव ही संतोषवृत्ति धारण करता है ॥२०४॥

जाणइ य जह मरिज्जइ, अमरंतं पि हु जरा विणासेइ ।

न य उव्विणो लोणो, अहो! रहस्सं सुनिम्मायं ॥२०५॥

शब्दार्थ - यह जीव जानता है कि सभी जीव को अपनी-अपनी आयु समाप्त होते ही अवश्य मरना है और फिर वृद्धावस्था नहीं मरे हुए जीव को भी मार डालती है। फिर भी लोग जन्म-मरण के भ्रमण से उद्विग्न (भयभीत) नहीं होते, उन्हें संसार से विरक्ति होती ही नहीं। 'महान् आश्चर्य है कि मोह का कितना गूढ़ रहस्यमय चरित्र है कि जीव को वह मिथ्याभ्रम में डालकर पाप में लिस कर देता है ॥२०५॥

दुप्पयं चउप्पयं बहुपयं, च अपयं समिद्ध-महणं वा ।

अणवकण्ठवि कयंतो, हरइ हयासो अपरिणंतो ॥२०६॥

शब्दार्थ - मनुष्य आदि दो पैर वाले, गाय, भैंस आदि चार पैर वाले, भैंसा आदि बहुत पैर वाले, सर्प आदि पैर रहित तथा धनवान, निर्धन अथवा पंडित और मूर्ख आदि सभी को बिना ही किसी अपराध के मृत्यु बिना थके या हताश हुए मार डालती है। मृत्यु किसी को नहीं छोड़ती ॥२०६॥

न य नज्जइ सो दियहो, मरियव्वं चाडवसेण सव्वेण ।

आसापासपरद्धो, न करेइ य जं हियं वज्झो ॥२०७॥

शब्दार्थ - किस दिन मरना है, इसे यह जीव नहीं जानता; परंतु सभी को एक न एक दिन अवश्य मरना है, इस बात को जानता है। फिर भी आशा रूपी पाश में परवश हुआ और मौत के मुख में रहा हुआ यह जीव, जो हितकारक धर्मानुष्ठान है, उसे नहीं करता ॥२०७॥

संज्झारागजलबुब्बूओवमे, जीविए य जलविंदुचंचले ।

जुव्वणे य नइवेगसन्निभे, पाव जीव! किमियं न बुज्झसि ॥२०८॥

शब्दार्थ - यह जीवन संध्या की लालिमा के समान क्षणिक है, जल तरंग पानी के बुलबुले के समान नाशवान है, दर्भ के अग्रभाग पर पड़े हुए जलकण के समान चंचल है। और जवानी नदी के वेग के समान थोड़े-से समय टिकने वाली है। फिर भी पापकर्म में रचापचा जीव नहीं समझता और अपना अहित ही करता रहता है ॥२०८॥

जं जं नज्जइ असुइं, लज्जिज्जइ कुच्छिज्जमेयं ति ।

तं तं मग्गइ अंगं, नवरि अणंगोत्थ पडिकूलो ॥२०९॥

शब्दार्थ - जिस अंग को अपवित्र समझता है, जिस अंग को देखते ही लज्जा आती है और जिस धिनौने अंग से घृणा करता है; स्त्री के उसी जघन आदि अंगों की मूढ़ पुरुष अभिलाषा करता है। कामदेव के वश होकर जीव स्त्री के निन्दनीय अंगों को भी अतिरमणीय मानकर प्रकट रूप से प्रतिकूल आचरण करता है ॥२०९॥

सव्वगहाणं पभयो, महागहो सव्वदोसपायट्ठी ।

कामग्गहो दुस्सपा जेणाडभिभूयं जगं सव्वं ॥२१०॥

शब्दार्थ - सभी ग्रहों का उत्पत्तिस्थान, महान् उन्माद रूप, सभी दोषों का प्रवर्तक महाग्रह परस्त्रीगमन-आदि रूप कामग्रह है। काम रूपी महादुरात्मा ग्रह के उत्पन्न होने पर वह चित्त को भ्रम में डाल देता है, इसने सारे जगत् को प्रभावित व पराजित कर रखा है। इसीलिए काम रूपी महाग्रह को छोड़ना अत्यंत कठिन है ॥२१०॥

जो सेवइ किं लहइ, थामं हारेइ दुब्लो होइ ।

पावेइ वेमणस्सं, दुक्खाणि य अत्तदोसेणं ॥२११॥

शब्दार्थ - जो पुरुष कामभोगों का सेवन करता है, वह क्या पाता है? पाता क्या है? बल्की खोता है। उसे कभी तृप्ति नहीं होती उसके शरीर का बल क्षीण हो जाता है, वह वीर्यहीन हो जाता है, उसके चित्त में उद्वेग होता है। इसके कारण वैमनस्य भी पनपता है। और स्वच्छंद आचरण (आत्म-दोष) से क्षयरोग, प्रमेह आदि अनेक रोगों के दुःख भी वह पाता है ॥२११॥

जह कच्छुल्लो कच्छुं, कंडूयमाणो दुहं मुणइ सोक्खं ।

मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुहं सुहं बेति ॥२१२॥

शब्दार्थ - जैसे खुजली के रोग से पीड़ित मनुष्य अपने नखों से उस स्थान को बार-बार खुजलाने में दुःख को सुख मानता है; वैसे ही मोहमूढ़ मनुष्य विषय भोगों की विडंबना को सुख मानता है। कामांधजीव विषयसुख को ही सारभूत समझता है ॥२१२॥

विसयविसं हालहलं, विसयविसं उक्कडं पिपंताणं ।

विसयविसाइत्रं पिच, विसयविसविसुइथा होइ ॥२१३॥

शब्दार्थ - ज्ञानी विवेकी महात्माओं ने विषय को हलाहल विष माना है। शब्दादिविषय रूपी विष से संयम रूपी जीवन का नाश हो जाता है विषय रूपी उग्रविष पीने से जीव उसके भयंकर परिणाम से अनंतदुःख प्राप्त करता है। अत्यंत खोटे परिणामों से अनंतबार जन्मना और मरना पड़ता है। और अंत में उसका डेरा दुर्गति में ही जाकर लगता है ॥२१३॥

एवं तु पंचहिं आसवेहिं, रइमाइणितु अणुसमयं ।

चउगइदुहपेरंतं, अणुपरियट्ठंति संसारे ॥२१४॥

शब्दार्थ - और इस तरह पांचों इन्द्रियों के विकारों से अथवा प्राणातिपातादि पाँच आश्रवों से युक्त जीव मलिनपरिणामों से प्रतिक्षण पापकर्म रूपी मल को ग्रहण करता है। इस कारण वह जीव नरक आदि चारगति के दुःख रूप इस संसारचक्र में मोहमूढ़ होकर परिभ्रमण करता है ॥२१४॥

सव्वगईपक्खंदे, काहंति अणंतए अकयपुण्णा ।

जे य न सुणंति धम्मं सोऊण य जे पमायंति ॥२१५॥

शब्दार्थ - जिस मनुष्य ने पुण्य नहीं किया; दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करके रखने वाले शुद्ध धर्म का श्रवण नहीं किया; अथवा धर्मश्रवण करने पर

भी जो उसके आचरण में मद-विषय-कषाय-निद्रा-विकथा रूप पांच प्रकार के प्रमाद करता है; वह जीव इस संसार की चारों गतियों में अनंतबार चक्कर लगाता है॥२१५॥

अणुसिद्धा य बहुविहं, मिच्छदिद्वी य जे नरा अहमा ।

बद्धनिकाइयकम्मा, सुणंति धम्मं न य करंति ॥२१६॥

शब्दार्थ - सम्यग्दर्शन-ज्ञानरहित मिथ्यादृष्टि या जो अधममनुष्य निकाचित रूप में ज्ञानावरणीयादि कर्मों के बंधन के कारण कदाचित् अनेक त्यागीजनों के धर्मोपदेश, प्रेरणा आदि से अथवा स्वजनों के अनुरोध से धर्मश्रवण तो कर लेते हैं; मगर भलीभाँति धर्माचरण नहीं करते। सारांश यह है कि लघुकर्मों जीव ही धर्म की प्राप्ति कर सकते हैं ॥२१६॥

पंचेव उज्झिऊणं पंचेव, य रक्खिऊण भावेणं ।

कम्मरयविप्पमुक्का, सिद्धिगइमणुत्तरं पत्ता ॥२१७॥

शब्दार्थ - हिंसा आदि पाँच आश्रवों को छोड़कर और अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों (संवरों) का आत्मा के शुभ भावों से रक्षण करके जो आठकर्म रूपी मल से सर्वथा मुक्त होकर निर्मल आत्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं, वे ही सर्वोत्कृष्ट सिद्धिगति को पाते हैं। इसीलिए हिंसादि पाँच आश्रवों का त्याग और अहिंसादि पाँच संवरों का अप्रमत्त रूप से पालन ही सिद्धिगति (मुक्ति) की प्राप्ति का कारण है॥२१७॥

नाणे दंसण-चरणे तव-संयम-समिद्ध-गुति-पच्छित्ते ।

दम-उस्सग्गवचाए, दध्याइ अभिग्गहे चेव ॥२१८॥

सहहणायरणाए तिच्चं, उज्जुत्त-एसणाइ टिओ ।

तस्स भवोयहितरणं, पव्वज्जाए जम्मं तु ॥२१९॥

शब्दार्थ - सम्यग् अवबोध रूप ज्ञान में, तत्त्वश्रद्धा रूप दर्शन में और आश्रवनिरोध-संवर (व्रत) ग्रहण रूप चारित्र्य में, बारह प्रकार के तप में, १७ प्रकार के संयम में, ईर्या-समिति आदि पाँच समितियों में, मनोगुप्ति आदि निवृत्तिमय ३ गुप्तियों में, पाँच इन्द्रियों के दमन (वशीकरण) में, शुद्धमार्ग के आचरण रूप उत्सर्ग (अथवा किसी प्रिय वस्तु का व्युत्सर्ग करने) में, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप ४ प्रकार के अभिग्रह धारण करने में तथा श्रद्धा पूर्वक धर्माचरण करने में या पूर्वोक्त बातों में श्रद्धा पूर्वक प्रवृत्ति करने में जो साधक एषणादि-भिक्षाचरी-विधि में कमर कसकर जुटा रहता है; उस मुमुक्षु साधक का प्रवज्या (मुनि दीक्षा) से संसार-समुद्र-तरण अवश्य हो जाता है। यानी श्रद्धा पूर्वक धर्माचरण में जुटा रहने वाला संसारसमुद्र को अवश्य

पार कर लेता है। मगर जो श्रद्धारहित होकर धर्माचरण करते हैं, उनके पल्ले तो जन्म-मरण आदि का चक्कर ही पड़ता है ॥२१८-२१९॥

भावार्थ - इसीलिए घरबार छोड़कर दीक्षा लेने वाले प्रत्येक साधक को श्रद्धापूर्वक अहर्निश धर्माचरण में उद्यम करना चाहिए। अपनी भिक्षाचरी की क्रिया भी ४२ दोषों से रहित होकर गवेषणा-ग्रहणैषणा-परिभोगैषणा पूर्वक करनी चाहिए; तभी संसार-समुद्र को पार करने के लिए ली गयी मुनिदीक्षा और मानवजन्म सफल हो सकते हैं। अन्यथा, श्रद्धारहित की गयी धर्मक्रिया से मोक्ष के बदले संसार की ही साधना होती है ॥२१८-२१९॥ कहा भी है—

क्रियाशून्यस्य यो भावो भावशून्यस्य या क्रिया ।

अनयोरन्तरं दृष्टं भानुखद्योतयोरिव ॥२१९॥

अर्थात् - क्रियाशून्य व्यक्ति के भाव और भावशून्यव्यक्ति की क्रिया में इतना अंतर दिखता है, जितना सूर्य और जुगनू में है। क्रियाशून्य भाव सूर्य के सदृश है और भावशून्य क्रिया जुगनू के समान है ॥२१९॥

मतलब यह है कि श्रद्धा और आचरण के गुणों से रहित साधक का जन्म और मुनिदीक्षा दोनों निष्फल हैं।

जे घरसरणपसत्ता, छक्कापरिऊ सकिंचणा अजया ।

नवरं मोत्तूण घरं, घरसंकमणं कयं तेहिं ॥२२०॥

शब्दार्थ - जो साधु अपने घरबार आदि का त्याग करके फिर उपाश्रय आदि घरों की मरम्मत करवाने, उसे बनवाने आदि में फंस जाते हैं, वे हिंसादि आरंभो के भागी होने से ६ काय के जीवों (समस्त प्राणियों) के शत्रु हैं, द्रव्यादि परिग्रह रखने-रखाने के कारण वे सकिंचन (परिग्रही) हैं और मन-वचन-काया पर संयम न रखने के कारण असंयत (असंयमी) हैं। उन्होंने केवल अपने पूर्वाश्रम (गृहस्थाश्रम) का घर छोड़ा और साधुवेष के बहाने नये घर (उपाश्रय) में संक्रमण किया है। यानी एक घर को छोड़कर प्रकारांतर से दूसरा घर अपना लिया है। उसका वेष केवल विडंबना के सिवाय और कुछ भी नहीं है ॥२२०॥

उसुत्तमापरंतो, बंधइ कम्मं सुचिक्कणं जीवो ।

संसारं च पचइइ, मायामोसं च कुच्चइ य ॥२२१॥

शब्दार्थ - जो जीव सूत्र (शास्त्रों में उल्लिखित मर्यादा) के विरुद्ध आचरण करता है, वह अत्यन्तगाढ़-निकाचित रूप में चीकने ज्ञानावरणीय कर्मों का बंधन करता है; अपने आत्मप्रदेशों के साथ ऐसे स्निग्धकर्मों को चिपकाकर संसार की वृद्धि करता है। ऐसा करने के साथ-साथ यह मायामृषा (कपट सहित असत्याचरण=दंभ)

का सेवन करता है; वह भी उसके अनंत संसार वृद्धि का कारण बनता है ॥२२१॥

जड़ गिण्हड़ वयलोयो, अहव न गिण्हड़ सरीरबोच्छेओ ।

पासत्थसंगमो वि य, वयलोयो तो वरमसंगो ॥२२२॥

शब्दार्थ - अगर सुविहित साधु पार्श्वस्थ (उत्सूत्राचारी) के द्वारा लाया हुआ आहार-पानी व वस्त्र आदि ग्रहण करता है तो उसके महाव्रत का लोप होता है और नहीं ग्रहण करता तो उसका शरीर टिक नहीं सकता। इस प्रकार ये दोनों ही कष्टरूप हैं। मगर अनुभवियों की सलाह है कि ऐसे मौके पर शरीर को परेशानी में डाल देना या छोड़ देना अच्छा; लेकिन पासत्थ साधक का संग करके व्रत लोप करने की अपेक्षा पासत्थ का संग न करना ही अच्छा है ॥२२२॥

आलायो संवासो, वीसंभो संथयो पसंगो य ।

हीणापारेहिं सम्मं, सब्यजिणिदेहिं पडिकुट्ठो ॥२२३॥

शब्दार्थ - हीन आचार वाले साधु के साथ बातचीत करने, साथ रहने, उसका विश्वास करने, गाढ़ परिचय करने और वस्त्रादि के लेने-देने का व्यवहार करने इत्यादि का ऋषभदेव आदि सभी तीर्थकरों ने निषेध (मना) किया है ॥२२३॥

अन्नोन्नजं पिएहिं, हसिउद्धसिएहिं स्त्रिप्पमाणो उ ।

पासत्थमज्झपारे, बलावि जई वाउली होइ ॥२२४॥

शब्दार्थ - पासत्थों के साथ परस्पर बातचीत करने से, अथवा निन्दा विकथादि बातें परस्पर करने से, हंसी-मजाक या मखौल व तानेबाजी करने से पासत्थों के साथ रहने वाला सुविहित साधु धीरे-धीरे किसी बात की बार-बार जोरदार प्रेरणा के कारण एक दिन व्याकुल (व्यग्र) हो उठता है और शुद्ध स्वधर्म-संयममार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिए पासत्थों का संपर्क त्याज्य ही समझना चाहिए ॥२२४॥

लोए वि कुसंसग्गीपियं जणं दुन्नियत्थमइवसणं ।

तिदइ निरुज्जमं, पियकुसीलजणमेव साहुजणो ॥२२५॥

शब्दार्थ - जिसे कुसंगियों का संसर्ग करने का शौक है; जो उद्धत वेषधारी है और जूआ आदि दुर्व्यसनों में ही रातदिन रचापचा रहता है; जैसे लोकव्यवहार में ऐसे लोगों की निन्दा होती है; वैसे ही सुविहित साधुजनों में भी ऐसे कुवेषधारी साधु की भी अवश्य निन्दा होती है, जो चारित्र्य पालन में शिथिल या आलसी है, उसे कुशीलजन ही प्रिय लगते हैं ॥२२५॥

तिच्चं संकियभीओ, गम्मो सब्यस्स खलियचारित्तो ।

साहुजणस्स अवमओ, मओ वि पुण दुगइं जाइ ॥२२६॥

शब्दार्थ - मेरा दुष्ट आचरण कोई देख न ले, इस शंका से जो सदा शंकित रहता है; मेरा पाप खुल न जाय, इस दृष्टि से जो सदा भयभीत रहता है; मेरी बुरी प्रवृत्ति का कोई भंडाभोड़ न कर दे, इस डर से जो बालक आदि तक से दबा हुआ रहता है, वह चारित्र विराधक कुशील साधु इस लोक में साधुजनों द्वारा निन्दनीय होता है, और परलोक में भी वह दुर्गति का अधिकारी बनता है। इसीलिए चाहे प्राण चले जाय, मगर चारित्र की विराधना नहीं करनी चाहिए ॥२२६॥

गिरिसुअ-पुष्पसुआणं, सुविहिच! आहरणं कारणविहन् ।

वज्जेज्ज सीलविगले, उज्जुयसीले हवेज्ज जई ॥२२७॥

शब्दार्थ - 'सुविहित साधुओ! पर्वतीय प्रदेश में रहने वाले भीलों के तोते और फूलों के बाग में रहने वाले तापसों के तोते के उदाहरण से उन दोनों के दोष-गुण का कारण संग को ही सम्झो। उत्तम व्यक्ति के संग से गुण और अधम के संग से दोष पैदा होते हैं। इसी तरह आत्मारथी साधुओं को भी आचारहीन दुःशील साधुओं का संग छोड़कर अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्यग् आराधना करने में पुरुषार्थ करना चाहिए। क्योंकि जैसी सोहबत (संगत) होगी, वैसा ही असर होगा। जैसा रंग होगा, वैसा ही रंग चढ़ेगा' ॥२२७॥

यहाँ प्रसंगवश उन दो तोतों का दृष्टांत दे रहे हैं।

गिरिशुक और पुष्पशुक का दृष्टांत

वसंतपुर नगर में कनककेतु नामक राजा राज्य करता था। एक दिन जंगल की सैर करने के लिए वह घोड़े पर बैठकर नगर के बाहर चल पड़ा। परंतु घोड़ा विपरीत चाल सीखा हुआ होने से अत्यंत तेज दौड़ा और राजा को वह एक बड़े घोर जंगल में ले पहुँचा आखिरकार घोड़ा अत्यंत थककर अपने आप एक जगह खड़ा हो गया। राजा घोड़े से नीचे उतरा और अकेला ही किसी विश्रामस्थान की तलाश में इधर-उधर घूमने लगा। इतने में ही कुछ दूरी पर बहुत-से मनुष्यों का शोर सुनाई दिया। इसीलिए राजा उसी और विश्राम लेने के लिए चल पड़ा। राजा ने कुछ ही कदम रखे थे कि एक पेड़ की डाली पर लटकते पींजरे में बंद एक तोता जोर-जोर से चिल्लाने लगा—“अरे भीलो! दौड़ो-दौड़ो! कोई बड़ा राजा आया है, उसे पकड़ लो! उसे पकड़ने से वह तुम्हें लाख रुपये दे देगा।” तोते की आवाज सुनकर भील राजा की और दौड़े आ रहे थे। राजा ने एकदम चौकने होकर अपना घोड़ा संभाला और उस पर सवार होकर भागा। घोड़ा इतना सरपट दौड़ा कि थोड़ी ही देर में उसने राजा को एक योजन दूर पहुँचा दिया। राजा को वहाँ एक

तापस-आश्रम दिखायी दिया। उस आश्रम के चारों ओर एक सुरम्य फूलवाड़ी थी, जिसमें एक ऊँचे पेड़ पर लटकते हुए पींजरे में एक तोता बंद था। उसने राजा को अपनी ओर आते देखकर जोर से पुकारा-तापसों पधारो पधारों! आपके आश्रम की ओर एक महान् अतिथि चला आ रहा है, उसका स्वागत और सेवाभक्ति करो। तोते की बात सुनते ही सभी तापस राजा के स्वागत के लिए पहुँचे और उसे सम्मान सहित अपने आश्रम में ले आये और स्नान-भोजनादि से राजा की सेवा की। इससे राजा अत्यंत संतुष्ट हुआ। स्वस्थ होकर राजा ने उस तोते से पूछा-
 “शुकराज! मैंने तुम्हारे जैसा ही एक तोता भीलों की पल्ली में देखा था, उसने मुझे बांधने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु एक तुम हो; जिसने मेरी बड़ी सेवा भक्ति करायी। दोनों के स्वभाव में इतने बड़े अंतर का क्या कारण है?” तोते ने कहा-
 “सुनिए, मैं इसका कारण बताता हूँ। कादम्बी नाम की महाटवी में हम दोनों भाई साथ-साथ रहते थे। एक ही माता-पिता की संतान होते हुए भी हम दोनों में अंतर का कारण यह बना कि एक दिन मेरे उस भाई (तोते) को भीलों ने पकड़ लिया और उसे पर्वतीय प्रदेश में रखा, इसीलिए उसका नाम पर्वतशुक पड़ गया और मुझे तापसों ने पकड़कर इस पुष्पवाटिका में रखा, इसीलिए मेरा नाम पड़ा-पुष्पशुक! मेरा वह भाई रातदिन भीलों के सहवास में रहने के कारण भीलों की मारने-पीटने, बांधने, सताने आदि की बातें ही हमेशा सुनता; इससे उसने भीलों की-सी बातें ही सीखीं। और मुझे तापसों का सत्संग मिला। मैंने इनके उत्तम वचन सुने, इनके शुभगुणों की बातें ही मैंने सीखीं। इसीलिए मुझ में शुभ गुणों के संस्कार आये। राजन्! शुभ और अशुभ संगति ही इसमें कारण है। “यह आपने अपनी आँखों से देख लिया।” कहा भी है-

महानुभावसंसर्गः कस्य नोन्नतिकारणं ।

गङ्गाप्रविष्टरथाम्बु, त्रिदशैरपि वन्द्यते ॥१३०॥

महानुभावों का उत्तम पुरुषों का संसर्ग किसके उन्नति में कारणभूत नहीं बनता? मार्ग पर चलता पानी गंगा में प्रविष्ट होने पर देवता भी उसको वंदन करते हैं। देवों द्वारा भी वह पूजा जाता है ॥१३०॥

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।

न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥१३०॥

अर्थात् - पर्वत के दुर्गम स्थानों पर वनचर लोगों के साथ घूमना अच्छा, लेकिन इन्द्र के भवनों में भी मूर्ख लोगों का संसर्ग करना अच्छा नहीं ॥१३०॥

तोते की बुद्धिमत्ता पूर्ण बातें सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। कुछ ही देर

में राजा की सारी सेना, जो पीछे-पीछे आ रही थी, वहाँ आ पहुँची। उसके साथ राजा अपने नगर को लौट गया। इस प्रकार सुसंग-दुःसंग का फल जानकर भ्रष्टाचारियों का दुःसंग छोड़कर सदाचारियों के सुसंग में रहकर अपने तप-जप-संयम में पुरुषार्थ करना चाहिए ॥१३०॥ शास्त्र में भी बताया है—

वरमग्निं पवेसो वरं विसुद्धेण कम्मुणा मरणं ।

मा गहियव्वयभंगो, मा जीयं खलियसीलस्स ॥१३१॥

अर्थात् - अग्नि में प्रवेश करना अच्छा और विशुद्ध कर्म करते हुए अनशन करके मर जाना भी अच्छा; लेकिन ग्रहण किये हुए व्रतों का भंग करना ठीक नहीं और न ऐसे शीलभ्रष्ट का जीना ही अच्छा है ॥१३१॥

ओसन्नचरणकरणं जइणो, वंदंति कारणं पप्प ।

जे सुविइयपरमद्दथा, ते वंदंते निवारंति ॥१२८॥

शब्दार्थ - किसी कारणवश सुविहित साधु मूलगुण रूप चरण और पंचसमिति आदि उत्तरगुण रूप करण से शिथिल या भ्रष्ट साधु को भी वंदना करते हैं। परंतु जिन्होंने परमार्थ को भलीभाँति जान लिया है, वे 'हम तत्त्वज्ञ सुविहित मुनियों के द्वारा वंदन कराने योग्य नहीं है, इस प्रकार आत्म दोष को जानकर वंदना करने के लिए उद्यत पासत्था आदि साधुओं को रोके और उन्हें कहे कि आप हमें वंदना न करें। भावार्थ यह है कि मूल-उत्तरगुणों से रहित सुसाधुओं से वंदना न लें ॥१२८॥

सुविहिय वंदावेतो, नासेइ अप्पयं तु सुप्पहाओ ।

दुविहपहविप्पमुक्को, कहमप्पं न जाणई मूढो ॥१२९॥

शब्दार्थ - जो पासत्था आदि शिथिलाचारी साधु सुविहित साधुओं से वंदना करवाता है, वह अपने ही सुप्रभाव को नष्ट करता है। अथवा वह सुपथ (मोक्षमार्ग) से अपनी आत्मा को दूर फेंकता है। क्योंकि आचारभ्रष्ट साधु साधुधर्म और श्रावकधर्म दोनों मार्गों से रहित होता है। पता नहीं, वह मिथ्याभिमानी मूढ़ अपने-आपको क्यों नहीं जानता कि मैं दोनों मार्गों से भ्रष्ट हो रहा हूँ; इससे मेरी क्या गति होगी? ॥१२९॥

अब श्रावक के गुणों का वर्णन करते हैं—

वंदइ उभओ कालंपि, चेइपाइं थवत्थुईपरमो ।

जिणवरपडिमाघरधूवपुप्फगंधच्चणुज्जतो ॥१३०॥

शब्दार्थ - जो सुबह-शाम (दोनों समय) और अपि शब्द से मध्याह्नकाल में भी (यानी तीनों काल) स्तवन और स्तुति में तत्पर होकर चैत्यवंदन करता है तथा जिनवर-प्रतिमा-गृह में धूप, फूल, सुगंधित द्रव्य से अर्चन-(पूजन) करने में उद्यम

करता है, वह श्रावक कहलाता है ॥२३०॥

सुविणिच्छियएगमइ, धम्ममि अण्णदेवओ य पुणो ।

न य कुसमएसु रज्जइ, पुब्बावस्वाहयत्थेसु ॥२३१॥

शब्दार्थ - जो जैनधर्म में अटल, सुनिश्चित, एकाग्रमति है और वीतरागदेवों के सिवाय अन्य देवों को नहीं मानता, और न पूर्वापरविरोधी असंगत अर्थों (बातों) वाले कुशास्त्रों में जिसका अनुराग नहीं होता है; वही श्रावक कहलाता है। सच्चा श्रावक देव, गुरु, धर्म और शास्त्र की भली भांति परीक्षा करके धर्मारोधाना करता है ॥२३१॥

दट्ठुणं कुलिगिणं, तस-थावर भूयमद्वणं चिविहं ।

धम्माओ न चालिज्जइ, देवेहिं सइदणहिं पि ॥२३२॥

शब्दार्थ - दृढ़धर्मी श्रावक, अपने हाथ से रसोई आदि बनाने में विविध प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों का मर्दन (आरंभ जनित हिंसा) करते हुए कुलिगियों (अन्य धर्मपंथ के वेष वालों) को देखकर अपने धर्म से इन्द्र सहित देवों द्वारा चलायमान किये जाने पर भी विचलित नहीं होता ॥२३२॥

वंदइ पडिपुच्छइ, पज्जुवासेइ साहूणो सययमेव ।

पढइ सुणेइ गुणेइ य, जणस्स धम्मं परिकहेइ ॥२३३॥

शब्दार्थ - ऐसा श्रावक स्व-पर कल्याण के साधक साधुओं को सतत वंदन करता है, प्रश्न पूछता है, उनकी सेवाभक्ति करता है, धर्मशास्त्र पढ़ता है, सुनता है और पढ़ी-सुनी बातों पर अर्थपूर्ण चिन्तन करता है और अपनी बुद्धि के अनुसार दूसरों को या अल्पज्ञों को धर्म की बात बताता है या धर्म का बोध देता है ॥२३३॥

दढसीलव्वयनियमो, पोसह-आवस्सएसु अक्खलियो ।

महुमज्जमंस--पंचविहबहुबीयफलेसु पडिक्कंतो ॥२३४॥

शब्दार्थ - वह श्रावक ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत (शील) के सहित ५ अणुव्रतों एवं नियमों पर दृढ़ रहता है। पौषध तथा आवश्यक अचूक तौर पर नियमित रूप से करता है। साथ ही मधु (शहद) मद्य (शराब) और मांसाहार, व बड़, गुल्तर (उदुम्बर) आदि ५ प्रकार के बहुबीज वाले फलों तथा बैंगन आदि बहुबीज वाले व आलू आदि अनंतकायिक जमीकंदों का त्यागी होता है ॥२३४॥

ताहम्मकम्मजीवी, पच्चक्खणाणे अभिक्खमुज्जुतो ।

सव्वं परिमाणकडं, अवरज्झइ तं पि संकंतो ॥२३५॥

शब्दार्थ - कर्मादान कहलाने वाली १५ प्रकार की आजीविकाएँ या किसी भी प्रकार की अधर्मवर्द्धक आजीविका श्रावक नहीं करता, अपितु निर्दोष व्यवसाय

करता है। वह १० प्रकार के प्रत्याख्यानो (त्याग-नियमों) में सदा उद्यत रहता है, धन-धान्य आदि परिग्रह की मर्यादा करता है तथा आरंभादि पाप-दोष वाले कार्यों को भी शंकिता होकर करता है; बाद में उसके लिये प्रायश्चित्त लेकर उससे मुक्त होता है। यही श्रावक की वृत्ति कहलाती है ॥२३५॥

निक्खमण-ताण-निब्बाण-जम्मभूमीओ वंदइ जिणाणं ।

न य वसइ साहुजणविरहियंमि देसे बहुगुणेषि ॥२३६॥

शब्दार्थ - जिनेश्वर भगवंत के दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण और जन्म (कल्याणक)की भूमियों को वंदन करे और (सुराज्य, सुजल, धान्य समृद्ध, धन समृद्ध इत्यादि) अनेक गुण युक्त भी साधु महात्माओं से रहित देशों में निवास न करें (क्योंकि उसमें मानव जन्म के सार भूत धर्माजर्जन (धर्म कमाई)में हानि पहुँचती है) ॥२३६॥

परतिथियाण पणमण-उम्मावण-थुण-भत्तिरागं च ।

सक्कारं सम्माणं, दाणं विणयं च वज्जेइ ॥२३७॥

शब्दार्थ - श्रावक बनने के बाद वह अन्यतीर्थिक (दूसरे धर्म-संप्रदाय वाले) साधुओं को गुरुबुद्धि से प्रणाम (वंदना नमस्कार), उनकी बड़ा चढ़ाकर तारीफ, या उनकी स्तुति, अथवा उनके प्रति भक्तिपूर्वक अनुराग, उनका वस्त्रादि से सत्कार, खड़े होकर सम्मान या उन्हें उत्तम पात्र मानकर आहारादि दान या उनके पैर धोने आदि के रूप में विनय करने का त्याग करता है ॥२३७॥

श्रावक सुपात्र-गुरुबुद्धि से भोजन किसको और किस विधि से देता है? यह आगे की गाथा में बताते हैं-

पढमं जईण दाऊण, अप्पणा पणमिऊण पारेइ ।

असई य सुविहियाणं, भुंजइ कयदिसालोओ ॥२३८॥

शब्दार्थ - भोजन के समय श्रावक इन्द्रिय-संयमी साधुओं को पहले निर्दोष आहार-पानी आदरपूर्वक देकर बाद में स्वयं भोजन करता है। अगर ऐसे सुपात्र-सुविहितसाधुओं का निमित्त न मिले तो जिस दिशा में साधु-मुनिवर विचरण करते हों, उस दिशा में अवलोकन करके 'यदि इस समय साधु मुनिवर पधार जाय तो अच्छा हो, इस प्रकार की भावना के साथ भोजन करता है ॥२३८॥

साहूण कप्पणिज्जं, जं नवि दिन्नं कहिं पि किंचि तहिं ।

धीरा जहुत्तकारी, सुसावगा तं न भुंजति ॥२३९॥

शब्दार्थ - किसी भी देश या काल में साधुओं के लिए कल्पनीय शुद्ध आहार

आदि किञ्चिन्मात्र वस्तु भी उन्हें नहीं दे देते, तब तक वे धीर-गंभीर, सत्त्ववान् श्रावक उस वस्तु को स्वयं नहीं खाते। अर्थात् मुनिवर जिस वस्तु को ग्रहण करते हैं, उसी वस्तु को वे स्वयं खाते हैं, अन्यथा नहीं ॥२३९॥

वसही-सयणाडसण-भत्त-पाण-भेसज्ज-वत्थ-पताई ।

जइ वि न पज्जत्तधणो, थोवा वि हु थोवयं देइ ॥२४०॥

शब्दार्थ - भले ही श्रावक पर्याप्त-धनसंपन्न न हो, तथापि वह अपने थोड़े-से आवास, सोने के लिए तख्त (पट्टे), बैठने के लिए चौकी, आहार, पानी, औषध, वस्त्र, पात्र आदि साधनों में से थोड़े-से थोड़ा तो देता ही है। यानी अतिथिसंविभाग किये बिना आहार नहीं करता ॥२४०॥

संवच्छरचाउम्मासिएसु, अट्ठाहियासु अ तिहीसु ।

सव्वायरेण लम्माइ, जिणवरपूया-तवगुणेसु ॥२४१॥

शब्दार्थ - सुश्रावक संवत्सरी-पर्व, तीन चार्तुमासिक-पर्वों, चैत्र आषाढ़ आदि ६ अट्ठाइयों और अष्टमी आदि तिथियों में सर्वथा आदरपूर्वक जिनवरपूजा, तप तथा ज्ञानादिक गुणों में संलग्न होता है ॥२४१॥

श्रावक के अन्य गुणों का वर्णन करते हैं—

साहूण चेइयाण य, पडिणीयं तह अवण्णवायं च ।

जिणपवयणस्स अहियं, सव्वत्थामेण वारेइ ॥२४२॥

शब्दार्थ - सुश्रावक साधुओं, चैत्यों (जिनमंदिरों) आदि के विरोधी, उपद्रवी और निन्दा करने वाले तथा जिनशासन का अहित करने वाले का अपनी पूरी ताकत लगाकर प्रतीकार करता है ॥२४२॥

भावार्थ - 'मेरे अकेले की थोड़े ही जिम्मेदारी है? दूसरे बहुत-से लोग हैं, वे अपने आप इनकी रक्षा करेंगे या मैं अकेला क्या कर सकता हूँ?' इस प्रकार की कायरता के विचार लाकर वह इनकी उपेक्षा नहीं करता। मतलब यह है कि सुश्रावक जिनशासन की बदनामी हर्गिज नहीं होने देता ॥२४२॥

विरया पाणिवहाओ, विरया निच्चं च अलियवयणाओ ।

विरया चोरिक्काओ, विरया परदारगमणाओ ॥२४३॥

शब्दार्थ - सुश्रावक हमेशा प्राणिवध से विरत होता है, मिथ्याभाषण से दूर रहता है, चोरी से भी विरत होता है और परस्त्रीगमन से भी निवृत्त होता है ॥२४३॥

विरया परिग्गहाओ, अपरिमियाओ अणंततण्हाओ ।

बहुरोससंकुलाओ, नरयगईगमणपंथाओ ॥२४४॥

शब्दार्थ - अपरिमित, (अमर्यादित) असीम, अनंत तृष्णाएँ नरकगति में ले जाने वाली राहें हैं और बंधन आदि दोषों से धिरी हुई है; इसीलिए श्रावक असीम परिग्रह (तृष्णा) से विरत होता है ॥२४४॥

मुक्का दुज्जणमिती, गहिया गुरुवयण-साहुपडिवती ।

मुक्को परपरिवाओ, गहिओ जिणदेसिओ धम्मो ॥२४५॥

शब्दार्थ - सुश्रावक दुर्जनों की मैत्री छोड़कर तीर्थंकर आदि गुरुओं के वचनों को मान्य करता है और साधुओं की विनयभक्ति करता है। वह सदा परनिन्दा से दूर रहता है और राग-द्वेष को छोड़कर जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट समताभाव रूपी धर्म को सादर ग्रहण करता है ॥२४५॥

तवनिघमसीलकलिया, सुसावगा जे हवति इह सुगुणा ।

तेसि न दुल्लहाई, निव्वाणविमाणसुक्खाई ॥२४६॥

शब्दार्थ - जो बारह प्रकार के तप, श्रावकधर्म के उपयुक्त कई नियम तथा शील-सदाचार आदि गुणों से सम्पन्न सद्गुणी सुश्रावक होते हैं, उनके लिये निर्वाण या वैमानिक देवलोक के सुख कोई दुर्लभ नहीं है ॥२४६॥

अर्थात् स्वर्गसुखों का उपभोगकर वह क्रमशः मोक्षसुख भी प्राप्त कर लेता है।

सीएज्ज कयाचि गुरु, तं पि सुसीसा सुतिउणमहुरेहिं ।

मग्गे ठवति पुणरधि, जह सेलगपंथगो (पत्थिवो) तापं ॥२४७॥

शब्दार्थ - किसी समय कर्मों की विचित्रता के कारण गुरु प्रमादवश होकर धर्ममार्ग से शिथिल-पतित-होने लगते हैं तो निपुण सुशिष्य उन्हें भी अत्यंत नैपुण्ययुक्त मधुरवचनों तथा व्यवहारों से पुनः सन्मार्ग (संयमपथ) पर स्थिर कर देते हैं। जैसे शैलक राजर्षि नामक गुरु को जाना-माना पंथक शिष्य सुमार्ग पर ले आया था ॥२४७॥

शैलकाचार्य और पंथकाशिष्य की कथा

द्वारिकापुरी कुबेर निर्मित अलकापुरी की तरह शोभायमान थी। वहाँ श्रीकृष्ण वासुदेव राज्य करते थे। उसी नगरी में थावच्चा नामक एक सार्थवाह अपनी पत्नी के सहित रहता था। उसके थावच्चाकुमार नामक एक अत्यंत सुंदर पुत्र था। उसकी शादी बत्तीस सुंदरियों के साथ हुई थी। वह अपनी पत्नियों के साथ दोगुंदक देव के समान अनुपम सुखों का उपभोग कर रहा था। एक बार भगवान् श्रीअरिष्टनेमि द्वारिका नगरी में पधारें बाहर के उपवन में बिराजें उनके पदार्पण

का वृत्तांत सुनकर थावच्चाकुमार भी उनके दर्शन-वंदन को गया। भगवान् के मुंह से संसारसागरतारिणी धर्मदेशना सुनकर थावच्चाकुमार का मन संसार से विरक्त हो गया। माता-पिता से आज्ञा प्राप्त करके उसने एक हजार पुरुषों के साथ भागवती दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा के बाद उसने १४ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि की आज्ञा लेकर आचार्य थावच्चापुत्र अपने शिष्यसमुदाय-सहित शैलकपुर में आये। नगर का राजा उनको वंदन करने के लिए आया। मुनि से धर्मोपदेश सुनकर उसने उनसे श्रावकधर्म के १२ व्रत स्वीकार किये। वहाँ से विहार करके आचार्य थावच्चापुत्र सौगंधिका नगरी में आये और वहाँ के 'नीलाशोक' उद्यान में बिराजे। उस नगरी में शुक नामक परिव्राजक का एक परमभक्त सुदर्शनसेठ रहता था। वह भी आचार्य के पास आया। उनसे धर्मचर्चा करके उसने प्रतिबोध प्राप्त किया और मिथ्यादर्शन व शौच-मूलक धर्म को छोड़कर जिनेन्द्रकथित विनयमूलक धर्म स्वीकार किया। शुकपरिव्राजक को जब इस बात का पता लगा तो वह अपने हजारशिष्यों सहित सुदर्शन सेठ के यहाँ पहुँचा। सुदर्शन से उसने पूछा—“सुदर्शन! सुना है, तुमने हमारे शौचमूलक धर्म को छोड़कर विनयमूलक धर्म ग्रहण किया है? मैं जानना चाहता हूँ कि वह धर्म तुमने किससे और क्यों ग्रहण किया है?” सुदर्शन ने शांतभाव से कहा—“धर्म ग्रहण तो अपनी मर्जी पर निर्भर है। मुझे विनयमूलक धर्म सत्य जचा और मैंने इसी नगरी में बिराजित आचार्य थावच्चापुत्र से उसे ग्रहण किया है। आप चाहें तो मेरे साथ चलकर आचार्यश्री से धर्मचर्चा कर लें।” अतः शुक परिव्राजक सुदर्शन को साथ लेकर आचार्यश्री के पास पहुँचे। उन्होंने धर्म के संबंध में कई प्रश्न और शंकाएं उपस्थित की। लेकिन आचार्यश्री की अकाट्य युक्तियों और उत्तर के सामने वे निरुत्तर हो गये। अन्ततः शुक परिव्राजक ने विनयमूलक धर्म को ही यथार्थ समझकर अपने हजार शिष्यों सहित आचार्यश्री से मुनि दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा के बाद में उन्होंने क्रमशः १२ अंगशास्त्रों का अध्ययन किया। थावच्चापुत्र आचार्य ने उन्हें योग्य समझकर आचार्यपद दिया। और स्वयं ने एक हजार साधुओं के साथ शत्रुंजय पर्वत पर एक मास की संलेखना की साधना स्वीकार करके अंत में केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त की।

एक बार विचरण करते हुए शुकआचार्य अपने हजार शिष्यों के साथ शैलकपुर पधारे। शैलकराजा उन्हें वंदन करने आया। उनसे धर्मोपदेश सुनकर राजा को संसार से वैराग्य हो गया। उन्होंने अपने पुत्र मंडुककुमार को राजगद्दी पर बिठाकर पंथक आदि ५०० मंत्रियों सहित मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली। शैलक मुनि

ने भी क्रमशः १२ अंगसूत्रों का अध्ययन किया। उनके गुरु ने योग्य जानकर उन्हें आचार्यपद दिया। शुक्राचार्य ने एक हजार साधुओं के साथ पवित्र तीर्थधाम श्रीसिद्धाचल पहुँचकर संल्लेखना पूर्वक अनशन ग्रहण किया, और अंत में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त किया।

एक बार आचार्य शैलकराजर्षि के शरीर में रूखा-सूखा, नीरस आहार करने से महा-व्याधियाँ पैदा हो गयीं। इन दुःसाध्य व्याधियों के होते हुए भी आचार्य शैलक कठोर तप करते रहते थे। वे एक बार विहार करते-करते शैलकपुर पहुँचे। उनके नगर-पदार्पण के समाचार सुनकर मंडुकनृप भी उनके दर्शनार्थ गया। आचार्यश्रीजी का धर्मोपदेश सुनकर राजा जीव-अजीव आदि ९ तत्त्वों का जानकार हुआ। तत्पश्चात् उसने आचार्य शैलक राजर्षि का शरीर रक्त-मांस से रहित, सूखा-सा, जीर्ण-शीर्ण देखकर विनय पूर्वक अर्ज की—“स्वामिन्! आपका शरीर किसी भयंकर रोग से जर्जरित हो रहा मालूम होता है। अतः आप किसी बात का संकोच न करें। मेरी यानशाला में पधारें। वहाँ शुद्ध औषध द्वारा योग्य चिकित्सा करवाने तथा पथ्यकर भोजन के सेवन से आपका समस्त रोग नष्ट हो जायगा।” आचार्य शैलक राजर्षि राजा मंडुक की बात मानकर अपने शिष्यों सहित राजा की यानशाला में पधारें। यहाँ राजा द्वारा औषधोपचार और पथ्यभोजन के प्रबंध से उनका शरीर कुछ ही दिनों में बिलकुल स्वस्थ हो गया। किन्तु आचार्य रोजाना स्वादिष्ट भोजन पाने के लोभवश वहाँ से अन्यत्र कहीं विहार नहीं करना चाहते थे। वहीं जमकर रहने लगे। शिष्यों ने जब देखा कि वे स्वाद-लोलुप होकर कहने-समझने पर भी विहार नहीं करते तो केवल एक मुनि पंथक शिष्य को छोड़कर दूसरे सब साधु वहाँ से अन्यत्र विहार कर गये। प्रतिदिन स्वादिष्ट गरिष्ठ आहार मिलता था, सोने के लिए सुखशय्या थी ही, सेवा करने के लिए पंथक मुनि था, फिर क्या कहना था! शैलक राजर्षि रसलोलुप होकर इतने सुखशील हो गये कि अपने नित्यकृत्य भी छोड़ बैठे। आहार भी भिक्षा के दोषों से युक्त (अशुद्ध) करने लगे।

कार्तिक सुदी पूर्णिमा का चातुर्मासिक पर्वसमाप्ति का दिन था। आचार्यश्री स्वादिष्ट भोजन करके संध्यासमय ही सुखनिद्रा में सो गये थे। पंथक मुनि ने गुरुजी की निद्राभंग करना उचित न समझकर चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किया और उसके अंत में क्षमितक्षमापना (क्षमायाचना) करने के लिए गुरु की शय्या के पास आये, अपने मस्तक से उनके चरणों का स्पर्श किया और ज्यों ही वे क्षमायाचना के लिए उद्गार निकालते हैं, त्यों ही आचार्य शैलक राजर्षि की नींद उड़ गयी। इस कारण

वे क्रोधातुर होकर बोले—“अरे! किस दुष्ट ने मेरी नींद उड़ा दी?” पंथक मुनि ने कुछ भी क्रोध न करते हुए सविनय उत्तर दिया—“पूज्य! आज चातुर्मासिक पर्वदिवस था। मैं प्रतिक्रमण करके आपसे क्षमायाचना करने के लिए आया था; इससे आपके चरणों का स्पर्श करने से आपकी नींद में खलल पड़ी है। मेरे इस अपराध को क्षमा करिये, गुरुदेव! भविष्य में ऐसा अपराध नहीं करूँगा।” पन्थक मुनि के द्वारा बार-बार विनम्र शब्दों में अपने ही अपराध का निवेदन और क्षमायाचना का स्वर सुनकर शैलक राजर्षि एकदम सावधान होकर उठ बैठे। अंतर में चिन्तन की धारा बह चली—“धन्य है इस शिष्य पंथक को! कितना क्षमावान, कितना विनीत और कितना आत्मालोचक है यह! धिक्कार हे मुझे! मैं स्वादिष्ट भोजन के लोभ में चातुर्मासिक प्रतिक्रमण जैसे नित्यकृत्य, नियम और धर्म को भी छोड़ बैठे; इस पर रोष किया, इसे डांटा भी सही, मगर इसने मेरी सेवा नहीं छोड़ी, मेरे प्रति अपना दायित्व और कर्तव्य निभाया! मुझे उन्मार्ग पर जाते हुए इसने रोका; सन्मार्ग पर लगाया!” इस प्रकार आत्मनिन्दा करते हुए राजर्षि के वैराग्यपूर्ण हृदय से आशीर्वाद के ये उद्गार बरस पड़े—“वत्स पन्थक! धन्य है तुम्हें! मैं तो तुम्हारा गुरु कहलाकर भी उलटे रास्ते पर चल पड़ा था, लेकिन तुमने अपनी विनम्रता, सेवा और सद्भावना से मुझे मोहनिद्रा से जगाकर भवसागर में गिरने से बचाया है! अब मुझे अपनी आलोचना करके प्रायश्चित्त लेकर आत्मशुद्धि करनी है और अब हमें यहाँ एक दिन भी नहीं ठहरना है।” इस प्रकार शैलक राजर्षि प्रमाद दूर करके वहाँ से अन्यत्र विहार करके शुद्ध चारित्र-पालन करने लगे। धीरे-धीरे सभी बिछुड़े हुए शिष्य गुरु की पुनः चारित्र दृढ़ता सुनकर उनके पास आ गये। उसके पश्चात् वे चिरकाल विभिन्न प्रदेशों में स्व-पर कल्याणार्थ विचरण करते हुए अनेक भव्यजीवों को प्रतिबोध देकर ५०० शिष्यों सहित श्रीसिद्धाचलतीर्थ पहुँचे। वहाँ अनशन तप स्वीकार करके उन्होंने सिद्धपद प्राप्त किया ॥२४७॥

इसी प्रकार सुशिष्य अपने प्रमादी गुरु को भी निपुणता युक्त मधुर वचनों से सन्मार्ग पर ले आते हैं, यही इस कथा का सारांश है।

दस-दस दिवसे-दिवसे, धम्मे बोहेइ अहव अहिअयरे ।

इय नंदिसेणसती, तहवि य से संजमविचती ॥२४८॥

शब्दार्थ - ‘प्रतिदिन दस या इससे भी अधिक व्यक्तियों को धर्म का प्रतिबोध देने की शक्ति विद्यमान थी फिर भी नंदिषेण मुनि के निकाचित कर्म-बंध के कारण संयम (चारित्र) का विनाश हुआ। अतः निकाचित कर्मबंध का भोग अत्यंत बलवान है ॥२४८॥ यही इस गाथा का भावार्थ है।’

यहाँ प्रसंगवश नंदीषेणमुनि के जीवन की घटना दे रहे हैं—

प्रतिबोधकुशल नंदीषेणमुनि की कथा

नंदीषेण के पूर्वजन्म का संक्षिप्त वृत्तांत इस प्रकार है—‘मुखप्रिय नामक एक ब्राह्मण किसी गाँव में रहता था। उसने एक बार लाख ब्राह्मणों को भोजन कराने का संकल्प कर लिया। फिर उसने सोचा—‘ब्राह्मणों को भोजन आदि परोसने एवं घर का कामकाज करने के लिए एक अच्छा-सा ईमानदार नौकर मिल जाय तो बहुत अच्छा हो।’ फलतः उसने अपने पड़ौस में रहने वाले ‘भीम’ नामक दास से इस बारे में पूछा। उसने कहा—‘‘मैं आपके घर का कामकाज इसी शर्त पर कर सकता हूँ कि ब्राह्मणों का भोजन हो जाने के बाद बचा हुआ सारा अन्नादि आप मुझे दे दें।’’ मुखप्रिय ने उसकी बात मंजूर कर ली। अब भीम उसके घर का कामकाज करने लगा और ब्राह्मणों के भोजन के बाद बचे हुए शेष भोजन को ले जाता। वह इस अवशिष्ट भोजन को शहर में बिराजित साधु-साध्वियों को बुला बुलाकर भिक्षा के रूप में दे देता था। इस पुण्य के प्रभाव से आयुष्य पूर्ण कर वह दास का जीव दिव्य सुखभोग वाले देवलोक का देव बना। वहाँ से च्यव कर वह राजगृह नगर में राजा श्रेणिक के यहाँ नंदीषेण नाम से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ।

इधर लाख ब्राह्मणों को भोजन कराने वाले ब्राह्मण का जीव अनेक भवों में भ्रमण करने के बाद किसी अटवी में एक हथनी की कुक्षि में पैदा हुआ। हथनियों का स्वामी यूथपति (हाथी) किसी हथनी के जो भी बच्चा (हाथी) होता, उसे पैर के नीचे कुचल कर मार देता था। अतः उस हथनी ने सोचा—‘‘मेरे गर्भ में इस बार जो बच्चा है, उसे मैं ऐसी जगह जन्म दूँ, ताकि यूथपति को पता न लगे और वह उसे मारे नहीं। अगर वह बचा रहा तो भविष्य में वही यूथपति बन जायगा।’’ हथनी ने मन ही मन उपाय सोचा और वह झूठमूठ ही एक पैर से लंगड़ाती हुई चलने लगी। इस कारण वह कभी एक पहर से, कभी दो पहर से, कभी एक-दो दिन के बाद अपने टोले में जा कर मिलती थी। यों करते-करते जब प्रसवकाल नजदीक आया तो वह एक तापस-आश्रम में पहुँच गयी और वहीं शिशुहाथी को जन्म दिया; और पुनः जाकर अपने टोले में मिल गयी। उसके पश्चात् वह रोज़ाना अपने टोले में सबसे पीछे रहकर अपने शिशु को स्तनपान कराने तापसों के आश्रम में चली जाती और वापिस सहजभाव से आकर अपने टोले में मिल जाती। इस प्रकार उसने गुप्त रूप से हस्तिशिशु का संवर्द्धन किया। तापस भी उसे

अपने पुत्र के समान पालते थे। इसीलिए वह तापसों का अत्यंत प्रीतिभाजन बन गया। तापसों की संगति से वह भी अपनी सूंड में पानी भरकर आश्रम के वृक्षों को सींचने लगा। इस कारण तापसों ने उसका यथार्थ नाम 'सेचनक' रख दिया। सेचनक धीरे-धीरे आश्रम में पलकर अतिबलिष्ठ जवान हो गया।

एक दिन सेचनक मस्ती से वन में घूम रहा था, तभी हाथियों का यूथपति (उसका पिता) उधर आ निकला। दोनों ने एक दूसरे को देखा और दोनों परस्पर भिड़ गये। इस आपसी युद्ध में सेचनक ने यूथपति को यमलोक का मेहमान बना दिया। उसी दिन से वह सेचनक स्वयं यूथपति बन गया। एक दिन उसने सोचा— "जिस तरह मेरी माता ने इस आश्रम में गुप्तरूप से मुझे जन्म दिया, पाला-पोसा, बड़ा किया और मैं अपने पिता को मारकर स्वयं यूथपति बना; इसी प्रकार भविष्य में इस टोले की कोई हथिनी भी इसी प्रकार गुप्त रूप से आश्रम में किसी बच्चे को जन्म देगी तो वह भी बड़ा होकर मुझे मारकर स्वयं यूथपति बन बैठेगा। अतः इस झंझट की जड़ आश्रम को ही क्यों न खत्म कर दिया जाय।" मन में निर्णय करके सेचनक आश्रम में पहुँचा और बावला बनकर उसने आश्रम की तमाम झोपड़ियाँ नष्टभ्रष्ट कर डाली। इससे तापस बड़े क्रुद्ध हुए और परस्पर कहने लगे— "अरे! देखो तो सही इस कृतघ्न हाथी को! हमने तो इसका पुत्रवत् लालन-पालन किया और आज यह हमारे ही आश्रम को उजाड़ रहा है। अतः अब किसी भी तरह से इसे बंधन में डलवाकर सजा देनी चाहिए।" तापसों ने राजा श्रेणिक के पास जाकर प्रार्थना की— "राजन्! हम जिस वन में रहते हैं, उस में एक बहुत श्रेष्ठ हाथी है। वह राजा के ग्रहण करने योग्य हस्तिरत्न है; इसीलिए आप उस हाथी को वहाँ से पकड़ मंगावें।" श्रेणिकराजा ने तापसों की बात सुनकर उस सेचनक हाथी को सारे परिवारसहित वन में जाकर पकड़ने की बहुत चेष्टा की, लेकिन सफलता न मिली। संयोगवश इतने में नंदीषेणकुमार भी खेलता-खेलता वहाँ आ पहुँचा। उसने ज्यों ही हाथी को सम्बोधित करके उसकी ओर टकटकी लगाकर देखा, त्यों ही उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। उसके प्रकाश में उसने अपना पूर्वजन्म देखा और तुरंत वहीं वह शांत हो गया। नंदीषेण उसकी सूंड पकड़कर उसके सहारे उस पर चढ़ा और उसे नगर में लाकर राजमहल के चौक में बांध दिया। बचपन पार करके नंदीषेण जब जवान हुआ तो पिता ने पाँच सौ राजकन्याओं के साथ उसकी शादी की। वह उनके साथ आमोद-प्रमोद में अपना जीवन बीताने लगा।

एक दिन श्री वर्धमान स्वामी राजगृह नगर में पधारे। नंदीषेण कुमार उनके

दर्शनार्थ गया। प्रभु को नमस्कार करके विनयपूर्वक उसने पूछा—“भगवन्! मुझे देखकर इस सेचनक हाथी को मेरे प्रति स्नेह क्यों कर हुआ?” इसके उत्तर में भगवान् ने उन दोनों के पूर्वजन्म की सारी घटना सुनायी। उसे सुनकर नंदीषेण ने मन ही मन सोचा—“जब साधु-मुनिवशों को अन्नादि देने से इतना पुण्य मिला, तब मुनिदीक्षा लेकर यदि तप किया जाय तो उसका कितना महान् फल मिलेगा?” उसने मन में निश्चय करके भगवान् से प्रार्थना की—“भगवन्! स्व-पर कल्याणकारिणी मुनि दीक्षा देकर मुझे कृतार्थ कीजिए!” प्रभु ने कहा—“वत्स नंदीषेण! अभी और गहराई से इस पर विचार कर लो। तुम्हारे निकाचित रूप से बद्ध कर्मों का भोग फल बाकी है। इसीलिए बाद में इस कारण पिछड़ना न पड़े, अभी उतावल न करो।” इसी समय इसी तरह की चेतावनी की आकाशवाणी भी हुई। परंतु नंदीषेण के मन में दृढ़ता, साहस और प्रबल उमंग थी, इसीलिए अपनी ५०० पत्नियों को छोड़कर वह मुनि दीक्षा ग्रहण करने के लिए उत्सुक हुआ। भगवान् ने भी ऐसी ही भवितव्यता (होनहार) जानकर उसे दीक्षा दे दी और अध्ययन के लिए स्थविर मुनियों को सौंपा। नंदीषेणमुनि ने सामायिक से लेकर दस पूर्वों तक का शास्त्र ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही वह छट्ठ-अट्ठम-आतापना आदि तपस्याएं करता हुआ महाकष्ट और अनेक उपसर्ग समभावपूर्वक सहने लगा; जिससे उसे क्रमशः बहुत-सी लब्धियाँ प्राप्त हो गयीं। मगर उसके साथ-साथ कामोदय में भी दिनोदिन वृद्धि होती जाती थी।

एक दिन नंदीषेण मुनि के मन में विचारों का झंझावात उठा कि “मैंने भगवान् और देवों के मना करने पर भी उत्साहित होकर मुनि दीक्षा ली; परंतु काम का वेग तेजी से बढ़ता जा रहा है, इसीलिए कहीं ऐसा न हो कि यह काम अपने चंगुल में फंसाकर मेरे महाव्रतों को ले बैठे। अतः समय रहते कोई ऐसा उपाय कर लूं, जिससे काम मुझे परवश करके अपने चंगुल में फंसाए, उससे पहले मैं अपना इहलौकिक कार्य सिद्ध कर लूं।” नंदीषेण ने इसके उपाय के रूप में आत्महत्या कर लेने का निश्चय किया। परंतु ज्यों ही उसने शस्त्र से घात करने या गले में फंदा डालने आदि प्रयास किये, त्यों ही शासनदेवी ने उसके सारे प्रयास विफल कर दिये। फिर किसी दिन उसके मन में प्रबल कामज्वर का तूफान उठा कि वह पहाड़ पर चढ़कर झंपापात करने (नीचे गिरने) लगा। मगर इस बार भी पर्वत से नीचे गिरते हुए को शासनदेवता ने हाथों में झेलकर बचा लिया और कहा—“महानुभाव! तुम्हारा इस तरह आत्महत्या करने का प्रयास वृथा है। क्या आत्महत्या कर लेने से निकाचित कर्म छूट जायेंगे? तुम्हारे निकाचित कर्मों को तो तुम्हें भोगे बिना कोई

छुटकारा नहीं। तीर्थंकर जैसों के भी निकाचित भोगावली कर्म भोगे बिना सर्वकर्मों का क्षय नहीं हुआ तो तुम कौन सी बिसात में हो?" शासनदेव के ये वचन सुनकर नंदीषेण मुनि अकेले विहार करके एक दिन छट्ट (बेले) तप के पारणे के लिए आहारार्थ राजगृही नगरी के उच्च-नीच-मध्यम कुलों में घूमते हुए अनायास ही अनजाने में वेश्या के यहाँ पहुँच गये। ज्यों ही उन्होंने द्वार पर 'धर्मलाभ' शब्द का उच्चारण किया; त्यों ही अंदर से वेश्या की आवाज आयी—“यहाँ धर्मलाभ से क्या काम है? यहाँ तो अर्थलाभ की जरूरत है! तुम तो दीन और निर्धन हो, अर्थलाभ कैसे दे सकोगे?” वेश्या के वचन मुनि के मन में तीर की तरह चुभ गये। उनका स्वाभिमान जागा और तुरंत ही उन्होंने धास का एक तिनका खींचा और अपनी तपोलब्धि के प्रभाव से साढ़े बारह करोड़ सोनैयों की वर्षा करा दी। फिर मानिनी वेश्या को ललकार कर कहा—“अगर तुम्हें धर्मलाभ की जरूरत नहीं है तो इन धन के ढेर को उठा लो।” यों कहते हुए मुनि ज्यों ही वेश्यागृह से बाहर निकलने लगते हैं, त्यों ही वेश्या ने दौड़कर उनकी चादर का पल्ला पकड़ लिया और उनके सामने अपनी बांहें फैलाकर कहा—“प्राणनाथ! यह मुफ्त का धन मेरे किस काम का? हम चारांगनाएं हैं। विषयसुख के द्वारा पुरुषों का मनोरंजन करने के पश्चात् ही हम अपने परिश्रम के बदले में धन लेती हैं। आप या तो इस धन को अपने साथ ले जाइये, या फिर मेरे यहीं आनंद से रहकर इस धन के बदले में मेरे साथ विषयसुख का उपभोग करें। आपका यह सुकोमल सुंदर शरीर; यह मदमाती जवानी क्या यों ही तप की भट्टी में झोंक देने या अन्य कष्ट सहन करके सूखा देने के लिए है? इसीलिए आइए, अनायास ही मिले हुए इस धन, यौवन, मेरे सुंदर तन और घर का मनचाहा उपभोग कीजिए।” वेश्या की कोमल अभ्यर्थना सुनकर भोगावली कर्म के उदय के कारण नंदीषेण मुनि का मन पिघल गया। उन्होंने अपना रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि साधुवेष के उपकरण वहीं एक खूंटो पर टांग दिये और वेश्या के यहाँ ही रहने लगे। परंतु वेश्या के साथ विषयसुखों का उपभोग करते हुए भी वे इतने जागरूक थे कि उन्होंने साधुवेष उतारा तभी से ऐसा अभिग्रह (संकल्प) कर लिया कि “मैं रेजाना जब तक दस व्यक्तियों को धर्म का प्रतिबोध नहीं दे दूंगा, तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।” इस तरह प्रतिदिन नंदीषेण का प्रतिबोध का क्रम चलता रहा। जो भी उससे प्रतिबोध पाता, वह भगवान् महावीर स्वामी के पास जाकर दीक्षा ले लेता। यों वेश्या के यहाँ रहते हुए नंदीषेण को १२ वर्ष बीत गये।

एक दिन ऐसा हुआ कि नंदीषेण ने ९ व्यक्तियों को तो प्रतिबोधित कर

दिया, परंतु दसवाँ सुनार जाति का व्यक्ति ऐसा था कि वह किसी भी मूल्य पर नंदीषेण की बात मानने को तैयार न था। जब नंदीषेण त्याग-वैराग्य और सांसारिक विषयों की अनित्यता बताकर उसे प्रतिबोध देने लगा तो उसने तपाक से कह दिया—“इस तरह की बातें बघारते हो तो पहले तुम खुद ही गृह त्याग करके चारित्र ग्रहण क्यों नहीं कर लेते? क्यों वेश्या के यहाँ पड़े हो?” जब नंदीषेण ने उससे कहा कि ‘मेरे तो मोहकर्म का उदय है’ तब उसने भी वही बात दोहरा दी। वेश्या ने उत्तम स्वादिष्ट भोजन बना लिया था, वह ठंडा हो रहा था। जब उसने दासी को कहला कर भेजा कि भोजन ठंडा हो रहा है, जल्दी पधारों तो नंदीषेण ने उत्तर दिया कि “दसवाँ आदमी प्रतिबोधित होते ही मैं आता हूँ” पर दसवाँ आदमी कोई तैयार नहीं हो रहा था। आखिर कई घंटों की प्रतीक्षा के बाद वेश्या स्वयं बुलाने आयी और हाथ पकड़कर कहने लगी—“प्राणनाथ! पधारो न! देर क्यों कर रहे हैं अब!” ‘अभी आया दसवें पुरुष को प्रतिबोध देकर’ वेश्या दूसरी और तीसरी बार बुलाने आ चुकी; और उसने कहा—“प्रिय! शाम होने आयी है। मैं भी भूखी हूँ, आपने अभी तक कुछ नहीं खाया है; चलो।” परंतु नंदीषेण ने कहा—“सुनयने! चाहे कुछ भी हो जाय, दसवें आदमी को प्रतिबोध दिये बिना मैं भोजन नहीं कर सकता। मैं अपना नियम भंग नहीं कर सकता!” वेश्या ने तैश में (जोश में) आकर कह दिया—“जब दसवाँ और कोई आदमी प्रतिबोध पाने को तैयार नहीं होता तो उसके स्थान पर आप अपने को प्रतिबोधित मान लें और किसी भी तरह से इस नियम को पूरा करके भोजन तो कर लें।” वेश्या के वचन सुनकर नंदीषेण का सोया हुआ मन जागृत हो गया। नंदीषेण के भोगावली कर्म अब क्षीण होने को थे। सहसा उसने निश्चय कर लिया कि मैं ही प्रतिबोध के लिए तैयार क्यों न हो जाऊँ!” बस, शीघ्र ही खूँटी पर टंगे हुए अपने मुनिवेश के उपकरण उतारकर धारण किये और वेश्या को ‘धर्मलाभ’ कहकर वहाँ से चलने लगा। वेश्या ने बहुत आजीजी करते हुए कहा—“स्वामिन्! मैंने तो मजाक में यह बात कही थी। आपने इसे सच्चीकर बताया। अतः आप मुझे अकेली छोड़कर कहाँ जा रहे हैं? आपके बिना मेरी जिंदगी सूनी हो जायगी।” नंदीषेण बोले—“तुम्हारे साथ मेरा इतना ही संबंध था। अब मैं हर्गिज यहाँ नहीं रह सकता।” यों कहकर नंदीषेण सीधे भगवान् महावीर के पास पहुँचे और उनसे पुनः मुनि दीक्षा लेकर निरतिचार चारित्राधना करने लगे। अंतिम समय में अनशन करके आयुष्य पूर्ण कर वे देवलोक में पहुँचे। जैसे नंदीषेण मुनि दशपूर्वधर थे, उपदेश लब्धिसम्पन्न और प्रतिबोध कुशल भी थे; मगर निकाचित कर्म बंधे हुए होने के कारण वे उन्हें भोगे

बिना चारित्राश्रयना न कर सके। इसीलिए कर्मों का कोई विश्वास नहीं करना चाहिए॥२४८॥

कलुसीकओ अ किट्टीकओ, खउरीकओ मलिणिओ य ।

कम्मेहिं एस जीवो, नाऊण वि मुज्झई जेण ॥२४९॥

शब्दार्थ - जैसे धूल से भरा हुआ पानी कीचड़वाला (मैला) हो जाता है, लोहे को जंग लग जाने पर वह भी मलिन हो जाता है और लड्डू पुराना हो जाने पर उसका स्वाद बिगड़ जाता है, उसमें से बदबू आने लगती है, उसी प्रकार यह जीव भी कर्मों से लिस होकर मलिन हो जाता है, विषय, कषाय, विकथा, प्रमाद आदि बुराइयों के जंग लग जाने से बिगड़ जाता है, अथवा विषयवासनाओं आदि के चक्कर में वर्षों तक फंसा रहकर अपना स्वभाव खराब कर लेता है। संसारी जीव यह जानते हुए भी मोह से मूढ़ बना रहता है, इसके पीछे निकाचित कर्मदोष ही कारण है॥२४९॥

कम्मेहिं वज्जसारोचमेहि, जउन्दणो वि पडिबुद्धो ।

सुबहुं पि विसूरंतो, न तरइ अप्पक्खमं काउ ॥२५०॥

शब्दार्थ - यदुन्दन श्रीकृष्ण क्षायिकसम्यक्त्वी होने के कारण स्वयं जागृत थे और अपनी पापकरणी के लिए बहुत पश्चात्ताप भी करते थे; किन्तु वज्रलेप के समान गाढ़ चिपके हुए निकाचित कर्मों के कारण आत्महितकारक कोई भी अनुष्ठान न कर सके। अपने आत्महित की साधना करना सरल बात नहीं है। इसके लिये महान् पुण्योदय आवश्यक है ॥२५०॥

वाससहस्सं पि जई, काऊणं संजमं सुविउलं पि ।

अंते किलिद्धभायो, न विमुज्झइ कंडरीओ व्व ॥२५१॥

शब्दार्थ - एक हजार वर्ष तक प्रचुरमात्रा में तप-संयम की आराधना करके भी कोई मुनि यदि अंतिम समय में अशुभ परिणाम ले आता है, तो वह कर्मक्षय करके विशुद्ध नहीं हो सकता। वह अपने अंतिम क्लिष्ट (राग-द्वेष युक्त) भावों के कारण दुर्गति में ही जाता है; जैसे कण्डरीक मुनि मलिन परिणामों के कारण नरक में गया॥२५१॥

अप्पेण वि कालेण, कईं जहागहियसीलसामण्णा ।

साहंति नियपक्कजं, पुंडरीयमहारिसि व्व जहा ॥२५२॥

शब्दार्थ - जिस भाव से शील-चारित्र-ग्रहण करते हैं, उसी भाव से शील-चारित्र की आराधना करने वाले कई साधु अल्पकाल में ही अपना कार्य (सद्गति-

प्राप्ति रूप या मोक्ष प्राप्ति रूप कार्य) सिद्ध कर लेते हैं; जैसे महर्षि पुण्डरीक ने अल्पकाल में ही सद्गति प्राप्त कर ली थी ॥२५२॥

इस संबंध में पुण्डरीक और कण्डरीक दोनों की कथा एक दूसरे से संबंधित होने से दोनों की कथा एक साथ ही दी जा रही है—

कण्डरीक और पुण्डरीक की कथा

जम्बूद्वीप के अंतर्गत महाविदेह क्षेत्र में पुष्पकलावती-विजय में पुंडरीकिणी नाम की महानगरी थी। वहाँ महापद्म नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पद्मावती था। रानी की कुक्षि से पुण्डरीक और कण्डरीक नाम के दो पुत्र हुए। एक बार महापद्म राजा को संसार से विरक्ति हो जाने से उसने अपने बड़े पुत्र पुण्डरीक को राजगद्दी तथा छोटे पुत्र कण्डरीक को युवराजपद देकर स्वयं ने एक स्थविर मुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली। महापद्म मुनि चारित्र की सम्यग् आराधना करके केवलज्ञान प्राप्तकर मोक्ष पहुँचे। पुण्डरीक राजा राज्यसंचालन करने लगे।

एक दिन दोनों भाईयों ने किसी स्थविर मुनि से धर्मोपदेश सुना, जिससे दोनों को संसार से विरक्ति हो गयी। घर आते ही बड़े भाई पुंडरीक ने अपने छोटे भाई कण्डरीक से कहा—“भाई! मैं स्थविर मुनि से मुनि दीक्षा लेकर स्व-पर-कल्याण करना चाहता हूँ। तुम यह राज्य ग्रहण करो और प्रजा का पुत्रवत् पालन करो।” कण्डरीक ने फौरन कहा—“बड़े भाई! मुझे इस वैराग्य में बाधक राज्य से क्या प्रयोजन! पिताजी ने आपको राज्य दिया है, आप ही इसे संभालें। मैं तो स्थविर मुनि से सर्वविरति चारित्र ग्रहण करना चाहता हूँ।” यों सविनय निवेदन करके अपने बड़े भाई से आज्ञा लेकर कण्डरीक ने मुनिधर्म ग्रहण कर लिया। दीक्षा के बाद उसने ११ अंगशास्त्रों का अध्ययन किया। स्थविर मुनियों के साथ उग्रविहार और प्रायः रूखा-सूखा नीरस आहार करने से कण्डरीक के शरीर में महारोग पैदा हो गया।

एक बार विहार करते हुए वे पुण्डरीकिणी नगरी आये। पर्दापण के समाचार सुनकर पुण्डरीक राजा भी उन्हें सहर्ष वंदनार्थ पहुँचा। राजा ने पहले अन्य स्थविर मुनियों को और फिर अपने भाई कण्डरीक मुनि को वंदना की तो उन्हें अत्यंत रूग्ण और दुर्बल जानकर वह अपनी यानशाला में विनति करके ले गया। वहाँ राजा ने कण्डरीक मुनि की चिकित्सा शुद्ध औषध द्वारा करवायी। इससे उनका शरीर स्वस्थ हो गया। अतः स्थविर मुनियों ने तो वहाँ से विहार करने की इच्छा राजा के सामने प्रकट की; मगर कण्डरीक मुनि स्वादिष्ट, मिष्ट और गरिष्ठ भोजन

में आसक्त होने के कारण विहार के बारे में चुप रहे। फिर पुण्डरीक राजा स्थविर मुनियों को वंदन करके अपने मुनिभ्राता की प्रशंसा करने लगे—“भाई! धन्य है आपको! आप बड़े पुण्यवान हैं, कृतार्थ हैं; आपने उत्तम मनुष्य जन्म सफल बना लिया है; क्योंकि आप चारित्र अंगीकार करके तप-संयम की आराधना कर रहे हैं। मैं तो अधन्य हूँ, पुण्यहीन हूँ; क्योंकि मैं राज्यसुख में मूर्च्छित हूँ।” इस प्रकार राजा के द्वारा कण्डरीक मुनि की बार-बार प्रशंसा किये जाने पर भी उनके मन में जरा भी प्रसन्नता पैदा नहीं हुई। आखिरकार लज्जावश उदास मन से कण्डरीक मुनि ने भी राजा से विहार की अनुमति मांगी और स्थविर मुनियों के साथ विहार कर दिया। परंतु मन में रह-रहकर पांचों इन्द्रियों के विषयभोगों की ललक उठती रही। अंततः एक हजार वर्ष तक पालन किये हुए चारित्र को मिट्टी में मिला देने वाले अशुभ परिणामों ने जोर पकड़ा और एक दिन वे अपने गुरुदेव से पूछे बिना ही चुपके से अकेले चल दिये और पुण्डरीकिणी नगरी जा पहुँचे। वहाँ राजमहल के निकटवर्ती अशोकवन में अशोकवृक्ष की शाखा पर अपने उपकरण टांगकर उसी वृक्ष के नीचे अनमना व चिन्तातुर होकर बैठ गये। सहसा उनकी धायमाता की दृष्टि उस पर पड़ी। धायमाता ने कण्डरीक के चेहरे पर से उसके दुःखित होने का अंदाजा लगाकर पुण्डरीक राजा को जाकर खबर दी। राजा सुनते ही भ्रातृ स्नेहवश उसके पास पहुँचा। उसके चेहरे पर से उसके मनोगत भावों को ताड़ कर राजा ने एक ओर ले जाकर उससे पूछा—“भाई! क्या आपकी इच्छा सांसारिक विषयभोगों के आस्वादन करने की हुई है? जो भी बात हो, आप निःसंकोच होकर साफ-साफ कहो!” कण्डरीक ने सांसारिक सुखभोग और राज्यप्राप्ति की अपनी अभिलाषा को स्पष्ट किया। उदारमना पुण्डरीक राजा ने तत्काल अपने कुटुम्बियों को बुलाया और सबके साथ विचार विमर्श करके कण्डरीक का राज्याभिषेक कर दिया।

कण्डरीक ने राजगद्दी पर बैठते ही बहुत दिनों से दबी हुई विषयेच्छाओं को उभारा। शरीर कमजोर था, पाचनशक्ति क्षीण हो चुकी थी; लेकिन डटकर स्वादिष्ट गरिष्ठ भोजन किया; अन्य विषयभिलाषाओं को भी वह तृप्त करने लगा। परिणामस्वरूप उसके शरीर में भयंकर वेदना हुई; लेकिन घरवालों व जनता ने किसी ने भी उसकी चिकित्सा आदि न करवायी, न ही सेवा की। सभी ने यही सोचा कि “इस पापात्मा ने इतने वर्षों के चारित्र को तिलांजलि देकर राज्य ग्रहण किया है; यह हमें क्या सुख देगा?” कण्डरीक को मंत्री आदि के इस रूखे व उपेक्षाभरे व्यवहार से बड़ा दुःख हुआ और गुस्सा चढ़ा। उसने क्रोध में भत्राते हुए

मन ही मन निश्चय किया—“ठीक है, इस समय मेरी कोई सेवा नहीं करता; मैं स्वस्थ हो जाने पर इन सबकी खबर लूंगा। एक-एक को चुन-चुनकर सजा दूंगा।” यों आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के भयंकर परिणामों से उसी रात को मरकर वह तैत्तिरीय सागरोपम की आयुवाला सप्तम नरक का अधिकारी हुआ। सच है, जो दुर्लभ चरित्ररत्न को पाकर विषय सुख के कीचड़ में पड़ता है; वह कण्ठरीक के समान दुर्गति ही प्राप्त करता है।

इधर पुण्डरीक ने कण्ठरीक को राज्य सौंपकर उसी समय स्वयं चातुर्यामि (भगवान् अरिष्टनेमि आदि २२ तीर्थंकरों के समान महाविदेह क्षेत्र में भी चार महाव्रत ही लिये जाते हैं) महाव्रत अंगीकार करके कण्ठरीक के ही मुनिवेष के उपकरण धारण कर लिये और मन ही मन ऐसा अभिग्रह धारण करके वहाँ से प्रस्थान किया—“स्थविरमुनियों के दर्शन-वन्दन जब तक नहीं कर लूंगा, तब तक मैं आहार ग्रहण नहीं करूँगा।”

इधर नंगे पैर पैदल चलने का पुण्डरीक का अभ्यास नहीं था, इस कारण रास्ते में कांटे-कंकर आदि से पैर छिल गये, भूख-प्यास के मारे शरीर लड़खड़ा गया; फिर भी साहसी और वैराग्यबली पुण्डरीक उत्साह पूर्वक इन उपसर्गों व कष्टों को सहते हुए और मन में स्थविर मुनियों के दर्शन-वन्दन की उत्कण्ठा लिये आगे से आगे बढ़ते गये। आखिर वे अत्यंत थके, भूखे-प्यासे कष्टपीड़ित-से दूसरे दिन स्थविर मुनियों के पास पहुँचे। उन्हें विधिपूर्वक वन्दन करके उनसे प्रार्थना करके उनके मुख से चार महाव्रतों को विधिवत् ग्रहण किया। उसके पश्चात् जैसा भी रूखा-सूखा नीरस आहार मिला, लेकर छट्ट (बेले) तप का पारणा किया। अत्यंत थकावट तथा रूखा-सूखा आहार करने के कारण आधीरात को शरीर में अचानक भयंकर पीड़ा हुई। मगर पुण्डरीक मुनि ने तीव्र शुभ परिणामों से उसे दृढ़ता पूर्वक सहा। विशुद्ध ध्यान में लीन होते हुए ही मृत्यु का स्वीकार किया और सीधे ३३ सागरोपम की आयु वाले सर्वार्थसिद्ध विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर वे पुनः महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर धर्मकरणी करके वहाँ से सिद्धगति में पहुँचे।

इसी प्रकार थोड़े समय तक भी जो शुद्ध रूप से चरित्र का प्रतिपालन करता है, वह पुण्डरीक महर्षि के समान अक्षयसुख प्राप्त करता है ॥२५२॥

काळण संकिलिद्धं सामन्नं, दुल्लहं विसोहिपयं ।

सुज्झिज्जा एगयरो, करिज्ज जइ उज्जमं पच्छा ॥२५३॥

शब्दार्थ - जिसने पहले चरित्र (श्रामण्य) को दूषित कर दिया हो, उसे बाद

में चारित्र की शुद्धि करना अत्यंत दुष्कर हो जाता है। परंतु यदि कोई चारित्र की विराधना हो जाने के तुरंत बाद ही प्रमाद को छोड़कर विशुद्ध रूप से चारित्रपालन करने में उद्यम करता है तो वह कदाचित् अपनी शुद्धि कर सकता है॥२५३॥

उज्झिज्ज अंतरे च्चिय, खंडिय सबलादओ व्य होज्ज खणं ।

ओसन्नो सुहलेहड, न तरिज्ज च पच्छ उज्जमिउ ॥२५४॥

शब्दार्थ - परंतु जो साधक साधुधर्म अंगीकार करने के बाद बीच में व्रतभंग करके चारित्र को खंडित कर देता है तथा प्रतिक्षण अशुद्ध भावों के वश अनेक प्रकार के अतिचारों (दोषों) का सेवन करके चारित्र को कलुषित (मलिन) बनाता रहता है; उस शिथिल और सुख लम्पट साधु का पुनः संयम की शुद्धि के लिए उद्यम करना दुष्कर है ॥२५४॥

अवि नाम चक्कवट्ठी, चइज्ज सव्वं पि चक्कवट्ठिसुहं ।

न य ओसन्नविहारी, दुहिओ ओसन्नयं चयइ ॥२५५॥

शब्दार्थ - ६ खण्ड (राज्य) का अधिपति चक्रवर्ती अपने चक्रवर्ती जीवन के सभी सुखों को छोड़ने को तैयार हो सकता है, लेकिन शिथिलविहारी दुःखित होते रहने पर भी अपनी शिथिलाचारिता को छोड़ने को तैयार नहीं होता। क्योंकि चीकने (निकाचित) कर्मों से लिस होने के कारण वह अपनी आचार भ्रष्टता को छोड़ नहीं सकता ॥२५५॥

नरयत्थो ससिराया, बहु भणइ देहलालणासुहिओ ।

पडिओ मि भए भाउय!, तो मे जाएह तं देहं ॥२५६॥

शब्दार्थ - नरक में निवास करते हुए शशिप्रभ राजा ने अपने भाई से बहुत कुछ कहा— "भाई! मैं पूर्वजन्म में शरीर के प्रति अत्यंत लाडप्यार करके सुख-लंपट बन गया था, इसी कारण इस जन्म में नरक में पड़ा हूँ। अतः तुम मेरे पूर्वजन्म के उस देह को खूब यातना दो, उसकी भर्त्सना करो ॥२५६॥"

प्रसंगवश यहाँ शशिप्रभ राजा की कथा दी जा रही है—

शशिप्रभ राजा की कथा

कुसुमपुर नगर में जितारि नामक राजा राज्य करता था। उसके दो पुत्र थे— शशिप्रभ और सूरप्रभ। अपने बड़े पुत्र शशिप्रभ को राजपद तथा छोटे पुत्र सूरप्रभ को युवराजपद देकर राजा धर्माश्रय में तत्पर हो गया। एक बार नगर में चतुर्ज्ञानधारक श्री विजयघोषसूरि पधारे। उनके दर्शन-वन्दनार्थ दोनों भाई गये सूरप्रभ को संसार से विरक्ति हो गयी। प्रतिबुद्ध सूरप्रभ ने घर आकर अपने बड़े भाई से

सविनय निवेदन किया—“बन्धु! यह संसार असार है। इन क्षणिक विषय-सुखों का भी कोई भरोसा नहीं है। इसीलिए मैं इन सब विषय-सुखों व उनके साधनों को छोड़कर साधु-धर्म अंगीकार करके तप-संयम में उद्यम करूँगा, जिससे स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त कर सकूँ।” सुनते ही शशिप्रभ ने कहा—“भैया! किसी धूर्त के बहकावे में आ गये दिखते हो। यही कारण है कि जो विषय-सुख अभी प्राप्त हैं, अपने हाथ में हैं, उन्हें ठुकराकर तुम भविष्य के अप्राप्तसुखों को पाने की इच्छा कर रहे हो! तुम विचार-मूढ़ मालूम होते हो। अरे! भविष्य के सुख किसने देखे हैं? और कौन जानता है, धर्म का फल मिलेगा या नहीं?” सूरप्रभ ने शांतभाव से कहा—“भाई! आप यह कैसी बातें कर रहे हैं? धर्म का फल अवश्य ही मिलता है; क्योंकि पुण्य और पाप का फल तो प्रत्यक्ष प्राप्त होता हुआ हम देखते हैं। देखिए, संसार में एक जीव रोगी है, एक निरोगी है, एक सुरूप है, दूसरा कुरूप, एक धनवान है, दूसरा निर्धन, एक भाग्यशाली है, एक अभाग्य है, ये और इस प्रकार के सब अंतर पुण्य-पाप के ही फल हैं।” इस प्रकार का तात्त्विक उपदेश देने पर भी शशिप्रभ को गुरुकर्मा होने के कारण जरा भी प्रतिबोध न लगा। आखिर सूरप्रभ ने वैराग्यभाव से अकेले ही मुनि दीक्षा ग्रहण की और तप संयम की आराधना करके आयुष्य पूर्ण कर वह ब्रह्मदेव लोक में देव बना।

शशिप्रभ राजा आसक्ति पूर्वक राज्य संचालन करता हुआ विषय सुखों में, रागरंग में, ऐश्वर्यआराम में, बढ़िया खाने-पीने में, शरीर को मल-मलकर नहाने-धोने और वस्त्राभूषणों से सजाने-संवारने में ही रात-दिन डूबा रहता था। वह अपनी जिंदगी में कुछ भी त्याग, नियम, व्रत, प्रत्याख्यान, तप, जप आदि न कर, शरीर सुखासक्ति की भावना में ही मरकर तीसरी नरक का नारकीय जीव बना। सूरप्रभ देव ने अवधिज्ञान से अपने पूर्व जन्म के भाई को नरक में स्थित देखा। उसे बड़ा अफसोस हुआ। वह पूर्व जन्म के भ्रातृ स्नेह-वश नरकभूमि में पहुँचा और अपने नारक बने हुए भाई को उसके पूर्वजन्म का स्वरूप बताया। साथ ही यह भी कहा—“भाई! पूर्व जन्म में मैंने तुम्हें बहुत समझाया, लेकिन तुम बिलकुल न माने। इसीलिए अब तुम इस नरक में पैदा हुए हो।” देव की बात सुनकर शशिप्रभ नारक ने अपने पूर्व जन्म का स्वरूप विभंगज्ञान से जाना तो उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने वेदना भरे स्वर में कहा—“भाई! मैंने पूर्व जन्म में शरीर के लालन-पालन और विषय सुखों में आसक्त होकर धर्म की बिलकुल आराधना नहीं की। अब तो मैं नरक में पड़ा हुआ क्या कर सकता हूँ! तुम पूर्वजन्म की भूमि में जाकर मेरे उस शरीर की यातना दो, ठोकरें मार-मारकर उसकी भर्त्सना करो ताकि मैं किसी भी तरह से कर्म का बोझ हलका करके

इस नरक से निकल सकूँ ॥२५६॥” इस पर सूरप्रभ देव ने कहा—

को तेण जीवरहिण, संपयं जाइएण होज्ज गुणो ।

जइउसि पुरा जायंतो, तो नए तेव निवडंतो ॥२५७॥

शब्दार्थ - भाई! पूर्व जन्म के निर्जीव (मृत) शरीर को अब लातें मारने, पीड़ा देने व विडम्बित करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? यदि तुमने पूर्व जन्म में ही उस शरीर को तप-संयमादि में लगाकर थोड़ी-सी भी पीड़ा दी होती तो नरक से भी तुम्हें लौटने का मौका आता अथवा नरक में जाने का अवसर ही न आता! पर अब क्या हो सकता है? अब तो अपने किये हुए कर्मों का फल तुम्हें भोगना ही पड़ेगा। इनसे छुटकारा दिलाने में अब कोई भी समर्थ नहीं है ॥२५७॥

इस प्रकार नरक में स्थित अपने भाई शशिप्रभ के जीव को प्रतिबोध देकर सूरप्रभ देव अपने स्थान पर लौट आया। हे भव्यजीवो! शशिप्रभ के इस दृष्टांत को जानकर—

जावाडउउ सावसेसं, जाव य थोचो वि अत्थि ववसाओ ।

ताव करिज्ज उप्पहियं, मा ससिराया व्य सोइहिसि ॥२५८॥

शब्दार्थ - जहाँ तक अपनी आयु शेष हो, जहाँ तक अपने शरीर और मन में थोड़ा-सा भी उत्साह है, वहाँ तक आत्महितकारी तप-संयमादि का अनुष्ठान कर लेना चाहिए; अन्यथा बाद में शशिप्रभ राजा की तरह पछताने का मौका आयेगा ॥२५८॥

धित्थूण वि सामण्णं, संजमजोगेसु होइ जो सिढिलो ।

पडइ जई वयणिज्जे, सोयइ अ गओ कुब्वत्तं ॥२५९॥

शब्दार्थ - जो साधक साधु जीवन (श्रमण धर्म) ग्रहण करके संयम की साधना में शिथिल (प्रमादी) बन जाता है; वह इस लोक में निन्दा का पात्र होता है; परलोक में भी कुदेवत्व या दुर्गति प्राप्त कर वह पछताता है। शिथिलाचार दोनों लोकों में हानिकारक है। इसीलिए शिथिलाचार का त्याग करना चाहिए ॥२५९॥

सोच्चा ते जिचलोए, जिणवयणं जे नरा न याणंति ।

सुच्चाण वि ते सुच्चा, जे नाऊणं वि न करंति ॥२६०॥

शब्दार्थ - जो मनुष्य अपने अविवेक या प्रमाद के कारण जिनवचनों को जानते नहीं, इस जीवलोक में उनकी दशा शोचनीय होती है; लेकिन इनसे भी बढ़कर अति-शोचनीय दशा उन लोगों की होती है, जो जिनवचनों को जानते-बूझते हुए भी प्रमादवश तदनुसार अमल में नहीं लाते। वस्तुतः जानबूझकर भी प्रमादादिवश जो व्यक्ति धर्माचरण नहीं करता, उसकी अंत में बड़ी दुर्दशा और दुर्गति होती है ॥२६०॥

दायेऊण धणनिहिं, तेहिं उप्पाडिआणि अच्छीणि ।

नाऊण वि जिणवयणं, जे इह विहलंति धम्मधणं ॥२६१॥

शब्दार्थ - इस संसार में जो जिनवचन को भलीभांति जानकर भी विषय, कषाय और प्रमाद के वशीभूत होकर अपने धर्म रूपी धन को खो देते हैं, उन्होंने स्वर्ण, रत्न आदि धन का खजाना रंक जनों को दिलाकर उनकी आँखें फोड़ दी हैं। मतलब यह है कि अभागा व्यक्ति धर्म (ज्ञान-दर्शन रूपी)-धन पाकर भी उसका वास्तविक फल प्राप्त नहीं कर सकता ॥२६१॥

ठाणं उच्चुच्चयरं, मज्जं हीणं च हीणतरंग वा ।

जेण जहिं गंतव्वं, चिट्ठा वि से तारिसी होइ ॥२६२॥

शब्दार्थ - देवलोक रूपी उच्च स्थान, मोक्षगति रूपी उच्चतर स्थान मनुष्यगति रूपी मध्यम स्थान, तिर्यचगति रूपी हीन और नरकगति रूपी हीनतर स्थान में से जिस जीव को जिस स्थान में जाना हो, वह वैसी ही चेष्टा करता है ॥२६२॥

जैनशास्त्र में बताया है— 'जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ' (जो जीव जिस लेश्या में मरता है, वह मरकर उसी लेश्या वाले स्थान में पैदा होता है।)

जस्स गुरुमि परिभवो, साहुसु अणापरो खमा तुच्छा ।

धम्मे य अणहिलासो, अहिलासो दुग्गई उ ॥२६३॥

शब्दार्थ - जिसके मन में गुरु के प्रति अपमान की वृत्ति है, साधुओं के प्रति अनादर बुद्धि है, जो बात-बात में रोष से उबल पड़ता है, जिसकी क्षांति आदि दश प्रकार के श्रमण-धर्म में बिल्कुल रुचि नहीं है, ऐसी अभिलाषा दुर्गति में ले जाने वाली है ॥२६३॥

सारीरमाणसाणं, दुक्खसहस्सवसण्णाण परिभीया ।

नाणकुसेण मुणिणो, रागगइंदं निरुंभंति ॥२६४॥

शब्दार्थ - शारीरिक और मानसिक हजारों दुःखों के आ पड़ने से डरे हुए या डरने वाले मुनिवर ज्ञान रूपी अंकुश से राग रूपी हाथी को वश में कर लेते हैं ॥२६४॥

भावार्थ - अनेक प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधि उत्पन्न करने वाले राग-द्वेष आदि दोषों के विशेषज्ञ मुनिराज सतत अपने ज्ञानबल से राग शत्रु को नियंत्रित करते रहते हैं।

सुगङ्गमङ्गपईवं, नाणं दिंतस्स हूज्ज किमदेयं? ।

जह तं पुलिंदएणं, दिज्जं सिवगस्स नियगच्छिं ॥२६५॥

शब्दार्थ - मोक्ष रूपी सद्गति के मार्ग को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान जिन ज्ञानी गुरुदेव (धर्माचार्य) ने ज्ञान रूपी नेत्र दिये हैं, ऐसे उपकारी गुरु को नहीं देने योग्य कौन-सी वस्तु है? ऐसे ज्ञानदाता गुरु के चरणों में तो अपना सर्वस्व जीवन समर्पित करने योग्य है। जैसे उस पुलिंद भील ने अपनी आँख महादेव को समर्पित कर दी थी ॥२६५॥ इसी प्रकार देवाधिदेव व गुरुदेव के प्रति सच्चे भक्तिभाव रखने चाहिए ॥२६५॥

प्रसंगवश यहाँ अजैन कथा पुलिंद भील की दी जा रही है-

पुलिंद भील की कथा

विन्ध्याचल पर्वत की एक गुफा में किसी व्यंतर से अधिष्ठित महादेव की मूर्ति थी। उसकी पूजा करने के लिए पास के ही गाँव का मुग्ध नामक व्यक्ति रोजाना आया करता था। वह पहले उस स्थान की सफाई करता, फिर शुद्धजल से शिवमूर्ति का प्रक्षालन करता, तत्पश्चात् केसर, चंदन आदि सुगंधित द्रव्यों से उसकी पूजा करता था। उसके बाद पुष्पमाला चढ़ाकर धूप-दीप आदि यथाविधि करता था। फिर एक पैर से खड़ा होकर वह शिवजी की स्तुति, ध्यान आदि करके मध्याह्न के समय अपने घर लौटकर भोजन किया करता था। इस तरह का उसका नित्यक्रम था। एक दिन जब मुग्ध पूजा करने आया तो देखा कि किसी ने अपने द्वारा की गयी पूजा की सामग्री को हटाकर धतूरा कनेर आदि के फूलों से शिवमूर्ति की पूजा की है। यह देख उसने सोचा—“इस जंगल में ऐसा कौन व्यक्ति है, जो मेरी पूजा सामग्री हटाकर हमेशा शिवमूर्ति की पूजा करता है? आज छिपकर उसे देखना चाहिए” अतः मुग्ध पुजारी वहीं एक ओर छिपकर बैठ गया। तीसरे पहर में एक कालाकलूटा व दाहिने हाथ में धनुष लिये तथा बांये हाथ में आक, धतूरा, कनेर वगैरह के फूल आदि पूजा का सामान लिये हुए वहाँ आया। उसके मुँह में पानी भरा हुआ था। वह पैरों में जूता पहने ही सीधे मूर्ति के पास पहुँचा और तुरंत मुँह में भरे हुए जल से मूर्ति के एक पैर का प्रक्षालन कर वहाँ आक, धतूरे आदि के फूल चढ़ा दिये। फिर उसने मूर्ति के पास मांस की एक पेशी रखी और इस प्रकार की भक्ति करके ‘नमस्कार हो परमात्मा महादेव को’ यों बोलकर शीघ्र ही वहाँ से निकलकर जाने लगा। तभी महादेव ने आवाज देकर उसे बुलाया और पूछा—“ऐ सेवक! आज तुझे इतनी देर कैसे हुई? तुझे भोजन तो आराम से मिलता

हैं न? तू निर्विघ्न तो रहता है न?" महादेवजी के प्रश्न सुनकर उसने उत्तर दिया—
“स्वामिन्! जब आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे चिन्ता किस बात की?” यों
कहकर वह भील चल दिया।

उसके चले जाने के बाद मुग्ध मूर्ति के पास आकर बोला—“शिवजी!
आज मैंने आपका ऐश्वर्य अपनी आँखों से देख लिया। जैसा आपका यह भील
सेवक है, वैसे ही आप दीखते हो! क्योंकि मैं प्रतिदिन पवित्रता पूर्वक केसर, चंदन
तथा सुगंधित पुष्प, धूप आदि से आपकी पूजा करता हूँ; फिर भी आप मुझ पर
कभी प्रसन्न नहीं होते, और न मेरे साथ कभी बातचीत ही करते हैं; लेकिन उस
गंदे, कालेकलूटे और आपकी बेअदबी (आशातना) करने वाले भील के साथ
प्रकट होकर प्रसन्न होकर बातचीत करते हो।” यह सुनकर महादेव ने कहा—
“वत्स! तुम्हारी और उस भील की भक्ति में कितना अंतर है, यह मैं कभी तुम्हें
बताऊँगा।” मुग्ध शिवजी की बात सुनकर अपने घर चला गया। दूसरे दिन मुग्ध
उसी तरह पूजा करने आया, तब उसने देखा कि शिवजी के ललाट पर रहने वाला
तीसरा नेत्र किसी ने गायब कर दिया है।” यह देख मुग्ध के मन में बड़ा खेद
हुआ वह फूट-फूट कर रोने लगा—“अरे रे! यह क्या गजब हो गया? किस दुष्ट
ने परमात्मा की तीसरी आँख निकाल ली? अब क्या होगा?” इस प्रकार काफी
देर तक वह रोता रहा, फिर उसने पूजा आदि नित्य कृत्य पूर्ण किया।

कुछ समय बाद वह भील भी वहाँ आ पहुँचा। उसने जब महादेवजी की
तीसरी आँख निकली हुई देखी तो कुछ देर तक तो वह भी मुग्ध की तरह
अफसोस करता रहा। फिर उसने बाण से अपनी एक आँख निकाल कर शिवजी
के कपाल पर लगा दी। जब तीनों नेत्र पूरे हो गये तब उसने प्रतिदिन की तरह
पूजा की। उस समय शिवजी प्रकट होकर बोले—“वत्स! मैं आज तेरी भक्ति से
बहुत प्रसन्न हूँ। आज से तुझे बहुत सम्पत्ति मिला करेगी।” भील को यों वरदान
देकर शिवजी ने मुग्ध पुजारी से कहा—“देख लिया न तुमने, तुम्हारी और इस
भील की भक्ति का अंतर? ऐसी हार्दिक भक्ति से देव प्रसन्न होते हैं, केवल बाह्य
भक्ति से नहीं।” यों कहकर शिवजी अंतर्हित हो गये।

जिस प्रकार उस भील ने शिवजी के आंतरिक भक्ति की; उसी प्रकार
सुशिष्यों को अपने सुदेव तथा ज्ञानदाता गुरुदेव की शुद्ध मन से भक्ति करनी
चाहिए, यह इस कथा का तात्पर्य है।¹

1. यह दृष्टांत एकदेशिय है भील की समर्पितता से संबंधित है। उसने जैसे पूजा की उसमें
सहमती नहीं है।

सिंहासणे निसन्नं, सोवागं सेणिओ नरवरिंदो ।

विज्जं मग्गइ पयओ, इअ साहूजणस्स सुयविणओ ॥२६६॥

शब्दार्थ - मानव श्रेष्ठ श्रेणिक राजा ने स्वयं सिंहासन पर चाण्डाल को बिठाकर करबद्ध होकर नमस्कार करके उससे विद्या की याचना की थी, इसी तरह श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिए मुनिवरों को भी गुरु के विनय करना आवश्यक है।

यहाँ प्रसंगवश हम उस चाण्डाल की कथा दे रहे हैं—

विद्यादाता चाण्डाल की कथा

मगधदेश की राजधानी राजगृही नगरी में राजा श्रेणिक राज्य करता था। उसकी रानी चिल्लणा को एक बार गर्भ के प्रभाव से ऐसा दोहद (मनोरथ) पैदा हुआ कि “चारों ओर कोट व उद्यान वाले एक खम्भे पर टिके हुए महल में मैं निवास करूँ।” राजा ने अभयकुमार से यह बात कही। उसने देव की आराधना करके उस देव की सहायता से सर्व ऋतु विकासी फलों, फूलों और हरेभरे पेड़ों व चारों ओर कोटवाला एक एकस्तम्भी महल बनवा दिया। उसे देखकर रानी चिल्लणा अत्यंत प्रसन्न हो उठी, उसका दोहद पूर्ण हो गया। अब राजा श्रेणिक ने उस सर्व ऋतु विकासी फल-फूलों वाले बाग की सुरक्षा के लिए दिनरात चौबीसों घंटे पहरा देने वाले सुभट चारों ओर तैनात कर दिये, ताकि उस बगीचे का कोई एक पत्ता भी राजाज्ञा के बिना न तोड़ सके।

इधर राजगृही में ही एक विद्यासिद्ध चाण्डाल रहता था। उसकी पत्नी को गर्भ के प्रभाव से कार्तिक मास में आम खाने का दोहद पैदा हुआ। उसने अपने पति को अपना दोहद बताया। उसने सोचा—“बेमौसम में आम राजा के देव निर्मित उद्यान के सिवाय और कहीं नहीं मिल सकेगा। मगर वहाँ चौबीसों घंटे बड़ा सख्त पहरा लगा रहता है। इसीलिए विद्या प्रयोग से ही यह काम हो सकेगा।” मन में निश्चय करके चाण्डाल रात को उस उद्यान की ओर चल पड़ा। उद्यान किले में था। किले में पहरेदारों को खड़े देख चाण्डाल ने बाहर ही खड़े रहकर अपनी अवनामिनी विद्या के प्रयोग से एक आम्रवृक्ष की शाखा नीचे झुकाकर फुर्ती से फल तोड़ लिया। फिर उत्तामिनी विद्या के प्रयोग से उस शाखा को ऊपर जहाँ थी, वहीं कर दी। इस प्रकार चुपके से फल लाकर उसने अपनी पत्नी को दिया, जिससे उसका दोहद पूर्ण हुआ। प्रातःकाल जब रक्षकों ने एक आम्रवृक्ष की शाखा फलरहित देखी और किले के बाहर शाखा के नीचे मनुष्य के पैरों के निशान देखे तो उन्हें शक हुआ। उन्होंने राजा से इसकी शिकायत की। राजा ने अभयकुमार को

बुलाकर आम के चोर का पता लगाने और उसे पकड़ लाने का आदेश दिया। अभयकुमार ने राजाज्ञा स्वीकारकर मन ही मन युक्ति सोची और एक चौराहे पर जा पहुँचा। वहाँ नट का खेल देखने के लिए दर्शकों की भीड़ जमा हो रही थी। अभी खेल शुरू होने में देर थी। अतः अभयकुमार ने एकत्रित जनों से कहा— “भाईयो! मेरी एक बात सुनो! नाटक शुरू होने से पहले मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ। सभी लोग चौकत्रे होकर कहानी सुनने लगे। अभयकुमार ने कहा— “पुण्यपुर नाम का एक नगर था। वहाँ गोवर्धन नामक एक शेर रहता था। सुंदरी नाम की उसकी एक पुत्री थी। रूप और यौवन में वह अपने नाम को सार्थक कर रही थी। योग्य वर की प्राप्ति के लिए वह हमेशा किसी बगीचे से चुपके-चुपके फूल तोड़कर कामदेव यक्ष की पूजा किया करती थी। एक दिन उस बगीचे के माली ने उसे फूल तोड़ते हुए देख लिया। रगे हाथों उसने सुंदरी को पकड़कर डांटते हुए कहा—“तू ने बिना पूछे फूल तोड़कर चोरी की है। अब इसकी भयंकर सजा तुझे मिलेगी। परंतु अगर तू मेरी एक बात मान लेगी तो मैं तुझे छोड़ दूंगा; अन्यथा अभी राजा के सामने हाजिर करूँगा।” सुंदरी बोली—“बोलो, मित्र! तुम्हारी क्या शर्त है?” माली ने कहा—“मेरे साथ काम-क्रीड़ा करके मेरी इच्छा पूर्ण कर दो।” सुंदरी बोली—“अभी तक मैं कुमारिका हूँ आजसे पांचवें दिन मेरी शादी होने वाली है। शादी करते ही पहले दिन अपने पति के पास जाने से पहले मैं तुम्हारे पास आने का वचन देती हूँ। अब तो मानोगे?” माली ने उसकी बात मान ली। सुंदरी वचनबद्ध होकर वहाँ से अपने घर चली आयी।

पांचवें दिन उसकी शादी हो गयी। जब वह सुहागरात के समय पति के पास पहुँची तो उसने माली को दिये गये वचन का सारा हाल अपने पति को बताया और माली के पास जाने की आज्ञा मांगी। पति ने उसे सत्यवादी समझकर जाने की आज्ञा दे दी। अतः कामोत्तेजक तथा शृंगारप्रसाधन की सर्वसामग्री लेकर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर वह आधी रात को ही वहाँ से चल पड़ी। गाँव से बाहर निकलते ही चोरों का सामना हुआ। वे उसके वस्त्राभूषण लूटने को तैयार हुए तब सुंदरी ने कहा—“मैं माली के पास जाकर वापिस लौटते समय तुम्हें सारे वस्त्राभूषण उतार कर दे दूंगी। अभी तो मुझे जाने दो।” चोरों ने भी उसे सत्यवादी समझकर जाने दिया। आगे जाते हुए रास्ते में एक राक्षस मिला। वह उसे खाने को उद्यत हुआ। सुंदरी ने उसे भी वचनबद्धता की सारी बातें कहकर वापिस लौटते समय आने का वचन देकर उससे पिंड छुड़ाया। इस प्रकार संकटों को पार करती हुई बड़ी मुश्किल से वह बाग में माली के पास पहुँची।

1. इस में राक्षस पहले और चोर बाद में मिला ऐसा वर्णन विशेष सत्य दिखता है।

उसकी नयी शादी, नई जवानी और नया आकर्षक रूप देखकर माली अत्यंत हर्षित हुआ। मगर माली ने उससे पूछा—“सुनयने! इस समय आधी रात को तू अकेली यहाँ तक कैसे आ पायी?” सुंदरी ने अपने दिये हुए वचन की याद दिलाते हुए पति की आज्ञा से लेकर रास्ते की सारी घटनाएँ आद्योपांत कह सुनायी। उसे सुनकर माली ने सोचा—“धन्य है इस महिला को! यह केवल अपने वचन का पालन करने के लिए अंधेरी रात में इतनी मुसीबतें झेलकर चोर और राक्षस को भी अपने बुद्धिकौशल से वचन देकर मेरे पास आयी है! जब इसके पति ने, चोर और राक्षस ने इसकी सत्यवादिता देखकर इसे छोड़ दी; तब मुझे भी इस सत्यवादी स्त्री को छोड़ देनी चाहिए।” फलतः माली ने सुंदरी से कहा—“जाओ, मैं तुम्हें छोड़ता हूँ। आज से तुम मेरी बहन हो, मैं तुम्हारा भाई हूँ। तुम्हें कष्ट दिया उसके लिये क्षमा करो।” यों कहकर उसके चरणों में पड़कर नमस्कार करके सम्मानसहित उसे अपने घर भेजी। रास्ते में जाते हुए उसे वह राक्षस मिला। उसके पूछने पर उसने माली के साथ हुई सारी घटना बता दी। सुनकर राक्षस ने विचार किया—“जब ऐसी नवयुवती सुंदरी को सत्यवादिता के कारण माली ने सहामन किये बिना ही छोड़ दी; तो मैं ऐसी सत्यवादिनी सती का भक्षण क्यों करूँ?” अतः राक्षस ने उसे अपनी बहन बनाकर ससम्मान जाने दी। आगे जाते हुए उसे वे चोर मिले। उनसे भी जब सुंदरी ने माली और राक्षस का वृत्तान्त सुनाया तो उनका भी हृदय बदल गया। उन्होंने भी उसके जेवर, वस्त्र आदि न लूटकर, उसे बहन कहकर जाने की छुट्टी दे दी। आखिर वह अपने पति के पास पहुँची और उसे उसने सारी आपबीती सुनायी। इस पर वह अत्यंत प्रसन्न हुआ और उसने अपने घर का सर्वस्व अधिकार उसे दे दिया।

इस कहानी को सुनाकर अभयकुमार ने सभी उपस्थित लोगों से पूछा—“बताओ, इन चारों में से किसने दुष्कर कार्य किया है और क्यों?” इसे सुनकर जो स्त्री जाति पर अविश्वास रखते थे, उन्होंने कहा—“हमारी दृष्टि से उस स्त्री के पति ने ही दुष्कर कार्य किया है; क्योंकि नयी-नयी शादी थी, नयी जवान रूपवती पत्नी को सुहागरात के प्रथम संगम के दिन पर पुरुष के पास भेज दी।” परस्त्री लंपट कामी पुरुष बोल उठे—“हमारी समझ से माली ने बड़ा दुष्कर किया है। आधीरात का समय था, एकांत स्थान था और नवयौवना सुंदरी स्त्री स्वयं चलकर पास में आयी थी, फिर भी अपनी विषयेच्छा छोड़कर मन को वश में रखा; उस स्त्री के साथ सहवास न किया।” जो मांसलोलुप लोग थे, उन्होंने राक्षस के त्याग की सराहना की। आम्रफल चुराने वाला चोर भी वहीं खड़ा था। उससे न रहा गया।

उसने कहा—“मेरी राय में तो इन तीनों से बढ़कर दुष्कर कार्य करने वाले उन चोरों को कहना चाहिए; जिन्होंने वस्त्राभूषणों से सुसज्जित और पास में आयी हुयी उस स्त्री को लूँटे वगैर छोड़ दी।” यह सुनकर मानव स्वभाव के पारखी अभयकुमार ने फौरन उस चाण्डाल को गिरफ्तार कर लिया और एकांत में ले जाकर उससे पूछा—“सच-सच बता; क्या तू ने ही राजाजी के बाग में से आम चुराया है? सच नहीं बतायेगा तो भयंकर सजा दूंगा।” चाण्डाल ने भयभीत होकर कहा—“हाँ, मंत्रीवर! मैंने ही आम का फल चुराया है।” “भला, इतना सख्त पहरा होते हुए भी तूने कैसे और किसलिए आम चुराया?” अभयकुमार ने पूछा। चाण्डाल ने अपनी गृहिणी को गर्भप्रभाव से इस बैमौसम में आम खाने का दोहदा उत्पन्न होने और अन्य कोई चारा न देखकर अपनी दो विद्याओं के बल से राजोद्यान से आम प्राप्त करने का यथातथ्य निवेदन किया। अतः अभयकुमार ने उसे ले जाकर श्रेणिक राजा के सामने हाजिर किया। राजा ने उस चोर को मृत्युदण्ड देने का हुक्म सुनाया। इस पर दयालु अभयकुमार ने राजा से कहा—“पिताजी! इसे सजा देने से पहले इससे आप दो विद्याएँ तो ग्रहण कर लें। उसके बाद जैसा उचित हो, वैसा करें।” इस पर राजा श्रेणिक सिंहासन पर बैठे-बैठे ही अपने सामने रस्सियों से हाथ बांधे हुए चाण्डाल से विद्याएँ सीखने लगा। मगर राजा को इतनी मेहनत करने पर भी उसका एक अक्षर भी याद न हुआ। यह माजरा देखकर अभयकुमार बोला—“राजन्! विद्या इस तरह से कभी नहीं आयेगी। विद्या विनय से आती है। आप तो सिंहासन पर बैठे हैं और विद्यादाता को आपने हाथ जकड़े हुए नीचे खड़ा कर रखा है! अतः मेरी राय में विद्यागुरु को सिंहासन पर बिठाइये और आप स्वयं सामने हाथ जोड़कर बैठिये, तभी विद्या आयेगी।” राजा ने वैसा ही किया। इससे दोनों विद्याएँ शीघ्र ही हासिल कर ली। विद्याग्रहण के बाद राजा ने उसे मारने की सजा देने का हुक्म सुनाया। अब अभयकुमार से न रहा गया। उसने कहा—“महाराजा! आपकी यह आज्ञा अनुचित है। क्योंकि नीतिशास्त्र में बताया है कि “एक अक्षर का भी ज्ञान देने वाले को जो गुरु रूप में नहीं मानता, वह मरकर सौ बार कुत्ते की योनि में और अंत में चाण्डालयोनि में जन्म लेता है।” इसीलिए अब जब यह चाण्डाल आपका विद्यागुरु हो गया, तब आप इसे कैसे मार सकते हैं? अब तो आपके लिए यह आदरणीय और पूज्य हो गया है।” राजा ने अभयकुमार की बात मानकर चाण्डाल को बंधनमुक्त करा कर उसकी सजा रद्द कर दी और अत्यंत भक्ति-सम्मान पूर्वक प्रचुर धन, वस्त्र आदि देकर ससत्कार उसे विदा किया।

जब लौकिक विद्या के लिए भी इतने विनय की आवश्यकता है तो लोकोत्तर विद्या के लिए तो कहना ही क्या? इसीलिए प्रत्येक शिष्य को अपने गुरुजनों से विनय पूर्वक ही शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए; यही इस कथा का सारांश है ॥२६६॥ अब प्रकारान्तर से विनय से सम्बन्धित बातें कहते हैं—

विज्जाए कासवसंतिपाए, दगसूयरो सिरिं पत्तो ।

पडिओ मुसं वयंतो, सुअतिण्हवणा इअ अपत्था ॥२६७॥

शब्दार्थ - रातदिन शरीर को बार-बार पानी में ही डुबोये रखने वाले (अतिस्नानी) किसी त्रिदण्डी संन्यासी ने किसी नापित से विद्या सीखी। विद्या के प्रभाव से उसकी सर्वत्र पूजा-प्रतिष्ठा होने लगी। परंतु किसी के द्वारा 'यह विद्या किससे सीखी?' यों पूछे जाने पर जब उसने अपने 'विद्यागुरु' का नाम छिपाया तो उसकी विद्या नष्ट हो गयी ॥२६७॥

इस दृष्टांत को समझकर श्रुतनिह्वता करना, यानी शास्त्रज्ञान देने वाले का नाम छिपाना लाभदायक नहीं। ऐसा करने से विद्यानाश के सिवाय भयंकर ज्ञानावरणीय कर्मरोग बढ़ता है। प्रसंगवश यहाँ अतिस्नानी त्रिदण्डी की कथा दी जा रही है—

अतिस्नानी त्रिदण्डी की कथा

स्तम्बपुर में चंडिल नाम का एक अतिचतुर नाई रहता था। वह अपनी विद्या के बल से लोगों की हजामत करके अपने अस्त्रों को आकाश में अधर रख दिया करता था। एक दिन किसी त्रिदण्डी ने नाई का यह चमत्कार देखा तो उसके मुंह में भी नाई से विद्या ग्रहण करने की लार टपकी। त्रिदण्डी ने उस नाई की खूब सेवा की और प्रसन्न करके उससे वह विद्या सीख ली। उसके बाद धूमता-धामता त्रिदण्डी हस्तिनापुर आया। वहाँ के लोगों ने त्रिदण्डी का चमत्कार देखा तो वे आश्चर्यचकित हो गये; उसकी खूब सेवा-भक्ति करने लगे। धीरे-धीरे सारे नगर में उसकी शोहरत (प्रशंसा) हो गयी। वहाँ के उस समय के राजा पद्मरथ के कानों में भी त्रिदण्डी के चमत्कार की बात पड़ी। राजा भी उस कौतुक को देखने के लिए आया और उसने फिर सविनय त्रिदण्डी से पूछा—“स्वामिन्! आप अपने त्रिदण्ड को आकाश में अधर लटका कर रखते हैं; यह किसी तप का प्रभाव है या किसी विद्या का?” त्रिदण्डी ने उत्तर दिया—“राजन्! यह विद्या की ही शक्ति का प्रभाव है।” तब राजा ने पूछा—“स्वामिन्! वह चित्तचमत्कारिणी विद्या आपने किससे सीखी?” उस समय त्रिदण्डी ने लज्जावश अपने विद्यागुरु नाई का नाम न लेकर झूठमूठ ही बात बनायी कि “राजन्! हम कई वर्षों पहले हिमालय गये थे। वहाँ हमने तपश्चर्या व कष्टकारी अनुष्ठान द्वारा सरस्वतीदेवी की आराधना

की थी। उस समय सरस्वतीदेवी ने प्रत्यक्ष होकर मुझे अंबरालम्बिनी विद्या दी थी। सरस्वती देवी ही मेरी विद्यागुरु हैं।" त्रिदण्डी के इस प्रकार असत्य कहते ही आकाश में अधर लटकता हुआ उसका त्रिदंड खटाक से जमीन पर आ गिरा। उसे देखकर त्रिदण्डी अत्यंत लज्जित हुआ। उपस्थित लोग भी उसकी हंसी उड़ाने और फटकारने लगे। इससे दुःखित होकर वह वहाँ से चुपचाप चला गया।

जैसे वह त्रिदण्डी विद्यागुरु का नाम छिपाने से अत्यंत दुःखी हुआ, वैसे ही जो कुशिष्य अपने गुरु का नाम छिपाता है, वह दुःखी और धिक्कार का पात्र होता है; यही इस कथा का तात्पर्य है। ॥२६७॥

सयलमि वि जीयलोए, तेण इहं घोसियो अमाघाओ ।

इक्कं पि जो दुहत्तं, सत्तं बोहेइ जिणवयणे ॥२६८॥

शब्दार्थ - जो व्यक्ति इस संसार में जन्म-मरण के दुःख से पीड़ित एक भी प्राणी को श्रीजिनवचन का बोध कराता है, वह इस १४ रज्जू प्रमाण लोक में अमारी पटह से घोषणा कराने सरीखा लाभ प्राप्त करता है; क्योंकि एक भी व्यक्ति जिनशासन को भलीभाँति प्राप्त कर लेने पर अनंत-जन्म-मरण के चक्र से बच जाता है ॥२६८॥

समत्तदायमाणं दुप्पडियारं, भवेसु बहुएसु ।

सव्वगुणमेलियाहि वि, उवयारसहस्सकोडीहिं ॥२६९॥

शब्दार्थ - सम्यक्त्व-(बोधीबीज) प्रदाता गुरुजनों के उपकार का बदला चुकाना अनेक जन्मों में भी दुःशक्य है। क्योंकि अनेक भवों में भी गुरुदेव के करोड़ गुना उपकारों से उपकृत व्यक्ति सारे गुणों द्वारा दो-तीन-चार गुना प्रत्युपकार मिलाकर भी अनंतगुना उपकार तक नहीं पहुँच सकता ॥२६९॥ इसीलिए सम्यक्त्वदाता धर्मगुरु का उपकार दुनिया में सर्वोत्कृष्ट है। उनकी भक्ति करनी चाहिए। अब सम्यक्त्व का फल बताते हैं—

सम्मत्तमि उ लद्धे, ठइयाइं नरयतिरिपदाराइं ।

दिव्वाणि माणुसाणि य, मोक्खसुहाइं सहीणाइं ॥२७०॥

शब्दार्थ - सम्यक्त्व प्राप्त होने पर उस जीव के नरक और तिर्यच गति के बहुत-से द्वार बंद हो जाते हैं। यानी इन दोनों गतियों में उसका जन्म नहीं होता। क्योंकि समकितधारी मानव प्रायः देवायु का बंध करता है। और देव प्रायः मनुष्यायु बांधता है। इसीलिए सम्यक्त्वी के दोनों अशुभगतियों के द्वार बंध हो जाते हैं। देव, मनुष्य और मोक्ष संबंधी सुख उसके हस्तगत हो जाते हैं ॥२७०॥

प्रकांतर से सम्यक्त्व का फल बताते हैं—

1. जो अपने दीक्षा गुरु का नाम न लिखकर 'प्रशिष्य' शब्द का प्रयोग करते हैं वे भी गुरु का नाम छुपाने के पाप के भागीदार बनते हैं।

कुसमयसुईण महणं, सम्मतं जस्स सुट्ठियं हियए ।

तस्स जगुज्जीयकरं, नाणं चरणं च भवमहणं ॥२७१॥

शब्दार्थ - 'जिस व्यक्ति के हृदय में कुसमय (मिथ्यादर्शिनियों के सिद्धांत) का नाशक सम्यक्त्व सुस्थिर हो गया, समझ लो, उसकी भव-भ्रमण का नाश करने वाले विश्व का उद्योत करने वाला केवलज्ञान और यथाख्यातचारित्र प्राप्त हो गया।' क्योंकि सम्यक्त्व न हो तो ज्ञान ज्ञान नहीं होता और सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र प्राप्त नहीं होता। और चारित्र के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। अतः मोक्ष का मुख्य कारण सम्यक्त्व है ॥२७१॥

सुपरिच्छियसम्मतो, नाणेणालोइयत्थसम्भावो ।

निव्वणचरणात्तो, इच्छियमत्थं पसाहेइ ॥२७२॥

शब्दार्थ - जिसने अच्छी तरह परीक्षा करके दृढ़ सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है, सम्यग्ज्ञान से जो जीव-अजीव आदि तत्त्वों का स्वरूप भलीभाँति जानता है, और उस कारण से क्षतिरहित चारित्र के पालन में संलग्न है, यानी निश्चयदृष्टि से जो सतत परभावों को छोड़कर स्वभाव में ही रमण करता है, वह जीव रत्नत्रय की सम्यग् आराधना के फल-स्वरूप इष्ट अर्थ-शाश्वतमुखरूप मोक्षार्थ को साध लेता है ॥२७२॥

जह मूलताणए, पंडुरमि दुव्वज्ज-रागवण्णेहि ।

बीभच्छा पडसोहा, इय सम्मतं पमारहिं ॥२७३॥

शब्दार्थ-भावार्थ - जैसे वस्त्र बुनते समय ताना (मूल तंतु) सफेद हो; किन्तु उसके साथ बाना काले, कत्थई आदि खराब रंग के तंतुओं के हों तो उस वस्त्र की शोभा मारी जाती है, वैसे ही पहले सम्यक्त्व निर्मल हो, लेकिन उसके साथ विषयकषायप्रमादादि के आ मिलने पर वह बिगड़ जाता है। इसीलिए सम्यक्त्व को मलिन करने वाले विषय-कषाय आदि प्रमाद शत्रुओं से बचना चाहिए; यही इसका निष्कर्ष है ॥२७३॥

तरएसु सुखरेसु य, जो बंधइ सागरोवमं इक्कं ।

पलिओवमाण बंधइ, कोडिसहस्साणि दिवसेणं ॥२७४॥

शब्दार्थ - सौ वर्ष की उम्र वाला आदमी अगर पाप-कर्म करता है तो एक सागरोपम की आयु वाली नरक-गति का बंधन करता है और उतना ही पुण्यकर्म उपार्जन करता है तो एक सागरोपम वाली देव-गति का बंधन करता है। ऐसा पुरुष एक दिन में सुख-दुःख संबंधी हजार करोड़ पत्योपम जितना आयुष्य बांध लेता है, उतना ही पाप-पुण्य एक दिन में जीव उपार्जन कर लेता है। इसीलिए प्रमाद पूर्ण आचरण छोड़कर निरंतर पुण्योपार्जन करते रहना चाहिए ॥२७४॥

पत्तिओचम संखिज्जं, भागं जो बंधई सुरगणेषु ।

दिवसे-दिवसे बंधई, स चासकोडी असंखिज्जा ॥२७५॥

शब्दार्थ - जो पुरुष मनुष्यजन्म में सौ वर्ष के पुण्याचरण से देव-गणों में पत्त्योपम के संख्यातवर्ष भाग का अल्पायुष्य बांधता है; उस हिसाब से वह पुरुष प्रतिदिन असंख्यात करोड़ वर्ष का आयुष्य बांधता है। क्योंकि पत्त्योपम के संख्यातवर्ष भाग से १०० वर्ष के दिनों का भाग देने से भाज्यफल प्रत्येक दिन का असंख्यात करोड़ वर्ष आता है ॥२७५॥

एस कम्मो नरएसु वि, बुहेण नाऊण नाम एयं पि ।

धम्मंमि कह पमाओ, निमेसमितं पि कायच्चो ॥२७६॥

शब्दार्थ - इसी क्रम से नरकों के आयुष्य बंध का भी हिसाब लगाकर भलीभांति समझकर पण्डित पुरुष को वीतराग कथित क्षमा आदि दस प्रकार के श्रमण-धर्म की आराधना में पलभर भी प्रमाद क्यों करना चाहिए? मतलब यह है कि सतत धर्माश्रयन में तत्पर रहना चाहिए ॥२७६॥

दिव्यालंकारविभूषणाइं, रयणुज्जलाणि य घराइं ।

रुचं भोगसमुद्गओ, सुरलोगसमो कओ इहइं? ॥२७७॥

शब्दार्थ - 'देवलोक में जैसे दिव्य छत्र, सिंहासन आदि ऐश्वर्यालंकार हैं, जैसे दिव्य मुकुट आदि आभूषण हैं, रत्नों की राशि की उज्ज्वल धरती और रत्नमय प्रासाद हैं, शरीर का कांतिमय रूप सौभाग्य है और अत्यंत अद्भुत भोग सामग्री है, ऐसी मनुष्यलोक में कहीं से हो सकती है?' इसीलिए धर्मकार्य में उद्यम करना चाहिए, ताकि ऐसा सुख प्राप्त हो सके। यही इस गाथा का तात्पर्य है ॥२७७॥

देवाण देवलोए, जं सोक्खं तं नरो सुभणिओ वि ।

न भणइ चाससएण वि, जस्सइवि जीहासयं होज्जा ॥२७८॥

शब्दार्थ - यदि किसी मनुष्य की सौ जिह्वाएं हों, बोलने में भी निपुण हो और सौ वर्ष तक भी देवलोक में देवताओं के सुख का वर्णन करे, तो भी वह उस सुख का वर्णन नहीं कर सकता। ऐसे दिव्यसुखों में देवता मग्न रहते हैं। उसका वर्णन साधारण मनुष्य नहीं कर सकता ॥२७८॥

नरएसु जाइं अइक्कच्छडाइं दुक्खाइं परमतिक्खाइं ।

को वण्णेही ताइं? जीवंतो वास कोडीइवि ॥२७९॥

शब्दार्थ - नरक-गति में जो अत्यंत दुःसह और विपाक की वेदना से अत्यंत तीक्ष्ण क्षुधा, तृषा, परवशता आदि दुःख हैं, उन दुःखों का करोड़ वर्ष तक

भी जिंदा रहकर मनुष्य वर्णन करे, फिर भी वर्णन करने में समर्थ नहीं होता ॥२७९॥

कक्कड़डाहं सामलि-असिवण-वेयरणि-पहरणसएहिं ।

जा जायणाओ पावन्ति, नारया तं अहम्मफलं ॥२८०॥

शब्दार्थ - 'नरक के जीवों को अत्यंत तेज जलती आग में डालकर पकाया जाता है, सेमर के पेड़ के तीखे पत्तों से उनका अंगछेदन होता है, तलवार की नोक जैसे तीखे दुःखदायी पत्ते वाले वृक्षों के जंगल में परिभ्रमण करना पड़ता है, वैतरणी नाम की नदी का गमगम शीशे के समान जल पीना पड़ता है, और कुल्हाड़ा, फरसा आदि सैकड़ों प्रकार के शस्त्रों से अंग काटे जाने से बड़ी पीड़ा पाता है। यह सब यातनाएं अधर्म, अनीति, अन्याय इत्यादि अधर्मकृत्य का फल है' ॥२८०॥

अब तिर्यच-गति के दुःखों का वर्णन करते हैं—

तिरियाकसंकुसारनिवाय-वह-बंधण-मारण-सयाइं ।

न वि इहयं पारित्ता, परत्थ जइ नियमिया हुंता ॥२८१॥

शब्दार्थ - तिर्यच-योनि में हाथी, घोड़ा, बैल आदि को अंकुश, चाबुक, जमीन पर गिराने, लकड़ी आदि से मारने, रस्सी, साँकल आदि से बांधने और जान से मार डालने इत्यादि के जो सैकड़ों दुःखों के अनुभव होते हैं। वह ऐसे दुःख नहीं पाता, बशर्ते कि पूर्वजन्म में स्वाधीन धर्म-नियमादि का पालन करता हो ॥२८१॥

अब मनुष्यगति के दुःखों का वर्णन करते हैं—

आजीवसंकिलेसो, सुक्खं तुच्छं उचहवा बहुया ।

नीयजणसिद्धणा वि य, अणिट्ठवासो य माणुस्से ॥२८२॥

शब्दार्थ - और मनुष्य-जन्म में भी जिंदगी भर मानसिक चिंता, अल्पकाल स्थायी तुच्छ विषयसुख, अग्नि, चोर आदि का उपद्रव, नीच लोगों की डांट फटकार, गाली-गलौज आदि दुर्वचन सहन करना और अनिष्ट स्थान में परतंत्रता से रहना पड़ता है। ये सब दुःख के हेतु हैं। इसीलिए मनुष्य-जन्म में भी सुख नहीं है ॥२८२॥

चारगनिरोह-वह-बंध-रोग-धणहरण-मरण-वसणाइं ।

मणसंतापो अजसो, विग्गोवणया य माणुस्से ॥२८३॥

शब्दार्थ - और मनुष्य-जन्म में किसी भी अपराध के कारण कारागृह में बंद होना, लकड़ी आदि से मारपीट, रस्सी, साँकल आदि से बंधन, वात, पित्त और कफ से उत्पन्न रोग, धन का हरण, मरण, आफत, मानसिक उद्वेग, अपकीर्ति और अन्य भी बहुत प्रकार की विडंबनाएं दुःख का कारण हैं। मनुष्य-लोक में भी सुख कहाँ है? ॥२८३॥

चिन्तासन्तापेहि य, दारिद्र्याहिं दुष्पुत्ताहिं ।

लङ्घूण वि माणुस्सं, मरंति केई सुनिव्विण्णा ॥२८४॥

शब्दार्थ - मनुष्य-जन्म पाकर भी कई लोगों को कुटुंब-परिवार के भरण-पोषण आदि की चिन्ता सताती रहती है, चोर, डाकू लूटैरे आदि का रात-दिन डर रहता है; पूर्वजन्म में किये हुए दुष्कर्मों के फल स्वरूप गरीबी होती है, क्षयादि रोग के कारण अत्यंत दुःखित होना पड़ता है और अंत में मृत्यु का दुःख भी महाभयंकर है। इसीलिए चिन्तायुक्त मनुष्य-जन्म निष्फल है ॥२८४॥ अतः अमूल्य मनुष्य-जन्म प्राप्त कर धर्मकार्य में पुरुषार्थ करना चाहिए।

देवताओं को भी सुख नहीं है, इस संबंध में बताते हैं—

देवा वि देवलोए, दिव्वाभरणाणुरजियसरीरा ।

जं परिवडंति तत्तो, तं दुक्खं दारुणं तेसिं ॥२८५॥

शब्दार्थ - देवलोक में दिव्य-अलंकारों से सुशोभित शरीर वाले देवताओं को भी वहाँ से च्यवन करके अशुचि से भरे हुए गर्भवास में आना पड़ता है, वह उनके लिए अतिदारुण दुःख है। इसीलिए देवलोक में भी सुख नहीं है ॥२८५॥

तं सुरविमाणविभवं, चितिय चवणं च देवलोगाओ ।

अइबलियं चिय जं न वि, फुट्ठइ सयसक्करं हिययं ॥२८६॥

शब्दार्थ - देवलोक का वह प्रसिद्ध अत्यंत अद्भुत ऐश्वर्य छोड़ने और उस देवलोक से च्यवन का मन से विचार करके घंटे के लोलक की तरह दोनों और से मार पड़ती है वैसे ही देवलोक के जीव को एक और सुखवैभव छोड़ने का दुःख और दूसरी ओर मृत्युलोक में गंदे अशुचिपूर्ण गर्भवास में उत्पन्न होने का महादुःख होता है। ऐसा विचार करते हुए भी उसका अत्यंत कठोर व बलिष्ठ हृदय फूट नहीं जाता ॥२८६॥ और फिर देवगति के दारुण दुःखों का वर्णन करते हैं—

ईसा-विसाय-मय-कोह-माया-लोभेहि, एवमाईहिं ।

देवा वि समभिभूया, तेसिं कत्तो सुहं नाम? ॥२८७॥

शब्दार्थ - देवों में भी परस्पर ईर्ष्या होती है, दूसरे देवों के द्वारा किये हुए तिरस्कार से विषाद होता है, अहंकार, अप्रीति रूप क्रोध, असहनशीलता, माया, कपटवृत्ति, लोभ और आसक्ति इत्यादि मन के विकारों से देव भी दबे हुए रहते हैं। वास्तव में उन्हें भी सुख कहाँ से मिल सकता है? ॥२८७॥

धम्मं पि नाम नाऊण, कीस पुरिसा सहंति पुरिसाणं? ।

सामिते साहीणे, को नाम करिज्ज दासत्तं? ॥२८८॥

शब्दार्थ - इस तरह प्रचुर दुःखमय-संसारोच्छेदक सर्वज्ञ-प्रणीत सद्धर्म को सद्गुरु से जानकर स्व-पर-कल्याण की साधना करने में प्रयत्नशील सत्पुरुष की तरह जागृत होने के बदले, स्वहित साधन से जीव क्यों उपेक्षा करता है? शुद्ध देव, गुरु और धर्मतत्त्व को यथार्थ रूप से जानने के बाद उसकी आराधना में प्रमाद करना अत्यंत अनुचित है। अरे! ऐसा कौन मूर्ख है कि स्वामित्व छोड़कर दासत्व स्वीकार करने को तैयार हो? जो साधक सर्वसुखदायी श्रीजिनेश्वर कथित सद्धर्म का अनादर कर विषयकषायादि प्रमाद में ही तत्पर रहता है; वह सद्गति का अनादर करके दुर्गति में अवश्य ही जाता है और दासत्व प्राप्त करता है, परंतु जो जिनवचन की आज्ञा रूपी धर्म का पालन करता है, वह सब पर स्वामित्व प्राप्त करता है ॥२८८॥ इसीलिए श्रीजिनप्ररूपित धर्म की आज्ञा माननी चाहिए।

संसारचारण चारण व्य, आवीलिपस्स बंधेहि ।

उब्धिगो जस्स मणो, सो किर आसन्न-सिद्धिपहो ॥२८९॥

शब्दार्थ - इस चारगति रूपी संसार के परिभ्रमण-समान कैदखाने में अनेक प्रकार के कर्मबंधन से पीड़ित जिस पुरुष का मन उद्विग्न हो गया हो; अर्थात् 'इस संसार बंधन से मैं कैसे छुटकारा पाऊंगा?' ऐसे रात-दिन विचार करने वाले जीव को निश्चय ही निकट भव्य जानना। उसका संसार परिमित है और वह जल्दी ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है ॥२८९॥

आसन्न-काल-भवसिद्धियस्स, जीवस्स लक्खणं इणमो ।

विसयसुहेसु न रज्जइ, सब्बत्थामेसु उज्जमइ ॥२९०॥

शब्दार्थ-भावार्थ - जो जीव अल्पकाल में ही जन्म-मरण (संसार) का अंत कर मोक्ष-गति पाने वाला हो, वह पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होता, और तप-संयम रूप स्व-पर-कल्याण-साधना में पूरी ताकात लगाकर पुरुषार्थ करता है। यही आत्मार्थी का वास्तविक लक्षण है ॥२९०॥

होज्ज व न व देहबलं, धिइमइसतेण जइ न उज्जमसि ।

अच्छिहिसि चिरं कालं, बलं च कालं च सोयंतो ॥२९१॥

शब्दार्थ-भावार्थ - हे शिष्य! दैवयोग से शरीर में ताकत हो या न हो, फिर भी तू धैर्य, बुद्धिबल और उत्साह के साथ धर्म में उद्यम नहीं करेगा तो बाद में अफसोस करेगा— "हाय! अब तो शरीर में ताकत न रही। यह धर्मकाय आज तो नहीं हो सकता, कल करूंगा; यों विचार करते-करते चिरकाल तक तू संसार में परिभ्रमण करता रहेगा।" अर्थात् धर्म की आराधना नहीं करने से तुझे बाद में बहुत अर्से तक

पछताना पड़ेगा— "आह! अब क्या करूँ! अब तो शरीर में शक्ति नहीं रही," इस प्रकार तुझे अफसोस करने का समय आयेगा ॥२९१॥

लद्धेल्लयं च बोहिं, अकरितोडणागयं च पत्थितो ।

अत्रं दाइं बोहिं, लब्धिसि कयरेण मोल्लेणं? ॥२९२॥

शब्दार्थ- भावार्थ - 'हे मूर्ख! तू इस जन्म में जिनधर्म प्राप्त करके उसका आचरण नहीं करता और अगले जन्म में मुझे जिनधर्म प्राप्त हो,' ऐसी प्रार्थना कर रहा है। भला, दूसरे जन्म में वह धर्म कहाँ से मिलेगा; जबकि इस जन्म में प्राप्त सामग्री का यथाशक्ति उपयोग नहीं किया? इस जन्म में प्राप्त साधनों का यथोचित उपयोग करने वाला ही आगामी जन्म में उस सुख को प्राप्त कर सकता है ॥२९२॥

पुनः धर्म में उद्यमरहित पुरुषों को उपदेश देते हैं—

संघयण-कल्लबल-दूसमारुपालंबणाइ धितूणं ।

स्वयं चियं निधमधुरं, निरुज्जमाओ पमुव्वन्ति ॥२९३॥

शब्दार्थ - निरुद्यमी आलसी जीव, 'अब तो पहले आरे जैसा बलवान संघयण नहीं है, अब तो दुष्काल है' प्रथम आरे जैसा आज बल नहीं रहा; इस समय पांचवां आरा चल रहा है, और निरोगी शरीर नहीं है, इसीलिए धर्म कैसे हो सकता है? इस प्रकार के आलंबनों का सहारा लेकर प्राप्त हुए चारित्र, क्रिया, तप आदि सर्व नियमों को छोड़ बैठता है। ऐसा प्रमादी जीव स्व पर का विनाश करता है। परंतु ऐसे आलंबनों की ओट लेना ठीक नहीं है। समयानुसार आलस्य छोड़कर यथाशक्ति धर्म में उद्यम करना चाहिए ॥२९३॥

कालस्स य परिहाणी, संयमं जोगाइं नत्थि खित्ताइं ।

जयणाए वट्ठियव्वं, न हु जयणा भंजए अंगं ॥२९४॥

शब्दार्थ - "काल दिनोंदिन हीन (पतन का) चला आ रहा है और संयम के योग्य ऐसे क्षेत्र भी वर्तमान में नहीं रहे, इसीलिए क्या करना चाहिए?" इस प्रकार के शिष्य के प्रश्न के उत्तर में गुरुमहाराज कहते हैं— "यतना पूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए। यतना रखने से अवश्य ही चारित्र रूपी अंग का विनाश नहीं होता। इसीलिए यतना पूर्वक यथाशक्ति चारित्र पालन में उद्यम करना चाहिए" ॥२९४॥

समिई-कसाय-गारव-इंदिय-मय-बंभचेरगुत्तीसु ।

सज्जाय-विणय-तव-सत्तिओ अ जयणा सुविहियाणं ॥२९५॥

शब्दार्थ - सुविहित मुनियों की जयणा-यतना कर्तव्य करण-अकर्तव्य त्याग निम्न स्थानों में, कार्यों में होती है—१. सदा इयाँदि पांच समिति का पालन करना,

२. क्रोधादि चार कषायों को रोकना, ३. ऋद्धि, रस और साता इन तीन गारवों (गर्वों) का निवारण करना, ४. पांच इन्द्रियों को वश करना, ५. आठ प्रकार के मदों का त्याग करना, ६. नौ प्रकार की ब्रह्मचर्यगुति का पालन करना, ७. वाचना आदि पांच प्रकार का स्वाध्याय करना, ८. दस प्रकार का विनय करना, ९. बाह्य और आभ्यन्तर-भेद से बारह प्रकार का तप करना, तथा १०. अपनी शक्ति को नहीं छिपाना, (यह द्वार गाथा है अब क्रमशः द्वारों का वर्णन करते हैं) ॥२९५॥

आगे की गाथा में यतना का ही निर्देश करते हैं—

जुगमिततरदिष्टी, पयं-पयं चक्षुणा विसोहिता ।

अव्यक्त्रिताउत्तो, इरियासमिओ मुणी होइ ॥२९६॥

शब्दार्थ - मार्ग में चलते समय गाड़ी के जुड़े जितने फासले तक (चार हाथ प्रमाण क्षेत्र के अंदर) दृष्टि रखने वाले, कदम-कदम पर आँखों से भूमि का अच्छी तरह अवलोकन करने वाले तथा शब्दादिविषयों से रहित स्थिर मन वाले होने से धर्मध्यान में ही रहने वाले मुनि इर्यासमिति-पालक कहलाते हैं ॥२९६॥

कज्जे भासइ भासं, अणवज्जमकारणे न भासइ य ।

विगहविसुतियपरिवज्जिओ, य जइ भासणासमिओ ॥२९७॥

शब्दार्थ - मुनिराज काम पड़ने पर उपदेश, पठन-पाठनादि विशेष काम पड़ने पर निरवद्य भाषा बोलते हैं, बिना कारण वे नहीं बोलते। चार विकथाएं और संयम की विराधना के कारणभूत विरुद्ध वचन नहीं बोलते। ऐसे दुर्वचनों का वे चिन्तन भी नहीं करते। ऐसे मुनि भाषासमिति बोलने में यतनाशील (सावधान) कहलाते हैं ॥२९७॥

बायालमेसणाओ, भोयणदोसे य पंच सोहेइ ।

सो एसणाइसमिओ, आजीयी अन्नहा होइ ॥२९८॥

शब्दार्थ - जो बयालीस प्रकार के एषणा संबंधी आहार-दोष तथा संयोग आदि पांच प्रकार के भोजन करने के दोषों से बचकर शुद्ध आहार करता है; वह साधु एषणा-समितिवान (आहार में उपयोग वाला) कहलाता है। इससे विपरीत जो अशुद्ध और दोष युक्त आहार लेता है, वह आजीविकाकारी कहलाता है। अर्थात् वह साधुवेष धारण करके सिर्फ पेट भरने वाला कहलाता है ॥२९८॥

पुच्छिं चक्षुपरिक्खिय, पमज्जिउं जो ठवेइ गिण्हइ वा ।

आयाणभंडमतनिकखेवणाए समिओ मुणी होइ ॥२९९॥

शब्दार्थ - जो मुनि पहले आँखों से अच्छी तरह देखभाल कर और फिर

रजोहरणादि से प्रमार्जन (पूँज) कर कोई भी वस्त्र-पात्र आदि वस्तु भूमि पर रखता है, अथवा भूमि पर से उठाता (ग्रहण करता) है, वह मुनि आदान (भूमि पर से वस्तु-ग्रहण) भंड (उपकरण) निक्षेपणा (पृथ्वी पर रखने की) समिति से युक्त कहलाता है ॥२९९॥

उच्चारपासवणश्चैलजल्लसिंघाण य पाणविही ।

सुविवेइए पएसे, निसिरंतो होइ तस्समिओ ॥३००॥

शब्दार्थ - बड़ी नीति (शौच), लघुनीति (मात्रा), कफ आदि मुख का मैल, शरीर का मैल पसीना आदि, नाक का मैल (लीट) तथा अशुद्ध आहार-पानी आदि को जीवजंतु रहित निर्दोष स्थान में अच्छी तरह देखभाल कर विवेक से परिष्ठापन करते (डालने) वाला मुनि पारिष्ठापनिकासमितिपालक कहलाता है ॥३००॥

कोहो, माणो, मत्था, लोभो हासो, रई य अरई य ।

सोगो, भयं दुगंछा, पच्चक्खकली इमे सब्बे ॥३०१॥

शब्दार्थ - 'क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा ये सारे प्रत्यक्ष क्लेश के कारण और अनर्थकारी हैं' ॥३०१॥ अब प्रथम क्रोध के पर्यायवाची शब्द और उसका स्वरूप बताते हैं-

कोहो, कलहो खारो, अवरुप्परमच्छरो अणुसओ अ ।

चंडत्तणमणुवसमो, तामसभावो य संतावो ॥३०२॥

निच्छोडण निब्भंच्छण, निरणुवत्तित्ठणं असंवासो ।

कयनासो अ असम्मं, बंधइ घणचिक्कणं कम्मं ॥३०३॥

शब्दार्थ - क्रोध-अप्रीति, झगड़ा, परस्पर डाह या दुष्ट आशय रखना, तामस भाव रखना, संताप (खेद), भौंहें चढ़ाना, मुंह चढ़ाना, उपशम का अभाव और क्रोध से आत्मा को मलिन करना, दूसरे को डांटना, मारना-पीटना, दूसरे की इच्छानुसार नहीं चलना, रोष के कारण किसी के साथ न रहना, किसी के किये उपकार को बिलकुल धो डालना और विषय भावों में मग्न रहना; ये सभी क्रोध के फल स्वरूप होने से क्रोध के ही पर्यायवाची शब्द हैं। इनसे जीव अत्यंत कटुरस वाले निकाचित (चिकने) कर्म बांधता है। इसीलिए क्रोध का त्याग करना चाहिए ॥३०२-३०३॥

माणो मय-हंकारो, परपरिवाओ य अतउक्करिमो ।

परपरिभवो वि य तहा, परस्स निंदा असूया य ॥३०४॥

हीला निरोवयारित्तणं, निस्वणामया अविणओ य ।

पर गुणपच्छायणया, जीवं पाडित्ति संसारे ॥३०५॥ युग्मम्

शब्दार्थ - सामान्य अभिमान, जाति आदि का मद, अहंकार, दूसरे के दोषों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना, अपनी प्रशंसा करना अथवा अपने उत्कर्ष की डींग हांकना, दूसरे का अपमान करना, निंदा करना, दूसरे के गुणों में भी दोष (नुक्स) निकालना, दूसरे की हीन जाति आदि प्रकटकर उसे नीचा दिखाना, किसी का भी उपकार नहीं करना, अक्कड़पन, गुरु को देखकर खड़े नहीं होना, उन्हें आसन आदि नहीं देना; ये सभी मान के ही रूप होने से अभिमान के पर्यायवाचक हैं। इनका सेवन करने से जीव चतुर्गति रूपी संसार में चक्कर खाता है। इसीलिए मान शत्रु का काम करने वाला है, ऐसा समझकर इसका त्याग करें ॥३०४-३०५॥

अब माया के पर्यायवाचक शब्द कहते हैं—

मायाकुडंगपच्छणपावया, कुड-कवडवंचणया ।

सव्वत्थ असव्वमायो, परनिक्खेवावहारो य ॥३०६॥

छल-छोम-संचइयरो, गूढायारत्तणं मई-कुडिला ।

वीसंभघायणं पि य, भवकोडिसण्णु चि नडंति ॥३०७॥ युग्मम्

शब्दार्थ - सामान्य माया, गाढ़ निबिड़ माया, छिपे-छिपे पापकर्म करना; कूट-कपट, धोखेबाजी, ठगी, सर्वत्र अविश्वास, (अत्यंत वहम) असत्प्ररूपणा करना, दूसरे की धरोहर (अमानत) हड़प जाना, छल, अपने स्वार्थ के लिए पागल बनना, माया से गुप्त रहना, कुटिलता, वक्रमति और विश्वासघात करना, ये सभी माया रूप होने से माया के पर्यायवाची हैं। इस माया से जीव सौ करोड़ जन्मों तक संसार में दुःखी होता है। अर्थात्—माया से बांधे हुए कर्म करोड़ों जन्मों में भोगे बिना नहीं छूटते। इसीलिए इसका त्याग करना चाहिए ॥३०६-३०७॥

अब लोभ के समानार्थक शब्द कहते हैं—

लोभो अइसंचयसीलया य, किलिडुत्तणं अइममत्तं ।

कप्पणमपरिभोगो, नट्ट-विणट्ठे य आगल्लं ॥३०८॥

मुच्छा अइबहुधणलोभया य, तव्भावभावणा य सया ।

बोलंति महाघोरे, जम्ममरणमहासमुदंमि ॥३०९॥ युग्मम्

शब्दार्थ - सामान्य लोभ, अनेक किस्म की वस्तुओं का अतिसंचय करना, मन में क्लिष्टता, वस्तु पर अत्यंत ममता, खाने-पीने आदि की उपभोग्य वस्तु पास में होने पर भी अत्यंत लोभवश उसका सेवन न करना और कृपणता के कारण खराब

अन्न को नहीं फेंककर खाना, धान्यादि वस्तु खराब हो जाने पर भी खाकर रोगादि बढ़ाना, (नष्टविनष्ट-सेवन का लोभ) धन पर मूर्च्छा, धन का अत्यधिक लोभ तथा हमेशा लोभ के परिणामों में ही डूबे रहना, लोभ का ही चिंतन करना। ये सभी लोभ के सामान्य-विशेष भेद हैं। ये जीव को महाभयंकर जन्म-मरण के प्रवाह रूपी महासमुद्र में डूबोते हैं ॥३०८-३०९॥ अतः इस दारुण लोभ का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

एग्सु जो न वट्टिज्जा, तेण अप्पा जहट्ठिओ नाओ ।

मणुआण माणणिज्जो, देवाण वि देवयं हुज्जा ॥३१०॥

शब्दार्थ - उक्त सभी कषायविकारों से जो महापुरुष दूर रहता है, उसीने अपनी आत्मा को यथार्थ रूप (शुद्ध रूप) से जाना है। ऐसी निष्कषाय आत्मा मनुष्यों के द्वारा सम्मान्य और इन्द्रादि देवों द्वारा भी पूज्य होती है ॥३१०॥

अब कषायों को सर्पादि की उपमा देकर वर्णन करते हैं—

जो भासुरं भुयंगं, पयंडदाढाधिसं विघट्टेड ।

तत्तो च्विय तस्संतो, रोसभुयंगुव्वमाणमिणं ॥३११॥

शब्दार्थ - अगर कोई व्यक्ति चमकीले महाकाय और दाढ़ में प्रचंड विष वाले किसी सर्प को लकड़ी आदि से छेड़ता है तो उस पुरुष की मौत अवश्यं भावी होती है। इसी प्रकार भयंकर क्रोध रूपी सर्प को जो पुरुष छेड़ता है या भड़काता है, वह संयम रूपी जीवन का नाश करता है। अतः रौद्र सर्प की तरह क्रोध का त्याग करे ॥३११॥

जो आगलेइ मत्तं, कयंतकालोवमं वणगइंदं ।

सो तेणं चिय छुज्जइ, माणगइंदेण इत्थुवमा ॥३१२॥

शब्दार्थ - जिस तरह कोई अज्ञानी मनुष्य साक्षात् यमराज के समान अति भयंकर जंगली हाथी को पकड़ ले तो वह उसका चकनाचूर कर देता है; उसी तरह अभिमान रूपी हाथी महाभयंकर है, वह समता रूपी स्तंभ को तोड़ने आदि के रूप में अनर्थ करता है। इसलिए उसका त्याग करे ॥३१२॥

धिसवल्लीमहागणं, जो पधिसइ साणुवायफरिसधिसं ।

सो अचिरेण विणस्सइ, मायाधिसवल्लीगहणसमा ॥३१३॥

शब्दार्थ - यदि कोई पुरुष विषलता के महावन में प्रतिकूल हवा चलने पर प्रवेश करता है, तो वह उस जहरीली हवा के स्पर्श और गंध से थोड़े समय में ही खत्म हो जाता है। इसी तरह माया भी विषलतामयी अटवी के सदृश महाभयंकर है।

इसके स्पर्शमात्र से ही सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणों का विनाश हो जाता है ॥३१३॥

घोरे भयागरे सागरंमि, तिमि-मगर-गाह-पउरंमि ।

जो पविसइ सो पविसइ, लोभमहासागरे भीमे ॥३१४॥

शब्दार्थ - जो मनुष्य, मच्छ, मगरमच्छ और ग्राहादि जल-जंतुओं से परिपूर्ण महाभय की खान सागर में प्रवेश करता है, वह मरणांत संकट का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। उसी तरह जो जीव लोभ रूपी महासमुद्र में प्रवेश करता है, वह मानो महासमुद्र में डूबकर अत्यंत महाभयंकर अनर्थ को प्राप्त करता है ॥३१४॥

गुणदोसबहुविसेसं, पयं-पयं जाणिऊण नीसेसं ।

दोसेहिं जणो न, विरज्जइ ति कम्माण अहिगारो ॥३१५॥

शब्दार्थ - मोक्ष के हेतु ज्ञानादि गुणों और संसार के हेतु क्रोधादि दोषों के महान अंतर को जो व्यक्ति श्री सर्वज्ञकथित सिद्धांत से कदम-कदम पर पूरे तौर पर जानता है, मगर फिर भी क्रोधादि दोषों से विरक्त नहीं होता, यह उसके कर्म का ही दोष है। अर्थात् जानते हुए भी कर्म के वश दोषों को नहीं छोड़ सकता ॥३१५॥

अट्टहासकेलीकिलतणं हासखिड्ड-जमगरुई ।

कंदप्पं उवहसणं, परस्स न करंति अणगारा ॥३१६॥

शब्दार्थ - घरबार के त्यागी अनगार (साधु) दूसरे लोगों के साथ, दिल खोलकर खिलखिलाकर हंसना, दूसरे के साथ क्रीड़ा करना और किलकारी मारना, (असंबद्ध वचन बोलना), हंसीमजाक में दूसरे के अंग को बार-बार स्पर्श करना, कामोत्तेजक विनोद करना, एक दूसरे के साथ हाथ से ताली पीटना, दूसरे को हंसाना, उपहास (मखौल) करना, मजाक-दिल्लीगी करना; इत्यादि अनर्थों से दूर रहते हैं। वे जानते हैं कि हंस-हंसकर बांधे हुए कर्म रो-रोकर भी नहीं छूटते ॥३१६॥

अब रति के विषय में बताते हैं—

साहूणं अप्परुई, ससरिरपलोयणा तवे अरई ।

सुत्थियवन्नो अइपहरिसो य नत्थी सुसाहूणं ॥३१७॥

शब्दार्थ - साधु आत्मरुचि अर्थात् मुझे ठंड, गर्मी आदि न लग जाय, इस दृष्टि से शरीर के प्रति ममता रखना, मेरा शरीर कितना सुंदर है? यह सोचकर बार-बार आइने में देखना, मेरा शरीर कमजोर हो जायेगा, ऐसा विचार कर तपस्या में अरुचि दिखाना, मैं बहुत सुंदर हूँ, मेरा रंग रूप कितना अच्छा है? इस तरह अपनी प्रशंसा करना और स्वस्थ सुडौल शरीर मिलने या होने पर अत्यंत हर्षित होना, इत्यादि में उत्तम साधु रति (मोह) नहीं करते ॥३१७॥

अब अरति का वर्णन पढ़िए—

उब्बेओ य अरणामओ य, अरमंतिया य अरई य ।

कलमलओ अ अणेगग्गया य, कत्तो सुविहियाणं? ॥३१८॥

शब्दार्थ - सुविहित साधु धर्म-समाधि से उद्विग्न (चलित) होना, पंचेन्द्रिय के विषयों में मन को बार-बार लगाना, धर्मध्यान में विमुखता, चित्त में अत्यंत उद्वेग, विषयों में मन की व्यग्रता और अनेक प्रकार के चपल विचार करना कि मैं यह खाऊँ, यह पीऊँ, यह पहनूँ इत्यादि मानसिक संकल्पों का हेतु अरति है। सुविहित साधु को वह हो ही कैसे सकती है? ॥३१८॥

अब शोक का वर्णन करते हैं—

सोगं संतावं अधिइं च, मज्जं च वेमणस्सं च ।

कारुण्ण-रुन्नभावं, न साहुधम्ममि इच्छंति ॥३१९॥

शब्दार्थ - अपने बारे में मृत्यु का वहम करना, अतिगाढ़ संताप करना कि अरे! मैं किस तरह इस गाँव को या ऐसे उपाश्रय को छोड़ सकूँगा? अधीरता से ऐसा विचार करना, इन्द्रियों का रोध अथवा विकलता, मन की विकलता अर्थात् अत्यंत शोकजन्य क्षोभवश आत्महत्या का विचार करना, सिसक-सिसककर रोना अथवा फूट-फूटकर रोना, यह सब शोक का परिवार है। अपने धर्म में स्थिर साधु इसमें से एक की भी इच्छा नहीं करते ॥३१९॥

अब भय का वर्णन करते हैं—

भय-संखोह-यिसाओ, मग्गविभेओ विभीसियाओ य ।

परमग्गदंसणाणि य, दड्ढधम्माणं कओ हूँति? ॥३२०॥

शब्दार्थ - कायरता के कारण अकस्मात् भयभीत होना, क्षोभ व विषाद, चोरादि को देखकर भाग जाना, दीनता रखना, मार्ग को छोड़कर सिंहादि भय से अन्य मार्ग को पकड़ना, भूतप्रेत आदि से डर जाना (ये दो जिनकल्पी साधु के लिए हैं) भय से अथवा स्वार्थ से अन्य धर्म के मार्ग का प्रशंसात्मक शब्दों में कथन करना, दूसरे के डर से गलत मार्ग बताना। ये सभी भय के ही प्रकार हैं। दृढ़धर्मी साधुओं को ये भय कैसे सता सकते हैं? वे तो भय-रहित निर्भय रहते हैं ॥३२०॥

अब जुगुप्सा का वर्णन करते हैं—

कुच्छा चिलीणमलसंकडेसु, उब्बेओ अणिट्टेसु ।

चक्रव्रुनियत्तणमसुभेसु, तत्थि दब्बेसु दंताणं ॥३२१॥

शब्दार्थ - अत्यंत मलिन पदार्थों को देखकर जुगुप्सा (नफरत) करना, मृत

शरीर, मलिन शरीर अथवा गंदे कपड़े आदि देखकर सिहर उठना, उद्विग्न होना, कीड़ियों के द्वारा भक्षण किये हुए और मृत कुत्ते आदि अशुभ वस्तु को देखकर दृष्टि को फेर लेना, इत्यादि सब जुगुप्सा के ही प्रकार हैं। जुगुप्सा साधुओं के पास भी नहीं फटकनी चाहिए ॥३२१॥

एवं पि नाम ताऊण, मुज्झिमब्बं ति नूण जीवस्स ।

फेडेऊण ण तीरइ, अइबलिओ कम्मसंचाओ ॥३२२॥

शब्दार्थ - पूर्वोक्त कषायों, नोकषायों आदि को प्रसिद्ध जिनवचन से भलीभाँति जानकर भी क्या जीव का मूढ़ बने रहना योग्य है? जरा भी योग्य नहीं। तो फिर किसलिए जीव मूढ़ होता है? उसके उत्तर में कहते हैं—जीव उन कषायों को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता। उसका कारण है—आठ कर्मों के समुदाय का अति बलवान होना। मतलब यह है कि कर्म के परवश होकर यह जीव अकार्य करने में तत्पर हो जाता है ॥३२२॥

जह-जह बहुस्सुओ सम्मओ य, सीसगणसंपरिवुडो य ।

अविणिच्छिओ य समए, तह तह सिद्धंतपडिणीओ ॥३२३॥

शब्दार्थ - जितने-जितने जिसने शास्त्र सुने है, या पढ़े है, जो बहुत-से अज्ञानी लोगों द्वारा सम्मान्य है, जिसने शिष्य परिवार भी बहुत बढ़ा लिया है, किन्तु सिद्धांत के बारे में हमेशा डाँवाडोल रहता है, दृढ़ निश्चयी बनकर सिद्धांत पर अटल नहीं रहता, न उसे कोई अनुभव है, न शास्त्रों का रहस्य ही जानता है तो उसे सिद्धांत (धर्म) का शत्रु समझना। क्योंकि ऐसे अनिश्चयी साधक के कारण धर्म-शासन की निंदा या बदनामी होती है। तत्त्वों का विज्ञ यदि अल्पश्रुत (थोड़े शास्त्र पढ़ा) हो तो भी आराधक है; किन्तु बहुश्रुत (अनेक शास्त्रों को पढ़ा हुआ) होने पर भी वह तत्त्वज्ञ न हो तो वह मोक्षमार्ग का आराधक नहीं, अपितु विराधक है ॥३२३॥

अब ऋद्धिगौरव (गर्व) के विषय में कहते हैं—

पवराइं वत्थपायासणोचगरणाइं, एस विभवो मे ।

अवि य महाजणनेया, अहं ति अह इड्ढिगारविओ ॥३२४॥

शब्दार्थ - ममता में मूढ़ बना हुआ साधु ये श्रेष्ठ वस्त्र, पात्र, आसन और उपकरण आदि मेरी संपत्ति है, तथा मैं महाजनों, बड़े-बड़े धनाढ्यों, अग्रगण्यों तथा साधु-साध्वियों आदि का नेता हूँ, ऐसा विचार करने वाला ऋद्धिगौरव से युक्त कहलाता है। अथवा उसकी प्राप्ति न हो तो उस ऋद्धि की इच्छा करना भी ऋद्धिगौरव कहलाता है ॥३२४॥

अब रसगौरव के बारे में कहते हैं—

अरसं विरसं लूहं, जहोवदन्नं च निच्छेय भोतुं ।

निद्धाणि पेसलाणि य, मग्गइ रसगारवे गिद्धो ॥३२५॥

शब्दार्थ - रसगौरव में लोलुप साधु भिक्षा के लिए घूमते समय स्वाभाविक प्राप्त हुए नीरस, जीर्ण, ठंडे, बासी और वाल आदि रुखेसूखे आहार-पानी को खाना नहीं चाहता; परंतु धी आदि से बना हुआ स्निग्ध, स्वादिष्ट, पौष्टिक मनोज्ञ आहार (दाताओं से) मांगता है या उसकी इच्छा करता है। उस साधु को रसगौरव अर्थात् जिह्वा के रस के गौरव में लोलुप जानना ॥३२५॥

अब सातागौरव के बारे में कहते हैं—

सुस्सूसई सरीरं, सयणासणवाहणपसंगपरो ।

सायागारवगुरुओ, दुक्खस्स न देइ अप्पाणं ॥३२६॥

शब्दार्थ - अपने शरीर की शुश्रूषा-स्नानादि से मंडित करने वाला और कोमल गुदगुदाने वाली शय्या तथा बढ़िया, कीमती आसन; पादपीठ और कारण बिना किसी (नदी पार होने आदि) गाढ़ कारण के बहाने से नौका आदि सवारी का उपयोग करने में आसक्ति करने वाला व सातागारव से बोझिल बना हुआ साधु अपने शरीर को जरा भी कष्ट नहीं देता। इसे ही सातागौरव समझना ॥३२६॥

अब इन्द्रियवशीभूत के संबंध में कहते हैं—

तवकुलच्छायाभंसो, पंडिच्चप्फंसणा अणिट्ठपहो ।

वसणाणि रणमुहाणि य, इंदियवसणा अणुहवन्ति ॥३२७॥

शब्दार्थ - इन्द्रियों का गुलाम बना हुआ जीव, बारह प्रकार के तप, कुल और अपनी प्रतिष्ठा का विनाश करता है; ऐसा विषयासक्त जीव अपने पांडित्य को मलिन कर देता है। उसके अनिष्टपथ अर्थात् दीर्घ-संसारमार्ग की वृद्धि होती है; उन्हें अनेक प्रकार के आफतों, कष्टों यहाँ तक कि मृत्यु वगैरह कष्ट तक का सामना करना पड़ता है; किसी समय युद्ध के मोर्चे पर भी जाना पड़ता है। इन्द्रियों के दासों को ये सब दुःखद अनुभव होते हैं ॥३२७॥

सदेसु न रजिज्जा, रुचं दट्ठुं पुणो न विक्खिज्जा ।

गंधे रसे अ फासे, अमुच्छिओ उज्जमिज्ज मुणी ॥३२८॥

शब्दार्थ - संयमधारी साधु, चंदन, इत्र आदि सुगंधित द्रव्यों में, मिष्टान्न या शक्कर आदि मीठे तथा चटपटे, तीखे, खट्टे रसयुक्त पदार्थों के स्वाद में, सुकोमल शय्या आदि के स्पर्श में, वीणा, मृदंगादि की ध्वनि में तथा स्त्री के संगीत के शब्दों में आसक्त न हो तथा मनोहर स्त्री तथा उनके अंगोपांगों का सौंदर्य देखकर बार-बार

मोह-रागबुद्धि से उनके सम्मुख न देखें; न मूर्च्छित हो, अपितु मुनि-मार्ग में रहकर धर्माचरण करने में सदा उद्यम करें ॥३२८॥

निहयाणिहयाणि य इंदियाणि, धाएहडणं पयनेण ।

अहियत्थे निहयाइं, हियकज्जे पूयणिज्जाइं ॥३२९॥

शब्दार्थ-भावार्थ - 'जब इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों पर मुनिवर राग और द्वेष नहीं होने देते, तभी उनकी वे इन्द्रियां वशीभूत हुयी कही जायगी। अन्यथा, इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में दौड़ते रहने से या उनकी प्रवृत्तियों को बिल्कुल रोककर निश्चेष्ट कर देने मात्र से वे वशीभूत हुई नहीं कहलाती। उस समय कदाचित् कुछ वश में होती हैं, कुछ नहीं होती। अतः मुनियो! प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों को वश में करो।' कहने का मतलब यह है कि जिस समय आँखें स्त्रियों के सुंदर अंगोपांगों को देखने के लिए लालायित हो रही हों, कान मधुर, अश्लील शब्दों को सुनने के लिए उद्यत हों, नाक सुगंध लेने के लिए आतुर हो, हाथ-पैर कोमल-कोमल स्पर्श के लिए ललचा रहे हों, जीभ मीठे-खट्टे आदि रसों को चखने के लिए उतारु हो रही हो, यानी इन्द्रियां अहितमार्ग में जाने को उद्यत हों, उस समय तुरंत उन्हें रोककर हितमार्ग में लगाने का प्रयत्न करें। अर्थात्-आँखों को भगवान् के शुभदर्शन में, कानों को उनकी वाणी श्रवण करने में तथा अन्य इन्द्रियों को भी इस प्रकार के शुभ भद्र और कल्याण में लगाएँ। क्योंकि इन्द्रियों को अहितकर मार्ग कार्य में लगाने पर निन्दा होती है और दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है; जब कि अहित-मार्ग से रोककर प्रत्यनपूर्वक हितकर कार्य में लगाने पर यश-कीर्ति बढ़ती है और संसार के बंधनों से मुक्त होकर आत्मा अविनाशीपद प्राप्त करती है ॥३२९॥

अब अभिमान के संबंध में कहते हैं—

जाइ-कुल-रुच-बल-सुय-तव-लाभिस्सरिय-अट्टमयमतो ।

एयाइं चिय बंधइ, असुहाइं बहु च संसारे ॥३३०॥

शब्दार्थ-भावार्थ - ब्राह्मण आदि जातियों का मद, कुल-वंश (खानदान) का अभिमान, शरीरबल का घमंड, रूप-सौभाग्य आदि का गर्व, शास्त्रज्ञान का मद, तपस्या का गर्व, द्रव्यादि प्राप्त होने का अभिमान और ऐश्वर्य-सम्पन्नता का अहंकार; इन ८ मदों में जो मतवाला हो जाता है, वह अवश्य ही संसार में अनेक बार अशुभजाति आदि का संबंध करके उसके फल स्वरूप नीचजाति (गोत्र), नीचकुल, अल्पबल, खराब रूप, अल्पज्ञान, तप करने में दुर्बलता, अल्पलाभ, दरिद्रता आदि प्राप्त करता है ॥३३०॥

जाईए उत्तमाए, कुले पहाणंमि रूपमिस्सरियं ।

बलविज्जाय तवेण य, लाभमणं च जो खिसे ॥३३१॥

संसारमणय्यग्गं, नीयट्ठाणाइं पाचमाणो उ ।

भमइ अणंतं कालं, तम्हाउ मए विवज्जिज्जा ॥३३२॥ युग्मम्

शब्दार्थ - भावार्थ - 'जो मनुष्य अपनी उत्तमजाति' उच्च कुल, मनोहर रूप, महान ऐश्वर्य, अतिबल, अधिक विद्या, तप करने की शक्ति और प्रचुर धन व सुखसामग्री प्राप्त करके अभिमान में चूर होकर अन्य जीवों की निन्दा या बदनामी करता है, उन्हें नीचा दिखाने की चेष्टा करता है, वह चारगति रूप अनंत संसार में जाति आदि की हीनता प्राप्त करके अनंतकाल तक परिभ्रमण करता है। इसीलिए बुद्धिमान पुरुष अभिमान का सर्वत्र त्याग करते हैं ॥३३१-३३२॥

सुट्ट वि जई जयंतो, जाईमयाईसु मुज्झई जो उ ।

सो मेयज्जरिसी जह, हरिएसबलो व्य परिहाइ ॥३३३॥

शब्दार्थ - यदि कोई साधु एक ओर अत्यंत यतनापूर्वक दुष्कर चारित्र्य की आराधना करता हो, परंतु दूसरी ओर जाति आदि आठ मर्दों में चूर रहता हो तो उसे मैतार्य मुनि और हरिकेशीबल साधु की तरह नीच जाति में जन्म लेना पड़ता है ॥३३३॥ इन दोनों मुनियों की कथा पहले आ गयी है।

अब ब्रह्मचर्य की नौ प्रकार की गुप्ति का वर्णन करते हैं—

इत्थिपसुसंकिलिद्धं, वसहिं इत्थीकहं च वज्जंतो ।

इत्थिजणसंनिसिज्जं, निरुचणं अंगुयंगाणं ॥३३४॥

पुव्वरपाणुस्सरणं, इत्थीजणविरहरुवविलवं च ।

अइबहुय अइबहुसो, विवज्जंतो य आहारं ॥३३५॥

यज्जंतो अ विभूसं, जइज्ज इह बंभचेरगुतीसु ।

साहू तिगुत्तिगुत्तो, तिहुओ दंतो पसंतो य ॥३३६॥ - त्रिभिर्विशेषकम्

शब्दार्थ - मन, वचन और काया के योगों (व्यापारों) का निरोध करने वाला, शांत, इन्द्रियों का दमन करने में तत्पर, कषाय को ज्ञान बल से जीतने वाले मुनिराज को ९ प्रकार की ब्रह्मचर्यगुप्ति का आचरण करके ब्रह्मचर्य की रक्षा सावधानीपूर्वक करनी चाहिए। वे ९ प्रकार की गुप्तियाँ इस प्रकार हैं—१. ब्रह्मचारीव्यक्ति, स्त्री, पशु, नपुंसक आदि कामांधजीवों से रहित निर्दोष एकांत स्थान में रहे। २. स्त्री-संबंधी रूप-शृंगार की कथा न करे अथवा केवल स्त्रियों के सम्मुख धर्मकथा भी न करे। ३. जिस स्थान या आसन आदि पर स्त्री बैठी हो उस स्थान या आसनादि

पर दो घड़ी तक न बैठे। ४. स्त्रियों की आँखें, मुख, हृदयादि अंगोपांगों का रागबुद्धि से निरीक्षण न करें। ५. चारित्र-ग्रहण करने के पूर्व गृहस्थाश्रम में की हुई कामक्रीड़ा का कदापि स्मरण न करे। ६. स्त्रियों का विरह-विलाप आदि कान देकर न सुने। ७. गले तक दूंस-दूंसकर अति-भोजन न करे। ८. बहुत प्रकार का स्निग्ध पौष्टिक, गरिष्ठ, स्वादिष्ट भोजन सदा न करें और ९. शरीर को स्नान, विलेपन, शृंगार आदि से न सजायें; ताकि उससे खुद को या दूसरे को कामोत्तेजना न जागे। इस तरह इन ९ दूषणों से दूर रहकर मुनि ब्रह्मचर्य का यथार्थ पालन करे ॥३३४-३३५-३३६॥

गुज्झोरुवयण कक्कधोरु अंतरे, तह थणंतरे दट्ठं ।

साहरइ तओ दिट्ठिं, न बंधइ दिट्ठिए दिट्ठिं ॥३३७॥

शब्दार्थ - साधुपुरुष स्त्री के गुह्य स्थान, (गुप्तांग), जांघ, मुख, कांख वक्षस्थल और स्तनों आदि में से किसी भी अंग पर कदाचित् दृष्टि पड़ जाय तो उसी समय अपनी दृष्टि वहाँ से हटा लेते हैं। स्त्री की दृष्टि से अपनी दृष्टि नहीं मिलाते और किसी कार्यवश मुनि स्त्री से बात भी करते हैं तो नीचा मुख रखकर ही ॥३३७॥

अब स्वाध्याय के संबंध में कहते हैं—

सज्झापण पसत्थं ज्ञाणं, जाणइ य सच्चपरमत्थं ।

सज्झाए चट्ठंतो, खणे खणे जाइ वेरगं ॥३३८॥

शब्दार्थ - शास्त्र-संबंधी, वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा रूप पंचविध स्वाध्याय करने वाला मुनिवर्य प्रशस्त ध्यान में लीन हो जाता है तथा स्वाध्याय से वह सारे परमार्थ (तत्त्व या रहस्य) को अच्छी तरह से जान लेता है। स्वाध्याय करने वाले मुनि को क्षण-क्षण वैराग्य प्राप्त होता रहता है। अर्थात् राग-द्वेष रूपी विष दूर होने से निर्विष हो जाता है ॥३३८॥

उड्ढमह तिरियलोए (तरया), जोइसवेमाणिया य सिद्धी य ।

सच्चो लोगालोगो, सज्झायविउस्स पच्चक्खो ॥३३९॥

शब्दार्थ - स्वाध्याय-वेत्ता मुनि के ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक इन तीनों लोकों का स्वरूप, चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिष्क, वैमानिक देवों का निवास और सिद्धिस्थान, मोक्ष और सर्वलोकालोक का स्वरूप प्रत्यक्षवत् हो जाता है। चौदह रज्जूप्रमाण लोक और इससे भिन्न अपरिमित अलोक का स्वरूप भी स्वाध्याय के बल से मुनि जान जाता है ॥३३९॥

जो निचचकालतयसंजमुज्जओ, न वि करेइ सज्झायं ।

अलसं सुहसील जणं, न वि तं ठावेइ साहुपए ॥३४०॥

शब्दार्थ - जो साधु निरंतर तप और पांच आश्रव के निरोध रूप संयम में उद्यत रहता हो, लेकिन अध्ययन-अध्यापन रूपी स्वाध्याय नहीं करता या उससे विमुख रहता है, उस प्रमादी, सुखशील मुनि को लोग साधु मार्ग में साधु रूप में नहीं मानते। क्योंकि 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' अर्थात् ज्ञान और क्रिया इन दोनों से ही मोक्ष प्राप्त होता है। अतः दोनों की आराधना करनी चाहिए ॥३४०॥

अब विनय का वर्णन करते हैं—

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।

विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ॥३४१॥

शब्दार्थ - विनय ही शासन अर्थात् जिनभाषित द्वादशांगों में अथवा संघ में मूल है। विनयगुण से अलंकृत साधु ही संयमी होता है। विनय से रहित साधु के धर्म ही कहाँ और तप ही कहाँ? अर्थात् जैसे मूल के बिना शाखा रह नहीं सकती, वैसे ही विनय के बिना धर्म (संयम) और तप दोनों नहीं टिक सकते ॥३४१॥

विणओ आवहइ सिरिं, लहइ विणीओ जसं च किंति च ।

न क्याइ दुब्बिणीओ, सकज्जसिद्धिं समाणेइ ॥३४२॥

शब्दार्थ - विनयी बाह्य-आभ्यंतर लक्ष्मी को प्राप्त करता है, विनयवान् पुरुष जगत में यश और कीर्ति पाता है। परंतु विनयरहित-दुर्विनित पुरुष अपने कार्य में कभी सिद्धि (सफलता) प्राप्त नहीं कर सकता। यह जानकर सर्व गुणों के वशीकरण विनयगुण की आराधना अवश्य करनी चाहिए ॥३४२॥

अब तप का वर्णन करते हैं—

जह-जह खमइ सरीरं, धुवजोगा जह जहा न हार्यति ।

कम्मक्खओ य विउलो, विवितथा इंदियदमो य ॥३४३॥

शब्दार्थ - जितना-जितना शरीर सहन कर सके; शरीर का बल क्षीण न हो और प्रतिलेखना, प्रतिक्रमण आदि नित्यनियम सुखपूर्वक हो सके, उतना-उतना इच्छा-निरोधयुक्त तप करना चाहिए। 'ऐसा तप करने से विपुल कर्मों का क्षय होता है। यह आत्मा शरीर से भिन्न है तथा यह शरीर आत्मा से भिन्न है; ऐसी आध्यात्मिक भावना जागृत होने से इन्द्रियों का भी दमन अनायास हो जाता है ॥३४३॥

1. सो हु तवो कायवो, जेण मणोऽमंगुलं न चितेइ। जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न सीर्यति॥

जड़ ता असक्कणिज्जं, न तरसि कारुण तो इमं कीस ।

अप्पायत्तं न कुणसि, संजम-जड़णं जईजोगं? ॥३४४॥

शब्दार्थ - हे शिष्य! यदि तू साधुप्रतिमा, तपस्या आदि क्रिया करने में अशक्त है तो इस आत्मा के अधीन साधु-योग्य संयम, यतना और पूर्वकथित क्रोधादि वश करने में क्यों प्रमाद करता है? अर्थात् तपस्या की शक्ति न हो तो क्रोधादि पर विजय पाने का यत्न कर ॥३४४॥

जायंमि देहसंदेहयंमि, जयणाए किंचि सेचिज्जा ।

अह पुण सज्जो य निरुज्जमो य तो संजमो कतो? ॥३४५॥

शब्दार्थ - किसी साधु के शरीर में महारोगादि कष्ट उत्पन्न होने पर यतना पूर्वक सिद्धांत की आज्ञा को लक्ष्य में रखते हुए अपवाद-मार्ग में वह अशुद्ध-आहारादि सेवन करे। परंतु बाद में जब शरीर निरोगी हो जाय, तब भी यदि वह साधु प्रमादी बनकर अपवाद रूप अशुद्ध आहार-पानी ही लेता रहता है; शुद्ध आहार पानी लाने में उद्यम नहीं करता तो उसे संयम कैसे कहा जा सकता है? कदापि नहीं। क्योंकि आज्ञा-विरुद्ध आचरण करना संयम नहीं कहलाता ॥३४५॥

मा कुणउ जड़ तिगिच्छं, अहियासेऊण जड़ तरइ सम्मं ।

अहिधासितस्स पुणो, जड़ से जोगा न हायति ॥३४६॥

शब्दार्थ - यदि साधु के शरीर में कोई व्याधि उत्पन्न हुई हो और वह उसे समभावपूर्वक सहन कर सकता हो, और उसे सहन करते हुए प्रतिलेखना आदि संयम क्रियाओं में कोई अड़चन न आती हो, मन-वचन-काया के योगों (प्रवृत्तियों) में कोई क्षीणता, दुर्बलता या रुकावट न आती हो तो साधु उस व्याधि के निवारण (प्रतीकार) के रूप में श्रीसनतकुमार चक्रवर्ती की तरह औषधोपचार (इलाज) न करावे। यदि वह रुग्ण साधु उस महारोग को सहन न कर सके अथवा सहन करने से उसकी संयम-करणी में बाधा पहुँचती हो तो वह उसकी योग्य चिकित्सा करावे ॥३४६॥

तिच्छं पवयणसोहाकराण, चरणुज्जयाण साहूणं ।

संघिग्गविहारीणं, सब्बपयत्तेण कायव्वं ॥३४७॥

शब्दार्थ - सदा प्रवचन (जिनशासन) की प्रभावना (शोभा) बढ़ाने वाले, चारित्र्य पालने में उद्यत और मोक्षाभिलाषा से विहार करने वाले साधु को सभी प्रयत्नों से पूरी ताकत लगाकर सेवाभक्ति करनी चाहिए। क्योंकि साधुओं की सेवा से शीघ्र आत्मकल्याण होता है ॥३४७॥

हीणस्स वि सुद्धपरुवगस्स, नाणाहियस्स कायव्वं ।

जणचित्तग्गहणत्थं, करिंति तिगावसेसे वि ॥३४८॥

शब्दार्थ - कोई साधु सिद्धांत (शास्त्र) के ज्ञान की विशुद्ध प्ररूपणा करने वाला हो, किन्तु संयममार्ग की क्रिया में शिथिल हो, फिर भी उसकी सेवा करना उचित है। उस समय मन में यों सोचना चाहिए कि और

लोगों को धन्य है कि स्वयं गुणवान होने पर भी वे उपकारबुद्धि से निर्गुणी की भी सेवा (वैयावृत्य) करते हैं, इस तरह लोगों के चित्त का समाधान व संतोष करने के लिए भी कोरे वेषधारी की सेवा करे। क्योंकि अन्य भोले लोगों के दिल में ऐसा विचार न उठे कि यह साधु परस्पर जलते हैं, अपने समवेषी की भी सेवा नहीं करते॥३४८॥

अब लिंग (वेष) धारी साधु का स्वरूप बताते हैं—

दगपाणं पुष्पफलं, अणसणिज्जं गिहत्यकिच्चाइं ।

अजया पडिसेवन्ति, जइवेसयिडंबगा नवरं ॥३४९॥

शब्दार्थ - असंयमी-शिथिलाचारी सचित्त जल का सेवन करते हैं, सचित्त फल-फूल आदि का उपभोग करते हैं, आधाकर्मी आदि दोषों से युक्त आहारादि ग्रहण करते हैं; गृहस्थ के समान आरंभ-समारंभ आदि सावद्यकर्म करते हैं और संयम के प्रतिकूल आचरण करते हैं। वे साधुवेष की केवल विडंबना (बदनाम) करने वाले हैं। वे थोड़ा-सा भी परमार्थ सिद्ध नहीं कर सकते ॥३४९॥

ओसन्नपा अबोही, य पययणउब्भावणा य बोहिफलं ।

ओसन्नो वि वरं पिहु, पययणउब्भावणापरमो ॥३५०॥

शब्दार्थ-भावार्थ - साधुधर्म की मर्यादा के विरुद्ध उपर्युक्त आचरण करके जो भ्रष्टचारित्रि हो जाता है, वह इस जन्म में प्रत्यक्ष अपमानित व निदिन्त होता ही है, अगले जन्म में भी उसे बोधि (सद्धर्म के ज्ञान) की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि प्रवचन (शासन) की प्रभावना ही बोधिफल का कारण है। इसीसे आत्मार्यों मुनिवर की उन्नति हो सकती है। प्रवचन की निन्दा या बदनामी करके उसे नीचा दिखाने से बोधिलाभ नहीं हो सकता। मगर यदि कोई साधक किसी प्रबलकर्म के कारण संयममार्ग में शिथिल हो गया, लेकिन भवभीरु है, आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) करता है और आत्मार्यों मुनियों की प्रशंसा करता है, सिद्धांत की शुद्ध प्ररूपणा करके प्रवचन-प्रभावना करता है, तो वह भी श्रेष्ठ समझा जाता है ॥३५०॥

गुणहीणो गुणरयणापरेसु, जो कुणइ तुल्लमप्पाणं ।

सुतयस्सिणो अ हीलइ, सम्मतं कोमलं (पेलवं) तस्स ॥३५१॥

शब्दार्थ - जो चारित्र आदि गुणों में स्वयं हीन हो, फिर भी साधु-गुणों के समुद्र रूप साधुओं के साथ अपनी तुलना करता है। अर्थात् अपनी बड़ाई करके डीक

हांकता है कि 'हम भी उत्कृष्ट साधु हैं? हम उनसे किस बात में कम हैं,' वह अच्छे सुसाधुओं तपस्वियों की हीलना (बदनामी) करता है। (उस में सम्यक्त्व हो तो) उसका सम्यक्त्व नाजुक है; किसी समय भी टूट सकता है ॥३५१॥

ओसन्नस्स गिहिस्स व, जिणपवयणतिव्वभावियमइस्स ।

कीरइ जं अणवज्जं, दढसम्मत्तस्सउवत्थासु ॥३५२॥

शब्दार्थ - जो जिनेश्वर भगवान् के प्रवचन (धर्मसंघ) के प्रति अत्यंत भावितमति (अनुरक्त) है और जिसका सम्यक्त्व दृढ़ है, वह अगर शिथिलाचारी, पासत्थादि साधु हो अथवा श्रावक, उसकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और अपवाद आदि कारणवश सेवा भी की जाय तो कोई दोष नहीं है ॥३५२॥

पासत्थोसन्नकुसीलणीयसंसत्तजणमहाछंदं ।

ताऊण तं सुविहिंसा, सव्वपयत्तेण वज्जिंति ॥३५३॥

शब्दार्थ - ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भलीभांति आराधना न करने वाला (पासत्थ), चारित्र में शिथिलाचारी (अवसन्न), शीलाचार से भ्रष्ट (कुशील), अविनयपूर्वक पढ़ने व ज्ञान की विराधना करने वाले (नीच), जहाँ जैसा संग मिले वहाँ उसकी संगति से वैसा बन जाने वाला (संसक्त) और अपनी स्वच्छन्द (उच्छृंखल) बुद्धि से कल्पना करके उत्सूत्र प्ररूपणा करने वाला (यथाच्छंदी); इन सबका भलीभांति स्वरूप जानकर सुविहित साधु सर्व-उपायों से उनसे दूर रहते हैं। क्योंकि उनका चारित्र नष्ट होने के कारण उनका संग करने योग्य नहीं ॥३५३॥

अब पार्श्वस्थादि के लक्षण कहते हैं—

बायालमेसणाओ, न रक्खइ धाइसिज्जपिंडं च ।

आहारेई अभिक्खं, विगईओ सन्निहिं खाइ ॥३५४॥

शब्दार्थ - जो आहार के बयालीस दोषों से नहीं बचता; दोषयुक्त आहार लेता है, धात्रीपिंड (किसी बच्चे को खिलाने पर जो आहार मिले वह) ले लेता है तथा शय्यातरपिंड भी ग्रहण कर लेता है, बिना ही कारण हमेशा दूध, दही, घी आदि विकृति-(विगई) जनक पदार्थों को खाता है तथा जो बार-बार खाता रहता है, रात-दिन चरता रहता है, या दिन में लाकर रात को रखता है; उस संचित पदार्थ को दूसरे दिन में खाता है; वह पार्श्वस्थ कहलाता है ॥३५४॥

सूरप्पमाणभोई, आहारेई अभिक्खमाहारं ।

न य मंडलीई भुंजइ, न य भिक्खं हिंडई अलसो ॥३५५॥

शब्दार्थ - जो सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक पूरे दिन भर खाता रहता है,

साधुओं की मंडली (मंडल) में साथ बैठकर आहार नहीं करता; परंतु अकेला ही भोजन करता है, तथा आलस्यवश भिक्षा के लिए सब जगह नहीं घूमता; या अपने स्थान पर ही गृहस्थ से आहार मंगवा लेता है, या खास-खास थोड़े-से घरों से आहार ले आता है ॥३५५॥

कीबो न कुणइ लोयं, लज्जइ पडिनाइ जल्लमवणेइ ।

सोवाहो य हिंडइ, बंधइ कडिपट्टयमकज्जे ॥३५६॥

शब्दार्थ - जो मन का दुर्बल होकर केशों का लोच नहीं करता; जिसे कायोत्सर्ग आदि व प्रतिमा करने में लज्जा आती है, जो शरीर का मैल हाथ से या जल से उतारता है, जूते पहनकर चलता है और बिना ही कारण कमर पर चोलपट्टा बांधता है ॥३५६॥

गामं देसं च कुलं, ममायए पीढफलपडिबद्धो ।

घरसरणेसु पसज्जइ, विहरइ य सक्किणो रिक्को ॥३५७॥

शब्दार्थ - किसी या किन्हीं गाँव, नगर, देश (राष्ट्र) और कुल आदि को, 'ये मेरे हैं' इस प्रकार अपने मानकर जो उन पर ममता (आसक्ति) रखता है; चौकी (बाजोट), पट्टा (तख्त) आदि का इतना मोह है, उन्हें छोड़ने को या उनके बिना एक दिन भी चला लेने को जिसका जी नहीं चाहता; मकान (घर, उपाश्रय, भवन, सदन आदि) की मरम्मत कराने या नया बनवाने आदि में जो आसक्त रहता है; रातदिन जो उसी की चिन्ता करता रहता है; अपने पास या अपने नाम से या अपने भक्तों के पास अपने स्वामित्व का सोना आदि परिग्रह रखने पर भी जो स्वयं को निग्रिथ या द्रव्यत्यागी कहलवाता हुआ विचरता है ॥३५७॥

नह-दंत-केसरोमे, जमेइ उच्छोलधोयणो अजओ ।

वहइ य पलियंकं, अइरेगपमाणमत्थुरइ ॥३५८॥

शब्दार्थ - जो नख, दांत, सिर के बाल और शरीर के रोमों को संवारता-सजाता है; जो गृहस्थ के समान काफी मात्रा में पानी लेकर हाथ-पैर आदि अंगों को धोता है; यतनारहित रहता है, पलंग, गद्दे, तकिये, बिस्तर आदि का उपयोग करता है और जो प्रमाण (नाप) से अधिक संथारा (शयनासन), उत्तरपट्टा आदि वस्त्रों का उपयोग करता है ॥३५८॥

सोचइ य सब्बराइं, नीसट्टमचेयणो न वा झरइ ।

न पमज्जंतो पविसइ, निसिहियावस्सियं न करेइ ॥३५९॥

शब्दार्थ - जो सारी रात बेमर्याद बेखटके, निश्चित और गाफिल होकर चेतनारहित, जड़ काष्ठ की तरह सोया रहता है और स्वाध्याय आदि नहीं करता, रात को अंधेरे में रजोहरण आदि से प्रमार्जन किये बिना ही उपाश्रय में घूमता है तथा प्रवेश करते समय 'निस्सीही निस्सीही' और निकलते समय 'आवस्सही आवस्सही' उच्चारण करने इत्यादि साधु-समाचारी का पालन नहीं करता ॥३५९॥

पायपहे न पमज्जइ, जुगमायाए न सोहए इरियं ।

पुढधीदग अणिमारुयवणस्सइतसेसु निरविकम्भो ॥३६०॥

शब्दार्थ - जो मार्ग में चलते समय, ग्राम की सीमा में प्रवेश करते समय अथवा गाँव से निकलते समय पैरों का प्रमार्जन नहीं करता, गाड़ी के जुड़े के जितना दूर यानी चार हाथ जमीन तक दृष्टि रखकर इर्याशोधन करते हुए नहीं चलता, पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन ६ जीविकायों की विराधना करते हुए जो मन में जरा भी संकोच नहीं करता। निःशंक होकर जो यहाँ-वहाँ सर्वत्र घूमा करता है ॥३६०॥

सच्चं थोचं उयहिं न पेहए, न य करेइ सज्झायं ।

सहकरो, झंझकरो, लहुओ गणभेयतत्तिल्लो ॥३६१॥

शब्दार्थ - जो सब से छोटी उपधि (उपकरण) मुख-वस्त्रिका है, उसकी भी प्रतिलेखना नहीं करता; अन्य वस्त्रों का तो कहना ही क्या? दिन को स्वाध्याय नहीं करता, रात को जोर-जोर से ऊँचे स्वर से स्वाध्याय करता है, दूसरों के साथ कलह-क्लेश करता रहता है, अत्यंत तुच्छ स्वभाव वाला है जिसमें गंभीरता का गुण नहीं है और जो गच्छ (समुदाय) में फूट डालने और झगड़ा करने में तत्पर रहता है ॥३६१॥

खित्ताईयं भुंजइ, कालाईयं तहेव अविदिन्नं ।

गिण्हइ अणुइयसूरे, असणाई अहव उवगरणं ॥३६२॥

शब्दार्थ - जो दो कोस से उपरांत (दूर) क्षेत्र में आहार-पानी ले जाकर उसका सेवन करता है तथा तीन प्रहर से उपरांत काल तक आहार रखकर खाता है, किसी के द्वारा नहीं दिये हुए आहारादि का उपभोग करता है, सूर्योदय के पहले अशनादि चार प्रकार के आहार ले लेता है। ऐसे लक्षणों वाला साधु पासत्थादि कहलाता है ॥३६२॥

ठवणकुले न ठवेई, पासत्थेहिं च संगयं कुणइ ।

निच्चामवज्झाणरओ, न य पेहपमज्जणासीलो ॥३६३॥

शब्दार्थ - जो स्थापनाकुल अर्थात् वृद्ध, ग्लान, रुग्ण आदि साधुओं की अत्यंत भक्ति करने वाले श्रावक के घर से बिना ही कारण आहार लेने जाता है, ऐसे घर से आहार लेने से रुकता नहीं; आचारभ्रष्ट साधुओं का संग करता है; हमेशा दुर्व्यय में तत्पर रहता है और दृष्टि से देखकर या रजोहरणादि से प्रमार्जन करके भूमि पर वस्तु रखने का आदि नहीं है ॥३६३॥

रीषइ य दयदयाए, मूढो परिभवइ तहय रायणिए ।

परपरियायं गिणहइ, निट्ठुरभासी विगहसीलो ॥३६४॥

शब्दार्थ - और बिना ही उपयोग के जो जल्दी-जल्दी चलता है और जो मूढ़, ज्ञानादिगुणरत्नों में अधिक दीक्षा ज्येष्ठ का अपमान करता है, उनकी बराबरी करता है, दूसरों की निन्दा करता है, निष्ठुर होकर कठोर वचन बोलता है और स्त्री आदि की विकथाएं करता रहता है ॥३६४॥

चिज्जं मंतं ज्जेगं, तेगिच्छं कुणइ भूइकम्मं च ।

अक्खरनिमित्तजीवी, आरंभपरिग्गहे रमइ ॥३६५॥

शब्दार्थ - जो विद्या=देवी-अधिष्ठित, मंत्र-देवअधिष्ठित, अदृश्य करणादि योग (चूर्ण), औषध-प्रयोग, भूतिकर्म-राख (वासक्षेप) आदि मंत्रित कर गृहस्थ को देता है तथा अक्षरविद्या और शुभाशुभलग्नबलादि निमित्त गृहस्थों को बताकर अपनी आजीविका चलाता है; या प्रतिष्ठा बटोरता है; तथा अधिक उपकरण आदि के संचय रूप परिग्रह में ही अहर्निश आसक्त रहता है ॥३६५॥

कज्जेण विणा उग्गहमणुजाणावेइ, दिवसओ सुयइ ।

अज्जियलाभं भुंजइ, इत्थिनिसिज्जासु अभिरमइ ॥३६६॥

शब्दार्थ - जो बिना प्रयोजन के गृहस्थों को रहने के लिए अवग्रह-भूमि की अनुज्ञा देता है, दिन को सोता है, साध्वियों का लाया हुआ आहार करता है और स्त्री के उठने के तुरंत बाद ही उस स्थान पर बैठ जाता है ॥३६६॥

उच्चारे पासवणे, खेले सिंघाणए अणाउत्तो ।

संधारगउवहीणं, पडिक्कमइ वा सपाउरणो ॥३६७॥

शब्दार्थ - जो वड़ीनीति-लघुनीति (मलमूत्र) थूक, कफादि और नाक का मेल (लीट) आदि असावधानी से यतना के बिना जहाँ-तहाँ परठ (डाल) देता है; तथा संधारा (शय्यासन) अथवा उपधि पर बैठकर प्रतिक्रमण करता है ॥३६७॥

न करेइ पहे जयणं, तलियाणं तह करेइ परिभोगं ।

चरइ अणुबद्धवासे, सपक्खपरपक्खओ माणे ॥३६८॥

शब्दार्थ - जो मार्ग में चलते समय अचित्तजल-गवेषणादिरूप यतना नहीं रखता, पावों में जूते के तलों का उपयोग करता है, और अपने पक्ष के साधु-श्रावकवर्ग में तथा दूसरे पक्ष के अन्य धर्म संप्रदायवालों में अपमान प्राप्त कर वर्षाऋतु में भी विहार करता है ॥३६८॥

संजोयइ अइबहुयं, इंगाल सधूमगं अण्ड्राए ।

भुंजइ रुबबलद्वा, न धरेइ अ पायपुंछणयं ॥३६९॥

शब्दार्थ - जो साधु स्वाद के लिए अलग-अलग पदार्थों को मिलाता है; अतिमात्रा में आहार करता है, रागबुद्धि से स्वादिष्ट आहार करता है और अमनोज व रूखा भोजन मुंह बिगाड़कर खाता है। क्षुधावेदनीय अथवा वैयावृत्य आदि के कारण वगैर ही अपने रूप और बल को बढ़ाने के लिए विविध पौष्टिक धातु आदि रसायनों का सेवन करता है, तथा जयणा के लिए रजोहरण व पादप्रोक्षण भी नहीं रखता ॥३६९॥

अट्टमच्छट्चउत्थं, संवच्छरचाउमासपक्खेसु ।

न करेइ सायबहुलो, न य विहरइ मासकप्पेणं ॥३७०॥

शब्दार्थ - सुख का तीव्र अभिलाषी जो पासत्थादि साधु सांवत्सरिक पर्व पर अट्टम तप (तेला) चातुर्मासिक पर्व पर छट्ठ (बेला) और पाक्षिक (पक्खी) दिन पर चउत्थभक्त (उपवास) आदि तप नहीं करता और न मासकल्प की मर्यादा से नवकल्पी विहार करता है ॥३७०॥

नीयं गिण्हइ पिंडं, एगागिअच्छए गिहत्थकहो ।

पावसुयाणि अहिज्जइ, अहिगारो लोगगहणंमि ॥३७१॥

शब्दार्थ - जो प्रतिदिन एक ही घर से आहार-पानी नियमित ग्रहण करता है, समुदाय में न रहकर अकेला ही रहता है, गृहस्थसंबंधी कथा करता है, पापशास्त्रों-ज्योतिष तथा वैद्यक आदि का अध्ययन करता है तथा लोकरंजन के लिए चमत्कार, कौतुक या लौकिक लोगों की बातों में हों में हों मिलाकर बड़प्पन प्राप्त करता है; परंतु स्वयं संयम क्रिया करके महत्ता प्राप्त नहीं करता ॥३७१॥

परिभवइ उग्गकारी, सुद्धं मग्गं निगूहए बालो ।

विहरइ सायागरुओ, संजमविगलेसु खित्तेसु ॥३७२॥

शब्दार्थ - और जो मूर्खतावश उग्रविहारी मुनियों की निंदा करता है, उपद्रव करता-करता है, लोगों के सामने शुद्ध मोक्षमार्ग छिपाता है और जिस क्षेत्र में सुसाधु नहीं विचरते, उस क्षेत्र में सुखशीलता से घूमता है ॥३७२॥

उग्गाइ गाइ हसइ य असंबुडो, सइ करेइ कंदप्पं ।

गिहिकज्जचित्तगो वि य, ओसन्ने देइ गिण्हइ वा ॥३७३॥

शब्दार्थ - जो गला फाड़कर जोर-जोर से चिल्लाकर गीत गाता है, हंसता है, कामोत्तेजक कथाएँ कहता है, गृहस्थों के गृहस्थसंबंधी कार्यों की चिंता किया करता है और शिथिलाचारी को वस्त्र आदि देता है अथवा उससे लेता है ॥३७३॥

धम्मकहाओ अहिज्जइ, घराघरिं भमइ परिकहंतो य ।

गणणाइपमाणेण य, अइरित्तं वहइ उवगरणं ॥३७४॥

शब्दार्थ - जो केवल लोगों के चित्त को प्रसन्न करने के लिए ही धर्म आदि वैराग्य की कथाएँ पढ़ता रहता है, घर-घर धर्मकथाएँ करता फिरता है। साधुओं के लिए चौदह और साध्वियों के लिए पच्चीस चोलपट्ट आदि उपकरणों की संख्या शास्त्र में कही है; किन्तु प्रमाण से अधिक संख्या में उपकरण संग्रह करके रखता है ॥३७४॥

बारस बारस तिण्णि य, काइपउच्चास्कालभूमिओ ।

अंतो बहिं च अहियासि, अणहियासे न पडिलेहे ॥३७५॥

शब्दार्थ - बारह लघुनीति की भूमियाँ, बारह बड़ीनीति की भूमियाँ और तीन कालों में ग्रहण के योग्य तीन भूमियाँ, इस प्रकार उपाश्रय के अंदर और बाहर कुल मिलाकर सताईस स्थंडिलभूमियाँ हैं। यदि साधु में शक्ति हो तो दूर जाना योग्य है और दूर जाने की शक्ति न हो या सहन न हो सके तो नजदीक की भूमि में मलमूत्रादि का उत्सर्ग करना उचित है। मगर जो उस भूमि का उपयोगपूर्वक प्रतिलेखन नहीं करता, उसे पास्तथादि समझना ॥३७५॥

गीयत्थं सधिग्गं, आपरिअं मुयइ चलइ गच्छस्स ।

गुरुणो य अणापुच्छा, जं किंचि देइ गिण्हइ वा ॥३७६॥

शब्दार्थ - सूत्रार्थ के विशेषज्ञ और मोक्षमार्ग के अभिलाषी अपने आचार्य-महाराज को जो साधु बिना ही कारण के छोड़ देता है, गच्छ के प्रतिकूल बोलता है, तथा गुरुमहाराज की आज्ञा के बिना ही दूसरे से वस्त्रादि ले लेता है अथवा दूसरे को दे देता है ॥३७६॥

गुरुपरिभोगं भुंजइ, सिज्जासंधारउवगरणजायं ।

कित्ति य तुमं ति भासइ, अविणीओ गच्चिओ लुद्धो ॥३७७॥

शब्दार्थ - जो गुरुमहाराज के उपभोग्य शयनभूमि या शयनकक्ष, तृण, संधारा (शयनासन), कपड़ा, कंबल आदि उपकरणों को स्वयं उपयोग में लेता

है और गुरु के बुलाने पर अविनय से अभिमान से, विषयादि में लंपट वह बोलता है, परंतु 'अविनयपूर्वक अभिमान में आकर 'रे तू' आदि तुच्छ शब्दों से बोलता है; 'गुरुदेव' 'आप' भगवन् आदि सम्मान-सूचक शब्दों से नहीं ॥३७७॥

गुरुपञ्चक्याणगिलाण सेहबालाउलस्स गच्छस्स ।

न करेइ नेव पुच्छइ, निद्धम्मो लिंगउवजीवी ॥३७८॥

शब्दार्थ - जो साधु आचार्य, उपाध्याय, गुरुमहाराज, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित, बाल-मुनि और वृद्ध साधुओं आदि गच्छसमुदाय का कुछ भी कार्य नहीं करता, और न दूसरे साधुओं से पूछता भी है कि 'मैं क्या करूँ? मेरे लायक कोई सेवा बताइए;' वह साधु धर्म से रहित है और केवल वेष धारण करके अपनी आजीविका चलाने वाला पार्श्वस्थ साधु है ॥३७८॥

पहगमणवसहि-आहार-सुयणथंडिल्लविहिपरिद्वयणं ।

नापरइ नेव जाणइ, अज्जावट्टावणं चेव ॥३७९॥

शब्दार्थ - जो यतना से मार्ग देखकर चलना, 'निस्सीही पूर्वक' स्वाध्याय-स्थान या उपाश्रय में प्रवेश करना, प्रतिलेखन-प्रमार्जन करना, स्वाध्याय करना, बयालीस दोष रहित आहार लाकर समभाव से खाना, मलमूत्रादि को निर्वोष स्थान पर विवेक से परठना (डालना) अथवा अशुद्ध आहार-पानी, उपकरण आदि परठना; इन सब साध्वाचारों को जानता हुआ भी धर्मबुद्धि रहित होने से आचरण नहीं करता और साध्वियों को धर्म में प्रवृत्त करना नहीं जानता ॥३७९॥

सच्छंदगमण-उट्टाण-सोयणो, अप्पणेण चरणेण ।

समणगुणमुक्कजोगी, बहुजीवस्सयंकरो भमइ ॥३८०॥

शब्दार्थ - अपनी इच्छानुसार स्वच्छन्दता से (बड़ों की अनुमति लिये बिना) जाने-आने, सोने, उठने और स्वमति कल्पित आचार से चलने वाला, ज्ञानादि श्रमणगुणों से रहित, मन-वचन-काया का खुल्ले आम मनमाना उपयोग करने वाला और अनेक जीवों का संहार करने वाला साधु इधर-उधर भटकता रहता है ॥३८०॥

वत्थिव्व वायपुत्तो, परिभमइ जिणमयं अयाणतो ।

थद्धो निव्विन्नाणो, न य पिच्छइ किंचि अप्पसमं ॥३८१॥

शब्दार्थ - भवभ्रमण रोग को मिटाने के लिए औषध के समान जैनधर्म को पाकर भी जो उसे ठीक तरह से नहीं जानता; फिर भी थोड़ासा ज्ञान पाकर हवा से भरी हुई मशक के समान उछलता फिरता है, अभिमान में चूर होकर उच्छृंखलता से स्वच्छंद भटकता है और विशेष ज्ञान-विज्ञान न होने पर भी उद्धत होकर जगत्

में किसी को अपने समान नहीं मानता ॥३८१॥

सच्छंदगमण-उद्गाण-सोयणो, भुंजए गिहीणं च ।

पासत्थाई द्वाणा, हवन्ति एमाइया एए ॥३८२॥

शब्दार्थ - अपने गुरु को पराधीन व अकेले छोड़कर स्वच्छंदता पूर्वक जो इधर-उधर घूमता-सोता-उठता है; तथा गृहस्थों के बीच में भोजन करता है; ये सब लक्षण पार्श्वस्थादि साधु के हैं ॥३८२॥

भावार्थ - यह बात ३८० वीं गाथा में आ चुकी है; फिर भी इस गाथा में दुबारा कहे जाने का कारण 'गुरु-आज्ञा के बिना गुणप्राप्ति नहीं हो सकती,' इस बात को खासतौर से बताते हैं।

यहाँ शंका होती है कि तब फिर इस जगत् में इस काल में कोई सच्चा साधु है ही नहीं? यदि है तो वह कैसा होता है? इस बात का समाधान करने के लिए कहते हैं—

जो हुज्ज उ असमत्थो, रोगेण च पिल्लिओ झुरियदेहो ।

सव्वमवि जहाभणियं, कयाइ न तरिज्ज काउ जे ॥३८३॥

सो वि य निययपरक्कमचवसायधिईबलं अगूहितो ।

मुतूण कुडचरियं, जइ जयइ अवस्स जई ॥३८४॥ युग्गम्

शब्दार्थ - जो साधु स्वाभाविक रूप से असमर्थ-अशक्त हो, अथवा श्वास, ज्वरादि रोग से पीड़ित हो और जिसका शरीर लड़खड़ा रहा हो और इस कारण जिनेश्वर-भगवान् कथित संयम-संबंधी सारी क्रियाओं का यथोक्त रूप से आचरण करने में कदाचित् समर्थ न हो; तथापि वह दुर्भिक्ष और रोगादि आफतों के समय में भी शरीरबल और मनोबल को छिपाता नहीं; कपट का आश्रय छोड़कर, चारित्र्य में यथाशक्ति उद्यम करता रहता है, वही वास्तव में सच्चा साधु संयति कहलाता है ॥३८३-३८४॥

अब मायावी-कपटी साधु का स्वरूप बताते हैं—

अलसो सढोउचलित्तो, आलंबणतप्परो अइपमाई ।

एवंठिओ वि मज्झइ, अप्पाणं सुट्ठिओ मि ति ॥३८५॥

शब्दार्थ - जो धर्मक्रिया करने में आलसी, मायावी, अभिमानी, गलत आलंबन लेने को तैयार रहता हो, तथा निद्रा विकथादि प्रमाद के दोषों से पूर्ण होने पर भी 'मैं अपनी आत्मा में सुस्थिर संयमी साधु हूँ' इस प्रकार अपने आपको मानता है। ऐसे धर्माचरण में मायावी को बाद में पश्चात्ताप करना पड़ता है ॥३८५॥

इस विषय पर कपटक्षपक तापस का दृष्टांत कहा जा रहा है—

जोडयि य पाडेऊणं, मायामोसेहिं खाइ मुद्धजणं ।

तिग्गाममज्झवासी, सो सोयइ कवडखयगु व्य ॥३८६॥

शब्दार्थ - ऐसा कपटी साधु झूठा वचन बोलकर दंभ, द्रोह करने से मायामृषावाद नामक १७ वें पापस्थानक का सेवन कर भोले भाले लोगों को विविध कूटकपट युक्त चेष्टा से आकर्षित करके अपने मिथ्याजाल में फंसा लेता है। ऐसे व्यक्ति को तीन गाँव के मध्य में रहने वाले कपटक्षपक तापस के सदृश पछताना पड़ेगा ॥३८६॥ संप्रदाय परंपरा से सुनी हुई वह कथा ज्यों की त्यों दे रहे हैं—

कपटक्षपक तपस्वी की कथा

उज्जयिनी नगरी में एक अघोरशिव नाम का महाधूर्त ब्राह्मण रहता था। वह महाकपटी, महाधूर्त और महापापी था। इसीलिए राजा ने उसे देश निकाला दे दिया था। अतः वह चमारदेश में गया; वहाँ चोर पत्नी में जाकर चोरों से मिला। उसने चोरों से कहा—‘यदि तुम, लोगों में मेरी प्रशंसा करो तो मैं परिव्राजक-संन्यासी का वेष धारण करके इन तीन गाँवों के बीच में स्थित अटवी में रहूँ और तुम्हें बहुत-सा धन बटोर कर दूँ।’ यह सुनकर चोरों ने उसकी बात मंजूर कर ली। फिर वह ब्राह्मण तापस का वेष धारण करके उन तीनों गाँवों के बीच में रहकर कपटवृत्ति से एक महीने के उपवास करने लगा और वे चोर भी झूठमूठ ही सबको कहने लगे धन्य है, इस महात्मा को! बड़ा पहुँचा हुआ है! यह तपस्वी हमेशा महीने-महीने के उपवास के बाद पारणा करता है। इसे सुनकर सभी भोलेभाले लोग उसकी असलियत न जानने के कारण उसे वंदना-नमस्कार करने लगे और भोजन के लिए अपने घर का आमंत्रण देकर जाने लगे। उसे इच्छानुसार भोजन करवाकर वे पहले अपना घर बताते और फिर अपने घर की बातें बता देते थे। अब तो वे प्रसंग-प्रसंग पर निमित्त आदि पूछने लगे। कपटी तापस भी लग्न के बल से लोगों का भविष्य बता देता था।

वह कपटक्षपक रात को चोरों को बुलाकर स्वयं जो दिन में गृहस्थों के घरों में खुद देखता था, वे सारी बातें उन्हें कह-समझा देता था। चोर उनके घरों की दीवार में सेंध लगाकर चोरी करते जाते थे। इस तरह हमेशा चोरी कराकर उसने तीनों गाँवों के लोगों को निर्धन बना दिया। एक दिन वे चोर एक किसान के घर में सेंध लगा रहे थे, उस समय किसान का लड़का जाग गया। इससे और चोर तो भाग गये; मगर एक चोर पकड़ा गया। अतः वे उसे पकड़कर राजा के

सामने ले गये। राजा ने उस चोर को धमकाया कि सच्ची बात कह दे; नहीं तो तुझे मौत के घाट उतार दिया जायेगा। तब प्राण जाने के भय से चोर ने कहा- “क्षमा करें महाराज! हमें तो कपटक्षपक तापस जो घर बताता है, उसी घर में हम चोरी करते हैं।” अतः राजा ने तापस-सहित उन तमाम चोरों को पकड़ मंगवाया और सभी चोरों को मरवा दिया; केवल एक तापस को जीवित रखा। परंतु उसकी दोनों आँखें निकलवा दी। इससे वह तापस वेदना के मारे छटपटाने लगा। मन में पश्चात्ताप करने लगा कि ‘हाय! धिक्कार है मुझे! मैं ब्राह्मण होकर कपट तापस का वेष धारण कर अनेक लोगों को ठगा। मैंने लोगों को बहुत दुःख दिया, अपनी आत्मा को भी मैंने मलिन बनाया; मैं इस जन्म और अगले जन्म दोनों को हार गया हूँ कोई मनुष्य अशुभकार्य करे तो भी वह निन्दा का पात्र होता ही है; परंतु तपस्वी होकर जो पापकर्म करता है वह तो अत्यंत निन्दा का पात्र होता है और वह अत्यंत मलिन भी है। इस तरह पश्चात्ताप करके अपनी आत्मा को कोसता हुआ वह तापस अत्यंत दुःखी हो गया।

इसी तरह जो जीव धर्मकार्य में कपट करता है, वह अत्यंत दुःखी होता है; यही इस कथा का भावार्थ है ॥३८६॥

अब विराधक का स्वरूप कहते हैं—

एगागी पासत्थो, सच्छंदो ठाणवासि ओसन्नो ।

दुग्माई संजोगा, जह बहुया तह गुरु हूँति ॥३८७॥

शब्दार्थ - १. अपनी स्वच्छंद-मति से एकाकी रहने वाला, २. ज्ञानादि से विमुख (पासत्थ), ३. गुरु की आज्ञा नहीं मानकर स्वच्छंदता से चलने वाला, ४. हमेशा एक ही स्थान पर जमकर रहने वाला और ५. प्रतिक्रमणादि क्रिया में शिथिल रहने वाला इन दोषों के साथ द्विकादिकसंयोग से अर्थात् दो दोष, तीन दोष, चार दोष और पांच दोष। एक दोष एक दोष के साथ ज्यों-ज्यों जुड़ते जाते हैं, त्यों-त्यों दोषों का गुणाकार होता जाता है। और ऐसा साधु जितने-जितने अधिक दोषों का सेवन करता जाता है, उतना-उतना वह अधिकाधिक विराधक होता जाता है ॥३८७॥

अब आराधक का स्वरूप कहते हैं—

गच्छगओ अणुओगी, गुरुसेवी अनियवासि अणियओ गुणाउत्तो ।

संजोएण पयाणं, संजम-आराहगा भणिया ॥३८८॥

शब्दार्थ - १. गच्छ में रहने वाला, २. सम्यग्ज्ञानादि का हमेशा अभ्यास करने में उद्यमी, ३. गुरु की सेवा करने वाला, ४. अनियतवासी अर्थात् मासकल्पादि नियमानुसार विहार करने वाला और ५. प्रतिक्रमणादि सम्यक् क्रियाकांडों में दत्तचित्त

रहने वाला, इन पांचों पदों (गुण) के संयोग से साधु संयम-चारित्र का आराधक कहलाता है। इन गुणों में से जिसमें जितने-जितने अधिक-अधिक गुण होते हैं, वह मुनि उतना-उतना अधिकाधिक आराधक होता जाता है ॥३८८॥

निम्मम-निरहंकारा, उचउत्ता नाणदंसणचरिते ।

एगक्खित्ते चि ठिया, ख्वंति पोरणयं कम्मं ॥३८९॥

शब्दार्थ - ममता से रहित, अहंकार रहित, अवबोध रूप ज्ञान में, तत्त्वश्रद्धान रूप दर्शन में और आश्रव का निरोध-संवर ग्रहण-रूप चारित्र में सावधान (उपयोगयुक्त महान् आत्मा) साधु एक क्षेत्र में रहते हुए भी पूर्वजन्म में संचित किये हुए ज्ञानावरणीय आदि पुराने कर्मों का क्षय करते हैं ॥३८९॥

जिय-कोह-भाण-माया, जिय-लोभपरीसहा य जे धीरा ।

वुद्धावासे चि ठिया, ख्वंति चिरसंचियं कम्मं ॥३९०॥

शब्दार्थ - जो क्रोध-मान और माया को जीत चुके हैं, जो लोभ संज्ञा से रहित हैं और जिन्होंने क्षुधा-पिपासा आदि बाईस परिषद्ओं को जीत लिया है; ऐसे धीर और आत्मबली साधु वृद्धावस्था में एक स्थान पर रहते हुए भी चिरकाल के संचित ज्ञानावरणादि कर्मों को नष्ट कर डालते हैं। श्रीजिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा है कि सदाचारी मुनि किसी विशेष कारण को लेकर एक स्थान पर भी निवास कर सकते हैं ॥३९०॥

पंचसमिया तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे ।

वाससयं पि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिया ॥३९१॥

शब्दार्थ - पांच समितियों से युक्त, तीन गुप्तिओं से संयम-रक्षा करने वाले, सत्रह प्रकार के अथवा षड्जीवनिकाय की रक्षा रूप संयम का पालन करने वाले, बारह प्रकार के तप करने में उद्यत तथा पांच महाव्रत रूप क्रिया में सदा सावधान रहने वाले मुनि किसी कारणवश सौ वर्ष तक भी एक ही क्षेत्र में रहे तो भी आराधक है। श्रीजिनेश्वर भगवान् की आज्ञा पूर्वक चलने वाले मुनि को एक स्थान पर रहने में कोई दोष नहीं है ॥३९१॥

तम्हा सब्वाणुत्ता, सब्बनिसेहो य पचयणे नत्थि ।

आयं वयं तुलिज्जा, लाहाकंखि च्च चाणियओ ॥३९२॥

शब्दार्थ - ऊपर कही हुई बातों से ज्ञात होता है कि जिनशासन में ऐसा एकान्त विधिनिषेध (सर्वथा ऐसा करना अथवा ऐसा बिल्कुल नहीं करना) नहीं है, क्योंकि जिनशासन स्याद्वादमय है, इसीलिए लाभाकांक्षी वणिक के समान लाभालाभ

का विचारकर करने योग्य कार्य करना और छोड़ने योग्य कार्य छोड़ देना ही ईष्ट है॥३९२॥

भावार्थ - धनाकांक्षी वणिक् जिस वस्तु में लाभ देखता है, उस वस्तु को ले लेता है जिसमें नुकसान देखता है, उसे छोड़ देता है। वैसे ही मुनिराज भी लाभालाभ का विचार करते हैं। उन्हें ज्ञानादि का लाभ (आय) और ज्ञानादि की हानि (व्यय) इन दोनों की तुलना करके स्व कर्तव्य कार्य करना चाहिए॥३९२॥

धम्ममि नत्थि माया, न य कवडं आणवत्तिभणियं वा ।

फुडपागडमकुडिल्लं, धम्मवयणमुज्जयं जाण ॥३९३॥

शब्दार्थ - साधुधर्म में माया है ही नहीं; क्योंकि माया और धर्म दोनों में परस्पर विरोध है। धर्म में दूसरे को ठगना भी नहीं होता और कपट से लोकरंजन के लिए मायायुक्त वचन भी नहीं होते। अय भाग्यशाली! धर्मवचन तो स्पष्ट अक्षरों वाले, प्रकट रूप और माया रहित, सरल और मोक्ष के कारण हैं; इसे तू भलीभांति समझ ले ॥३९३॥

न वि धम्मस्स भडक्का, उक्कोडा वंचणा य कवडं वा ।

निच्छम्मो किर धम्मो, सदेवमणुयासुरे लोए ॥३९४॥

शब्दार्थ - और इस शुद्ध धर्म की साधना में कोई आडंबर नहीं है; या कोई बनावट-दिखावट नहीं है, तथा 'यदि तू मुझे अमुक वस्तु दे तो मैं धर्म करूँ' इस प्रकार की सौदेबाजी (तृष्णा) भी नहीं है; दूसरों को ठगने के लिए भी यह धर्म नहीं है परंतु विमानवासी देव, मर्त्यलोकवासी मनुष्य और पातालवासी असुरों सहित तीनों जगत् में धर्म को सर्वत्र निष्कपट निर्दोष ही श्री तीर्थंकर भगवान् ने बताया है॥३९४॥

भिक्षू गीयमगीए, अभिसेए तह य चेव रायणिए ।

एवं तु पुरिसवत्थुं, दव्वाड चउच्चिहं सेसं ॥३९५॥

शब्दार्थ - कोई साधु स्थानांग-समवायांग व छेदसूत्रों का जानकार गीतार्थ हो, अथवा कोई इन शास्त्रों से अनभिज्ञ अगीतार्थ हो, कोई उपाध्याय या आचार्य हो और कोई स्थविरादि या रत्नाधिक होते हैं; उन सभी को इसी तरह ज्ञानादि गुण की दृष्टि से पुरुषार्थ का विचार करना चाहिए और अन्य पदार्थों का भी द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव, इन चारों की अपेक्षा से विचार करना चाहिए। अर्थात्-लाभालाभ का विचार करने वाले को पहले चारों ओर से सभी पहलुओं को लेकर किसी वस्तु के विषय में विचार करना चाहिए ॥३९५॥

- वर्तमान में पत्रिका में सोने की चेन, अंगुठी आदि का प्रलोभन छपाकर धर्म करवाया जाता है। क्या उससे धर्म होता है? चतुर्विध संघ के लिए विचारणीय है।

चरणाङ्गारो दुविहो, मूलगुणे चैव उत्तरगुणे य ।

मूलगुणे छद्वाणा, पदमो पुण नवविहो तत्थ ॥३९६॥

शब्दार्थ - चारित्राचार के दो भेद हैं—मूलगुण और उत्तरगुण। इन दोनों में से भी गुणविषयक चारित्राचार के छह भेद हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य, ५. मूर्च्छारहित अपरिग्रह और ६. रात्रि भोजन का त्याग। उसमें प्रथम अहिंसा महाव्रत में पांच स्थावर (पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय और चार त्रस-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय) इन नौ प्रकार के जीवों की हिंसा का त्रिकरण त्रियोग से त्याग होता है ॥३९६॥

सेसुक्कोसो मज्झिमं जहन्नओ, वा भवे चउद्धा उ ।

उत्तरगुणगविहो, दंसणत्ताणेषु अट्ठट्ठ ॥३९७॥

शब्दार्थ - शेष सत्यादि पांच मूलगुण उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार-चार प्रकार के हैं और उत्तरगुण के तो पिंडविशुद्धि आदि उनके भेद हैं। दर्शन (सम्यक्त्व) के और ज्ञान के आठ-आठ भेद प्रसिद्ध हैं। सर्वज्ञकथित समस्त सदाचार को अच्छी तरह जानकर अतिचारादि दोष रहित चारित्र की आराधना करना ही श्रमणत्व का सार है। अन्यथा ज्ञानशून्य साधक की करणी अंधे की तरह अनर्थकारी है ॥३९७॥

जं जपइ अगीयत्थो, जं च अगीयत्थनिसिओ जपइ ।

वट्ठावेइ य गच्छं, अणंत संसारिओ होइ ॥३९८॥

शब्दार्थ - जो स्थानांगादि तथा छेदसूत्रों के रहस्य को नहीं जानता, वह अगीतार्थ, यदि तप, जप, संयम आदि क्रिया में उद्यम करता है अथवा अगीतार्थ की निश्रा में तप-जपादि क्रिया करता है अथवा स्वयं अगीतार्थ होने पर भी यदि साधुसाध्वी रूप गच्छ को तप-संयम आदि धर्म-क्रियाओं व अनुष्ठानों में प्रेरणा करता है तो वह अगीतार्थ अनंतसंसारी होता है। गीतार्थ मुनि का अथवा उसकी निश्रा में रहकर किया हुआ क्रियानुष्ठान ही मोक्षफल देने वाला हो सकता है ॥३९८॥

यहाँ शिष्य गुरु से पूछता है—

कह उ जयंतो साहु, वट्ठावेई य जो उ गच्छं तु ।

संजमजुत्तो होउ, अणंतसंसारिओ होइ? ॥३९९॥

शब्दार्थ - पूज्य गुरुदेव! यदि कोई साधु तप, जप और संयम में स्वयं उद्यम करता है और गच्छ में उसकी प्रेरणा करता है; इतना होते हुए भी वह संयमयुक्त अगीतार्थ साधु अनंतसंसारी कैसे हो जाता है? उसे अनंतसंसारी क्यों कहा गया? ॥३९९॥

उसके उत्तर में गुरुमहाराज कहते हैं—

द्रव्यं खिलं कालं, भावं पुरिसपडिसेवणाओ य ।

न चि जाणइ अग्गीओ, उस्सग्गववाइयं चेव ॥४००॥

शब्दार्थ - हे शिष्य! स्थानांगादि सूत्रों तथा उत्सर्ग-अपवाद-व्यवहार-प्रायश्चित्त आदि के निर्णायक छेदसूत्रों का रहस्य अध्ययन न किया हुआ अगीतार्थ साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को सम्यक् प्रकार से नहीं जान सकता; इस मनुष्य ने स्वेच्छा से पापसेवन किया है या परवश से पाप किया है? इसे भी वह नहीं जान सकता; उत्सर्ग (अर्थात् सामर्थ्य होने पर शास्त्र में कहे अनुसार ही क्रियानुष्ठान करना) और अपवाद (अर्थात् रोगादिक कारणों के होने पर यतनापूर्वक अल्पदोष का सेवन करना) इस व्यवहार को भी वह नहीं जानता; तो फिर उस अगीतार्थ की संयम-क्रिया या धर्मानुष्ठान कैसे सफल हो सकते हैं? ॥४००॥

जहट्टियदव्व न पाणइ, सच्चिताचित्तमीसियं चेव ।

कप्पाकप्पं च तहा, जुगं वा जस्स जं होइ ॥४०१॥

शब्दार्थ - और अगीतार्थ साधु द्रव्य स्वरूप को यथास्थित यथार्थ रूप से नहीं जानता; और न वह सजीव, अजीव और मिश्रद्रव्य को भी निश्चयपूर्वक जानता है; यह वस्तु संयमी के लिए कल्प्य है या अकल्प्य है? इसे भी वह नहीं जानता; और कौनसी वस्तु बाल-ग्लानादिमुनि के योग्य है, कौन-सी नहीं; इसे भी वह नहीं जानता तो बताओ, उसके चारित्र की सिद्धि कैसे हो सकती है? ॥४०१॥

जहट्टियखिलं न पाणइ, अब्बाणे जणवर अ जं भणियं ।

कालं पि य नचि जाणइ, सुभिक्षदुभिक्षं जं कप्पं ॥४०२॥

शब्दार्थ - अगीतार्थ मुनि संयमानुकूल क्षेत्र को यथास्थित यथार्थ रूप से नहीं जानता; विहार करते हुए मार्ग में वसतिशून्य (निर्जन) स्थान में अथवा जनानुकूल देश में जो विधि शास्त्रों में बतायी है, उसे भी वह नहीं जानता, तथा सुभिक्ष काल और दुर्भिक्ष काल में जिस वस्तु को कल्प्य या जिसको अकल्प्य कही है, उसे भी अगीतार्थ नहीं जानता ॥४०२॥

भावे हट्टगिलाणं, नचि जाणइ गाढगाढकप्पं च ।

सहुअसहुपुरिसं तु, यत्थुमवत्थुं च नचि जाणे ॥४०३॥

शब्दार्थ - भाव से-यह साधु हृष्टपुष्ट है, इसीलिए उसे यह वस्तु देना योग्य है, और यह ग्लान (रोगी) है इसीलिए इसे यह वस्तु ही देना योग्य है, इसे वह नहीं

जानता। विशिष्ट कार्य आ पड़ने पर अमुक प्रकार का व्यवहार करना योग्य है, और स्वाभाविक कार्य में अमुक व्यवहार ही करना योग्य है; यह भी वह नहीं जानता; और यह साधक समर्थ शरीर वाला है या असमर्थ शरीर वाला? अथवा यह समर्थ साधु (आचार्यादि) है, यह असमर्थ (सामान्य साधु है?) इस प्रकार के वस्तुस्वरूप को भी वह नहीं जानता ॥४०३॥

पडिसेवणा चउद्धा, आउट्टिपमायदप्पकप्पे य ।

न वि जाणइ अग्गीओ, पच्छिंत्तं चेव जं तत्थ ॥४०४॥

शब्दार्थ - प्रतिसेवना अर्थात् निषिद्धवस्तु का आचरण चार प्रकार से होता है—१. जानबूझकर इरादतन पाप करना, २. प्रमादवश पाप करना, ३. घमंड से अहंकारवश पाप करना और ४. किसी गाढ़ कारण को लेकर पाप करना। पापसेवन के इन चार प्रकारों (आकुट्टि, प्रमाद, दर्पिक, कल्पिक) के शास्त्रोक्त रहस्य को अगीतार्थ नहीं जानता और उसके योग्य प्रायश्चित्त-विधान को भी वह नहीं जानता ॥४०४॥

जह ताम कोइ पुरिसो, नयणविहूणो अदेसकुसलो य ।

कंताराडविभीमे, मग्गपणट्टस्स सत्थस्स ॥४०५॥

इच्छइ य देसियत्तं, किं सो उ समत्थ देसियत्तस्स? ।

दुग्गाइ अयाणंतो, नयणविहूणो कहं देसे ॥४०६॥ युग्गम्

शब्दार्थ - जैसे कोई नेत्रविहीन अंधा मार्ग को न जानने वाले मनुष्यों को महाभयंकर अटवी में मार्ग भूलने पर बताना चाहे तो क्या वह अंधा मार्ग बताने में समर्थ हो सकता है? कदापि नहीं। क्योंकि वह नेत्रहीन व्यक्ति भला ऊबड़ खाबड़ स्थान को नहीं जानने से कैसे बता सकता है? ॥४०५-४०६॥

एवमग्गीयत्थो वि हु, जिणवयणपईवचक्खुपरिहीणो ।

दव्वाइ अयाणंतो, उस्सग्गववाइयं चेव ॥४०७॥

शब्दार्थ - इसी तरह जो जिनेश्वर भगवन्-कथित वचन-दीपक रूपी नेत्र से रहित अगीतार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव वस्तुओं को और उत्सर्ग तथा अपवाद आदि मार्ग को नहीं जानने से दूसरे को मार्ग कैसे बता सकता है? कथमपि नहीं बता सकता ॥४०७॥

कह सो जयउ अग्गीओ? कह वा कुणउ अग्गीयनिस्साए? ।

कह वा करेऊ गच्छं? सबालवुड्डाउलं सो उ ॥४०८॥

शब्दार्थ - उपर्युक्त अगीतार्थ अपना आत्महित भी कैसे कर सकता है?

अथवा अगीतार्थ के निश्रा में रहने वाले दूसरे साधु भी तप-संयम में यतना कैसे कर सकते हैं? अथवा वह अगीतार्थ अनेक बाल, ग्लान और वृद्धादि से युक्त विशाल साधु-गच्छ को संयम-पालन में प्रेरणा कैसे कर सकेगा? ॥४०८॥

सुते य इमं भणियं, अप्पच्छित्ते य देइ पच्छित्तं ।

पच्छित्ते अइमत्तं, आसायण तस्स महईओ ॥४०९॥

शब्दार्थ - सूत्र (शास्त्र) में इस प्रकार कहा है कि जो अगीतार्थ प्रायश्चित्त के अयोग्य निर्दोष को तपस्यादि प्रायश्चित्त (दंड) देता है और प्रायश्चित्त के योग्य को प्रायश्चित्त नहीं देता अथवा न्यूनाधिक प्रायश्चित्त देता है तो प्रायश्चित्त देने वाले अगीतार्थ का भगवदाज्ञाभंग रूप महा-आशातना-विराधना होती है ॥४०९॥

आसायणमिच्छत्तं, आसायणवज्जणाउ सम्मतं ।

आसायणानिमित्तं, कुब्बइ दीहं च संसारं ॥४१०॥

शब्दार्थ - जिनाज्ञाभंग रूप आशातना करना मिथ्यात्व कहलाता है और आशातना से बचकर जिनाज्ञा-पालन करने को सम्यक्त्व कहा जाता है। जिनाज्ञा की यत्नपूर्वक आराधना करने वाला सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति करता है; परंतु स्वेच्छाचारी जिन-आज्ञा का भंगकर भयंकर आशातना करने वाला होता है, वह चिरकालपर्यंत चारगति रूप संसार में परिभ्रमण करता है ॥४१०॥

एए दोसा जम्हा अगीयंजयंतस्सङ्गीयतिस्साए ।

वट्ठावप गच्छस्स य, जो य गणं देइङ्गीयस्स ॥४११॥

शब्दार्थ - ऊपर बताये कारणों से तप, जप, संयम में यतना करते हुए अगीतार्थ को भी पूर्वोक्त दोष लगते हैं, अगीतार्थ की निश्रा में रहकर तप, जप, संयम करने वाले को भी दोष लगता है और गच्छ को प्रेरणा करने वाले अगीतार्थ को भी दोष लगता है तथा यदि गीतार्थ, या अगीतार्थ (शास्त्ररहस्य से अनभिज्ञ) को आचार्यपद का भार सौंपा जाय तो देने वाले को ये पूर्वोक्त दोष लगते हैं। और जो अगीतार्थ आचार्यपद लेता है उसे भी ये दोष लगते हैं ॥४११॥

अबहुस्सुओ तवस्सी, विहरिउकामो अजाणिऊण पहं ।

अवराहपयसपाइं, काऊण यि जो न याणाइ ॥४१२॥

देसियराइयसोहिय, दयाइयारे य जो न याणेइ ।

अविसुद्धस्स न वड्ढइ, गुणसेढी तित्तिया डाइ ॥४१३॥ पुग्गम्

शब्दार्थ - कोई बहुश्रुत न हो, किन्तु लंबी तपस्या करने वाला हो; मगर यदि मोक्षमार्ग को जाने बिना विहार करना चाहता है तो वह सैकड़ों अपराध (दोष)

करेगा। मगर वह अल्पश्रुत होने से स्वयं उन अपराधों को जान नहीं पायेगा तो फिर वह आत्महित कैसे कर सकेगा? और अल्पश्रुत होने के कारण वह दैवसिक और रात्रिक अतिचारों की शुद्धि और मूल-गुणों के अतिचारों को नहीं जानता; अतः उसकी शुद्धि नहीं हो सकेगी। और जिसके पापों की शुद्धि नहीं होती वह गुणश्रेणी (ज्ञानादि गुणों की परंपरा) में आगे नहीं बढ़ता; जहाँ का तहाँ ही यथा पूर्वीस्थिति में रहता है ॥४१२-४१३॥

अप्यागमो किलिस्सइ, जइ वि करेइ अइदुक्करं तु तवं ।

सुन्दरबुद्धीइ कयं, बहुयं पि न सुंदरं होइ ॥४१४॥

शब्दार्थ - अल्पश्रुत साधु चाहे सुबुद्धि और सद्भावना से मासक्षपणादि अतिदुष्कर तप करे और संयम-आराधना करे, फिर भी वह काया को ही कष्ट दता है। क्योंकि सुबुद्धि से किया हुआ बहुत-सा आचरण भी सुंदर नहीं होता।^१ वस्तुतः शास्त्रज्ञानरहित स्वच्छन्दमति से की हुई कठोर से कठोर क्रिया भी मोक्षफल नहीं दे सकती। वह एक प्रकार का अज्ञानकष्ट ही है ॥४१४॥

अपरिच्छिद्यसुयतिहसस्स, केवलमभिन्नसुतचारिस्स ।

सव्वज्जमेण वि कयं, अन्नाणतवे बहु पडइ ॥४१५॥

शब्दार्थ - जिस साधु ने आगमों का निष्कर्ष नहीं जाना; वह टीका आदि पंचांगी के ज्ञान के बिना केवल सूत्र ही समझकर केवल श्रुत-अक्षर के अनुसार ही चलता है तो वह चाहे कितने उद्यम से क्रियानुष्ठानादि करता है तो भी वह अज्ञानकष्ट रूप ही गिना जाता है ॥४१५॥

इस पर दृष्टांत दिया जा रहा है—

जह दाइयम्मि वि पहे, तस्स विसेसे पहस्सडयाणंतो ।

पहिओ किलिस्सइ च्चिय तह, लिंगायारसुपमितो ॥४१६॥

शब्दार्थ - जैसे किसी मार्ग के जानकार पुरुष द्वारा किसी पथिक को मार्ग बताये जाने पर भी 'वह मार्ग दाएँ हाथ की ओर जाता है या बाएँ?' इस प्रकार मार्ग का विशेष स्पष्ट स्वरूप नहीं जानने से वह पथिक अवश्य ही रास्ता भूलकर खेद करता है। वैसे ही आगम का रहस्य जाने बिना केवल सूत्र के अक्षरमात्र को जानने वाला तथा अपनी बुद्धि से तप-क्रियानुष्ठानादि करने वाला यह साधु भी पथ विशेषज्ञ न होने से उस पथिक की तरह अत्यंत दुःखी होता है ॥४१६॥

कप्पाकप्पं एसणमणेसणं, चरणकरणसेहविहिं ।

पायच्छित्तविहिं पि य, दव्वाइगुणेसु अ समग्गं ॥४१७॥

१. जिणाणाए कुणं ताणं नूणं निव्वाण कारणं । सुंदरंऽपि सुबुद्धि, सव्वं भवनिबंधणं ॥

पञ्चावणविहिमुद्रावणं च, अज्जाविहिं निरवसेसं ।

उस्सग्गवचायविहिं, अजाणमाणो कहिं? जयओ ॥४१८॥ पुग्गम्

शब्दार्थ - कल्प्य-अकल्प्य को, आहार एषणीय-अनैषणीय को, चरण (चारित्र) के ७० भेदों व करण के ७० भेदों को, नवदीक्षित को दी जाने वाली शिक्षाविधि को, दस प्रकार के प्रायश्चित्तों की विधि को, तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की तथा उत्तम और मध्यम गुणों की सम्पूर्ण विधि से अनभिज्ञ, वैराग्ययुक्त को दीक्षा देने की विधि को, महाव्रत का उच्चारण करने की बड़ी दीक्षा की विधि को; साध्वी की विधि और शुद्ध आचार-पालन वाले उत्सर्ग मार्ग एवं किसी कारण विशेष में आपत्ति के समय आचरणीय अपवाद मार्ग की विधि को संपूर्ण रूप से नहीं जानने से अल्पश्रुत वेषधारी साधु क्या किसी तरह मोक्ष-मार्ग में आत्महित सिद्ध कर सकता है? कदापि नहीं ॥४१७-४१८॥

सीसायरिकमेणं य, जणेण गहियाइं सिप्पसत्थाइं ।

नज्जति बहुविहाइं, न चक्खुमिताणुसरियाइं ॥४१९॥

शब्दार्थ - ऐसा देखा जाता है कि लौकिक विद्या पढ़ने वाला शिष्य भी विनयपूर्वक कलाचार्यादि को प्रसन्न करके उनसे विद्या ग्रहण करता है। इस प्रकार के विनय के क्रम से अनेक प्रकार के शिल्प व्याकरण आदि शास्त्रों को वह अच्छी तरह से ग्रहण कर सकता है; अर्थात् विनयपूर्वक बहुमान से ग्रहण किया हुआ शास्त्र सफल होता है। परंतु अपनी स्वच्छंदबुद्धि से गुरु का विनय किये बिना अपने आप शास्त्र को देखने या पढ़ने से शास्त्रज्ञान फलीभूत नहीं होता। कहने का मतलब यह है कि जब अपने आप सीखे हुए लौकिक-शास्त्र भी सीखने वाले को फलीभूत नहीं होते तो फिर लोकोत्तर शास्त्रों के लिए तो कहना ही क्या? ॥४१९॥

जह उज्जमिउ जाणइ, नाणी तव-संजमे उयाययिऊ ।

तह चक्खुमित्तदरिसण, सामायारी न याणति ॥४२०॥

शब्दार्थ - उपाय को जानने वाला ज्ञानी जैसे तप और संयम में उद्यम करना जानता है, अर्थात् ज्ञानी पुरुष सिद्धांत ज्ञान के कारण शुद्ध उद्यम करता है; उसी तरह आँखों से देखने मात्र से यानी क्रियानुष्ठानादि करने वालों के पास में रहने मात्र से उनकी देखादेखी जो आचरण करता है वह शुद्ध आचरण नहीं जानता। स्वयं सिद्धांत ज्ञान प्राप्त करके उससे जैसा जानता है, वैसा दूसरे को करते हुए देखने मात्र से भी वह नहीं जान सकता। वह मनुष्य आत्म-कल्याण का वास्तविक उपाय जाने बिना किस तरह चित्त-शुद्धि रूप सफल उद्यम कर सकता है ॥४२०॥

सिप्पाणि य सत्थाणि य, जाणंतो वि न य जुंजई जो उ ।

तेसिं फलं न भुंजइ, इअ अजयंतो जई नाणी ॥४२१॥

शब्दार्थ - शिल्प, कला और व्याकरण आदि शास्त्रों को जानता हुआ भी जो व्यक्ति जब तक उसका सदुपयोग (प्रयोग) नहीं करता तब तक वह इन शिल्पादि से होने वाला धनलाभादि फल प्राप्त नहीं कर सकता। उसी तरह ज्ञानवान साधु प्रमादवश होकर शास्त्र विहित संयम-क्रिया में उद्यम नहीं करता तो उसका ज्ञान निष्फल है, वह मोक्षफल कैसे प्राप्त कर सकता है? ॥४२१॥

गारवतियपडिबद्धा, संजमकरणज्जमंमि सीयंता ।

निगंतूण गणाओ, हिंडंति पमापरन्नंमि ॥४२२॥

शब्दार्थ - रसगौरव, ऋद्धिगौरव और सातागौरव में आसक्त रहने वाला और ६-जीवनिकाय के रक्षण रूप संयम-अनुष्ठान के उद्यम से या पुरुषार्थ करने से जो कतराता है, या सुस्त है वह साधु गच्छ से निकलकर विषय-कषाय-विकथादि दोष रूपी विघ्नों से परिपूर्ण प्रमाद रूपी अरण्य में स्वेच्छा से परिभ्रमण करता है ॥४२२॥

नाणाहिओ वरतरं, हीणो वि हु पवयणं पभावितो ।

न य दुक्करं करितो, सुट्ठ वि अप्पागमो पुरिसो ॥४२३॥

शब्दार्थ - कोई साधक चारित्र (क्रिया) पालन में हीन होने पर भी निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध प्ररूपणा से जिनशासन की प्रभावना करता है; तो वह बहुश्रुत पुरुष श्रेष्ठ है; परंतु भलीभांति मासक्षपणादि दुष्कर तपस्या करने वाला अल्पश्रुत पुरुष श्रेष्ठ नहीं है। अर्थात् क्रियावान होने पर भी ज्ञानहीन पुरुष अच्छा नहीं है ॥४२३॥

नाणाहिघस्स नाणं, पुज्जई नाणापवत्तए चरणं ।

जस्स पुण दुण्ह इक्कं पि, नत्थि तस्स पुज्जाए काई? ॥४२४॥

शब्दार्थ - ज्ञान से पूर्ण पुरुष का ज्ञान पूजा जाता है; क्योंकि ज्ञानयोग से चारित्र की प्राप्ति होती है, परंतु जिस पुरुष के जीवन में ज्ञान या चारित्र में से एक भी गुण न हो, उस पुरुष की क्या पूजा हो सकती है? कुछ भी नहीं होती ॥४२४॥

नाणं चरित्तहीणं, लिगग्गहणं च दंसणविहीणं ।

संजमहीणं च तवं, जो चरइ निरत्थयं तस्स ॥४२५॥

शब्दार्थ - चारित्र (क्रिया) से रहित ज्ञान निरर्थक है; सम्यग्दर्शन रहित साधुवेष निष्फल है और ६जीवनिकाय की रक्षा रूप चारित्र से रहित तपश्चरण निष्फल है। उपर्युक्त तीनों से रहित व्यक्ति का मोक्षसाधन निरर्थक है ॥४२५॥

जहा खरो चंदनभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।

एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सुग्गईए ॥४२६॥

शब्दार्थ - जैसे गधा केवल चंदन के बोझ को उठाने वाला है। वह चंदन के बोझ को ही ढोता है; परंतु चंदन की सुगंध विलेपन-शीतलतादि का हिस्सेदार नहीं होता, उसी तरह चारित्र्य (क्रिया) शून्य ज्ञानी भी सिर्फ ज्ञान का ही बोझ दिमाग में रखता है, वह जगत् में सिर्फ ज्ञानी ही कहलाता है, परंतु चारित्र्यशून्य होने से मोक्ष रूप सुगति (ज्ञान परिमल) का सुख प्राप्त नहीं कर सकता, इसीलिए क्रिया सहित ज्ञान अथवा ज्ञान युक्त चारित्र्य हो, यही श्रेष्ठ है, वही आराधना मोक्ष का अमोघ उपाय है। इसी उपाय से पूर्व महापुरुषों ने आत्मसाधना की है ॥४२६॥

संपाण्डपडिसेवी, काएसु दएसु जो न उज्जमइ ।

पवणपाडणपरमो, सम्मतं पेलवं(कोमलं) तस्स ॥४२७॥

शब्दार्थ - जो पुरुष लोक समक्ष निःशंक, प्रकट रूप में पाप का आचरण करता है, छह जीवनिकाय की रक्षा करने में और ग्रहण किये पांच महाव्रतों का पालन करने में उपदेश करता है, प्रमाद का सेवन करता है तथा जिनशासन की लघुता (बदनामी) करवाता है उसका सम्यक्त्व तथ्यहीन जानना अर्थात् उसको मिथ्यात्व ही जानना ॥४२७॥

चरणकरणपरिहीणो, जइ वि तवं चरइ सुइ अइगुरुअं ।

सो तिलं व किणंतो, कंसिय बुद्धो मुण्यय्यो ॥४२८॥

शब्दार्थ-भावार्थ - चरण अर्थात् महाव्रतादि के आचरण (मूलगुण) से और करण अर्थात् आहारशुद्धि आदि उत्तरगुण से रहित कोई साधक एक महीने के उपवास आदि कठोर तपस्या भलीभांति करे तो भी वह विचारमूढ़ केवल कायक्लेश करता है। अर्थात् दुष्कर तपस्या करते हुए अहिंसादि महाव्रतों का पालन करना, चित्त की शुद्धि के लिए शास्त्रविहित मार्ग का सेवन करने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है। ऐसी संयमयुक्त तपस्या ही महान् लाभदायिनी होती है। उसके बिना ज्ञानरहित कोरी तपस्या क्लेश रूप ही होती है। जैसे बोझ गाँव का निवासी मूर्ख दर्पण से भर-भर कर तिल बेचता और बदले में उसी दर्पण से भरकर तेल ले लेता था। इससे उसे लाभ के बजाय घाटा ही ज्यादा उठाना पड़ा। उसने बहुत तिलों की हानि उठाई। उसी तरह प्रमादी मुनि अपने दुष्कर तप-संयम के बदले में चारित्र्य में थोड़ी-सी शिथिलता लाकर बहुत बड़ा नुकसान (उत्कृष्टफल की हानि) कर बैठता है; यही इस गाथा का आशय है ॥४२८॥

छज्जीवनिकायमहव्ययाण, परिपालणाए जइधम्मा ।

जइ पुण ताइ न रक्खइ, भणाहि को नाम सो धम्मा? ॥४२९॥

शब्दार्थ - पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन षड् जीवनिकार्यों की आत्मवत् रक्षा करने से और प्राणातिपात विरमणादि पांच महाव्रतों का यथाविधि परिपालन करने से ही साधुधर्म सफल होता है। परंतु जो उन जीवनिकार्यों की रक्षा व पांच महाव्रतों का पालन नहीं करता। तो भला बताओ वह कैसे धर्म हो सकता है? जीवरक्षा और महाव्रतपालन के बिना साधुधर्म नहीं कहलाता ॥४२९॥

छज्जीवनिकायदयाविवज्जिओ, नेव दिक्खिओ न गिही ।

जइधम्माओ चुक्को, चुक्कइ गिहिदाणधम्माओ ॥४३०॥

शब्दार्थ - षड्जीवनिकाय की दया से रहित केवल वेषधारी दीक्षित साधु नहीं कहलाता है और सिर मुंडा हुआ होने से उसे गृहस्थ भी नहीं कहा जा सकता। वह साधुधर्म से भी भ्रष्ट हुआ और गृहस्थ के योग्य दानधर्म से भी भ्रष्ट हुआ है; क्योंकि उसका दिया हुआ दान भी शुद्ध संयमी के लिए कल्पनीय नहीं होता ॥४३०॥

सब्बाओगे जह कोइ, अमच्चो नरवइस्स चित्तूण ।

आणाहरणे पावइ, वह-बंधण-दब्बहरणं च ॥४३१॥

शब्दार्थ - जैसे कोई प्रधानमंत्री राजा की कृपा से समस्त अधिकारों को पाकर बाद में उस राजा की आज्ञा का उल्लंघन करता है तो उसे दंड आदि प्रहार, लोहे की जंजीर से बंधन में डालने तथा द्रव्य आदि सर्वस्व छीने जाने की सजा मिलती है और अंत में उसे मृत्यु का वरण भी करना पड़ता है ॥४३१॥

तह छक्कायमहव्ययसव्यतिवित्तीउ गिण्हिऊण जई ।

एगमवि विराहंतो, अमच्चरत्तो हणइ बोहिं ॥४३२॥

शब्दार्थ - उसी तरह षड्जीवनिकायरक्षा और पंचमहाव्रत संबंधी सर्वथा निवृत्ति रूप संयम ग्रहण करके उच्चाधिकार रूप साधु पद प्राप्त करके जो एक भी जीव की अथवा एक भी महाव्रत की विराधना करता है, वह देवाधिदेव श्री तीर्थंकर परमात्मा के द्वारा प्रदत्त सम्यक्त्व-महारत्न का विनाश करता है। अर्थात्-जिनाज्ञा का भंग करने से सम्यक्त्व का नाश करके वह महाविडबना का भागी होता है और उससे वह अनंतसंसारी बनता है ॥४३२॥

तो हयबोही य पच्छा, कयावराहाणुसरिसमियममियं ।

पुणवि भवोयहिपडिओ, भमइ जरावरणदुग्गंमि ॥४३३॥

शब्दार्थ - सम्यक्त्व-रत्न का नाश करने के बाद वह मुनि जिनाज्ञा भंग रूप अपराध से इस जन्म में तो सम्मान हीन जीवन व्यतीत करने के रूप में प्रत्यक्ष फल प्राप्त करता ही है, बुढ़ापे और मृत्यु का दुःख भी पाता है, मृत्यु के बाद भी अनन्तकाल तक संसार समुद्र में परिभ्रमण रूप फल (दुःख) प्राप्त करता है ॥४३३॥

जड़याडणेणं चत्तं, अप्पाणधं नाणदंसणचरितं ।

तड़या तस्स परेसुं, अणुकंपा नत्थि जीवेसु ॥४३४॥

शब्दार्थ - जिस अभागे जीव ने अपने आत्महित कारक ज्ञान दर्शन-चारित्र का त्याग कर दिया, समझ लो, उस जीव को दूसरे जीवों पर अनुकंपा नहीं है। जो अपनी आत्मा का हितकर्ता नहीं बनता, वह दूसरों का हितकर्ता कैसे हो सकता है? अपनी आत्मा पर जिसकी दया हो उसीकी दूसरे जीवों पर दया हो सकती है। अतः आत्मदया ही परदया है ॥४३४॥

छक्कायरिऊण ँस्संजयाण, लिंगावसेसमिताणं ।

बहुअस्संजमपवहो, खारो मयलेइ सुट्टयरं ॥४३५॥

शब्दार्थ - षड्जीवनिकाय की विराधना (हिंसा) करने वाले षट्काय के शत्रु हैं, वे मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों को निरंकुश छोड़ने वाले सिर्फ वेश धारण किये फिरने वाले साधु हैं। ऐसे असंयमी साधक अत्यंत असंयम (अनाचीर्ण)-रूप पाप के प्रवाह में क्षार (जले हुए तिल) के समान अपनी और दूसरे की आत्मा को पूरी तरह से मलिन बना देते हैं ॥४३५॥

किं लिंगधिङ्गरीधारणेण? कज्जम्मि अट्टिए टाणे ।

राया न होइ सयमेव धारयं चामराडोवे ॥४३६॥

शब्दार्थ - जैसे श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठने से या हाथी-घोड़े आदि पर बैठने से, छत्र-चामर के आडंबर धारण करने से ही कोई राजा नहीं कहलाता; उसी तरह संयम रहित पुरुष केवल साधुवेष धारण करने से ही साधु नहीं कहलाता। इसीलिए गुण के बिना साधुवेश का आडंबर व्यर्थ है और वह केवल उपहास का पात्र बनता है ॥४३६॥

जो सुत्तत्थविणिच्छियकयागमो, मूलउत्तरगुणोहं ।

उब्बहइ-सयाडखलिओ, सो लिक्खइ साहूलिक्खम्मि ॥४३७॥

शब्दार्थ - जिसने सूत्र और कार्य का असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जिसने आगमों के रहस्य को जान लिया है और जो निरंतर अतिचार रहित मूल-गुणों और उत्तर-गुणों के परिवार को सावधानी से धारण किये हुए है; वही साधु साधुओं

की गिनती में आता है ॥४३७॥

बहुदोससंकलितो, नवरं मडलेइ चंचलसहायो ।

सुदु धि वायामितो, कायं न करेइ किंचि गुणं ॥४३८॥

शब्दार्थ - राग-द्वेष रूपी अनेक दोषों से भरा हुआ, दुष्टचित्त, चंचल स्वभावी और विषयादि में लुब्ध साधु परिषह आदि सहकर शरीर को अत्यंत कष्ट देता है; अगर उस कायकष्ट से वह कर्मक्षय रूप आत्महित जरा भी नहीं करता; उलटे, अपनी आत्मा को मलीन बनाता है ॥४३८॥

केसिं चि वरं मरणं, जीवियमन्नेसिं उभयमन्नेसिं ।

दद्वरदेविच्छाए, अहियं केसिं चि उभयं पि ॥४३९॥

शब्दार्थ - इस जगत् में कई जीवों का मरना ही अच्छा है, कईयों का जीना अच्छा है, कितने ही जीवों का जीना और मरना दोनों अच्छे हैं और कईयों का मरना और जीना दोनों दुःखदायी है। इसका विस्तृत वर्णन निम्नोक्त दुर्दुरांकदेव की कथा से जानना ॥४३९॥

दुर्दुरांक देव की कथा

उन दिनों कौशांबी महानगरी में शतानीक नाम का राजा राज्य करता था। उस समय उस नगर में एक सेडुक नाम का अतिदरिद्र ब्राह्मण रहता था। एक बार उसकी पत्नी गर्भवती हुई। जब उसका प्रसवकाल नजदीक आया, तब उसने अपने पति से कहा—“मेरा प्रसूतिकाल निकटतम है, इसीलिए आप मुझे घी-गुड़ आदि ला दें। तब सेडुक ने कहा—प्रिये! मेरे पास ऐसी कोई कला नहीं है, जिससे मैं धन उपार्जित कर सकूँ। और बिना धन के घी, गुड़ आदि कहाँ से ला सकूँगा?” यह सुनकर वह बोली—“यदि आपके पास कला न हो तो भी कुछ न कुछ उद्यम करने से अवश्य ही फल की प्राप्ति होती है।” कहा भी है—

प्राणिनामन्तरस्थायी न ह्यालस्यसमो रिपुः ।

न ह्युद्यमसमं मित्रं यं कृत्वा नावसीदति ॥१३१॥

अर्थात् - प्राणियों के अंतर में रहे हुए आलस्य के समान संसार में कोई शत्रु नहीं है। और उद्यम के समान कोई मित्र नहीं है। उद्यम करने पर प्राणी दुःख नहीं पाता ॥१३१॥

सेडुक अपनी पत्नी की बात सुनकर एक फल लेकर राजसभा में पहुँचा और उसे राजा को भेंट दिया। इसी प्रकार वह रोजाना एक फल लेकर राजसभा में जाता और राजा शतानीक को भेंट देकर चला आता। यों सेवा करते हुए उसे काफी दिन हो गये।

एक दिन चंपानगरी के राजा दधिवाहन ने कौशांबीनगरी पर सहसा चढ़ाई कर दी; नगरी को चारों ओर से घेर लिया। शतानीकराजा के पास सेना कम होने से वह किले के अंदर ही रहा। प्रतिदिन युद्ध करते- करते वर्षाकाल आ गया। उस समय दधिवाहन राजा की सेना तितरबितर हो गयी। सेडुक ब्राह्मण फल-फूल आदि तोड़कर लाने के लिए नगरी के बाहर वाटिका की ओर जा रहा था; रास्ते में उसने दधिवाहन की सेना बहुत थोड़ी देखकर सोचा—“मैं झटपट जाकर शतानीक नृप को यह खबर दूँ।” अतः वह सीधे राजा शतानीक के पास पहुँचा और उनसे निवेदन किया—“राजन्! आज इस समय आप दधिवाहन के साथ युद्ध करेंगे तो निश्चित ही आपकी विजय होगी।” अतः शतानीक राजा सेना लेकर किले के बाहर आया, दधिवाहन राजा से लड़ा। दधिवाहन की सेना भाग खड़ी हुई। शतानीक ने अपनी विजय का डंका बजा दिया। और दधिवाहन के बचे खूबे हाथी-घोड़े आदि लेकर नगरी के अंदर आया। 'राजा शतानीक ने सेडुक विप्र को बुलाया और उससे कहा—“सेडुक! मैं तुम्हारे कार्य से बहुत खुश हुआ हूँ। अतः तुम जो चाहो सो मांग लो।” सेडुक बोला—“स्वामिन्! मैं घर जाकर अपनी पत्नी से पूछकर बाद में आपसे यथेष्ट मांगूँगा।” यों कहकर वह घर आया। अपनी पत्नी से उसने कहा—“प्रिये! आज शतानीक राजा मुझ पर अत्यंत प्रसन्न हैं; वे मुझे यथेष्ट वरदान देना चाहते हैं; बोलो, तुम्हारी क्या सलाह है? क्या मांगूँ?” मंदबुद्धि स्त्री ने सोचा—“यदि यह कहीं बहुत वैभव या जागीरी मांग बैठा तो फिर मुझे किसी कीमत पर नहीं पूछेगा। मुझे शायद अपमानित करके घर से निकाल भी दे। इसीलिए इसे ऐसी सलाह दूँ, जिससे यह मेरे साथ प्रेम पूर्वक रहे। अतः उसने कहा—“प्राणानाथ! यदि आप पर राजा प्रसन्न हैं तो यही मांग लो कि प्रतिदिन हमें इच्छानुसार भोजन और ऊपर से एक स्वर्णमुद्रा दक्षिणा में मिले। क्योंकि नगर का अधिपति बनना तो व्यर्थ ही अपनी नींद हराम करके जागरण करने के समान है; इससे हमें कोई लाभ नहीं।” पत्नी की बात सुनकर उस अभाग ने भी राजा से उसी प्रकार का वरदान मांगा। राजा ने भी अपने राज्य में क्रमशः प्रत्येक घर से रोजाना सेडुक विप्र को भोजन करवाकर ऊपर से एक स्वर्णमुद्रा दक्षिणा में दे देने की आज्ञा घोषित करवायी। राजाज्ञा के कारण लोग भी उसे एक के बाद एक निमंत्रण देने लगे। सेडुक भी दक्षिणा के लोभ से रोजाना एक घर से भोजन कर लेने के बाद उस भोजन को वमन करके निकाल देता, फिर दूसरे घर भोजन करने जाता। इस तरह अतृप्तिपूर्वक भोजन करते रहने से सेडुक को त्वचाविकार हो गया और धीरे-धीरे

1. हेयोपदेया टीका में दधिवाहन, शतानीक के युद्ध का वर्णन नहीं है।

वह गलित कोढ़ में परिणत हो गया। उसके हाथ-पैर आदि अंगोपांग गलने लगे। परंतु धन और पुत्रादि परिवार बहुत बढ़ गया।

सेडुक को चेपी कोढ़रोग हो जाने से मंत्री आदि ने उससे कहा—“सेडुक! अब तुम्हारा भोजन के लिए घर-घर में जाना ठीक नहीं। तुम अपने बदले अपने पुत्र को भेजा करना।” अतः उसके बाद उसका पुत्र रोजाना प्रत्येक घर में भोजन के लिए जाता और स्वर्णमुद्रा दक्षिणा के रूप में ले आता। सेडुक से अब सभी लोग नफरत करने लगे। उसके पुत्रों ने उसे रहने के लिए एक अलग कमरा दे दिया। वे वहीं लकड़ी के बर्तन में उसके लिये चुपचाप भोजन डाल जाते। कोई भी घर का आदमी आते-जाते उससे बोलता नहीं। यहाँ तक कि घरवाले सभी उसे ताना मारने लगे—“ऐसी जिंदगी से तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है। किसी को मुंह बताने लायक भी तो नहीं रहे।” घर वालों के ये तिरस्कार पूर्ण वचन सुनकर सेडुक को उन पर बहुत गुस्सा आया। उसने मन ही मन सोचा—“इन दुष्टों को कोढ़िया बनाकर मेरे अपमान का बदला लूं।” उसे एक युक्ति सूझी। उसने सबेरे ही अपने पुत्र को पास बुलाकर कहा—“बेटा, मैं अब बूढ़ा हो चला हूँ। मौत भी नजदीक आ लगी है। इसीलिए मुझे तू एक बार तीर्थयात्रा करा ला। परंतु हमारे कुल का ऐसा रिवाज (आचार) है कि तीर्थयात्रा के लिए जाने से पहले जौ और घास मंत्रित करके एक बकरे को खिलाए और जब वह हृष्टपुष्ट हो जाय तो उसे मारकर उसका मांस सारे कुटुंब को खिलाए। इसीलिए पुत्र! तुम मुझे एक बकरे का बच्चा ला दो।” पुत्र ने पिता की आज्ञानुसार बकरे का बच्चा ला दिया। बकरे के बच्चे को सेडुक ने अपने पास रख लिया और रोजाना कोढ़ के कारण शरीर से निकलने वाली मवाद जौ और घास में मिलाकर उसे खिलाने लगा। इस कारण कुछ समय बाद उस बकरे को भी कोढ़ हो गया। एक दिन सेडुक उसे मारकर उसका मांस अपने सारे कुटुंब को खिलाकर तीर्थयात्रा के लिए चल पड़ा।

रास्ते में सेडुक को बहुत जोर की प्यास लगी। अतः उसे एक सरोवर दिखायी दिया, जो सूर्य की प्रखर किरणोंसे तपा हुआ, वृक्षों के पत्तों से ढका हुआ, उकाले के समान था। सेडुक ने उस सरोवर का पानी पीया, जिससे उसकी तृष्णा शांत हो गयी, साथ ही उसका कुष्ठरोग भी शांत होने लगा। अतः उसने वहाँ बहुत समय तक रहकर उस सरोवर का पानी पीया; जिससे सारी कुष्ठकृमि की व्याधि झड़ गयी और वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। परंतु इधर उसका सारा परिवार कुष्ठरोगी बकरे का मांस खाने से कोढ़िया बन गया। उसके बाद सेडुक अपना शरीर हृष्टपुष्ट बनाने के लिए कौशांबी जगरी लौटा। लोगों ने उसे स्वस्थ देखकर उससे पूछा—“तुम्हारा रोग कैसे मिटा?” उसने जवाब दिया—“देवता के प्रभाव से मेरा रोग नष्ट

हुआ है।" सेडुक घर आया और अपने सारे कुटुंब को कुष्ठरोगग्रस्त देखकर कहा— "तुमने मेरी अवज्ञा की, उसी का यह कुफल तुम्हें मिला है। मैंने ही तुम्हें कुष्ठरोगी बनाये हैं।" उसे सुनकर सभी ने उसे "निकल जा दुष्ट! यहाँ से, अपना काला मुंह हमें मत बता!" इस प्रकार डांटफटकारकर धक्का देकर घर से निकाल दिया; नगर के लोगों ने भी उसकी बड़ी बेइज्जती करके नगर से बाहर निकाल दिया। वह इधर-उधर मारा-मारा भटककर राजगृही नगरी के सदर दरवाजे के पास पहुँचा।

इधर भगवान् महावीरस्वामी का पदार्पण नगरी के बाहर उद्यान में हुआ। इसे सुनकर वहाँ के द्वारपालों ने सेडुक को दरवाजे के पास बैठे देखकर कहा— "हम भगवान् महावीर को वंदनाकर आये, तब तक तू यहीं रहना और हमारे बदले पहरा देना।" सेडुक ने इसे मंजूर कर लिया किन्तु द्वारपालों से कहा— "मैं अत्यंत भूखा हूँ। मेरी भूख मिटाने की कोई तजबीज तो करो।" उन्होंने कहा— "देख, इसके लिये तुझे इस जगह को छोड़कर और कहीं नहीं जाना है। यह जो द्वार पर देवी का मंदिर है, यहाँ रोजाना पर्याप्त नैवेद्य चढ़ता है। तू उस नैवेद्य को लेकर यथेष्टमात्रा में खाना और आनंद में रहना।" सेडुक को वहाँ तैनात करके सभी द्वारपाल भगवान् के वंदनार्थ गये। सेडुक ने भी उनके जाने के पश्चात् देवी के मंदिर में जो खीर, बड़े आदि पदार्थों का नैवेद्य चढ़ा था, उसे लेकर भरपेट खाया। इससे थोड़ी ही देर में उसे जोर की प्यास लगी; मगर द्वारपालों ने उसे अन्यत्र कहीं जाने की मना ही कर रखी थी, इसीलिए बेचारा पानी की तलाश में कहीं न जा सका; वहीं मन मसोसकर बैठ गया। बार-बार रह-रहकर उसे पानी का ही ध्यान आता। तीव्र पिपासा सह न सकने के कारण कर्मोदयवश पानी का ही ध्यान करते-करते वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। दरवाजे के पास ही एक बावड़ी थी। वह मरकर उसी बावड़ी में मेंढक बना।

कुछ अर्से के बाद विचरण करते हुए भगवान् महावीरस्वामी फिर राजगृही पधारे। नगरी की कुछ महिलायें उस बावड़ी से पानी भरने आयीं; वे परस्पर बातें करने लगीं— "सुना है, आज भगवान् महावीर यहाँ पधारे हैं। अतः बहनों! जल्दी करो; हमें उनके वंदन करने जाना है।" नगर नारियों का यह वार्तालाप उस मेंढक के कानों में पड़ा। सुनकर वह विचार करने लगा— "ऐसी (भगवान् महावीर के आगमन की) बात तो मैंने पहले भी किसी समय सुनी है।" बार-बार ऊहापोह करते-करते उस मेंढक को जातिस्मरणज्ञान (पूर्वजन्म का ज्ञान) हो गया। उसे अपने पूर्वजन्म—(मैं मनुष्यभव में सेडुक नामक ब्राह्मण था) का खयाल आया। वह

एकदम सावधान होकर फुदकता-फुदकता भगवान् महावीर के दर्शन-वंदन करने के लिए बावड़ी से निकल कर चला। रास्ते में श्रेणिकराजा की सवारी भी अपनी चतुरंगिणी सेना सहित भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जा रही थी। सहसा वह मेंढक एक सैनिक के घोड़े की टाप के नीचे आकर कुचला गया। वहीं भगवान् महावीर के दर्शनों के शुभध्यान में उसकी मृत्यु हो गयी। मरकर वह प्रथम देवलोक में दर्दुरांक नाम का देव बना। वहाँ अवधिज्ञान से उसने अपने पूर्वजन्म का हाल जाना।

एक दिन दर्दुरांक देव श्रेणिक राजा के सम्यक्त्व की परीक्षा के लिए एक कोढ़िये का रूप बनाकर भगवान् महावीर के चरणों में पहुँचा। श्रेणिकराजा भी उस समय भगवान् की सेवा में ही बैठा था। वह कोढ़िया रूप-धारी देव अपने शरीर पर से कोढ़ का बदबूदार मवाद, जो वास्तव में चंदन का रस था; लेकर भगवान् के अंग पर लेप करने लगा। यह देखकर श्रेणिक राजा को बहुत गुस्सा चढ़ा। मन ही मन सोचा—“यह कौन पापी भगवान् की इस प्रकार अवज्ञा कर रहा है? समवसरण से बाहर निकलने दो इसे! इसकी पूरी खबर लूंगा।” संयोगवश उसी समय भगवान् को छींक आयी। इस पर उस देव ने कहा—“आप जल्दी मरें।” थोड़ी देर बाद ही राजा श्रेणिक को छींक आयी। इस पर उसने कहा—“चिरकाल तक जीएँ।” कुछ ही क्षणों के पश्चात् अभयकुमार ने भी छींका। इस पर देव ने कहा—“चाहे जीएँ, चाहे मरें।” इसके अंतर ‘कालसौकरिक’ कसाई को छींक आयी। इस पर उसने कहा—“न जीओ, न मरो।” इन चारों बातों में से भगवान् के लिए एकदम मरने का नाम सुनकर श्रेणिक राजा की त्योंरियाँ चढ़ गयी। उसने गुस्से में आगबबूला होकर अपने सेवकों से कहा—“समवसरण से बाहर निकलते ही इस दुष्ट कोढ़ी को पकड़कर बांध लेना। अतः भगवान् का प्रवचन पूर्ण होने के बाद ज्यों ही वह समवसरण से बाहर निकला राजा के सुभटों ने इसे घेर लिया। मगर वह देव वैक्रियशक्ति से तुरंत आकाश में उड़कर वहाँ से भागने में सफल हो गया। यह देखकर श्रेणिक राजा भौंचक्का-सा रह गया। उसने वापिस आकर भगवान् से पूछा—“भगवन्! यह कोढ़िया कौन था? जो आपको मरने के लिए कह रहा था।” तब भगवान् ने सेडुक से लेकर दर्दुरांक होने तक की आद्योपांत सारी कहानी सुनायी। साथ ही यह भी कहा—“कोढ़िये का रूप बनाकर उसने मेरे अंग पर कोढ़ की मवाद का लेप करने का तुम्हारे मन में भ्रम पैदा किया था, वह सिर्फ तुम्हारी परीक्षा के लिए किया था; वास्तव में वह दिव्य चंदन का ही लेप था।” श्रेणिक राजा ने फिर प्रश्न किया—“तब फिर उसने आपके लिए जल्दी मरने, मेरे लिये चिरकाल तक जीने, अभयकुमार के लिए जीने चाहे मरने और कालसौकरिक

के लिए न मरने और न जीने की अटपटी-सी बात कही; उसका रहस्य क्या है? भगवान् ने उत्तर दिया—“राजन्! सुनो, इसका रहस्य! मैं यहाँ हूँ, वहाँ तक मेरे वेदनीयादि ४ कर्म लगे रहेंगे, और मर जाने के बाद तो मुझे मुक्ति सुख मिलेगा; इसीलिए मेरे लिये हितकर जल्दी मरने की बात कही। और तुम्हें जो चिरकाल तक जीने को कहा, उसके पीछे यह कारण है कि तुम्हें मरने के बाद अपने अशुभ कर्मों को भोगने के लिए नरक में जाना पड़ेगा। इसीलिए तुम इस लोक में जितना जीओगे, उतने समय तक राज्यसुखों का उपभोग करोगे। और अभयकुमार के लिए कहा था कि “चाहे जीए, चाहे मरे” उसके पीछे रहस्य यह है कि वह यहाँ भी धर्मकार्य करता हुआ राज्यसुख का उपभोग कर रहा है और परलोक में भी वह अनुत्तरविमानवासी देव बनेगा, इसीलिए उसके लिए यहाँ भी सुख है, आगे भी सुख है। इसी कारण देव ने ऐसा कहा। और कालसौकारिक जीता रहा तो भी वह हिंसादि पापकर्म करेगा और मरा तो भी आगे सप्तम नरक में जाकर महादुःख उठायेगा। इसीलिए उसके लिये कहा था—‘न मरो, न जीओ!’ संसार में जीतने भी प्राणी हैं, उन पर इन चारों में से एक न एक कथन अवश्य लागू होता है।

दर्दुरांक देव का अभिप्राय जानकर राजा श्रेणिक ने सविनय अपने लिये पूछा—“आप जैसे मेरे शिरच्छत्र होते हुए भी मुझे नरक में जाना पड़े, क्या यह उचित है, भगवन्?” भगवान् ने कहा—“राजन्! तुमने सम्यक्त्व प्राप्ति से पहले नरकायुष्यकर्म बांध लिया है, इसीलिए उसे टाला नहीं जा सकता। परंतु तुम चिन्ता न करो। अशुभ कर्म काटने के लिए नरक भी तुम्हारे लिये अच्छा निमित्त है। इसी कारण आगामी चौबीसी (२४ तीर्थकरों) में से तुम पद्मनाभ नाम के प्रथम तीर्थकर बनोगे।” श्रेणिक राजा सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने फिर पूछा—“भगवन्! क्या कोई ऐसा उपाय भी है, जिससे मुझे नरक में न जाना पड़े?” भगवान् ने उसे बताया—“राजन्! एक उपाय तो यह है कि अगर तुम्हारी कपिला दासी शुद्धभाव से अपने हाथ से साधु को दान दे दे, दूसरा उपाय है—तुम्हारी नगरी का कालसौकारिक कसाई, जो प्रतिदिन ५०० भैंसे मारता है; अगर कतई पशुवध बंद कर दे। ऐसा हो जाय तो तुम्हें नरक में नहीं जाना पड़ेगा।” राजा श्रेणिक आशा की नदी में डुबकी लगाता हुआ राजमहल की ओर जा रहा था कि अकस्मात् उसके सम्यक्त्व की परीक्षा के लिए कंधे पर मछलियों से भरा जाल लिये जैन-साधु का वेष बनाकर दर्दुरांक देव सामने से चला आ रहा था। श्रेणिक ने उसका रंगदंग देखकर पूछा—“अरे मुनि वेषधारी! यह मछली पकड़ने का जाल क्यों लिये

जा रहे हो? जाल में बहुत-सी मछलियाँ पकड़ी हुई हैं, इसीलिए मालूम होता है तुम मछलियाँ खाते भी हो?" राजा श्रेणिक के प्रश्न और देव द्वारा दिये गये उत्तर निम्नलिखित श्लोक के रूप में ग्रथित है—

कन्याचार्य! श्लथा किं ननु? शफरवधे जालमशनासि मत्स्यान्?
तान् वै मद्योपदंशात्, पिबसि मधु? समं वेश्यया यासि वेश्याम्?
दत्तचारीणां गलेऽङ्घ्रिं, ननु तव रिपवो? येन सायं छिनद्मि ।
चोरस्त्वं? द्यूतहेतोः किं तव इतिकथं? येन दासीसुतोऽस्मि ॥

अर्थात् - "अरे कन्याचार्य! तेरी यह गुदड़ी क्यों चिथड़े-चिथड़े हो रही है?" वह बोला—“यह गुदड़ी नहीं, मछलियाँ पकड़ने का जाल है।” तो फिर मछलियाँ भी खाता है तू? “हाँ, जब शराब पीता हूँ, तब बीच-बीच में खा लेता हूँ।” “तो क्या शराब भी पीता है?” “हाँ, वेश्या के साथ प्रीति होने से उसके साथ शराब भी पीनी पड़ती है?” “अरे! क्या तू वेश्यागमन भी करता है?” हाँ, शत्रुओं को चकमा देने के लिए वेश्या के पास जाया करता हूँ। “क्या तेरे शत्रु भी हैं?” “क्योंकि मैं रात को चोरी जो करता हूँ” “अरे! तू चोर भी है?” “हाँ, जुआ खेलने के लिए धन चाहिए, उसके लिये चोरी करता हूँ।” “तब तू जुआरी भी है?” तेरे जुआरी होने का कारण क्या है? “राजन्! मैं दासीपुत्र हूँ। इसीलिए जुआरी बना हूँ।”

इन उत्तरों के सुनने पर भी राजा अपने सम्यक्त्वधर्म से विचलित नहीं हुआ, न ही उसके मन में निर्ग्रन्थ साधुओं के प्रति भक्ति या अनुराग की दृढ़ता में कमी आयी। इस परीक्षा में श्रेणिक के उत्तीर्ण हो जाने के बाद दर्दुरांक देव ने एक गर्भवती साध्वी का-सा रूप बनाया और शरीर को अलंकार से सुसज्जित करके वह राजा के सामने से होकर जाने लगा। राजा ने पूछा—“तुम तो साध्वी हो, फिर यह गर्भ कैसे रह गया?” उसने कहा—“भगवान् महावीर की सभी साध्वियाँ ऐसा ही काम करती हैं।” इस पर राजा ने कहा—“अशुभ कर्मों के कारण यह तो तेरे ही गलत कारनामे हैं। दूसरा कोई भी साधु-साध्वी तेरे सरीखे बिल्कुल नहीं होते।” दर्दुरांकदेव ने राजा श्रेणिक को देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा पर अटल जानकर प्रकट होकर उसकी प्रशंसा की; और उसे एक हार और दो गोले भेंट देकर वह देव देवलोक को लौट गया। राजा ने वह हार चिल्लणारानी को और दो गोले नंदारानी को दे दिये। चिल्लणा के हाथ में राजा के द्वारा दिया हुआ हार देखकर नंदारानी के मन में ईर्ष्या पैदा हुई कि ‘चिल्लणा को तो हार और मुझे केवल ये दो गोले! मैं क्या करूँ इनका?’ यों क्रोध में बड़बड़ाते हुए उसने दोनों गोले एक खंभे पर

जोर से फेंके। गोले खंभे से जाकर टकराए और फूट गये। जिससे उन दोनों में से एक गोले में से दो कुण्डल और एक में से दो दिव्य वस्त्र निकले। उन्हें देखकर नंदारानी पुनः हर्षित हो उठी।

श्रेणिक राजा ने अन्तःपुर में आते ही कपिलादासी को बुलाकर हुक्म दिया—“दासी! तुम्हें साधु-मुनिराजों को दान देना है।” कपिला बोली—“स्वामिन्! आप मुझे यह काम न सौंपे। मुझसे दान देने का काम कतई न होगा। ओर कोई काम हो तो बताइए।” राजा ने जबरन उसके हाथ के साथ चाटु बंधवा दिया और साधु को उससे दान दिलाया। मगर दासी भी कम चतुर न थी। वह दान देते समय कहने लगी—“यह दान मैं नहीं दे रही हूँ; मेरा चाटु दे रहा है।” इस उपाय में सफलता न मिलती देखकर राजा ने कालसौकरिक को बुलाकर सख्त आज्ञा दी—“आज से तू मैंसें को मारना छोड़ दे।” वह बोला—“राजन्! यह तो मेरी प्राणों से भी बढ़कर प्रिय आजीविक्का है, इसे मैं नहीं छोड़ सकूंगा।” यह सुनकर राजा ने उसे एक अंधे कुएं में गिरवा दिया ताकि वहाँ वह पशुवध न कर सके। पर वहाँ भी उसे एक युक्ति सोच ली। कुएं के पानी में हुए कीचड़ की मिट्टी लेकर उसने ५०० भैंसे बनाये और उनकी वधक्रिया की। राजा ने इस उपाय में भी असफलता जानकर सोचा—“वास्तव में, जिनेश्वर भगवान् के वचन सत्य हैं; वे मिथ्या कैसे हो सकते हैं?” इस प्रकार श्रेणिक राजा को भविष्य में नरक में जाने का विषाद और भविष्य में खुद के तीर्थकर बनने का हर्ष हुआ। ॥४३९॥

कैसिचि य परो लोगो, अन्नैसि इत्थ होइ इहलोगो ।

कस्स पि दुन्नवि लोगो, दोऽवि हया कस्सई लोगो ॥४४०॥

शब्दार्थ - कई जीवों का परलोक हितकारी होता है इहलोक नहीं; कइयों का इहलोक हितकारी होता है, परलोक नहीं। किसी पुण्यशाली आत्मा के दोनों ही लोक हितकारी होते हैं और किसी-किसी पापकर्मी जीव के दोनों ही लोक अहितकर व दुःखदायी होते हैं। इस बात का तात्पर्य भगवान् महावीर के समवसरण में चार जनों को आई हुई छौंक के वृत्तांत से समझ लेना ॥४४०॥

इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे की गाथाओं में ग्रंथकार स्वयं करते हैं-

छज्जीचकायधिरओ, कायकिलेसेहिं सुट्ठु गुरुएहिं ।

न हु तस्स इमो लोगो, हवइ तस्सेगो परो लोगो ॥४४१॥

शब्दार्थ - षड्जीवनिकाय की विराधना से विरत साधु को मासक्षमण (एक

1. अन्य कथाओं में पुणिया श्रावक की सामायिक का वर्णन आता है वह यहाँ नहीं है।

मासिक उपवास) आदि लंबी तपश्चर्या से अथवा धर्मपालन के लिए विविध परिषद्ओं आदि के सहन के कारण भलीभांति काया को विविध क्लेश देने से इस लोक में सुख का अभाव रहता है, मगर उसके लिए एक परलोक (जन्म) अच्छा रहता है। क्योंकि उसे आगामी जन्म में परलोक के रूप में अपने तप आदि देह दमन के फल स्वरूप देवलोक के सुख या राज्यादि सुख प्राप्त होते हैं ॥४४१॥

तरयतिरुद्धमईणं, दंडियमईण जीवियं सेयं ।

बहुवायन्मि पि देहे, विसुज्झमाणस्स वरमरणं ॥४४२॥

शब्दार्थ - नरक-तिर्यच आदि नीचगति के योग्य काम करने वाले राजा, मंत्री आदि मनुष्यों के लिए इहलोक (यह मनुष्यलोक) अच्छा है, क्योंकि वहाँ तो उन्हें पूर्वजन्म के पुण्यफल स्वरूप सभी सुखसाधन मिले हैं, परंतु अगर वे इन सुख साधनों में लुब्ध होकर धर्माचरण करना भूल जाते हैं, तो परलोक में उन्हें अवश्य ही नरकादि गतियाँ मिलेंगी। जहाँ उन्हें बंध बंधन मारपीट, डांट, फटकार आदि यातनाएँ मिलेंगी। इसीलिए ऐसों के लिए परलोक अच्छा नहीं। परंतु जो सुख साधन संपन्न पुरुष शरीर में उत्पन्न आधि, व्याधि को सहन करते हैं, धर्माचरण में प्रमाद नहीं करते; जिसके कारण अंतिम समय में उनका ध्यान विशुद्ध रहता है, उनका मरना और परलोक जाना कल्याणकारी है, क्योंकि उन्हें वहाँ सद्गति और सुख मिलेंगे ॥४४२॥

तचनियमसुद्धियाणं, कल्लाणं जीवियं पि मरणं पि ।

जीवंति जइ गुणा, अज्जिणंति सुग्गइ उदंति मया ॥४४३॥

शब्दार्थ - बारह प्रकार के तप, जप, नियम, व्रत और संयम धर्म की जो भलीभांति आराधना करते हैं, उनका जीना और मरना दोनों कल्याणकारी हैं। क्योंकि अगर धर्मात्मा पुरुष (साधु-श्रावक आदि) जीते रहेंगे तो भी वे धर्म वृद्धि करेंगे और अधिक गुणों का उपार्जन करेंगे और मरने के बाद भी परलोक में स्वर्ग-मोक्षादि सद्गति अवश्य प्राप्त करेंगे ॥४४३॥

अहियं मरणं अहियं च, जीवियं पावकम्मकारीणं ।

तमसम्मि पडंति मया, वेरं बह्वंति जीवंता ॥४४४॥

शब्दार्थ - रात-दिन पापकर्म करते रहने वाले व्यक्ति का मरना भी अहितकर और जीना भी अहितकर। क्योंकि मरने के बाद ऐसे जीव घोर-तामस-रूप नरक में जाते हैं और जीते रहते हैं तो भी वे अनेक जीवों का संहार करके वैरभाव बढ़ाते हैं ॥४४४॥

अवि इच्छति य मरणं, न य परपीडं करति मणसा वि ।

जे सुविहिपसुगडपहा, सोयरियसुओ जहा सुलसो ॥४४५॥

शब्दार्थ - कालसौकरिक कसाई के पुत्र सुलस के समान जिन्होंने सुगति का मार्ग (मोक्षमार्ग) भलीभाँति जान लिया है, वे दूसरे प्राणियों के कष्टों-संकटों के निवारण के लिए खुद मर जाना पसंद करते हैं, किन्तु मन से भी किसी दूसरे प्राणी को पीड़ा देना नहीं चाहते; शरीर और वचन से तो पीड़ा देने की बात ही दूर रही। सुलस ने जब से तत्त्वज्ञान और सुबोध पाया, तब से दूसरे जीव को तकलीफ नहीं पहुँचायी; वैसे ही तत्त्वज्ञ और मोक्षमार्ग वेत्ता पुरुष दूसरों को तकलीफ नहीं देते ॥४४५॥

प्रसंगवश यहाँ सुलस की कथा दी जा रही है।

सुलस की कथा

राजगृही नगरी में महाकूरकर्मा और अधार्मिक कालसौकरिक नामका पशुओं की कत्ल करने वाला कसाई रहता था। वह हमेशा ५०० भैंसों को मारता था और इसी पापमयी आजीविका से अपने कुटुंब का भरणपोषण करता था। उसके सुलस नाम का एक पुत्र था। उसने मंत्री अभयकुमार की संगति में धर्म का स्वरूप समझकर श्रावकव्रत अंगीकार कर लिये। इसके कुछ अर्से बाद एक बार कालसौकरिक के शरीर में एक भयंकर बीमारी पैदा हुई, जिससे उसे अत्यंत वेदना होने लगी। उस असह्य वेदना के मारे वह रोता, चिल्लाता, छटपटाता और हाय तोबा मचाता था। उसके सगे संबंधियों ने बहुतेरे इलाज करवाये, लेकिन वेदना शांत नहीं हुई। पिता की इस अपार पीड़ा को देखकर दुःखित हुए सुलस ने एक दिन अभयकुमार से बात की। अभयकुमार ने कहा-“भाई सुलस! सच कहूँ तो तुम्हारे पिता ने इस जिंदगी में अनेक बड़े-बड़े पापकर्म किये हैं, जिसके फल स्वरूप इसे नरक में जाना पड़ेगा; इसीलिए बढ़िया से बढ़िया दवा देने पर भी इसे आराम होना कठिन है। अतः मेरी राय में, इसके उपचार के लिए हलके किस्म की औषधियाँ दो, जिससे इसे कुछ शांति मिले।” अभयकुमार के सूझबूझ भरे परामर्श से सुलस ने घर आकर अपने पिता के शरीर पर विष्टा आदि बदबूदार वस्तुओं का लेप किया। तत्पश्चात् उसे बबूल और बेर की कंटीली शय्या पर सुलाया। कड़वी, कसैली, तीखी, चरचरी दवाईयाँ पिलाने लगा और गाय-भैंस आदि का पेशाब भी पिलाने लगा। फिर सूअर आदि जानवरों की विष्टा का धुँआ भी दिया और राक्षस, वैताल आदि डरावना रूप भी दिखाया। इस प्रकार के उपचार से कालसौकरिक के

शरीर में अत्यंत शांति हुई। उसे बड़ा आराम मिला। वह अपने मन में अब स्फूर्ति और प्रसन्नता महसूस करने लगा। इस प्रकार कालसौकरिक मरकर सप्तम नरक में पैदा हुआ।

उसकी मरणोत्तरक्रिया करने के बाद सुलस के परिवार वालों ने उससे कहा—“पिता की मृत्यु के बाद अब तुम भी प्रतिदिन ५०० भैंसे मारकर उस कमाई से अपने परिवार का भरण पोषण करो। अपने कुटुंब के अगुआ बन जाओ।” सुलस से साफ कह दिया—“मैं ऐसा पापकर्म कदापि नहीं करूँगा; क्योंकि ऐसे पापकर्म के करने से मुझे नरक में जाना पड़ेगा। उस समय कुटुंब का कोई भी व्यक्ति मुझे शरण या आधार देने वाला नहीं होगा। अपनी जीभ के स्वाद के लिए जो व्यक्ति हिंसा करता है, वह अवश्य ही दुर्गति में जाता है। किसी के एक कांटा चुभ जाय तो भी उसे बहुत पीड़ा होती है, तब अनाथ और अशरण पशुओं को शस्त्रादि से मारने से उन्हें कितनी पीड़ा होती होगी, इसका अंदाजा लगाना ही कठिन है। इसीलिए ऐसे पापकर्म के द्वारा कुटुंब के भरणपोषण करने से क्या लाभ? मुझे ऐसी हिंसावृत्ति से कोई मतलब नहीं। मैं ऐसे भयंकर पापजनक कर्म में नहीं पड़ूँगा।” यह सुनकर परिवार वाले कहने लगे—तुम्हें अकेले ही उस पाप के भागी नहीं होना होगा, हम भी तो उसमें हिस्सेदार होंगे। इसीलिए थोड़े-से पाप से डरकर तुम्हें अपनी कुलपरंपरा नहीं छोड़नी चाहिए।

परिवारवाले जब अपने आग्रह पर अड़े रहे तो सुलस ने उन्हें समझाने के लिए युक्ति सोचकर एक कुल्हाड़ी हाथ में ली और उसे अपने पैर पर मारी। इससे थोड़ी ही देर में वह लहुलुहान और अचेत होकर ज़मीन पर गिर पड़ा। यह देखकर सारे परिवार और पड़ोस के लोग इकट्ठे हो गये। थोड़ी देर बाद जब उसे होश आया तो वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा। अपने परिवार वालों से कहने लगा—“मुझे अत्यंत पीड़ा हो रही है; लो, तुम सब थोड़ी-थोड़ी बांट लो; जिससे मेरी पीड़ा कम हो जाये।” वे बोले—“दूसरे की पीड़ा इस तरह से बांटी या ली नहीं जा सकती।” सुलस ने अच्छा मौका देखकर कहा—“जब तुम मेरी इस पीड़ा में से हिस्सा नहीं ले सकते, तब मेरे पाप में से कैसे हिस्सा ले सकोगे? इसीलिए अपने कर्मों का फल जीव को खुद को भोगना पड़ता है, उसमें दूसरा कोई हिस्सा नहीं बांट सकता।” अपने बुद्धि कौशल से सुलस ने अपने सारे परिवार को भलीभांति समझा दिया। अब सुलस की अहिंसा और धर्म की बातें उनके गले उतर गयी।

अभयकुमार ने जब सुलस के बुद्धिकौशल से परिवार को बदलने की बातें सुनी तो वह हर्षित होकर सुलस के यहाँ आया। उसे कुशलमंगल पूछने के बाद उसने सुलस ने कहा—“भाई सुलस! तुमने नीच और हिंसाकर्म करने वाले कुल में जन्म लेकर भी अपने अहिंसा धर्म पर अड़ग रहे, हिंसा को जरा भी प्रश्रय नहीं दिया; धन्य है तुम्हें! तुम-सा मित्र पाकर मैं अत्यंत प्रसन्न और भाग्यशाली हूँ।” इस प्रकार अभयकुमार सुलस व उसके परिवार वालों से मिलकर उन्हें धन्यवाद देकर अपने घर लौटा। सुलस ने चिरकाल तक श्रावकधर्म का पालन किया और आयुष्य पूर्ण करके स्वर्ग में पहुँचा। इसी तरह जो जीव दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचाते, वे स्वर्गसुख प्राप्त करते हैं ॥४४५॥

मोलगकुदंडगादामगणिओ-चूलघंटीआओ य ।

पिंडेइ अपरितंतो, चउप्पया नत्थि य पसू चि ॥४४६॥

शब्दार्थ - जो व्यक्ति पशुओं को बांधने के लिए खूँटा, छोटे-छोटे बछड़ों के बांधने के लिए खीला, पशुओं को बांधने लिए रस्सी, गले में बांधने लायक घंटी आदि पशुओं की सारी शृंगारसामग्री तो इकट्ठी कर लेता है, परंतु अपने घर में एक भी गाय, भैंस आदि चौपाया जानवर नहीं रखता तो उसका इस प्रकार की सामग्री इकट्ठी करना व्यर्थ होता है ॥४४६॥

तह वत्थपापदंडग-उवगरणे, जयणकज्जमुज्जुतो ।

जस्सद्वाए किलिस्सइ, तं चिय मूढो न चि करेइ ॥४४७॥

शब्दार्थ - जैसे पशुओं के रखे बिना ही पशुओं के बांधने आदि का सामान इकट्ठा करने वाला हंसी का पात्र और बेवकूफ समझा जाता है; वैसे ही जो अविवेकी साधक वस्त्र, पात्र, दंड, रजोहरण आदि संयम की सकल सामग्री (धर्मोपकरण) अत्यंत ममतापूर्वक बेमर्याद इकट्ठी कर लेता है, लेकिन जिस उद्देश्य के लिए वह संयम की साधन सामग्री रखी है, उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन उपकरणों की जयणा जरा भी नहीं करता। उन्हें सहेज-सहेज कर रखता जरूर है, मगर उनका प्रतिलेखन-प्रमार्जन आदि नहीं करता, न दूसरे साधुओं को देता है। वह वास्तव में विचारमूढ़ है; क्योंकि संयम के लिए वह उपकरण जुटाने का सिर्फ कष्ट उठाता है, मगर उस संयम की कारणभूत यतना को नहीं अपनाता। इसीलिए उसका उपकरण इकट्ठे करना व्यर्थ है ॥४४७॥

अरिहंत भगवंतो, अहियं व हियं व न चि इहं किंचि ।

वारंति कारविति य, घित्तूण जणं बला हत्थे ॥४४८॥

शब्दार्थ-भावार्थ - राग-द्वेष रहित श्री अरिहंत भगवान् इस संसार में किसी का हाथ पकड़कर न तो जबरन जरा भी हित कराते हैं न किसी को अहित से रोकते हैं। मतलब यह है कि जैसे राजा मनुष्यों से जबर्दस्ती अपनी हितकारी आज्ञा पलवाता है व अहितकारी मार्ग से रोकता है, वैसे अरिहंत भगवान् नहीं करते ॥४४८॥

फिर भगवान् क्या करते हैं? इस विषय में ग्रंथकार स्वयं कहते हैं-

उवएसं पुण तं दित्ति, जेण चरिएण कित्तिनिलयाणं ।

देवाण वि हुंति पद्द, किमंग पुण मणुयमित्ताणं ॥४४९॥

शब्दार्थ - जिनेश्वर भगवान् भव्यजीवों को धर्मोपदेश देते हैं, जिसका आचरण करके वे कीर्ति के स्थान रूप देवों के भी स्वामी (इन्द्र) बनते हैं, फिर मनुष्य मात्र के स्वामी होने में तो आश्चर्य ही क्या? ॥४४९॥

वरमउडकिरीडधरो, चिचइओ चयलकुंडलाहरणो ।

सक्को हिओवएसा, एरायणवाहणो, जाओ ॥४५०॥

शब्दार्थ-भावार्थ - श्रेष्ठ मुकुटधारी, बाजुबंद आदि आभूषणों से सुशोभित, कानों में दिव्य चमकते हुए चपल कुंडल से विभूषित शक्रेन्द्र श्रीजिनेश्वर भगवान् के हितकर उपदेश के अनुसार आचरण करने से ऐरावत नामक हाथी की सवारी वाला बना। मतलब यह है कि कार्तिक सेठ के भव में इन्द्र ने श्री मुनिसुव्रत स्वामी का उपदेश सुनकर उनके पास दीक्षा ग्रहण की थी; और १२ वर्ष तक संयम की आराधना की। जिसके फल स्वरूप वे सौधर्मेन्द्र बन ॥४५०॥

रयणुज्जलाइं जाइं, बत्तीसविमाणसयसहस्साइं ।

वज्जहरेण धराइं, हिओवएसेण लद्धाइं ॥४५१॥

शब्दार्थ - सौधर्मेन्द्र को दिव्यरत्नादि से विभूषित देदीप्यमान और श्रेष्ठ ३२ लाख विमानों का स्वामित्व श्री वीतरागप्रभु के हितोपदेश के अनुसार आराधना करने से प्राप्त हुआ ॥४५१॥

सुरवइसमं विभूइं, जं पत्तो भरहचक्कवट्ठी वि ।

माणुसलोगस्स पद्द, तं जाण हिओवएसेण ॥४५२॥

शब्दार्थ - इस मनुष्य लोक में भी भरतचक्रवर्ती ने भी इन्द्र के समान ऐश्वर्य और भरतक्षेत्र के षट्खण्ड के अधिपति के रूप में जो प्रभुत्व पाया, उसे भी जिनेश्वर भगवान् के हितकर-उपदेशानुसार आचरण का फल समझो ॥४५२॥

लद्धूण तं सुइसुहं, जिणयणुवएस-मयबिंदुसमं ।

अप्पहिणं कायब्बं, अहिएसु मणं न दायब्बं ॥४५३॥

शब्दार्थ - अमृत के समान श्रवण सुखदायी जिनवचनोपदेशामृत की बूंदें पाकर भव्य जीवों को अपना हितकारी धर्मानुष्ठान अवश्य करना चाहिए, और जो अहितकर पापमय कार्य है उनमें चित्त नहीं लगाना चाहिए। काया और वचन को उनमें प्रवृत्त करने की तो बात ही कहाँ? जगत्-हितकर जिनवचन सुनने का यही सार है॥४५३॥

हियमप्पणो करिंतो, कस्स न होइ गरुओ गुरुगण्णो? ।

अहियं समापरंतो, कस्स न विप्पच्चओ होइ? ॥४५४॥

शब्दार्थ - अपनी आत्मा के लिए हितकारी धर्मानुष्ठान आदि करने वाले किस मनुष्य का गौरव गुरु के समान गणनापात्र नहीं होता? यानी जो आत्म-हिताचरण करता है, वह सब जगह प्रतिष्ठा पाता है। और आत्मा का अहित करने वाला कौन मनुष्य अविश्वासपात्र नहीं होता? वह सर्वत्र अविश्वसनीय होता है॥४५४॥

जो नियम-सील-तैव-संजमेहिं, जुतो करेइ अप्पहियं ।

सो देवयं व पुज्जो, सीसे सिद्धत्थओ च्च जणे ॥४५५॥

शब्दार्थ - जो भाग्यशाली नियम, शील (सदाचार), तप, संयम, व्रत-प्रत्याख्यान आदि से युक्त होकर आत्मा का हितकारी धर्मानुष्ठान करता है, वह देवता के समान पूजनीय बनता है। संसार में उसे सफेद सरसों की तरह मस्तक पर चढ़ाते हैं। जैसे संसार में लोग सफेद सरसों को अपने मस्तक पर चढ़ाते हैं; वैसे ही उस व्यक्ति की आज्ञा को लोग शिरोधार्य करते हैं ॥४५५॥

सव्यो गुणेहिं गण्णो, गुणाहियस्स जह लोगवीरस्स ।

संभंतमउडविडवो, सहस्स नयणो सययमेइ ॥४५६॥

शब्दार्थ - सभी जीव अपने गुणों से ही माननीय होते हैं। जैसे लोक-प्रसिद्ध महावीर स्वामी को सहस्रनेत्र एवं चंचल मुकुटाडंबरधारी इन्द्र सतत वंदन करने आता है। इसीलिए गुणवत्ता ही पूजनीयता का कारण है ॥४५६॥

चोरिक्क-यंचणा-कूडकवड-परदारदारुणमइस्स ।

तस्स च्विय तं अहियं, पुणो धि वेरं जणो यहइ ॥४५७॥

शब्दार्थ - चोरी करना, दूसरों को धोखा देना, झूठ बोलना, कपट करना, परस्त्री गमन आदि भयंकर पापकार्यों में जिसकी बुद्धि लगी हुई रहती है, उसके लिए ये पापाचरण अवश्य ही अहितकर हैं, परभव में ये नरक-तिर्यच-गति के कारण हैं ही इस भव में भी लोग ऐसे व्यक्ति से वैर रखते हैं और यह वैरपरंपरा आगे-से आगे कई जन्मों तक चलती है ॥४५७॥

जड़ ता तणकंचणलिट्टरणसरिसोवमो जणो जाओ ।

तइया नणु वोच्छिन्नो, अहिलासो दब्बहरणम्मि ॥४५८॥

शब्दार्थ - जब साधक तिनके और सोने में, पत्थर और रत्न में समान बुद्धि रखता है, उन दोनों में कोई अंतर नहीं देखता, तभी उसके जीवन में परधन हरण की अधिलाषा, लोभ, तृष्णा आदि का विच्छेद हुआ समझो ॥४५८॥

आजीवग-गणनेधा, रज्जसिरिं पयहिऊण य जमाली ।

हियमप्पणो करिंतो, न य वयणिज्जे इह पडंतो ॥४५९॥

शब्दार्थ-भावार्थ - राज्यलक्ष्मी का त्याग करके तथा शास्त्रों (सिद्धांतों) का अध्ययन करके भी भगवान् महावीर के दामाद जमाली ने, जो भगवान् महावीर से वेष धारण करके भी बाद में आजीविक-गण (निहव) का नेता बन गया था; आत्महितकारी धर्मानुष्ठान किया होता तो वह इस जगत् में निन्दापात्र न होता। अर्थात्-मिथ्याभिमानवश 'कडेमाणे कडे' इन भगवान् महावीर के सिद्धांतवचनों का उत्थापन करके जमाली जगत् में अति निन्दनीय बना ॥४५९॥

प्रसंगवश यहाँ जमाली की कथा दे रहे हैं—

जमाली की कथा

कुण्डपुर नगर में जमाली नामक एक अत्यंत ऋद्धिसंपन्न क्षत्रिय रहता था। यौवन-अवस्था में पहुँचते ही श्रीमहावीर स्वामी की पुत्री सुदर्शना के साथ उसने विवाह किया। और भी कई राजकन्याओं के साथ उसका विवाह हुआ। सांसारिक सुखों का उपभोग करता हुआ वह आनंद पूर्वक जीवन बिता रहा था। ऐसे ही समय में भगवान् महावीर स्वामी का वहाँ पदार्पण हुआ। जमाली भगवान् महावीर के दर्शनार्थ पहुँचा। भगवान् महावीर का धर्मोपदेश सुनकर उसे वैराग्य हो गया। संसार की असारता जानकर उसने ५०० राजकुमारों के साथ खूब धूमधाम से मुनि दीक्षा अंगीकार की। भगवान् महावीर की पुत्री सुदर्शना ने भी बहुत-सी महिलाओं के साथ दीक्षा ली। भगवान् महावीर ने उसके साथ में दीक्षित ५०० राजकुमारों को जमाली के शिष्य घोषित किये। जमाली ने क्रमशः ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। छट्ठ, अष्टम आदि विविध तपश्चर्या भी करने लगा। एक बार जमाली मुनि ने भगवान् से पृथक् विहार करने की अनुमति मांगी। परंतु उन्होंने उसका भविष्य अंधकारमय जानकर अलग विहार करने की आज्ञा नहीं दी। तब जमाली ने आज्ञा की परवाह न करके ५०० शिष्यों के साथ पृथक् विहार कर दिया।

विहार करते हुए जमाली एक बार श्रावस्ती नगरी में पहुँचा। वहाँ नगरी

के बाहर कोष्ठकवन में निवास किया। वहाँ जमाली के शरीर में महाज्वर उत्पन्न हुआ। ज्वर की महावेदना सहन न होने से उसने अपने एक शिष्य को बुलाकर कहा—“मेरे लिये संथारा बिछा दो। शिष्य संथारा बिछाने लगा। असह्य वेदना सहन न होने से अधीरता पूर्वक जमाली ने फिर शिष्य से पूछा—“क्या संथारा हो गया?” “हो ही गया समझिए।” शिष्य ने उत्तर दिया। सुनते ही जमाली तुरंत जहाँ शय्यासन बिछाया जा रहा था, वहाँ आया और देखकर बोला—“वत्स! तू तो अभी तक संथारा बिछा रहा है, फिर असत्य क्यों बोला कि संथारा हो गया।” शिष्य ने कहा—“भगवन् महावीर के ‘कडेमाणे कडे’ (अर्थात् किसी कार्य को प्रारंभ कर देने पर वह कार्य संपन्न हो गया) सिद्धांतवचन हैं। इसके अनुसार मैंने सत्य ही कहा है।” यह सुनते ही जमाली के दिमाग में सहसा एक विचार सूझा और उसने फौरन अपने शिष्य से कहा—“वत्स! भगवान् का यह वचन असत्य है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष रूप से विरुद्ध दिखता है। इससे भूत और भविष्यकाल में पूर्वापर विरोध आता है। इसीलिए कार्य करने के बाद ही कार्य किया, ऐसा कहना उचित है। वह कार्य किया जा रहा हो तो ‘उस कार्य को किया,’ ऐसा नहीं कहना चाहिए।” यह सुनकर जमाली के सभी शिष्यों ने तर्क प्रस्तुत किया—“गुरुदेव! यह बात अभी हमारे गले नहीं उतरी। क्योंकि लोक-व्यवहार में कोई आदमी किसी गाँव को जाने के लिए चल पड़ा; लेकिन अभी तक उस गाँव में पहुँचा नहीं है; बल्कि उस गाँव के बाहर ही खड़ा है; तो भी उसके घरवालों से पूछने पर उत्तर मिलता है—“वह फलां गाँव गया है। कोई बर्तन थोड़ा-सा फूट गया हो तो भी वह फूटा हुआ कहलाता है। किसी कपड़े का थोड़ा-सा हिस्सा फट जाने पर भी वह कपड़ा फट गया कहलाता है। इसी तरह करते हुए कार्य को भी किया कहना लोकव्यवहार से और ‘कडेमाणे कडे’ के निश्चित सिद्धांत से संगत वचन है। यदि प्रथम समय में कार्य की उत्पत्ति नहीं मानी जायगी, तो दूसरे, तीसरे और चौथे समय में भी कार्य संपन्न हुआ नहीं माना जायेगा। फिर तो पूर्ण होने के अंतिम क्षण में ही कार्यसिद्धि कार्यसंपन्नता—कही जायगी और ऐसा मानने पर प्रथम आदि समय में जो कार्य हुआ, वह समय व्यर्थ कहलायेगा और सारा कार्य पूर्ण होने के अंतिम क्षण में ही संपन्न नहीं होता प्रतीत होता है; पहले के समयों ने ही उस कार्य को अंतिम सिरे (पूर्णता) तक पहुँचाया है। अतः ‘कार्य की समाप्ति होने पर ही कार्य हुआ,’ यह आपका कथन लोकव्यवहारविरुद्ध और सिद्धांत से असंगत मालूम होता है। भगवान् महावीर का कथन ही हमें तो युक्तियुक्त और सत्य लगता है।” शिष्यों की इन अकाट्ययुक्तियों के सामने जमाली हतप्रभ और निरुत्तर तो हो गया; फिर भी

अपने हठाग्रह पर अड़ा रहा। जमाली के इस रवैये को देखकर कई शिष्य उसे जिनवचनों का उत्थापक और स्वकल्पित मत स्थापक तथा अयोग्य जानकर छोड़कर भगवान् महावीर की सेवा में चले गये।

जमाली धीरे-धीरे स्वस्थ हुआ। विहार करते-करते एक बार वह चंपानगरी पहुँचा; वहाँ भगवान् महावीर स्वामी उन दिनों बिराजमान थे। जमाली उनके पास पहुँचा और लोगों को सुनाते हुए उनसे सगर्व कहने लगा—“मैं तुम्हारे दूसरे शिष्यों की तरह छद्मस्थ नहीं हूँ, अपितु केवलज्ञानी हूँ।” इस पर श्री गौतम स्वामी ने उससे पूछा—“यदि तुम केवलज्ञानी हो तो बताओ, यह लोक शाश्वत है या अशाश्वत?” जीव शाश्वत है या अशाश्वत?” यह सुनते ही जमाली चकरा गया और सच्चा उत्तर देने में असमर्थ होने के कारण काफी द्वेर तक सोचता रहा। तब श्री गौतमस्वामी ने कहा—“जमाली! तुम तो अपने को केवली कहते हो! फिर चुप क्यों हो गये? प्रश्न का सही उत्तर तो दो! अगर तुम खुद केवली होते हुए भी इस जरा-से प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते तो लो, मैं छद्मस्थ होते हुए भी तुम्हें इसका उत्तर देता हूँ, सुनो—लोक दो प्रकार का है—शाश्वत और अशाश्वत। द्रव्यतः यह लोक शाश्वत (नित्य) है, और पर्याय से अर्थात् उत्सर्पिणी आदि काल की दृष्टि से यह अशाश्वत है। तथा जीव भी द्रव्य की दृष्टि से नित्य है, किन्तु देव-मनुष्य-नरक-तिर्यच-गति-रूप पर्याय की दृष्टि से यह अनित्य है।” परंतु जमाली उस उत्तर को ठुकराकर चुपचाप वहाँ से चला गया; बल्कि वह चंपानगरी से भी विहार करके श्रावस्ती पहुँच गया।

सुदर्शना साध्वी ने जब जमाली के बारे में सुना तो वह भी उसी के मत-पक्ष में हो गयी। संयोगवश सुदर्शना साध्वी भी उसी नगरी में भगवान् महावीर के उपासक ढंक नामक कुंभार की उद्योगशाला में ठहरी हुई थी। वह भी जब जमाली के मत की प्ररूपणा करने लगी तो ढंक कुंभार को बड़ा आश्चर्य हुआ कि “भगवान् महावीर की पुत्री होकर भी गृहस्थपक्षीय पति के मोहवश असत्य प्ररूपणा कर रही है। इसे किसी भी युक्ति से समझा दूँ तो ठीक रहेगा।” अतः उसने प्रथम प्रहर के समय स्वाध्याय करती हुई साध्वी सुदर्शना की चादर पर एक अंगारा डाला। इससे उस पर दो-तीन छेद हो गये। यह देखकर साध्वी एकदम बोल उठी—“श्रावक! यह तुमने क्या किया? मेरी सारी चादर जला दी।” ढंक ने अच्छा मौका समझकर कहा—“साध्वीजी! ऐसा मत कहिए! जलते हुए भी जल गया कहना, यह तो भगवान् का मत है। तुम्हारा मत तो पूरा कपड़ा जल जाने के बाद ही जल गया कहने का है। इसीलिए भगवान् के वचनों के अनुसार व्यवहार

करना हो तो अब उनके वचन सत्य मानो और इस असत्य प्ररूपणा को छोड़ो।" सुदर्शना ढंक की बातों से बड़ी प्रभावित हुई और उसने भगवान् के वचन को सत्य स्वीकार किया। तत्पश्चात् उसने जमाली के पास आकर स्पष्ट कह दिया—“मैं प्रत्यक्ष रूप से असत्य तुम्हारे मत को नहीं मानती; मैं तो भगवान् के मत को ही प्रत्यक्ष व्यवहार संगत और सत्य मानती हूँ।” इस पर जमाली अपने हठाग्रह से टस से मस न हुआ। *कर्मगति विचित्र है।*

सुदर्शना साध्वी भगवान् के पास आकर अपनी असत्य प्ररूपणा को तिलांजलि (मिथ्या दुष्कृत) देकर शुद्ध चारित्र-पालन करने लगी। वह केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में पहुँची। मगर जमाली मिथ्या प्ररूपणा करने के कारण अनेक दिनों तक कष्ट सहकर अंत में १५ दिनों का अनशन करके आयुष्य पूर्ण होने पर *जिनवचन की विराधना* के फलस्वरूप किल्बिषिक नामक नीची जाति का देव बना। वहाँ से आयु पूर्ण कर चिरकाल तक वह संसार की विविध योनियों में भटकता रहेगा।

इसीलिए श्री जिनेश्वर देव के वचनों का उत्थापन करके जैसे जमाली ने दीर्घकाल तक संसार-परिभ्रमण में वृद्धि की और इस लोक में भी निन्दा का भागी बना; वैसे ही यदि कोई जिनवचन की विराधना करेगा, वह भी इस लोक में निन्दा का भाजन और परलोक में दुर्गति का अधिकारी व चिरकाल तक संसार परिभ्रमण करने वाला बनेगा। इसीलिए बीतरागी निःस्पृह महापुरुषों के वचन को यथातथ्य रूप में स्वीकार करना चाहिए; यही इस कथा का सारांश है ॥४५९॥

इंदियकसायगारवमएहिं, सययं किलिद्रपरिणामो ।

कम्मघणमहाजालं, अणुसमयं बंधई जीवो ॥४६०॥

शब्दार्थ-भावार्थ - स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों के विषय, क्रोधादि चार कषाय, रसादि तीन गारव (गर्व), जाति आदि आठ मद रूप प्रमाद के आचरण से अत्यंत मलिन परिणामी बना हुआ संसारी जीव प्रतिक्षण कर्म रूपी बादलों के महा-जाल को बांधता रहता है। जैसे बादलों का महा-जाल चंद्रमा की चांदनी को ढक देता है, वैसे ही कर्म रूपी महाजाल आत्मा के ज्ञानादिगुणों को ढक देता है। अतः कर्मबंध के महाजाल के कारण रूप प्रमादाचरण का त्याग करना चाहिए ॥४६०॥

परपरिवायविसाला, अणेगकंदप्पविसयभोगेहिं ।

संसारत्था जीवा, अरइविणोअं करिनेवं ॥४६१॥

शब्दार्थ - दूसरों की निन्दा करने में आसक्त संसारी जीव अनेक प्रकार के

कामोत्तेजक विषय भोगों का सेवन करके दूसरों में अरति (अरुचि) पैदा करके अपना मनोविनोद करता है; यानी दूसरों को दुःखित करके अपनी आत्मा को संतुष्ट करता है; वह अपने रागद्वेषादि विकारों के कारण संसार में परिभ्रमण करता है ॥४६१॥

आरंभपावनिरया, लोडअरिसिणो तहा कुलिंगी य ।

दुहओ चुक्का नवरं, जीवति दरिद्रजियलोयं ॥४६२॥

शब्दार्थ - पृथ्वीकाय आदि ६ काय के प्राणियों का मर्दन करने वाले, भोजन बनाने में ही रचे-पचे रहने वाले लौकिक ऋषि, तापस, त्रिदण्डी आदि कुलिंगी (वेषधारी) साधु, साधु-धर्म और श्रावक-धर्म दोनों से भ्रष्ट होकर धर्म रूपी धन से बिलकुल दरिद्र होकर इस संसार में केवल उदर पूर्ति के लिए जीते हैं ॥४६२॥

सव्वो न हिंसियव्वो, जह महिपालो तहा उदयपालो ।

न य अभयदानवड्ढणा, जणोवमाणेण होयव्वं ॥४६३॥

शब्दार्थ - अभयदानव्रती साधु को संसार के किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। राजा हो या रंक दोनों पर उसे समदृष्टि रखनी चाहिए। किसी ने उस पर प्रहार किया हो या अपमान किया हो, उससे बदला लेने की भावना नहीं रखनी चाहिए। सर्वत्र अमृतमयी वात्सल्य-दृष्टि रखने का अभ्यास करना चाहिए ॥४६३॥

पाविज्जइ इह वसणं, जणेण तं छगलओ असतो ति ।

न य कोइ सोणियबलिं, करेइ वग्घेण देवाणं ॥४६४॥

शब्दार्थ-भावार्थ - क्षमाशील पुरुष का संसार में बेसमझ लोग उपहास किया करते हैं कि 'यह तो बेचारा बकरी-सा कमजोर है। इसे कोई भी दबा सकता है।' इस अपमान से प्रताड़ित होकर भी वह अपनी क्षमा नहीं छोड़ता। 'देवों को बाघ के खून की बलि नहीं दी जाती, बेचारे गरीब बकरे की ही बलि दी जाती है। इसीलिए बलवान को कोई नहीं मार सकता; स्वार्थी लोगों के इस प्रकार के वचन सुनकर भी क्षमाधारी वे समतावान पुरुष अपनी उत्तम वृत्ति को नहीं छोड़ते। वे तो क्षमावृत्ति में ही स्थिर रहते हैं ॥४६४॥

वच्चइ खणेण जीवो, पित्तानिलधाउ सिंभग्रोभम्मि ।

उज्जमह मा विसीयह, तरतमजोगो इमो दुलहो ॥४६५॥

शब्दार्थ - भव्यजीव! यह जीव वात, पित्त और कफ तथा सप्तधातुओं के विकार से बना हुआ है; इनके क्षुब्ध होते ही यह एक पल में नष्ट हो जाता है। यह सोचकर क्षमा आदि दस धर्मों के पालन में उद्यम कर। क्योंकि धर्म साधन योग्य तुम्हें जैसी भी शरीरादि सामग्री न्युनाधिक रूप में मिली है, वह बड़ी ही दुर्लभ है। इसीलिए

किसी प्रकार का विषाद मत कर, अकर्मण्य बनकर मत बैठ; झटपट इस दुर्लभ सामग्री से लाभ उठा ॥४६५॥

पंचिदियतणं माणुसतणं, आरिए जणे सुकुलं ।

साहुसमागम-सुणणा, सहहणाडरोगपव्वज्जा ॥४६६॥

शब्दार्थ - इस संसार में सर्वप्रथम पांचों इन्द्रियों का मिलना दुर्लभ है। उसके बाद मनुष्यत्व (मनुष्यजन्म तथा मानवता) प्राप्त करना दुर्लभ है। उसके मिलने पर भी मगध आदि आर्यदेश में जन्म होना कठिन है। फिर उत्तमकुल में पैदा होना दुष्कर है। इतना हो जाने पर भी सुसाधुजनों का समागम मिलना सुलभ नहीं। सुसाधु-समागम मिलने पर भी धर्मश्रवण करना दुर्लभ है। उसके बाद उस पर दृढ़ श्रद्धा होना मुश्किल है। श्रद्धा तो है, मगर शरीर निरोग नहीं तो प्रव्रज्या नहीं ली जा सकती। इसीलिए शरीर स्वस्थता और उसके बाद मुनि दीक्षा लेना अत्यंत दुर्लभ है ॥४६६॥

आउ संयिल्लंतो, सिढिलंतो बंधणाइं सव्वाइं ।

देहड्डिइं च मुयंतो, झायइ कलुणं बहू जीवो ॥४६७॥

शब्दार्थ - आयु जब पूर्ण होने आती है, तब शरीर के सारे अंगोपांग ढीले हो जाते हैं, अवयवों के जोड़ लड़खड़ा जाते हैं; और जब इस शरीर को छोड़ने लगता है, तब धर्माचरण से रहित जीव करुणस्वर से बहुत पश्चात्ताप करता है कि "हाय! मैंने अपने शरीर के स्वस्थ रहते, जवानी में सर्वोत्तम जिनप्रणीत धर्म-(शासन) प्राप्त करके भी मैंने अज्ञान, मोह और प्रमादवश विषय-लोलुपता में फँसकर अपनी अमूल्य जिंदगी खो दी, मगर आत्महितकर धर्मसाधना नहीं की! अब मेरी क्या दशा होगी?" इस प्रकार वह शोकसागर में डूबा रहता है ॥४६७॥

इक्कं पि नत्थि जं सुट्ठु, सुचरियं जह इमं बलं मज्झ ।

को नाम दढक्कारो, मरणंते मंदपुण्णस्स ॥४६८॥

शब्दार्थ - मैंने एक भी ऐसे सुकृत (पुण्य-शुभ-कर्म) का आचरण अच्छी तरह नहीं किया, जिसके बल पर मैं आगामी जन्म में सुखी हो सकूँ। प्राप्त उत्तम सामग्री को मैंने निरर्थक खो दी। अतः अब मुझ अभाग (हीनपुण्य) का मृत्यु के अंतिम क्षणों में कौन-सा मजबूत सहारा है? ॥४६८॥

सूल-विस-अहि-विसूईय-पाणीय-सत्थगिसंभमेहिं च ।

देहंतरसंकमणं, करेइ जीवो मुहुतेण ॥४६९॥

1. तुलना : लोहाय नाव जलधौ भिनति, सूत्राय वैदूर्यमणिं दणाति । सच्चन्दनं ह्योषति भस्मनेऽसौ, यो मानुषत्वं नयतीन्द्रियार्थे ।

शब्दार्थ-भावार्थ - और इस प्रकार पश्चात्ताप करता हुआ जीव उदरपीड़ा से, पानी में डूबकर, जहर खाकर, सांप के कांटने से, पेचिश रोग से, किसी शस्त्र के प्रहार से, अग्नि में जलकर या अत्यंत भय अथवा अत्यंत हर्षविषे से सहसा हृदयगति रुक जाने से एक ही मुहूर्त में एक देह को छोड़कर दूसरा देह पा लेता है। कहने का मतलब यह है कि ऐसा अधर्मी जीव किसी न किसी कारणवश सहसा चल बसता है; और हाथ मलता ही रह जाता है; उसके मन के मंसूबे धरे रह जाते हैं। इसीलिए ऐसा समय आय उससे पहले ही आत्महित के लिए धर्मसाधना कर लेनी चाहिए, ताकि बाद में पछताने का मौका न आये ॥४६९॥

कतो चिंता सुचरिष्यतवस्स, गुणसुद्धियस्स साहुस्स? ।

सुगण्डगमपडिहत्थो, जो अच्छड़ नियमग्रियभरो ॥४७०॥

शब्दार्थ - जिस साधु ने भलीभांति तप-संयम की आराधना की है और महाव्रतादि गुणों में जो सुस्थित है, उसे किस बात की चिन्ता हो सकती है? क्योंकि सुगतिगमन तो व्रत-नियम आदि के परिपालन में समर्थ, धर्म-धन से परिपूर्ण ऐसे साधु के हाथ में ही होता है ॥४७०॥

साहंति य फुड वियडं, मासाहससउणसरिसया जीवा ।

न य कम्मभारगरुयत्तणेण तं आयरंति तहा ॥४७१॥

शब्दार्थ - संसार में लोग जितना और जैसा स्पष्ट रूप से उपदेश झाड़ते हैं, उतना और वैसा वे स्वयं आचरण नहीं करते; क्योंकि वे अपने दुष्कर्मों के भार से बोझिल बने हुए हैं। ऐसे परोपदेश कुशल, किन्तु आचरण दुर्बल मासाहस नामक पर्वतीय पक्षी की तरह हैं; जो बाद में पछताते हैं ॥४७१॥

इसका दृष्टांत ग्रंथकार स्वयं आगे की गाथा में दे रहे हैं—

वग्घमुहम्मि अङ्गओ, मंसं दंतंतराउ कड्ड ॥

‘मा साहसं’ ति जंपड़, करेड़ न य तं जहाभणियं ॥४७२॥

शब्दार्थ-भावार्थ - जंगल में एक बाघ मुंह फाड़े सोया था। उसकी दाढ़ों में मांस का कुछ अंश लगा हुआ था। ‘मासाहस’ नाम का एक पक्षी रोजाना उसके मुंह में घुसकर मांस निकाल लाता और पेड़ पर बैठकर खाता था। फिर वह बोलता— ‘मा साहसं कुरु’, ‘मा साहसं कुरु’ (साहस मत करो, साहस मत करो)। परंतु जैसा वह कहता था, उसके अनुसार स्वयं करता नहीं था। वह खुद बार-बार बाघ के मुंह में से मांस निकालने का साहस किया करता था। दूसरे पक्षियों ने उसे ऐसा करने से रोका, मगर वह नहीं माना। एक दिन जब बाघ सोया हुआ था तब वह मांस लोलुप

मासाहस पक्षी उसके मुंह में घुसकर मांस निकालने लगा। इतने में सहसा बाघ जाग गया और उस पक्षी को अपने मुंह में दबोचकर उसका काम तमाम कर डाला। इसी तरह जो व्यक्ति दूसरों को उपदेश तो बहुत देते हैं, मगर स्वयं उस पर अमल नहीं करते; उनकी भी अंत में मासाहस पक्षी के जैसी ही दुर्दशा होती है ॥४७२॥

परिपट्टिऊण गंथत्थवित्थरं निहसिऊण परमत्थं ।

तं तह करेह जह तं, न होइ सच्चपि नडपडियं ॥४७३॥

शब्दार्थ-भावार्थ - ग्रंथ (सूत्र) के अर्थों का विस्तार से बार-बार दोहराकर घोटकर याद करके और उसके परमार्थ को अच्छी तरह समझकर भी भारी कर्मा साधक उसके अनुसार आचरण नहीं करता; इससे उसकी मुक्ति रूप कार्यसिद्धि नहीं होती। बल्कि उसका सारा सूत्रार्थ कण्ठस्थ करना नट के द्वारा रंगमंच पर बोलने के समान होता है। जैसे कुशल नट पहले नाटक के पाठ को अच्छी तरह घोटकर कण्ठस्थ करके फिर रंगमंच पर ज्यों का त्यों बोल देता है, परंतु उसके जीवन में वह बिल्कुल उतरा नहीं होता; वैसे ही बहुत-से शास्त्र या ग्रंथ कण्ठस्थ कर लेने पर भी जिसके जीवन में जरा भी नहीं उतरे होते; उसके लिए वे व्यर्थ व दिमाग के बोझ हैं ॥४७३॥

पढइ नडो वेरग्गं, निविज्जिज्ज य बहुजणो जेण ।

पट्टिऊण तं तह सडो, जालेण जलं समोपरइ ॥४७४॥

शब्दार्थ-भावार्थ - नट रंगमंच पर आकर वैराग्य की ऐसी बातें करता है कि उससे अनेक लोगों को वैराग्य हो जाता है; मगर उस पर अपनी बातों का कोई असर नहीं होता, वैराग्य का रंग नहीं चढ़ता। इसी प्रकार सूत्रार्थ का भलीभांति अध्ययन करके मायावी (शठ) साधक भी वैराग्य का उपदेश देकर अनेक लोगों को वैराग्य पैदा कर देता है, मगर उस पर वैराग्य (धर्म से विपरीत बातों से विरक्त होने) का रंग नहीं चढ़ता। जैसे मछलियाँ पकड़ने वाला अपने जाल को लेकर स्वयं जल में प्रवेश करता है, उसे फँसाता है; और मछलियों को फँसा लेता है; वैसे ही मायावी साधक भी वैराग्य की बातों की अपनी मायाजाल फँसाकर भोले लोगों को उसमें फँसा लेता है। मगर ऐसा करने से उस मायापूर्ण चेष्टा वाले साधक का शास्त्राध्ययन भी उसका कल्याणकर्ता व मोक्षदाता नहीं होता; बल्कि निरर्थक और कर्मबंध का कारण होता है। अतः मायाजाल छोड़कर सरलभाव से शास्त्रोचित प्रवृत्ति करने से ही कल्याण हो सकता है ॥४७४॥

कह कह करेमि, कह मा करेमि, कह कह कयं बहुकयं मे ।

जो हियसंपसारं, करेइ सो अइकरेइ हियं ॥४७५॥

शब्दार्थ - जो विवेकी साधक हृदय में विचार करता है कि "मैं किस-किस तरह से धर्माचरण करूँ? किस तरह से न करूँ? और किस-किस प्रकार से किया गया धर्माचरण मेरे लिये अतीव (गुण) लाभकारी हो सकता है?" वही अपना आत्मकल्याण अत्यंत मात्रा में कर सकता है ॥४७५॥

सिद्धिलो अणायरकओ, अवसयसकओ तह कयावकओ ।

सययं पमतसीलस्स, संजमो केरिसो होज्जा? ॥४७६॥

शब्दार्थ - जो संयम का आचरण करने में शिथिल रहता है, या संयम का अनादर करता है, कुछ गुरु की पराधीनता से करता है, कुछ अपनी स्वच्छंदता से करता है, कुछ संपूर्ण रूप से आराधना न होने से, कुछ विराधना होने से निरंतर प्रमादशील रहता है; बताओ, ऐसे व्यक्ति का संयम पालन कैसा और क्या रंग ला सकता है? क्योंकि उसकी आराधना विराधना जैसी होती है। अतः ऐसा व्यक्ति संयम में सफल नहीं होता; उसका चारित्र निस्सार है ॥४७६॥

चंदोव्व कालपक्खे, परिहाय पए-पए पमायपरो ।

तह उग्घरविघर-निरंगणो य न य इच्छियं लहइ ॥४७७॥

शब्दार्थ - जैसे चन्द्रमा कृष्णपक्ष में प्रतिदिन क्षीण होता जाता है, वैसे ही पद-पद पर प्रमाद परायण साधक के गुण दिनानुदिन घटते जाते हैं। यद्यपि वह गृहस्थ-धर्म का त्यागकर गृह-गृहिणी से रहित होकर साधु-धर्म में दीक्षित होता है, तथापि प्रमादाचरणवश अशुभ अध्यवसाय के कारण वह स्वर्गादि वांछनीय फल प्राप्त नहीं कर सकता ॥४७७॥

भीउब्धिगनिलुक्को, पागडपच्छन्नदोससयकारी ।

अप्पच्चयं जणतो, जणस्स थी जीयियं जिणइ ॥४७८॥

शब्दार्थ - अपने किये हुए पापाचरण के प्रकट हो जाने के भय से जो मन में सदा उद्धिग्न रहता है, लोगों की नजरों से बचता-छिपता रहता है, अपने किये हुए पापों पर पर्दा डालता रहता है; और खुल्ले आम सैकड़ों दोषों का सेवन करता रहता है; ऐसा व्यक्ति अपना निन्द्यजीवन लिये हुए अविश्वास पैदा करता रहता है। धिक्कार है उसके जीवन को! ॥४७८॥

न तहिं दिवसा पक्खा, मासा वरिसा यि संगणिज्जंति ।

जे मूल-उत्तरगुणा, अक्खलिया ते गणिज्जंति ॥४७९॥

शब्दार्थ - वे दिन, वे पक्ष, वे मास या वे वर्ष निरर्थक गिने जाते हैं, जो धर्माचरण के बिना बीते हों। परंतु जो दिन-मासादि धर्माचरण-मूलगुण-उत्तरगुण रूप धर्म-की निरतिचार आराधना पूर्वक बीते हों, वे ही सार्थक गिने जाते हैं। मतलब यह है कि जो समय धर्मयुक्त बीते वही सार्थक है, चाहे वह थोड़ा ही क्यों न हो। बाकी का सारा समय निरर्थक है ॥४७९॥

जो नवि दिणे-दिणे संकलेइ, के अज्ज अज्जिया मए गुणा? ।

अगुणेंसु य न य खल्लिओ, कह सो उ करेइ अप्पहिंयं? ॥४८०॥

शब्दार्थ-भावार्थ - जो साधक प्रतिदिन इस प्रकार का संकलन विचार नहीं करता कि आज मैंने कौन-से ज्ञानादि गुण प्राप्त किये? किन-किन मिथ्यात्वादि दुर्गुणों से मैं आज स्थूलित (लिस) नहीं हुआ? यानी जो अहर्निश इस प्रकार का चिन्तन नहीं करता, प्रमाद और अतिचार रूप अवगुण को नहीं छोड़ता, उसी ढर्रे पर (आचरण पर) चलता रहता है; वह साधक अपना आत्महित कैसे कर सकता है? सतत आत्म-निरीक्षण करने वाला साधक ही स्व-पर हित कर सकता है ॥४८०॥

इय गणियं इय तुल्लिअं, इय बहुआ दरिसियं विषमियं च ।

जह तहवि न पडिबुज्झइ, किं कीरउ नूण भवियच्चं ॥४८१॥

शब्दार्थ-भावार्थ - इसी ग्रंथ में पहले अनेक स्थलों पर श्री ऋषभदेव स्वामी और श्री महावीर स्वामी के समान धर्माचरण में पुरुषार्थ करने के, अवन्तीसुकुमाल आदि की तरह प्राणांत कष्ट आ पड़ने पर भी धर्म को नहीं छोड़ने के, और जिनकल्पी के समान चर्या रखने वाले आर्यमहागिरि आदि के दृष्टांत विभिन्न तरीकों से बताये हैं; समिति, गुप्ति, विषय, कषायादि पर विजय आदि के सुफल बताने वाली अनेक युक्तियाँ देकर समझाया है, तथा अनेक प्रकार से सुकर्म-कुर्म के फल भी प्रदर्शित किये हैं, अधर्म, प्रमाद, पाप आदि के आचरणों के नरकादि दुष्फल बताकर उनसे विरत होने का उपदेश दिया है; फिर भी भारीकर्मा दीर्घसंसारी जीव प्रतिबोधित नहीं होता; उसे यह उपदेश रुचिकर नहीं लगता। लघुकर्मा जीव को ही शीघ्र प्रतिबोध लग सकता है, भारीकर्मा को नहीं। अतः उन भारीकर्मा जीवों की ऐसी भवितव्यता समझना ॥४८१॥

किममं तु पुणो जेणं, संजमसेढी सिढिलीकया होइ ।

सो तं चिय पडिबुज्झइ, दुक्खं पच्छा उ उज्जमइ ॥४८२॥

शब्दार्थ-भावार्थ - जो पुरुष संयमश्रेणी-ज्ञानादि गुणों की श्रेणी को शिथिल करता है, उसकी शिथिलता दिन-ब-दिन अवश्य ही बढ़ती जाती है। और बार-बार

शिथिल होने के पश्चात् उसे संयम में उद्यम करना दुःख कर लगता है। इसीलिए शिथिलता प्रवेश होने के साथ ही उसे फौरन निकाल देनी चाहिए ॥४८२॥

जइ सच्चं उवलह्छं, जइ अप्पा भाविओ उवसमेण ।

कायं वायं च मणं, उप्पहेणं जह न देई ॥४८३॥

शब्दार्थ - ऐ भव्यजीव! यदि तुमने पूर्वोक्त समस्त सामग्री प्राप्त की है और आत्मा को उपशमभाव से सुसज्जित कर लिया है तो अब ऐसा उपाय करो, जिससे तुम्हारा शरीर, मन और वचन प्रमादवश उन्मार्ग पर न चला जाय ॥४८३॥

हत्थे पाए न खिच्चे, कायं चालिज्ज तं पि कज्जेण ।

कुम्मु व्य सए अंगम्मि, अंगुवंगाइ गोविज्जा ॥४८४॥

शब्दार्थ - साधक को अपने हाथ-पैर निष्प्रयोजन नहीं हिलाने चाहिए। शरीर को भी तभी चलाना चाहिए, जब जानादि गुणों का अभ्यास करना हो, गुरुसेवा करनी हो, अथवा अन्य कोई अनिवार्य कारण हो। तथापि जैसे कछुआ अपने अंगों को अंदर ही सिकोड़ लेता है, वैसे ही साधक को अपने समस्त अंगोपांगों को सिकोड़कर उनका संगोपन (सुरक्षण) करना चाहिए ॥४८४॥

इस संबंध में कछुए का दृष्टांत देकर समझा रहे हैं—

अंगसंगोपनकर्ता कछुए का दृष्टांत

वाराणसी नगरी में गंगानदी के पास ही मृदंग नामक एक बड़ा सरोवर था। उसके निकट ही मालुयाकच्छ नाम का बड़ा भारी एक जंगल था। उसमें दो दुष्ट गीदड़ रहते थे। वे बड़े प्रचंड और भयंकर क्रूरकर्मा थे। एक दिन उस सरोवर में से दो कछुए बाहर निकले। दुष्ट गीदड़ उन्हें देखते ही मारने के लिए झपटे। पापी गीदड़ों को अपनी ओर आते देखकर फौरन उन दोनों कछुओं ने अपने अंग अंदर सिकोड़ लिये। गीदड़ों ने उन दोनों को पैरों से इधर-उधर घसीटा, ऊंचा-नीचा किया, पछाड़ा, नखों से कुरेदा और मारने के लिए बहुत पैर पीटे। मगर कछुए टस से मस न हुए, उन्होंने अपना एक भी अंग जरा-सा भी बाहर नहीं निकाला। इसीलिए दोनों कछुओं का वे दुष्ट गीदड़ कुछ भी बिगाड़ न सके। निरुपाय होकर वे कपटी गीदड़ वहीं नजदीक ही कहीं छिपकर बैठ गये। कुछ ही देर बाद एक कछुए ने इस विचार से कि शायद अब गीदड़ चले गये हैं, अपने अंग बाहर निकाले। दुष्ट गीदड़ ने जब उस कछुए को अंग बाहर निकालते देखा तो उन्होंने एकदम झपटकर उसकी गर्दन पकड़ी और उसे जमीन पर पटककर नखों से नोच-

नोचकर खा गये।

अपने साथी कछुए को मरा देखकर दूसरे कछुए ने अपने अंग और अधिक सिकोड़ लिये। उन दुष्ट गीदड़ों ने उसे भी मारने के लिए बहुतेरे प्रयत्न किये; मगर वे उसका बाल भी बांका न कर सके। आखिर हार थककर वे दोनों गीदड़ वहाँ से बहुत दूर चले गये। उस कछुए ने उनको बहुत दूर चले गये जानकर पहले अपनी गर्दन जरा-सी बाहर निकालकर चारों ओर देखा। जब देखा कि गीदड़ बहुत दूर हैं, तब उसने झटपट अपने चारों पैर बाहर निकाले और जल्दी से भागकर मृद्गंग सरोवर में घुस गया और वहाँ अपने परिवार से मिलकर बड़ा प्रसन्न हुआ।

इस दृष्टांत से प्रेरणा लेकर जो साधु अपने अंगोपांगों को सिकोड़कर सुरक्षित रखते हैं, उनका व्यर्थ उपयोग नहीं करते और न उन्हें उन्मार्ग में जाने देते हैं, वे मोक्षसुख पाते हैं। परंतु जो सियारों द्वारा मारे गये कछुए के समान अपने अंगोपांगों को सिकोड़कर सुरक्षित नहीं रखते, वे उस कछुए के समान दुःख पाते हैं ॥४८४॥

विकहं विणोयभासं, अंतरभासं अवक्कभासं च ।

जं जस्स अणिट्ठमपुच्छिओ, य भासं न भासिज्जा ॥४८५॥

शब्दार्थ - स्त्री, भोजन, शासक और देशसंबंधी विकथाओं से युक्त भाषा, कुतूहल, कामोत्तेजना या हंसी पैदा करने वाली वाणी, गुरु या बड़े साधु किसी से बात कर रहे हों, उस समय बीच में ही बोल पड़ना, मकार-चकार आदि अवाच्य अश्लील शब्द या अपशब्द बोलना या किसी का अनिष्ट (बुरा) करने वाली या अप्रीति पैदा करने वाली बात कहना, किसी के बिना पूछे ही निरर्थक बोलते रहना; इन और ऐसी भाषाओं का प्रयोग साधु न करे ॥४८५॥

अणवट्ठियं मणो जस्स, झायइ बहुयाइं अट्टमट्ठाइं ।

तं चित्तिअं च न लहइ, संचिणइ य पायकम्माइं ॥४८६॥

शब्दार्थ - जिसका मन हर समय अत्यंत चंचल रहता है, जो अंतर्गत इधर-उधर के अनाप-सनाप बुरे विचार करता रहता है; वह अपना मनोवांछित फल प्राप्त नहीं कर सकता; उलटे वह पापकर्मों का संचय करता रहता है। इसीलिए मन को स्थिर करके ही सर्वार्थ साधक संयम में पुरुषार्थ करना चाहिए ॥४८६॥

जह-जह सच्च्यलद्धं, जह-जह सुचिरं तयोधणे(वणे) वोत्थं ।

तह-तह कम्मभरगुरु, संजमनिब्बाहिरो जाओ ॥४८७॥

शब्दार्थ - 'यह देखा गया है कि गुरुकर्मा साधक ज्यों-ज्यों सिद्धांतों (शास्त्रों) के रहस्य को अधिकाधिक उपलब्ध करता जाता है और जितने-जितने दीर्घकाल तक वह तपोधनी साधुओं के संपर्क में रहता है; त्यों-त्यों और उतना-उतना वह अपने भयंकर स्निग्धकर्मा के कारण संयममार्ग से अधिकाधिक विमुख होता जाता है' ॥४८७॥ इस संबंध में दृष्टांत देकर (अगली गाथा में) समझा रहे हैं—

विज्जपो जह-जह ओसहाइं, पज्जेइ वायहरणाइं ।

तह-तह से अहिययरं, वाएणाऊरितं पोइं ॥४८८॥

शब्दार्थ - हितैषी वैद्य किसी वातरोगी के वातरोग को मिटाने के लिए ज्यों-ज्यों सौंठ, कालीमिर्च आदि औषध देता है, त्यों-त्यों वह वायुरोग असाध्य होने के कारण उदर में अधिकाधिक बढ़ता जाता है। इसी प्रकार प्राप्त वीतरागदेव के अमृत-वचन रूपी औषध का अधिक से अधिक पान करने पर भी वह गुरुकर्मा जीव के ज्ञानावरणीयादि कर्म रूपी वातरोग को शांत नहीं करता; बल्कि उस बहु गुरुकर्मा जीव के असाध्य कर्म रूपी वातरोग में वृद्धि होती जाती है ॥४८८॥

दह्जउमकज्जकरं, भिन्नं संखं न होई पुणकरणं ।

लोहं च तंबयिद्धं, न एइ परिक्कमणं किंचि ॥४८९॥

शब्दार्थ - जैसे जली हुई लाख किसी काम में नहीं आती, टूटा हुआ शंख फिर से जोड़ा नहीं जा सकता, तांबे के साथ मिला हुआ लोहा भी बिलकुल जोड़ने लायक नहीं रहता; वैसे ही असाध्य गुरु कर्म-रोग से पीड़ित व्यक्ति धर्माचरण में अपने को नहीं जोड़ सकता; वह धर्माचरण के अयोग्य बन जाता है। वह किसी भी धर्माचरण द्वारा अपने जीवन को सुधार नहीं सकता ॥४८९॥

को दाही उवएसं, चरणालसयाणं दुव्विअह्वाणं ? ।

इंदस्स देवलो गो, न कहिज्जइ जाणमाणस्स ॥४९०॥

शब्दार्थ - जो साधक धर्माचरण (चारित्रपालन) करने में आलसी हैं, अधकचरे पंडित हैं, यानी थोड़ा-सा ज्ञान पाकर अपने आपको बड़ा विद्वान् समझते हैं; जिन्हें सब शास्त्रवचनों की जानकारी है, उन्हें कौन उपदेश दे सकता है? उन्हें वैराग्य तत्त्व का उपदेश देना उसी प्रकार व्यर्थ है, जिस प्रकार देवलोक के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानने वाले इन्द्र को देवलोक का स्वरूप समझाना ॥४९०॥

दो चेव जिणवरेहिं, जाईजरामरणविप्पमुक्केहिं ।

लोगम्मि पहा भणिमा, सुस्समण-सुसावगो वा वि ॥४९१॥

शब्दार्थ - इस जगत् में मोक्ष जाने के लिए जन्म, जरा और मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त श्री जिनेश्वरों ने दो ही मार्ग बताये हैं— 'एक सुश्रमण धर्म, दूसरा सुश्रावक धर्म' ॥४९१॥

भावच्चणमुग्गविहारया य, दव्वच्चणं तु जिणपूया ।

भावच्चणाया भट्ठो, हविज्ज दव्वच्चणुज्जुतो ॥४९२॥

शब्दार्थ - साधुजीवन अंगीकार करके उग्र विहार (महाप्रतापिका उत्कृष्टरूप से मन, वचन, काया से सत्यतापूर्वक पालन) करना जिनेश्वर भगवान् की भावपूजा है, और जिनभगवान् के बिम्ब की विविध द्रव्यों से पूजा करना द्रव्यपूजा है। यदि कोई भावार्चना (भावपूजा) से भ्रष्ट हो रहा हो तो उसे श्रावकधर्म अंगीकार करके द्रव्यार्चना में जुट जाना चाहिए ॥४९२॥

जो पुण निरच्चणो च्चिअ, सरीरसुहकज्जमित्ततल्लिच्छो ।

तस्स न य बोहिल्लोभो, न सुग्गई नेय परलोपो ॥४९३॥

शब्दार्थ - परंतु जो व्यक्ति द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की अर्चनाओं से रहित है; यानी न तो वह साधुधर्म का ही पालन करता है और न श्रावकधर्म का ही; किन्तु रातदिन शरीर को आराम तलब बनाने में ही जुटा रहता है, अपने शरीर सुख का ही लिप्सु बना रहता है; उसे आगामी जन्म में बोधिलाभ (शुद्ध धर्म का बोध प्राप्त) नहीं होता, न उसे सद्गति (मोक्षगति) प्राप्त होती है और न उसे परलोक ही अच्छा (मनुष्यत्व या देवत्व के रूप में) मिलता है ॥४९३॥

अब द्रव्यपूजा की अपेक्षा भावपूजा की श्रेष्ठता बताते हैं—

कंचणमणिसोवाणं, थंभसहस्सूसिअं सुवण्णतलं ।

जो करिज्ज जिणहरं, तओ पि तव-संजमो अहिओ ॥४९४॥

शब्दार्थ - अगर एक व्यक्ति सोने और चन्द्रकान्त आदि मणियों से निर्मित सोपानों वाला, हजारों स्तंभों वाला विशाल और सोने के तलघर वाला जिनालय बनवाता है; परंतु दूसरा भगवान् की आज्ञानुसार तप-संयम (सर्वविरति चारित्र) का पालन करता है तो वह उससे भी बढ़कर है। यानी द्रव्यपूजा से भावपूजा श्रेष्ठ है ॥४९४॥

निब्बीए दुब्बिकखे, रत्ता दीवंतराओ अन्नाओ ।

आणेऊणं बीअं, इह दिन्नं कासवजणस्स ॥४९५॥

केहिंयि सव्वं खइयं, पइन्नमन्नेहिं सव्वमद्धं च ।

वुत्तंगयं च केई, खित्ते खोट्टेति संतत्था ॥४९६॥ युग्गम्

शब्दार्थ - दुष्काल के समय बोन के लिए बीजों का बिलकुल अभाव होने पर उस देश का राजा दूसरे द्वीपों से बीज मंगवाकर कृषकजनों को बोन के लिए देता है। राजा के द्वारा बोन के लिए दिये हुए उन सारे बीजों को कितने ही किसान खा जाते हैं; कई कृषक उन बीजों में से आधे बो देते हैं, आधे खा जाते हैं और कुछ किसान अपने खेत में उन बीजों को बो देने के बाद ऊगकर फसल पूरी पकने से पहले ही उस डर से कि राजसेवकों को पता लगा तो वे इस अनाज को ले जायेंगे; उस अनाज को झटपट घर ले जाने के लिए कूट कर दाने निकालने लगते हैं। परंतु तब भी राजसेवकों को पता लग जाता है और वे उन्हें अपराधी समझकर फकड़ लेते हैं और बहुत तंग करते हैं ॥४९५-४९६॥

अब इन दोनों गाथाओं में वर्णित दृष्टांत का उपसंहार करते हैं—

राया जिणवरचंदो, निब्बीयं धम्मविरहिओ कालो ।

विताइं कम्मभूमी, कासगवग्गो य चत्तारि ॥४९७॥

शब्दार्थ - इसी प्रकार यहाँ राजा जिनेश्वरचन्द्र (तीर्थंकर देव) हैं। धर्माचरण रूपी बीज से रहित काल दुष्काल के समान निबीज काल है। १५ कर्मभूमियाँ धर्मबीज बोन के लिए उत्तम क्षेत्र (खेत) हैं; तथा कृषकवर्ग में चार प्रकार के संसारी जीव हैं— १. असंयत, २. संयत, ३. देशविरति (संयतासंयत) और ४. पार्श्वस्थ ॥४९७॥

असंजएहिं सव्वं, खइयं अद्धं च देसविरएहिं ।

साहहिं धम्मबीयं, वुत्तं नीअं च निप्फत्तिं ॥४९८॥

शब्दार्थ - अरिहंतदेव रूपी राजा ने चार प्रकार के कृषकवर्ग को धर्मरूपी बीज बोन के लिए दिये। उनमें से असंयत अर्थात् व्रत नियम आदि से सर्वथा रहित व्यक्ति तो उन सब धर्मबीजों को बोन के बदले खा गये; जो देशविरति श्रावक (पांच अणुव्रतादि के धारक) थे, उन्होंने आधे धर्मबीज बोए और आधे खा गये; जो संयतसुसाधु-थे, उन्होंने सर्वविरति धर्मरूपी सारे बीजों को बोदिये, अर्थात् उनका पूर्णरूपेण सदुपयोग किया ॥४९८॥

जे ते सव्वं लहिउ, पच्छा खुइति दुब्बलधिईया ।

तवसंजमपरितंता, इह ते ओहरिअसीलभरा ॥४९९॥

शब्दार्थ - और जो पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारी साधु हैं, वे सर्वविरति रूप धर्मबीज को प्राप्त तो कर लेते हैं, लेकिन बाद में अधीर और कमजोर दिल के बनकर तप-संयम (साधुधर्म) के पालन से ऊब जाते हैं; रातदिन खेद करते रहते हैं और

आखिर वे संयम के भार (दायित्व) को छोड़ देते हैं। इस तरह वे अपने ही हाथों से अपने धर्मबीज को नष्ट कर देते हैं ॥४९९॥

आणं सव्यजिणाणं, भंजइ दुविहं पहं अइक्कंतो ।

आणं च अइक्कंतो, भमइ जरामरणदुग्गमि ॥५००॥

शब्दार्थ - पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारी तो भगवद् कथित दोनों ही मार्गों का उल्लंघन करके समस्त जिनेश्वरों की आज्ञा का भंग करता है। और जिनाज्ञा-भंग के फलस्वरूप वह जन्म, जरा और मृत्यु रूप अत्यंत दुर्गम अनंत संसार में चिरकाल तक परिभ्रमण करता रहता है ॥५००॥

जइ न तरसि धारेउ, मूलगुणभरं सउत्तरगुणं च ।

मुतूण तो तिभूमि, सुसावगतं वरतराणं ॥५०१॥

शब्दार्थ - इसीलिए अय भव्यजीव! यदि समिति आदि उत्तरगुणों के भारसहित पंचमहाव्रतादि मूलगुणों के भार को धारण करने की तुम्हारी शक्ति नहीं है तो बेहतर यही है कि अपनी जन्मभूमि, विहारभूमि और दीक्षाभूमि इन तीनों प्रदेशों को छोड़कर तथा साधुवेश का त्याग करके सुश्रावकत्व अंगीकार कर लो। साधुवेश में रहकर दंभ, मायाचार और पापाचरण करने के बजाय कपटरहित होकर श्रावकधर्म का अंगीकार करना कहीं अच्छा है ॥५०१॥

अरहंतचेइआणं, सुसाहूपयारओ दढापारो ।

सुस्सावगो वरतरं, न साहुवेसेणं चुअधम्मो ॥५०२॥

शब्दार्थ - अरिहंत भगवान् के चैत्यों की पूजा और उत्तम साधुओं के सत्कार-सम्मान रूप पूजा में रत होकर निष्कपटता पूर्वक दृढ़ाचार वाला सुश्रावक होना श्रेयस्कर है, परंतु साधुवेश में रहकर धर्मभ्रष्ट जीवन बिताना अच्छा नहीं। क्योंकि आचारभ्रष्ट होकर साधुवेश में रहने से वेश धारण करने के सिवाय और कुछ भी सुफल मिलने वाला नहीं ॥५०२॥

सव्वं ति भाणिऊणं, विरई खलु जस्स सव्विया नत्थि ।

सो सव्वविरइवाई, चुक्कइ देसं च सव्वं च ॥५०३॥

शब्दार्थ - 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' (मैं समस्त सावध मन-वचन-काया के व्यापारों (प्रवृत्तियों) का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ, इस प्रकार से सर्वथा त्याग रूप महाप्रतिज्ञा लेने के बाद जिस साधक के जीवन में षट्जीवनिकाय के रक्षण

रूप विरति अथवा प्राणातिपात आदि से विरति सर्वांशों में नहीं है; फिर भी जो अपने आपको सर्वविरतिधर कहता है, तो इस प्रकार मिथ्या प्रचार करने वाला साधक देशविरति श्रावकधर्म और सर्वविरति साधुधर्म इन दोनों धर्मों से चूकता है; यानी दोनों से भ्रष्ट होता है ॥५०३॥

जो जहवायं न कुण्ड, मिच्छदिद्वी तओ हु को अन्नो ।

बुद्धेइ य मिच्छंत, परस्स संकं जणेमाणो ॥५०४॥

शब्दार्थ - जो साधक स्वयं महाप्रतिज्ञा लेकर खुद को 'साधु हूँ ऐसा' बताता है, मगर अपनी कथनी के अनुसार करणी नहीं करता; यानी तदनुसार सर्वविरति रूप चारित्र का भलीभांति पालन नहीं करता; तब उससे बढ़कर मिथ्या-दृष्टि और कौन होगा? बल्कि वह स्वयं मिथ्यादृष्टि बनकर दूसरों में शंका पैदा करके मिथ्यात्व को बढ़ाता है ॥५०४॥

आणाइ च्विय चरणं, तब्भंगे जाण किं न भग्गति? ।

आणं च अइक्कंतो, कस्साएसा कुण्ड सेसं ॥५०५॥

शब्दार्थ - जिन भगवान् की आज्ञा का पालन ही वास्तव में चारित्र है। जिनाज्ञा-भंग कर देने पर समझ लो, उसने क्या भंग नहीं किया? यानी जिनाज्ञा-भंग करते ही उसने एक तरह से चारित्र आदि सभी गुणों का सर्वथा भंग कर दिया! क्योंकि जिनाज्ञा का उल्लंघन करने वाला साधक बाकी के धर्मानुष्ठान या धर्माचरण किसकी आज्ञा से करता है? जिनाज्ञा के बिना धर्मानुष्ठान या धर्मक्रियाराधन आदि करना केवल विडंबना ही है; वे अनुष्ठान मोक्षफलदायी नहीं होते ॥५०५॥

संसारो अ अणंतो, भट्टचरितस्स लिंगजीविस्स ।

पंचमहव्ययतुंगो, पागारो भिल्लिओ जेण ॥५०६॥

शब्दार्थ - जिस अभागे व्यक्ति ने पंचमहाव्रत रूपी उच्च किलों को तोड़ डाले हैं, वह चारित्रभ्रष्ट मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि वेष केवल आजीविका (उदरपूर्ति) के लिए रखता है। उससे कोई मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य सिद्ध नहीं होता; बल्कि वह अनंतकाल तक संसार परिभ्रमण करता है ॥५०६॥

न करेमि ति भणित्ता, तं चेव निसेवए पुणो पावं ।

पच्चक्खमुसावाई, माया नियडीपसंगो य ॥५०७॥

शब्दार्थ - जो साधक 'न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अत्रं न समणुज्जाणामि' (मन-वचन-काया से हिंसा आदि पाप न करूँगा, न कराऊँगा, न करते हुए दूसरे

का अनुमोदन ही करूँगा) इस प्रकार का त्रिकरण-त्रियोग से नौ कोटि सहित प्रत्याख्यान (प्रतिज्ञा) करके उसी पाप का सेवन पुनः पुनः करता जाता है, उसे सरासर मृषावादी समझना। क्योंकि वह जैसा कहता है, वैसा करता नहीं। अतः उसे अंतरंग-असत्यरूप माया और बाह्य-असत्यरूप निकृति (धूर्तता) का सेवन करने वाला असत्यवादी समझना चाहिए ॥५०७॥

लोए वि जो ससूगो, अलिअं सहसा न भासए किंचि ।

अह दिक्खिओ वि अलिपं, भासइ तो किं च दिक्खाए ॥५०८॥

शब्दार्थ - लोक व्यवहार में भी पापभीरु व्यक्ति सहसा कोई भी झूठ नहीं बोलता, तब जो मुनि दीक्षा लिया हुआ है, वह असत्य बोलता है तो उसके दीक्षा लेने का अर्थ क्या? उसका दीक्षित होना निरर्थक ही हुआ ॥५०८॥

महव्वप-अणुव्वयाइं छड्डेउ, जो तवं चरइ अन्नं ।

सो अन्नाणी मूढो, नावा बोदो मुणेयव्वो ॥५०९॥

शब्दार्थ-भावार्थ - जो साधक महाव्रतों या अणुव्रतों को छोड़कर (लोक दिखावे के लिए) दूसरे तप करता है; उस विचारमूढ़ अज्ञानी मनुष्य को हाथ में आयी हुई नौका को छोड़कर समुद्र में डूबने का-सा काम करने वाला समझना चाहिए। जिस प्रकार समुद्र में किसी मूढ़ आदमी के हाथ में नौका आ जाय और मूर्खतावश उसे छोड़कर उस नौका की कील के सहारे समुद्र पार करने को उद्यत हो; वह तो डूबेगा ही। इसी प्रकार व्रतों को छोड़कर केवल तप से संसार समुद्र को तैरने का अभिलाषी मूढ़ साधक है। क्योंकि व्रतों से युक्त तप ही गुणकारी होता है ॥५०९॥

सुबहुं पासत्थजणं नाऊणं, जो न होइ मज्झत्थो ।

न य साहेइ सकज्जं, कागं च करेइ अप्पाणं ॥५१०॥

शब्दार्थ-भावार्थ - जो पासत्थजनों की शिथिलता और उनकी हठाग्रही वृत्ति का स्वरूप जानकर भी मध्यस्थ नहीं रहता, उलटे उसकी जिज्ञासा के बिना ही उसे चलाकर उपदेश देने जाता है, उस सुसाधु को उससे कोई लाभ नहीं होता। बल्कि पासत्थ-साधक उस सुसाधु के साथ झगड़ा करके अपने दोषों को छिपाकर अपने में साधुत्व सिद्ध करने का प्रयास करेगा। अतः पासत्थ साधक को उपदेश देना अपना ही नुकसान करना है। क्योंकि वह अपना मोक्ष रूप कार्य नहीं सिद्ध कर सकता; बल्कि हितकर उपदेश देने वाले के प्रति भी वह कौए की-सी अपनी दोषदृष्टि बना लेता है ॥५१०॥

परिचितिकृण निउणं, जइ नियमभरो न तीरण वोढुं ।

परचित्तरंजणेणं न वेसमेतेण साहारो ॥५११॥

शब्दार्थ - गहराई से निपुणतापूर्वक विचार करते हुए अगर उसे लगे कि वह साधुजीवन के मूलगुण-उत्तर गुणों के भार को उठाने में समर्थ नहीं है, तो सिर्फ दूसरों के मन को बहलाने वाला कोरा साधुवेष उसे दुर्गति में गिरते हुए आधारभूत (सहारा) नहीं हो सकता। अर्थात्-मूलगुण-उत्तरगुणों के पालन किये बिना केवल दोष धारण करने से दुर्गति से रक्षा नहीं हो सकती ॥५११॥

निच्छयनयस्स चरणस्सुवग्घाप, नाणदंसणवहो वि ।

व्यवहारस्स उ चरणे ह्यम्मि, भयणा उ सेसाणं ॥५१२॥

शब्दार्थ-भावार्थ - 'निश्चयनय की दृष्टि से कहें तो चारित्र के नाश होने पर ज्ञान और दर्शन भी विनष्ट हो जाते हैं। व्यवहारनय की दृष्टि से कहे तो चारित्रनाश होने पर ज्ञान-दर्शन नष्ट होते भी हैं, और नहीं भी होते।' तात्पर्य यह है कि चारित्र का नाश होने पर आश्रव का सेवन करने पर ज्ञान-दर्शन दोनों नष्ट हो जाते हैं; परंतु कोई साधक मोहकर्म या विषयासक्ति के कारण चारित्र को छोड़ देता है, फिर भी उसकी श्रद्धा (दर्शन) चारित्र के प्रति पूरी है और उसके स्वरूप का भी उसे यथार्थ ज्ञान है, इसीलिए उसके ज्ञान-दर्शन चारित्र गुण के बिना भी संभव है ॥५१२॥

सुज्झइ जई सुचरणो, सुज्झइ सुस्सावओ वि गुणकलिओ ।

ओसन्नचरणकरणो, सुज्झइ संधिग्गपक्खरूई ॥५१३॥

शब्दार्थ - सम्यग्चारित्रि साधु किसी दोष के लगने पर शुद्ध हो सकता है, जो श्रावक विनय-ज्ञानादि गुणों से युक्त है, वह भी शुद्ध हो सकता है; तथा चरण-करण में शिथिल, किन्तु मोक्षाभिलाषी और क्रिया में रुचि रखने वाला संविग्न पाक्षिक साधु भी शुद्ध हो सकता है। यानी ये सब आत्महित कर सकते हैं ॥५१३॥

संधिग्गपक्खियाणं, लक्खणमेयं समासओ भणियं ।

ओसन्नचरणकरणा वि, जेण कम्मं विसोर्हति ॥५१४॥

शब्दार्थ - 'चूंकि संविग्नपाक्षिक साधुओं का लक्षण श्री तीर्थकरदेवों ने संक्षेप में इस प्रकार का बताया है कि वे मोक्षाभिलाषी साधुओं के हिमायती होते हैं, क्रियानुष्ठान में भी रुचि रखते हैं। इस कारण चरण-करण में शिथिल होते हुए भी वे ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय कर देते हैं ॥५१४॥

सुद्धं सुसाधुधम्मं कहेइ, तिंदइ य निययमायरं ।

सुतवस्सियाणं पुरओ, होइ य सब्बोमरायणीओ ॥५१५॥

वंदइ न य वंदावेइ, किइकम्मं कुणइ, कारवइ नेय ।

अत्तद्वा न वि दिक्खे, देइ सुसाहूण बोहेउ ॥५१६॥ युग्गम्

शब्दार्थ - जो साधक शुद्ध सुसाधुधर्म (क्षमा आदि १० प्रकार के श्रमणधर्म) की सुसाधु के समान प्ररूपणा करता है, अपने शिथिलाचार की निन्दा करता है और अच्छे तपस्वियों, बड़े साधुओं या नवदीक्षित साधुओं आदि सबसे अपने आपको छोटा (सबसे न्यूनरात्रिक) मानता है। संविग्न लघुसाधुओं को भी स्वयं वंदन करता है, परंतु उनसे वंदन नहीं करवाता; उनकी सेवा आदि करता है, मगर उनसे सेवादि नहीं कराता; अपने पास दीक्षा लेने के लिए आये हुए वैराग्यसंपन्न को या अपने पास दीक्षा लेने वाले को स्वयं दीक्षा नहीं देता, परंतु दीक्षा के उम्मीदवार को प्रतिबोध देकर सुसाधुओं के पास भेजकर उनसे दीक्षा दिलाता है। अर्थात् उन्हें शिष्य रूप में उसे समर्पित करता है, किन्तु स्वयं का शिष्य नहीं बनाता। इन लक्षणों से युक्त साधु को संविग्न पाक्षिक (मोक्षाभिलाषी सुसाधुओं के हिमायती) समझना चाहिए ॥५१५-५१६॥

ओसन्नो अत्तद्वा, परमप्पाणं च हणइ दिक्खंतो ।

तं सुहइ दुग्गईए, अहिपयरं बुडइ सयं च ॥५१७॥

शब्दार्थ - उपर्युक्त संविग्नपाक्षिक साधु के अतिरिक्त जो सिर्फ शिथिलाचार परायण साधक होता है, वह ऊपर की गाथाओं में बताये अनुसार नहीं चलता। वह अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को दीक्षा देकर अपनी और दूसरे की आत्मा का हनन करता है। क्योंकि ऐसा साधक अपने शिष्य को भी शिथिलाचार पथ पर चलाकर उसे भी दुर्गति में डालता है और अपने आपको भी पहले से भी अधिकतर रूप में संसारसमुद्र में डूबाता है ॥५१७॥

जह सरणमुवगयाणं, जीवाण निक्कितए सिरे जो उ ।

एवं आयरिओ वि हु, उस्सत्तं पन्नवंतो य ॥५१८॥

शब्दार्थ - जैसे कोई व्यक्ति अपनी शरण में आये हुए लोगों का सिर काटकर उनके साथ विश्वासघात करता है, वैसे ही अपने पास विश्वास से आये हुए भव्यजीवों के सामने जो सूत्र (सिद्धांत) विरुद्ध प्ररूपणा करता है, उन्हें उन्मार्ग में प्रवृत्त करता है, वह आचार्य भी उनके साथ विश्वासघात-रूप मस्तक छेदन करता है ॥५१८॥

सावज्जजोगपरिवज्जणाए, सच्चुत्तमो जइधम्मो ।

बीओ सावगधम्मो, तइओ संविग्गपक्खपहो ॥५१९॥

शब्दार्थ - प्रथम और सर्वोत्तम मार्ग है—सावद्य (पापमय) व्यापार (प्रवृत्ति) का सर्वथा-त्याग रूप साधुधर्म, उसके बाद दूसरा है-सम्यक्त्वमूलक देशविरतिरूप श्रावकधर्म और तीसरा मार्ग संविग्नपक्ष का है ॥५१९॥

सेसा मिच्छदिट्ठी, गिहिलिंग-कुलिंग-दव्वलिंगेहिं ।

जह तिन्नि य मोक्खपहा, संसारपहा तहा तिण्णि ॥५२०॥

शब्दार्थ - ऊपर बताये हुए तीन मार्गों के अलावा बाकी मार्ग मिथ्यादृष्टियों के हैं। वे भी तीन हैं-गृहस्थवेषधारी, तापस, जोगी, संन्यासी आदि कुलिंगधारी और द्रव्य से साधु का वेष धारण करने वाला द्रव्यलिंगी साधक। जैसे ऊपर वाली गाथा में तीन मोक्ष के मार्ग बताये हैं, वैसे ये तीनों संसार (परिभ्रमण) के मार्ग हैं ॥५२०॥

संसारसागरमणिं, परिभमंतेहिं सब्बजीयेहिं ।

गहियाणि य मुक्काणि य, अणंतसो दव्वलिंगाइं ॥५२१॥

शब्दार्थ - इस अनादि-अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुए समस्त जीवों ने अनंत बार द्रव्यलिंगों (रजोहरण वेषों) को धारण किया है, और छोड़ा है। परंतु कोरे वेष धारण से कोई आत्महित नहीं हुआ ॥५२१॥

अच्चणुरत्तो जो पुण, न मुयइ बहुसो वि पन्नविज्जंतो ।

संविग्गपक्खियत्तं, करेज्ज लब्धिहिसि तेण पढं ॥५२२॥

शब्दार्थ - शिथिलता आदि के कारण कोई प्रमादी साधु साधु वेष रखने में अत्यंत अनुरागी है; बहुत बार आचार्य-गीतार्थसाधु आदि द्वारा उसे हितबुद्धि से समझाने पर भी साधुवेष नहीं छोड़ता है तो उसे चाहिए कि वह पूर्वोक्तलक्षणों वाला संविग्नपक्ष वाला मार्ग स्वीकार कर ले। ऐसा करने पर वह एक जन्म बिताकर आगामी जन्म में ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है ॥५२२॥

कंठाररोहमद्धाण-ओभगेलन्नमाइकज्जेसु ।

सव्वायरेण जयणाइ, कुणइ जं साहुकरणिज्जं ॥५२३॥

शब्दार्थ - बड़ी भारी अटवी में, किसी शत्रु राजा द्वारा नगर पर चढ़ाई के कारण नगर-के द्वार बंध हो जाने से, उजड़ या उबड़-खाबड़ रास्ते पड़ जाने के कारण, दुष्काल, भूखमरी आदि प्रसंगों में, या बीमारी के अवसर पर भी सुसाधु

अपनी पूरी ताकत लगाकर सावधान होकर यतना पूर्वक साधु के योग्य क्रिया (करणी) करता है। मतलब यह है कि ऐसे प्रबल कारण उपस्थित होने पर साधु अपनी शक्ति-अनुसार जो कर्तव्य है, उसे यतनापूर्वक अवश्य करता है ॥५२३॥

आयरतरसंमाणं सुदुक्करं, माणसंकडे लोए ।

संविग्नपक्षिध्वत्तं, ओसन्नेणं फुडं काउ ॥५२४॥

शब्दार्थ - माण संकडे=गर्व से तुच्छ मनवाले स्वाभिमान ग्रस्त लोक के बीच शिथिलाचारी को अतिशय प्रयत्न से छोटे भी सुसाधुओं को वंदनादि सन्मान करने रूप संविग्न पाक्षिकपना प्रकट रूपमें आचरण में लेना या स्पष्ट निष्कपटभाव से बहाने बनाये बिना वैसा आचरण करना अत्यंत दुष्कर है ॥५२४॥

सारणचइआ जे गच्छविग्गया, पविहरंति पासत्था ।

जिणवयणबाहिरा वि य, ते उ पमाणं न कायव्वा ॥५२५॥

शब्दार्थ - किसी साधक को आचार्यादि द्वारा विस्मृत कर्तव्य को बार-बार याद दिलाने पर या 'इस कार्य को इस प्रकार करो, ऐसे नहीं, इस प्रकार बार-बार टोकने पर-यानी हितशिक्षा देने पर वह क्षुब्ध और उद्विग्न होकर, आवेश में आकर उस गच्छ का परित्याग करके साध्वाचार-विचार छोड़कर स्वच्छंद-विहार करता है, तो वह पासत्था है और जिनाज्ञा-बाह्य है; अर्थात् जो पहले चारित्र का दोष-रहित पालन करता है, लेकिन बाद में उसमें प्रमादी हो गया है; तो उसके साधुत्व को प्रमाण रूप नहीं मानना चाहिए ॥५२५॥

हीणस्स वि सुद्धपरुवंगस्स, संविग्नपक्खवाइस्स ।

जा-जा हवेज्ज जपणा, सा-सा निज्जरा होइ ॥५२६॥

शब्दार्थ - कोई साधक उत्तरगुणों में कुछ कमजोर (शिथिल) होने पर भी प्ररूपणा विशुद्धमार्ग की करता है, संविग्नसाधुओं का पक्षपाती है, वह ऐसे प्रबल कारणों के उपस्थित होने पर बहुत दोष वाली वस्तुओं के त्याग तथा अल्पदोष वाली वस्तुओं के ग्रहण रूप यतना जितनी-जितनी यथाशक्ति, यथामति करता है उतनी-उतनी उसके कर्मों की निर्जरा (एक अंश से कर्मक्षय) होता जाता है ॥५२६॥

सुंकाई परिसुद्धे, सइ लाभे कुणइ वाणिओ चेट्टं ।

एमेयं य गीयत्थो, आयं दट्ठुं समायरइ ॥५२७॥

शब्दार्थ - जैसे कोई वणिक् (व्यापारी) तभी व्यापार करता है, जब राज्य का कर, दूकान, नौकर आदि का खर्च निकालकर उसे लाभ होता हो; वैसे ही गीतार्थ

मुनि भी शास्त्रज्ञान से लाभालाभ जानकर अल्पदोष-बहुलाभ (आय) वाला कार्य यतनापूर्वक करता है ॥५२७॥

आमुक्क जोगिणो च्विय, हयइ थोवा वि तस्स जीवदया ।

संविग्गपक्खजयणा, तो दिट्ठा साहुवग्गस्स ॥५२८॥

शब्दार्थ - जिसने संयमयोग्य प्रवृत्ति (व्यापार) सर्वथा छोड़ दी है, उस साधु के हृदय में यदि थोड़ी-सी भी जीवदया हो तो वह मोक्षाभिलाषी संविग्गसाधुओं का पक्षपाती बनकर अपनी साधुता को बचा सकता है। क्योंकि तीर्थंकरों ने उस संविग्गपक्ष की यतना बताया है और उसे साधुवर्ग में प्रामाणिक मानी है ॥५२८॥

किं मूसगाण अत्थेण? किं वा कागाण कण्णमालाए? ।

मोहमलखयलिआणं, किं कज्जुवएसमालाए ॥५२९॥

शब्दार्थ - चूहों को धन से क्या मतलब? अथवा कौओं को सोने की माला से क्या प्रयोजन? इसी प्रकार मोह-मिथ्यात्व आदि कर्मरूपी मल से मलिन बने हुए जीवों को इस 'उपदेशमाला' से क्या लाभ? अर्थात् गुरुकर्मों जीवों के लिए यह उपदेशमाला किसी भी काम की नहीं है। लघुकर्मों जीवों के लिए ही यह हितकारिणी है ॥५२९॥

चरणकरणासालसाणं, अविणयबहुलाण सययज्जोगमिणं ।

न मणि सयसाहस्सो, आबज्झाइ कोच्छभासस्स ॥५३०॥

शब्दार्थ - जो चरण और करण के पालन में आलसी हैं और जिनके जीवन में प्रचुरमात्रा में अविनय भरा हुआ है, उनके लिए भी यह 'उपदेशमाला' सदा अयोग्य है। क्योंकि चाहे लाख रुपये का मणि हो फिर भी वह जैसे कौए के गले में बांधने योग्य नहीं होता, इसी प्रकार इस बहुमूल्य उपदेशरत्नमाला का भी ऐसे अयोग्य के पल्ले बांधना अनुचित है ॥५३०॥

नारुण करयलगयाडडमलं च, सम्भावओ पहं सव्वं ।

धम्ममि नाम सीइज्जइ ति, कम्माइं गुरुयाइं ॥५३१॥

शब्दार्थ - भावार्थ - हथेली पर रखे हुए आँवले के समान सद्भाव से अथवा सत्यबुद्धि से ज्ञानादिमय मोक्षमार्ग को स्पष्ट रूप से जानकर भी यह जीव जो धर्माचरण करने से घबराता-कतराता है, उसमें उसके भारी कर्मों को ही कारणभूत समझना चाहिए। अर्थात् वह जीव गुरुकर्म होने से ज्ञानावरणीयादि कर्मों की प्रचुरता के कारण जानता हुआ भी धर्माधना नहीं कर सकता। लघुकर्मों जीव को ही धर्माचरण में स्वाभाविक रुचि या प्रीति होती है ॥५३१॥

धम्मत्थकाममोक्खेसु, जस्स भावो जहिं-जहिं रमइ ।

वेरग्गेगंतरसं न इमं सच्चं सुहावेइ ॥५३२॥

शब्दार्थ - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में से जिस-जिस जीव का भाव (अभिप्राय) जिस-जिस पुरुषार्थ में होता है, वह उसी में रमण करता है। अर्थात् जीवों की भावना (रुचि) विभिन्न पदार्थों में विविध प्रकार की होती है। इसीलिए एकांत वैराग्यरस-शांतरस से परिपूर्ण यह उपदेशमाला सभी जीवों को सुखदायिनी प्रतीत नहीं होती। परंतु जो शांतरसार्थी आत्मारथी जन हैं, उन्हें सारी उपदेशमाला वैराग्यरसपोषिका होने से अत्यंत सुखदायिनी प्रतीत होगी ॥५३२॥

संजमतवालसाणं, वेरग्गकहा न होइ कण्णसुहा ।

संविग्गपक्खियाणं, होज्ज व केसिचि नाणीणं ॥५३३॥

शब्दार्थ - १७ प्रकार के संयम और १२ प्रकार के तप के आचरण में जो प्रमादी हैं, उनके कानों को यह वैराग्यकथा सुखदायिनी नहीं लगती। यह तो संविग्नपाक्षिक किन्हीं ज्ञानी पुरुषों को ही सुहाती है। उन्हीं कानों को यह उपदेशमाला रुचिकर-सुखकर लगती है, सभी को नहीं ॥५३३॥

सोऊण पगरणमिणं, धम्मे जाओ न उज्जमो जस्स ।

न य जणिणं वेरग्गं, जाणिज्ज अणंतसंसारी ॥५३४॥

शब्दार्थ - वैराग्यरस से परिपूर्ण इस उपदेशमाला-प्रकरण को सुनकर भी जिसके दिल में धर्माचरण में पुरुषार्थ करने का उल्लास नहीं पैदा होता, और न पंचेन्द्रिय-विषयों के प्रति विरक्ति पैदा होती है, समझो, वह अनंतसंसारी है। मतलब यह है कि अनंतसंसारी जीव को बहुत उपदेश देने पर भी वैराग्य पैदा नहीं होता ॥५३४॥

कम्माण सुबहुपाणुवसमेण उवगच्छई इमं सम्मं ।

कम्ममलचिक्कणाणं, वच्चइ पासेण भण्णंतं ॥५३५॥

शब्दार्थ - जब किसी जीव के कर्मों का अत्यधिक मात्रा में उपशम होता है, तब ही वह उपदेशमाला के तत्त्वज्ञान को भलीभांति प्राप्त कर सकता है। परंतु जिन व्यक्तियों पर निकाचित कर्मों की चिकनाहट मजबूती से चिपकी हुई है, वे गुरुकर्म जीव इस ग्रंथ के बार-बार कहने-सुनने पर भी इसके परमार्थ को नहीं समझ सकते; आचरण की बात तो दूर रही ॥५३५॥



उपदेश माला का फल

उवएसमालमेयं, जो पढइ सुणइ कुणइ या हियए ।

सो जाणइ अप्पहियं, नाऊण सुहं समायरइ ॥५३६॥

शब्दार्थ - जो पुरुष इस उपदेश माला का अध्ययन करता है, श्रवण करता है और हृदय में धारण करता है, अथवा उसका परम रहस्य समझकर उसके अर्थ का चिन्तन-मनन करता है; वह इहलोक और परलोक दोनों का आत्महित जान लेता है और स्वहित का मार्ग जानकर सुख-पूर्वक उस पर अमल करता है एवं अंत में मोक्षसुख प्राप्त करता है ॥५३६॥

धंतमणिदामससिगयणिहिपयपढमक्खराण नामेणं(भिहाणेण) ।

उवएसमालपगरणमिणमो रइअं हियट्ठाए ॥५३७॥

शब्दार्थ - धंत, मणि, दाम, ससि, गय और णिधि इन ६ शब्दों के आदि के अक्षरों को जोड़ने से निष्पन्न नाम वाले 'धर्मदासगणि' ने स्वपरहित के लिए यह 'उपदेशमालाप्रकरण' बनाया है ॥५३७॥

जिणवयणक्कप्परुक्खो, अणेगसुत्तत्थसालि(सत्थत्थसाल)वित्थिजो ।

तवनियमकुसुमगुच्छो, सोग्गइफलबंधणो जयइ ॥५३८॥

शब्दार्थ - अनेक सूत्र और अर्थ रूपी शाखाओं से विस्तीर्ण, तप-नियम रूपी फूलों के गुच्छों वाला और देव-मनुष्यादि सुगति या मोक्षगति रूपी उत्तम फल देने वाला द्वादशाङ्गी जिनवचन रूप कल्पवृक्ष विजयी हो ॥५३८॥

जोग्गा सुसाहुवेरग्गियाण, परलोग-पट्ठियाणं च ।

संयिग्गपक्खिग्गियाणं, दायट्ठा बहुस्सुयाणं च ॥५३९॥

शब्दार्थ - यह उपदेश माला वैराग्यवान् सुसाधुओं के, परलोक का हित साधन करना चाहने वालों के और संविग्न-पाक्षिकों तथा बहुश्रु-तजनों के ही पठन-पाठन-योग्य जानकर उन्हीं को ही देनी (बतानी या सिखानी) चाहिए। क्योंकि यह उत्तम ग्रंथ विद्वानों को ही आनंद देने वाला है, मूर्खों को नहीं ॥५३९॥

उपसंहार

इय धम्मदासगणिणा, जिणवयणुवएसकज्जमालाजो ।

मालव्व विविहकुसुमा, कहिआ य सुसीसवग्गस्स ॥५४०॥

शब्दार्थ - जैसे विविध फूलों से माला गूंथी जाती है, वैसे ही श्रीधर्मदासगणि

ने जिनवचनोपदेश के अक्षर रूपी फूलों को चुन-चुनकर यह 'उपदेश माला' बनायी और अपने सुशिष्यवर्ग के सामने समय-समय पर उपदेश के रूप में कही है ॥५४०॥

संतिकरी वृद्धिकरी, कल्याणकारी, सुमंगलकरी य ।

होइ कहगस्स परिसाए, तह य निव्वाणफलदाई ॥५४१॥

शब्दार्थ - यह उपदेशमाला व्याख्यान देने वाले (उपदेशक) वक्ता और व्याख्यान सुनने वाले श्रोताजनों के क्रोधादि विकारों को शांत करने वाली, उनमें ज्ञानादि गुणों की वृद्धि करने वाली स्व-पर कल्याण कारिणी तथा इस लोक में धन या शिष्यादि वैभव रूप और परलोक में वैमानिक देवों के ऋद्धि-समृद्धि-सुखादि मंगल को देने वाली अथवा परलोक में समस्त जन्म-मरण-कर्मादि बंधनों से छुटकारा दिलाकर निर्वाण फल दायिनी है। अर्थात्-इस ग्रंथ के व्याख्याता और श्रोता दोनों को कथन-श्रवण से उत्तम फल मिलता है ॥५४१॥

इत्थ समप्पइ इणमो, माला उवएसपगरणं पगयं ।

गाहाणं सब्बाणं, पंचसया चेव चालीसा ॥५४२॥

शब्दार्थ - 'इस प्रकार प्राकृतभाषा में रचित माला के रूप में प्रस्तुत उपदेश-प्रकरण यहाँ संपूर्ण कर रहे हैं। इसकी सब मिला कर ५४० गाथाएँ हैं' ॥५४२॥ (दो गाथाएँ प्रक्षिप्त समझनी चाहिए)

जावय लवणसमुद्धो, जावय नक्खत्तमंडिओ मेरु ।

ताव य रइया माला, जयमि थिरथावरा होउ ॥५४३॥

शब्दार्थ - जब तक संसार में लवण-समुद्र मौजूद है और जब तक नक्षत्रों से सुशोभित मेरु-पर्वत विद्यमान है, तब तक धर्मदासगणि विरचित यह उपदेश माला शाश्वत पदार्थ के समान स्थायी रहे ॥५४३॥

अक्खरमत्ताहीणं, जं चिय पढियं अयाणमाणेणं ।

तं खमह मज्झं सब्बं, जिणवयणचिणिग्गया वाणी ॥५४४॥

शब्दार्थ - इस उपदेश माला ग्रंथ में मेरे से अज्ञानवश अनजान में कोई अक्षर या मात्रा न्यूनाधिक पढ़ी या कही गयी हो तो जिन भगवान् के मुखकमल से निसृत वाणी भगवती श्रुतदेवी मेरी समस्त भूलों को क्षमा करें ॥५४४॥

॥ इति श्री धर्मदासगणिविरचित उपदेशमालापकरण समाप्त ॥

॥ श्रोतृवाचकयोः शुभं भूयात् ॥



साधु को नित्य एकासन तप करने से संतोष, लोलुपता का अभाव, रसना विजय, संयमवृद्धि आदि विशिष्ट गुणों की प्राप्ति का मुख्य ध्येय होने से उपवासादि तप से भी विशेष निर्जरा है ।

श्रुतज्ञान की प्राप्ति भी वीर्यरक्षा के आधीन है ।

विर्यरक्षा से शरीरबल, उसमें से मनोबल, उसमें से बुद्धि और बुद्धि से आत्मबल प्रकट होता है ।

सत्यवचन सह शुद्धाचरण से देव भी दास बनते हैं, जो जिस पदार्थ से पराधीन बना हो उसे उस पदार्थ की अप्राप्ति में अदत्त लेने का प्रसंग आ जाता है ।

-जयानंद